

कृति

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

(प्रवचन)

भाग-1

प्रवचन

परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महाराज

सम्पादन

पूज्य श्रमणी आर्यिका 105 विदक्षा श्री माताजी

संकलन

पूज्य श्रमणी आर्यिका विशिष्ट श्री एवं श्रमणी विदूषी श्री माताजी



: प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रकाशन विभाग

श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ,

बतासा बाजार, भिंड (म.प्र.)



प्रसंग



कृति

प्रवचन

संकलन

सम्पादन

संस्करण

पुण्यार्जक

- परम पूज्य युगप्रमुख श्रमणाचार्य, राष्ट्रसंत, गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज के “राष्ट्रीय रजत आचार्य पदारोहण महोत्सव” वर्ष 2016 के सुअसवर पर

- रत्नकरण्डक श्रावकाचार भाग-1 (प्रवचन)

- परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागरजी महाराज

- श्रमणी आर्यिका 105 विदक्षा श्री माताजी

- श्रमणी आर्यिका विशिष्ट श्री माताजी एवं श्रमणी आर्यिका विदूषी श्री माताजी

- प्रथम, 1000 प्रतियाँ, सन् 2012 जयपुर (राज.)

- द्वितीय, 1000 प्रतियाँ, नवम्बर सन् 2016 भिण्ड (म.प्र.)

- 1. श्रीमान् अशोक कुमार मोती रानी, राजकुमारी
सदर बाजार, भिण्ड (म.प्र.)
- 2. श्रीमान् रमेशचंद्र श्रीमती चाँदवली गढ़ावाली
किराणा व्यापारी, भिण्ड (म.प्र.)
- 3. श्रीमान् धर्मचन्द्र मीरा जैन, सदर बाजार, भिण्ड (म.प्र.)
- 4. श्रीमान् कुबेर जैन-श्रीमती ममता जैन
बंगाला बाजार, किराणा व्यापारी भिण्ड, पूना वाले
- 5. श्रीमान् सुरेशचंद्र जैन, मावा मण्डी, भिण्ड (म.प्र.)
- 6. श्रीमती माया जैन धर्म पत्नी छोटूलाल जैन
(महिला मण्डल पचासा) भिण्ड (म.प्र.)
- 7. शैलेन्द्र (सुरेश चन्द्र जैन), भिण्ड (म.प्र.)
- 8. श्रीमती निर्मलचंद्र जैन श्रीमती पिट्टी जैन
हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी, भिण्ड (म.प्र.)

मूल्य

- 85.00 रुपये

प्रकाशन

- श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ
बताशा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)

मुद्रक

- तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, मोहता चौक, बीकानेर-334005 (राज.),



२१वीं सदी के ज्योति पुञ्ज-गणाचार्य विराग सागरजी

डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य

शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़ (म.प्र.)

अपरिमित प्रज्ञा के धनी - 'संत' वह है जिसकी सरलता का कोई अंत न हो । जो संसार से विरक्त होकर स्व पर कल्याण की भावना में निरत हो, जिसके अन्तःकरण में वात्सल्य और स्नेह का निर्झर सतत् प्रवाहमान हो । जिसकी वाणी से जन जन की कल्याण कामना के भाव निःसृत हो, जिन्होंने ज्ञान की अतुल गहराईयों में उतरकर सृजन के मौलिक स्वरूप को गढ़ा हो। ऐसे अनेक विशेषणों से विभूषित प्रज्ञा के धनी आचार्य विराग सागर जी का इस धरती पर अवतरण इस सदी की एक अन्यतम घटना ही मानी जायेगी।

असाधारण व्यक्तित्व के धारक - एक ऐसा व्यक्तित्व जिसमें जादुई तिलस्म का आकर्षण हो, यह आकर्षण है उनके त्याग का, साधना का, तप का, चर्या का और उस असाधारण ज्ञान का जिसके कारण श्रावक दीवानगी की हदों को भी पार कर जाता है । आपकी सौम्य मुद्रा के दर्शन मात्र से ही दर्शनार्थियों के कालुष्य का विरेचन हो जाता है । आपके सान्निध्य का सुफल और आशीष का हस्तकमल जीवन को निर्जर और निरामद बना देता है । यही वजह है कि आचार्य विराग सागरजी जहाँ से निकल पड़ते हैं वहाँ के लोग उनके हमेशा - हमेशा के लिए बन जाते हैं।

अनोखे बचपन का विरल सम्मोहन - दमोह (म.प्र.) जिले के पथरिया ग्राम में पाषाणों के बीच इस हीरे का अवतरण २ मई १९६३ (वैशाख शुक्ल ९ वि.सं. २०२०) को रात्रि ९ बजे हुआ। पुण्यात्मा ब्र. श्रीमान कपूरचंद जी एवं जननी श्रीमती श्यामादेवी (आपसे ही दीक्षित एवं समाधिस्थ आर्यिका पूज्य श्री विशान्तश्री माताजी) की कोख से एक ऐसा कमल (अरविन्द) खिला जिसने अपनी अनुपम सुगन्धी से सारे बुन्देलखण्ड को महका दिया । कभी-कभी आगत की आश्चर्य चकित करने वाली घटनाएँ वर्तमान में ही अपना संकेत देने लगती हैं । कुछ ऐसा ही हुआ बालक अरविन्द के साथ, जब वे बचपन में नग्न अवस्था में खड़े होकर हाथ में झाड़ू लेकर (पिच्छी का प्रतीक) माँ से बोले-मुनिराज का पड़गाहन करो क्योंकि कुछ दिन पूर्व उन्होंने इस तरह के दृश्य को देखा था। उक्त



दृश्य का आत्म पटल पर अंकन आज आचार्य विराग सागरजी के रूप में परिलक्षित हो रहा है । यह इस धरित्री का पुण्य उदय ही माना जाएगा ।

बालक अरविन्द की बाल्य अवस्था की क्रियाएँ सम्मोहन की सीमाएँ लाँघने में समर्थ थीं, सेवा कार्य में हृद दर्जे की दीवानगी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी । इसी भावना के कारण बालक अरविन्द सभी को सम्मोहित कर लेते थे । संवेदनशीलता की भावना ने उन्हें प्राणी मात्र की कल्याण कामना से आपूरित कर दिया था । यही कारण है कि आचार्य श्री विराग सागरजी अहर्निश साधना की असीम ऊँचाईयों की ओर अत्यन्त तीव्रता के साथ अग्रसर हो रहे हैं ।

अर्जन और सर्जना के विविध सोपान - बालक अरविन्द की प्रारंभिक शिक्षा पथरिया और इसके उपरांत श्री शांति निकेतन दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय कटनी में हुई । निष्णात गुरु पं. जगन्मोहनलालजी के सान्निध्य ने प्रज्ञा की अन्तर्ज्योति को जागृत कर दिया । ज्ञानाराधना की ललक और वैराग्य भावना की व्यग्रता ने मनोयोग पूर्वक अर्जन की प्रवृत्ति को परवान चढ़ने का काम किया, परिणाम स्वरूप १६-१७ वर्ष की अवस्था में दि. २० फरवरी १९८० (फाल्गुन शुक्ल ५ वि.सं. २०३६) बुढ़ार जिला शहडोल (म.प्र.) में परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागरजी से आपने क्षुल्लक दीक्षा ली तब आपका नाम पू. १०५ क्षुल्लक पूर्णसागर जी रखा गया, २०-२१ वर्ष की अल्पायु में दि. ९ दिसम्बर १९८३ (मगशिर शुक्ल ५ वि.सं. २०४०) को औरंगाबाद जिला (महाराष्ट्र) में वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण की, तब आपका नाम मुनिश्री विराग सागर जी रखा गया । दीक्षा ने शिक्षा के विकास क्रम को गंगा की धारा के समान प्रवाहमान रखने में एक ऊर्जयन्त - ऊर्जा से संचरित रखा, जिससे अल्प समय में आप न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य व आध्यात्म के महान चितेरे बन गए ।

महाव्रती की महती प्रभावना - आज का वातावरण विसंगतियों और विद्रूपताओं की कालिमा से कलंकित है । ऐसे वातावरण में मनुष्य का नैतिक विकास हो पाना काफी दुष्कर जान पड़ता है । सर्वत्र हिंसा, अनैतिकता, बेईमानी और झूठ का बोलबाला है, स्वार्थ की संकीर्णताओं ने व्यक्ति को संवेदन शून्य और हृदयहीन बना दिया है, प्रेम और भाईचारे के सद्व्यवहार की अपेक्षाएँ दिनोंदिन क्षीण होती जा रही हैं - ऐसे वातावरण में महाव्रती का संदेश जीवन में ऐसी ऊर्जा का संचार करता है । जिससे की जीवन की धारा ही बदल जाती है । आचार्य विराग सागरजी ने भ्रमित युवा पीढ़ी को आचरण और नैतिक मूल्यों की दृष्टि से जो दिशा - दृष्टि प्रदान की है वह इस सदी की श्रेष्ठतम घटनाओं में इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरित की जायेगी ।

कुशल संघ संचालक - मोक्ष के आकाँक्षी, वीतरागी पथ के पथिक, पदों से अलिप्त मुनि श्री विरागसागर जी महाराज की उत्तरोत्तर साधना, अनुशासन एवं आगमिक प्रणाली से प्रभावित होकर



अनेक आत्म हितैषी उनके साथ आत्म-साधना करने के लिए तत्पर हो गये, साथ ही लगभग १० आचार्य परमेष्ठी उनके मनोज्ञ व्यक्तित्व को देखकर उन्हें अपना आचार्य पद देकर संघ का भार सौंपना चाहते थे तथा कितनी ही बार तो अनेक आचार्यों ने उनके आचार्य पद की घोषणाएँ की लेकिन मुनि विराग सागर जी ने 'मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ', या 'मेरे गुरु अभी विराजमान हैं,' ऐसा कहकर उसे स्वीकार न किया फिर भी समय बड़ा बलवान होता है और ऐसा योग आया कि परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की आज्ञा एवं आशीर्वाद तथा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज एवं आचार्य श्री सुमति सागर जी आदि अनेक आचार्यों के आशीर्वाद से आचार्यत्व के गुणों से परिपूर्ण होने के कारण चतुर्विध संघ, द्रोणगिरि की समाज, पं. दरबारीलाल जी कोटिया (बीना) आदि अनेक विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र पर दि. ८-११-१९९२ (कार्तिक शुक्ला १३, वि.सं. २०४९ को) उन्हें आचार्य पद से विभूषित कर अपने भाग्य को सजाया था । इस प्रकार साधना-पथ पर उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर विराग सागरजी ने अपने ज्ञान, ऊर्जा और साधना के द्वारा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के जिन शीर्ष प्रतिमाओं को स्थापित किया यह असाधारण ही माना जायेगा।

वर्षायोग के अविस्मरणीय क्षण - संयम काल के दौरान आपने संपूर्ण भारत वर्ष में भ्रमण कर प्रभावना करते हुए धर्म की ध्वजा को फहराया तथा इस दौरान जहाँ - जहाँ भी आपका चातुर्मासिक प्रवास रहा, वहाँ आपके सम्मोहक व्यक्तित्व से जैन जैनेतरो पर ऐसी गहरी छाप पड़ी की नास्तिक भी आस्तिक हो गये । प. पू. गुरुवर के वृहद प्रभावना के साथ दुर्ग (म.प्र. १९८०), नागपुर महा. (१९८१), कारंजा (लाड़) (महा. १९८२ व ८३), भावनगर (गुज. १९८४), पांचवा (राज. १९८५), निमाज (राज. १९८६), जयपुर (राज. १९८७), भिंड (म.प्र. १९८८ व ८९), टीकमगढ़ (म.प्र. १९९०), श्रेयांसगिरि (म.प्र. १९९१), द्रोणगिरि (म.प्र. १९९२), श्रेयांसगिरि (म.प्र. १९९३), बीना (म.प्र. १९९४), ललितपुर (उ.प्र. १९९५), जबलपुर (म.प्र. १९९६), भिंड (म.प्र. १९९७, ९८ व ९९), सम्मदशिखरजी (झारखंड २०००), गया (बिहार २००१), श्रेयांसगिरि (म.प्र. २००२), भिलाई (छ.गढ़ २००३), कारंजा लाड़ (महा. २००४) मूड़बिंद्री (कर्णाटक २००५), मेलचित्तामूर (तमिलनाडू, २००६), उदगाँव (महा. २००७), बोरीवली (मुंबई-महा. २००८), गांधीनगर (गुजरात-२००९) लोहारिया (राज. २०१०) अजमेर (राज. २०११) जयपुर (राज. २०१२), इंदौर (म.प्र. २०१३), श्रेयांसगिरि (म.प्र. २०१४), पथरिया (म.प्र. २०१५), भिण्ड (म.प्र. २०१६) में चातुर्मास सम्पन्न हुए।

संयमी सृजक गुरुदेव - पूज्य गुरुओं के प्रति विनय भाव तथा शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं करुणा भाव तथा समाज के सही मार्गदर्शक एवं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति परमागाढ़ श्रद्धा को देख अनेक भक्तों ने आपको अपना गुरु चयन कर आपका शिष्यत्व धारण कर अपने जीवन को मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित किया व आपके साथ चलने को तैयार हो गए, आपने संयम काल के ३२ वर्षों में भारत के १० प्रांतों की लगभग ४०,००० कि.मी. पैदल यात्रा कर अनेकों सिद्धक्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों एवं नगरों



में आध्यात्मिक साधना कर अनेकों भव्यों के दीक्षाएँ दी हैं जिसमें अतिशय क्षेत्र बरासों (भिण्ड) की १३ मुनि दीक्षाएँ, ललितपुर की २१ दीक्षाएँ श्रवणबेलगोला की २५ दीक्षाएँ तथा उदयपुर की २६ दीक्षाओं, ने जनमानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है जिससे जैन - जैनैत्तरों में महती प्रभावना हुई। यही कारण है कि आप एक विशाल एवं श्रेष्ठ वटवृक्ष की तरह हैं जिसकी छत्रछाया में ८ आचार्य, १ उपाध्याय, ६८ मुनि, ४ गणिनी, ६४ आर्यिका, ५ ऐलक, ३२ क्षुल्लक, २२ क्षुल्लिकाएँ एवं अभी आपके निर्देशन में लगभग १६२ से भी अधिक ऐसे भी विनय साधक हैं जो अंतेवासिन के रूप में अपनी साधना में संलग्न हैं तथा आपके कुशल निर्यापकत्व में लगभग २१ साधुओं एवं साध्वियों एवं लगभग १४ व्रती श्रावकों ने समाधि कर अपने जीवन को सार्थक किया है।

अनुपम अनुशासन एवं चारित्र साधक - चारित्र संवर्धक अनुशासन के पथानुगामी गुरुदेव आप मात्र शिष्यों को दीक्षा ही नहीं देते किन्तु उन्हें शिक्षा दे अनुशासन में भी रहना सिखाते हैं। जो शिष्य अनुशासनवान होते हैं उन्हें सतत संस्कारित कर ऊँचा उठाते हैं। अपने शिष्यों में आध्यात्मिक संत युवा आचार्य श्री विशुद्ध सागरजी, क्षमामूर्ति आचार्य श्री विशद् सागर जी नवचेतना के दूत आचार्य श्री विभवसागरजी, ज्ञानमनीषी आचार्य श्री विमर्श सागरजी, आचार्य श्री विनिश्चय सागरजी, आचार्यश्री विहर्ष सागर जी तथा प्रवचन पटु आचार्य श्री विमद सागर जी आदि को तो आपने २००५ कुंथुगिरि से ही आचार्य पद की घोषणाओं कर दी थी, किन्तु धन्य है ऐसे शिष्यों को, कि उन्होंने पद की होड़ नहीं की। अपितु उक्त महाराजों में से अभी ३ मुनिराजों को गुरुदेव ने ही अपने हाथों से उन्हें आचार्य पद के योग्य शिक्षा एवं प्रायश्चित ग्रंथ पढ़ाने के पश्चात औरंगाबाद में ३१ मार्च २००७ को तथा मुनि श्री विमर्श सागर जी एवं मुनि श्री विनम्रसागर जी को बांसवाड़ा (राज.) में १२.१२.२०१० को आचार्य पद से विभूषित कर अपने हृदय की उदारता का साकार दर्शन दिया।

अनुशासक वही हो सकता है जो प्रथम स्वयं ही अनुशासन के सांचे में ढ़ला हो, वे अनुशासन में मात्र ढ़ले ही नहीं, किन्तु समग्र शिष्यों को भी अनुशासन में ढ़ाला है यद्यपि अनुशासन विहीन ईर्ष्यालु कुछ शिष्यों ने अपना ग्रुप बना दैविक झूठे चमत्कारों की ख्याति अर्जन हेतु अनुचित प्रयत्न किये किन्तु आचार्यश्री ने उन्हें प्रथम समझाया जब वे नहीं माने तो उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया जिससे उन लोगों ने समय-समय पर आप पर छींटा कशी भी की, किन्तु आप जरा भी विचलित नहीं हुए। सूर्य की भाँति प्रकाशमान ही होते रहे हैं तथा आपने अनुशासन में किंचित् भी ढ़ील नहीं दी और न किसी परिस्थिति के सन्मुख घुटने टेके हैं। यही कारण है उनमें से कतिपय लोगों ने क्षमायाचना कर प्रायश्चित लिया।

अभीक्षण ज्ञानोपयोगी - वैराग्य को दृढ़ करने एवं साधना को निर्दोष बनाने तथा आगमानुकूल चर्या बनाने के लिए, समय का सदुपयोग, धर्म ध्यान की वृद्धि एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत अहर्निश आचार्य प्रणीत शास्त्रों के स्वाध्याय में आप निमग्न रहते हैं तथा अपने साधु समूह को भी



निरंतर स्वाध्याय के महत्त्व को बताकर उन्हें अध्ययन के लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते रहते हैं, यही कारण है कि आपने श्री षट्खण्डागम जी धवला की ५ वर्षों में १६ वाचनायें बुंदेलखण्ड में मूर्धन्य विद्वानों की उपस्थिति में निर्विघ्न पूर्ण की तथा गुजरात के अहमदाबाद नगर के उस्मानपुरा (गुज.) में कषाय पाहुड जय धवल टीका भाग-1, भाग-2 की वाचना विद्यासागर तपोवन सिद्ध क्षेत्र तारंगाजी (गुज.) में, भाग-3 की वाचना केशरियाजी (राज.) एवं लोहारिया में तथा भाग-4 की वाचना खांदू कॉलोनी बांसवाड़ा एवं केकड़ी में निर्विघ्न पूर्ण हुई। साथ में अनेक स्थानों में सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर व विद्वत गोष्ठी का सफल आयोजन किया तथा आपने अपने शिष्यों को महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, अष्टसहस्री, त्रिलोकसार, तिलोपपण्णति, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार, आचारसार, लब्धिसार प्रमेयरत्नमाला, परीक्षामुखसूत्र, आप्तमीमांसा, प्रमाणप्रमेयकलिका, न्यायादीपिका लघीयस्त्रय जैसे महान ग्रंथों का अध्ययन कराया, जिससे स्पष्ट है कि आप चारों अनुयोगों के प्रकाण्ड विद्वान हैं। यही देख स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी श्रवणबेलगोला के मुख से शब्द प्रस्फुरित हुए कि “आचार्य विराग सागरजी एवं उनका संघ चलती-फिलती युनिवर्सिटी है।”

श्रुतसेवा - ज्ञान के प्रति अभिरूचि होने से आप निरंतर श्रुत सेवा में तल्लीन रहते हैं और आगम के चिंतन एवं मनन के द्वारा तत्त्व की गहराई में उतरकर उसके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर आगम की पुष्टि करते हुए लोगों की भ्रांति को दूर कर उनके सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं। इस प्रकार आपने आगम के आधार से अपने साधना काल में अनेक कृतियों का सृजन कर माँ जिनवाणी के भण्डार को समृद्ध कर एवं पर के मिथ्यांधकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश किया है, जिसमें मुख्य कृतियाँ सम्यग्दर्शन, व्यसन विचार, जिनेन्द्र दर्शन पूजन, शुद्धोपयोग, तीर्थंकर दिव्य दर्शन, सल्लेखना से समाधि, आगम चकखू साहू, परम दिगम्बर जैन मुनि, सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म आदि हैं। जिसमें शुद्धोपयोग कृति, जिस पर लगभग १५० विद्वानों ने समीक्षा कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है क्योंकि यह कृति अनेक मिथ्या विकल्पों का निसर्ग करती है। साहित्य सृजन की इस श्रृंखला में प.पू. कुंदकुंदाचार्य स्वामी द्वारा रचित वारसाणुपेक्खा नामक ग्रंथ पर आपके द्वारा लिखी गई “संस्कृत सर्वोदय टीका”, तथा रयणसार ग्रंथ पर संस्कृत “रत्नत्रय वर्धिनी टीका”, जिन आगम के लिए एक ऐतिहासिक उपलब्धि है क्योंकि प. पू. आचार्य कुंदकुंदस्वामी के इस ग्रंथ पर संस्कृत टीका अभी तक अनुपलब्ध थी, श्रुत सेवा में आपका यह महान अवदान युगांत तक सदैव स्मरण किया जायेगा। इस तरह सर्जना के क्षेत्र में लगभग ५० पुस्तकों के द्वारा सरस्वती के भण्डार को भरने का आपने जो भगीरथ कार्य किया है वह अनुपम है इनमें भारतीय साहित्य, धर्म, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के ऐसे बहुविध रूप देखने को मिलते हैं जिन्हें देखकर आचार्यश्री की बहुमुखी प्रतिभा का सहज ही आकलन किया जा सकता है।



आपकी सत् प्रेरणा से श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड अनेकों धार्मिक एवं लौकिक (शिशु, प्राईमरी, मिडिल एवं हाईस्कूलीय) शिक्षायें प्रदान कर रही हैं। इसी प्रकार पन्ना में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन स्कूल, ब्रजपुर में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विद्यालय भी अपनी मिडिल तक की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। बीना में आचार्य विराग सागरजी बी.एड. कॉलेज ने अल्प समय में बहुत बड़ी सफलता हासिल की है।

धर्म प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में विराग वाणी मासिक पत्रिका निरन्तर हर स्तर के आलेखों से भरपूर रहती हुई जन मानस को आकर्षित करती है।

बहुआयामी विशेषताओं से समन्वित पूज्य आचार्यश्री के दर्शन इस रूप में भी करें :-

1. जो T.V., मोबाईल तथा लेफ्टोफ का तथा पंखा, कूलर एवं A.C. का उपयोग नहीं करते हैं।
2. जो बाथरूम में लघुशंका एवं शौचालय में दीर्घशंका (शोच) नहीं जाते हैं।
3. जो करीब २५ वर्षों से नाखून अपने हाथ से निकालते हैं (ब्लेड, नेलकटर या कैंची से नहीं निकालते हैं)
4. जिन्हें कभी थूकते हुए नहीं देखा गया है।
5. जो आहार में द्विदल नहीं लेते हैं।
6. दही तेल का जिनका आजीवन त्याग है।
7. सभी प्रकार की हरी पत्तियाँ एवं मटर के अलावा सभी हरी फलियों का जिनका आजीवन त्याग है।
8. जो प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को नीरस करते हैं।
9. जो किसी भी महिला से एकान्त में अकेले चर्चा नहीं करते हैं।
10. जिनका कोई प्रोजेक्ट नहीं है तथा चंदा चिट्ठा से दूर रहते हैं।
11. जिनके संघ में मोटर, कार, जीप तथा अनावश्यक परिग्रह नहीं हैं।
12. जिनके संघ में कोई संघ संचालिका नहीं हैं।
13. जो तंत्र, मंत्र नहीं करते तथा किसी की कुण्डली एवं हाथ आदि नहीं देखते हैं।
14. जो औषध (दवाईयाँ) को न रखते हैं न बताते हैं।
15. जिनमें पंथ-परंपरा का कोई दुराग्रह नहीं हैं।
16. जो गरीब और अमीर को समान रूप से देखते हैं।
17. जो सदैव ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते हैं।
18. जो किसी की बुराई/निंदा न सुनते हैं और न करते हैं।



19. बड़े-बड़े कष्टों में जिनकी सहिष्णुता देखी गई हैं।
20. बड़े-बड़े उपसर्गों में भी जिनकी बड़ी धैर्य व समता के दर्शन हुए।
21. जिन्होंने अभी तक विभिन्न मंत्रों की लगभग तीस लाख से भी अधिक जाप की हैं।
22. जो विहार आदि के समय में भी प्रायः जाप करते रहते हैं।
23. जो श्वासोच्छ्वास में कार्योत्सर्ग करते हैं।
24. जो मुनिचर्या के 28 कृतिकर्म प्रतिदिन करते हैं।
25. जो अपने संघस्थ साधुओं को आगम, अध्यात्म, सिद्धांत, व्याकरण, न्याय आदि की शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा भी देते हैं।
26. जो संघस्थ आबाल-वृद्धों का पूरा ध्यान रखते हैं।
27. जिन्होंने अभी तक कर्मदहन, णमोकार पैंतीसी, सर्वदोष परिहार, प्रत्याख्यान, पंचविंशतिका, वचनगुप्ति, नीतिसागर, षड्रसी, भक्तामर, समवशरण व्रत कर लिये हैं तथा चारित्र शुद्धि व्रत कर रहे हैं।
28. जो प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को प्रायः २२ घंटे का मौन रखते हैं। तथा प्रतिदिन जो आवश्यकों के अलावा भी एक घंटे का मौन रखते हैं।
29. विशाल संघ के संचालन की जिनकी अपूर्व ही क्षमता हैं।
30. जिनका 10 अन्न एवं 15 हरी का आजीवन नियम हैं।

प्रतिभा सम्पन्न गणाचार्य - 16-17 अगस्त 2003 जब उपसर्ग के बादल आप पर मंडराये, तब आपकी एक आसन से 36 घंटे की लगातार निराहार योग ध्यान साधना, अथाह समता, मेरुवत् संकल्प शक्ति से प्रभावित होकर छत्तीसगढ़ (दुर्ग, वैशाली, भिलाई आदि अनेक स्थानों) की समाज ने आपको 'उपसर्ग विजेता' की उपाधि से अलंकृत कर अपने जीवन को कृतार्थ किया। 2004 के चातुर्मास काल में आपकी निर्मल साधना से प्रभावित होकर कारंजा समाज ने आपको 'चारित्र शिरोमणि' की उपाधि से सम्मानित कर अपने आपको गौरवान्वित किया।

आपने अपनी कुशलता के द्वारा अल्पायु में शताधिक पथिकों को मोक्ष की राह दिखाकर उनका मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है इसलिए परम पूज्य गणाधिपति गणधराचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज ने 2005 में 15 आचार्यों एवं 200 साधुओं की उपस्थिति में जनसमूह के समक्ष आपको 'श्रमण रत्नाकर' की उपाधि से सुशोभित किया था। आपने जो धवला ग्रंथ की 16 पुस्तकों की वाचना लगभग 150 विद्वानों की उपस्थिति में 5 वर्षों में पूर्ण की है इससे प्रभावित होकर 2005 में मूडबिंद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी एवं वहाँ की समाज ने आपको 'सिद्धांतरत्न' की उपाधि प्रदान कर अपना अहोभाग्य समझा था। आपने अपने संयमी जीवन में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों का रसास्वादन किया है, कराया है इसलिए



आप उपसर्गों से गुजरकर भी काँटों में गुलाब की तरह विकसित हुए अतः आपकी अध्यात्म साधना से प्रभावित होकर धर्माधिकारी डॉ. वीरेन्द्रकुमार हेगड़े जी ने 2005 धर्मस्थल में 'अध्यात्म योगी' की उपाधि से विभूषित कर अपना गौरव बढ़ाया है । 2006 मेलचित्तामूर में स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भट्टारकजीने 'समता मूर्ति' की उपाधि से, 2007 औरंगाबाद में त्रय आचार्य पद प्रतिष्ठा के अवसर पर परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागरजी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विभव सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागरजी एवं वहाँ की समाज ने लगभग 25 संघों के नायक होने से आपको 'गणाचार्य' तथा 2007 शिरडशाहपुर में हुए श्री मल्लिनाथ श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के पावन सुअवसर पर परम पूज्य आचार्य विभव सागरजी एवं सकल दिगम्बर जैन समाज ने 'वात्सल्य रत्नाकर' की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन में गुरु महिमा के प्रकटीकरण पर अपने जीवन को सौभाग्यशाली बनाया । आपने अपने विगत 27 वर्षों के साधनाकाल में राष्ट्र के लगभग संपूर्ण प्रांतों में भ्रमण कर अहिंसा व शाकाहार का संदेश जन जन तक पहुँचाया है अतः सन् 2007 में आपके मुनि दीक्षा के 25 वें वर्ष में प्रवेश करने पर कुंजवन उदगाँव में राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव के अवसर पर कुंजवन ट्रस्ट समिति उदगाँव, राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव समिति, राष्ट्रीय विराग युवा व महिला मंच भिंड तथा सांगली एवं विधायक कपूरचंद जी धुवारा ने आपको 'राष्ट्रसंत' की उपाधि प्रदान की । इसी अवसर पर प. पू. निमित्तज्ञानी आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की कीर्ति को देश-प्रदेशों में प्रचार करने से प.पू. तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज ने आपको 'विमल कीर्ति' की उपाधि दे असीम वात्सल्य का अद्वितीय उपहार दिया, आपकी निर्मल छवि को देख सकल दिगम्बर जैन समाज व विमर्श सेवा समिति शिवपुरी ने 'आचार्य गौरव' तथा सिद्धांत शास्त्रों के अभीक्षण ज्ञान से ओत प्रोत होने से पं. धनपाल हबले सहित उपस्थित विद्वानों ने आपको 'सिद्धांत चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया । वर्तमान में न्याय एवं दर्शन की क्षीण होती विद्या का आपने स्वयं अध्ययन किया एवं विशाल शिष्य समूह को कराया इसलिए 'राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा वर्ष समापन समारोह 2008' की भव्य आयोजना के अवसर पर श्री 1008 पार्श्वनाथ स्वामी देहरासर ट्रस्ट, गुलालवाड़ी, मुंबई सहित भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी जी कोल्हापुर, भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी जी मेलचित्तामूर, प्रतिष्ठाचार्य प्रदीप जैन, प्रतिष्ठाचार्य कमलशास्त्री कोलकाता तथा पंडित भरत काला आदि ने प.पू. गुरुदेव को 'न्याय भास्कर' की उपाधि प्रदान की । तथा इसी अवसर पर मुनि श्री विवर्जन सागर जी महाराज की भावना के अनुरूप सकल दिगम्बर जैन समाज आदम्पाकम (चेन्नई) तथा पं. सिंहचंद्र जी शास्त्री ने आपको 'श्रमण सूरि' की उपाधि से विभूषित किया । इसी श्रृंखला में 2009 में 1008 श्री नेमीनाथ भगवान एवं 72 करोड़ 700 मुनिराजों की निर्वाणस्थली श्री गिरनार जी सिद्धक्षेत्र पर आयोजित सप्त मुनि दीक्षा के पावन अवसर पर गिरनार गौरव प.पू. आचार्य श्री निर्मल सागर जी महाराज ने 'आचार्यरत्न' की उपाधि प्रदान कर असीम वात्सल्य का परिचय दिया । तथा 2009 में तलोद नगर में हुई पद्मनंदी पचविंशतिः ग्रंथ की वाचना के पावन प्रसंग पर



तलोद (गुज.) समाज द्वारा 'विद्या वारिधि' की उपाधि दे अपने भाग्य को प्रशंसनीय किया तथा वैज्ञानिकाचार्य श्री कनकनंदीजी महाराज ने 2010 डूंगरपुर (राज.) में प्रशांतमूर्ति की उपाधि से अपने वात्सल्य का नीर उड़ेल दिया। साथ ही 2010 में लोहारिया (राज.) की सम्पूर्ण समाज ने आपकी आगमिक एवं आदर्शमयी चर्या को देखकर 'चर्या चूड़ामणि' की उपाधि दे अपने जीवन को कृतार्थ किया तथा 2010 द्वय आचार्य पद प्रतिष्ठा के अवसर पर मुनि विमर्शसागरजी एवं मुनि विनम्रसागरजी ने बांसवाड़ा (राज.) में सूरिगच्छाचार्य की उपाधि दे सुयोग्य शिष्यत्व का परिचय दिया।

इसी प्रकार आपके लिए समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर विद्वानों ने उपाधियाँ दी, यथा सन् 1988 बरासों में समाज ने 'क्रांतिकारी संत,' 1994 बीना की समाज ने 'बुंदेलखण्ड के प्रथमाचार्य,' 1995 जबलपुर में साहित्य मनीषी श्री सुरेश 'सरल' जी ने 'निस्पृही संत,' 1999 भिण्ड में पण्डित सुमतिचंद्र जी शास्त्री ने 'अध्यात्म सिद्धांत वारिधि,' 2001 गया में श्री पण्डित लक्ष्मण प्रसाद जी ने 'न्याय मार्तण्ड,' 2002 श्रेयांसगिरि में 'तीर्थ उद्धारक एवं संत शिरोमणि,' 2004 राजिम में पण्डित श्री ऋषभकुमार जी ने 'समाधि सम्राट' 2005 शमनेवाड़ी में परम पूज्य आचार्य गुणधरनंदी जी ने 'ज्ञान दिवाकर' की उपाधि से विभूषित कर अपने आप को गौरवान्वित किया।

2011 अजमेर चातुर्मास के तहत समग्र जिले में विश्वहित की भावना से चलाये गये व्यसनमुक्ति अहिंसा शाकाहार अभियान का सफल नेतृत्व देखकर आपको समग्र अजमेर समाज ने "विश्वहितैषी" तथा असीम वात्सल्य को पा महासभा के पदाधिकारियों सहित अजमेर समाज ने आपको "वात्सल्य पुञ्ज" की उपाधि से अलंकृत कर स्वयं को गौरवान्वित किया।

कृतित्व एवं व्यक्तित्व की गौरव गाथा - आपके ऊर्जा पूर्ण महामानवीय जीवन पर साहित्य मनीषी श्री सुरेश 'सरल' जी ने 'निस्पृही संत' कृति तथा प्राकृत मनीषी प्रो. उदयचंदजी उदयपुर ने साहित्य विद्या से परिपूर्ण प्राकृत भाषा में 'विराग सेतु' महाकाव्य भाग- 1-2 कृति लिख जन मानस को आचार्य श्री के असीम व्यक्तित्व से परिचय कराया है एवं डॉ. लोकेश खरे ने आपके असीम कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर पी.एच.डी. कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है तथा आपके राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा के अवसर पर विरागाभिवंदन अभिनंदन कृति का सृजन किया गया था।

अहिंसा और मानव धर्म के संदेश वाहक - आज सर्वत्र हिंसा का साम्राज्य है। यह हिंसा किसी जीव की नहीं वरन् उन मूल्यों की है जो हमारी संस्कृति के प्रबल आधार है। सांस्कृतिक मूल्यों का आज जिस तरह से हास हो रहा है वह अत्यन्त दुःखदायी है। मानवीय सम्बन्धों में जिस तीव्रता के साथ बेचारगी का बोलबाला बढ़ रहा है उससे आत्मीयता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। संवेदनशून्य मानव आज जिस मुकाम पर खड़ा है वह एकदम हताश, निराश और विवश है, ऐसे नैराश्य के वातावरण में आचार्य श्री की वाणी के द्वारा जिन अमृत वचनों की वर्षा जगह-जगह पर हो रही है वह संतप्त मानवों के लिए संजीवनी की तरह जीवनदायिनी का काम कर रही है।



जीवन का अर्थ क्या है ? इसे अर्थवान बनाने के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है ? इतिहास के द्वारा स्मरण पाना कैसे संभव है ? आदि; जीवन के उन शाश्वत सूत्रों का संदेश हमें आचार्य श्री के साहित्य में देखने को मिलता है । व्यक्ति को आज इस बात का बोध होना चाहिए कि सबसे बड़ा मानव धर्म है । इसकी रक्षा के लिए व्यक्ति को सतत सचेत रहना चाहिए । आचार्य श्री ने मानव धर्म और महावीर के प्रमुख सिद्धांत अहिंसा का जन-जन तक पहुँचाने का जो स्तुत्य कार्य किया है उसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा ।

॥ ॥ ॥



प्रस्तावना

भारत की पावन वसुन्धरा को तीर्थकर जैसे महापुरुषों ने अपनी पावन पग रज से सुवासित किया है, अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की उत्तरवर्ती समृद्ध परंपरा में समय-समय पर अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी अंतरंग साधना के बल से संपूर्ण विश्व को आश्चर्य चकित किया है। कहा जाता है-

कलौ काले चले चित्ते देहचान्नादि कीटके ।

एतत्त्वित्त चमत्कारः जिन रूप धरा नराः ।।

ऐसे भीषण पंचम काल में जहाँ मनुष्य का शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है चित्त अति चंचलता को प्राप्त है ऐसे समय में जिन रूप को धारण करना। निर्ग्रन्थ दीक्षा धरना किसी चमत्कार से कम नहीं है संतों की महान त्याग व तपस्या ऐसी अद्भूत होती है जो किसी परिचय की मोहताज नहीं। उनका तो शरीर मात्र ही मोक्षमार्ग का निरूपण करता है। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज कहते हैं-“अवाग्विसर्गा वपुषा निरूपयन्त” अर्थात्-बिना बोले ही मात्र शरीर से जो मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं ऐसे वे निर्ग्रन्थ संत होते हैं। आगम के गूढ़ रहस्यों को अपनी लेखनी से लिपिबद्ध कर प्राचीन/अर्वाचीन आचार्यों ने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में विपुल साहित्य सृजन करके भारतीय वाङ्मय की श्री वृद्धि में अद्वितीय योगदान किया है।

संस्कृत जैन वाङ्मय के रचयिताओं में ईसा की दूसरी-तीसरी सदी के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत ग्रंथ महान कल्याणकारी ग्रंथ है जिसमें रचयिता स्वामी समंतभद्राचार्य का प्रमुख स्थान है। इनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथकारों ने इनकी विविध रूपों में प्रशंसा लिखकर अपने को गौरवान्वित किया है। इतना ही नहीं, दक्षिण भारत में उपलब्ध अनेक शिलालेखों में इनकी यशोगाथा का उल्लेख मिलता है। इनके महान् प्रभावक व्यक्तित्व का ज्ञान इससे भी होता है कि इनके द्वारा रचित गागर में सागर की तरह स्तुतिपरक तथा अन्य सभी ग्रंथों पर इनके परवर्ती अनेक आचार्यों ने व्याख्या ग्रंथ लिखकर उनके चिंतन को सुरक्षित ही नहीं रखा, अपितु अधिक विस्तार देकर अपने जीवन को धन्य माना।



ग्रंथ के कर्ता का कृतित्व-

तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्यश्री उमास्वामी महाराज को जैसे संस्कृत के आद्य जैन सूत्रकार होने का गौरव प्राप्त है, वैसे ही आचार्य श्री समंतभद्र महाराज को आद्य स्तुतिकार होने का गौरव प्राप्त है। स्तोत्र-काव्य का सूत्रपात आपके द्वारा ही हुआ। इनकी उपलब्ध कृतियों में रत्नकरण्डक श्रावकाचार के अतिरिक्त शेष आप्तमीमांसा, युक्त्यानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, और स्तुतिविद्या नामक चारों अद्भूत कृतियाँ स्तुति परक ही हैं। इनके अतिरिक्त इनकी अनुपलब्ध रचनाओं में जीव सिद्धि और गंधहस्ति महाभाय नामक रचनाओं का उल्लेख क्रमशः आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण में तथा नाटककार हस्तिमल ने अपने विक्रान्तकौरवम् नामक ग्रंथ में किया है। इनके अतिरिक्त भी आपके द्वारा रचित तत्वानुशासन, प्राकृत-व्याकरण, प्रमाण पदार्थ, कर्म प्राभृत टीका इन अनुपलब्ध ग्रंथों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वीतराग तीर्थकर की स्तुतियों में दार्शनिक मान्यताओं का समावेश आपकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आप स्याद्वाद विद्या के संजीवक और प्राण प्रतिष्ठापक परीक्षा प्रधानी महान् तार्किक आचार्य थे। इनके पूर्व तत्वज्ञान मात्र आगमों के आधार पर ही प्रतिष्ठित था किंतु इन्होंने उन तत्वों को दार्शनिक शैली में स्याद्वाद तथा प्रमाण और नय के आधार पर प्रतिष्ठित करके जैन न्याय की आधारशिला रखी और अनेकान्तवाद के क्षेत्र को व्यापक बनाया। इनके समय से ही हेतुवाद, आगमवाद से पृथक् दिखने लगा था। इसीलिए उन्होंने प्रमाण को स्याद्वादनय संस्कृत बतलाकर श्रुतज्ञान को स्याद्वाद शब्द से संबोधित किया। प्रमाण व नय का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करके अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय भी आपको ही है। वस्तुतः आपका युग दार्शनिक क्रांति का युग था अतः विभिन्न एकान्तवादों का सूक्ष्मता से परीक्षण करके प्रत्यक्ष युक्तियों से उनका खंडन किया। आचार्य अकलंकदेव ने आपको भव्य जीवों के लिए अद्वितीय नेत्र एवं स्याद्वाद मार्ग का विशेषण दिया है। आपने शास्त्रार्थों में बड़े-बड़े विद्वानों को परास्त किया था। इसलिए आचार्य जिनसेन ने इन्हें कविकत्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व आदि गुणों का धनी बताया। अनेक शिलालेखों और ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में आपके विभिन्न गुणों और विशेषताओं का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, अनेक उल्लेखों में आपको भावी तीर्थकर तक बतलाया गया है। भगवान् महावीर के सर्वोदय तीर्थ के आप प्रमुख प्रवक्ता थे।

आपकी स्तुतिपरक दार्शनिक कृतियों पर आचार्य अकलंक देव और आचार्य विद्यानन्दजी जैसे अपने युग के उद्भट आचार्यों ने वार्तिक और निवृत्ति जैसी टीकाएँ लिखकर मौलिक ग्रंथों के प्रणेता होने का यश प्राप्त किया। इनकी उपलब्ध अन्य समस्त कृतियों पर भी व्याख्याएँ लिखने में बड़े-2



आचार्यों ने अपने आप को कृतार्थ समझा। आपने जैन वाङ्मय को वह धरोहर प्रदान की है जिसकी यशोगाथा युगों-युगों तक गायी जायेगी।

आचार्यश्री समंतभद्र महाराज का जीवन वृत्त-(व्यक्तित्व)

दक्षिण भारत के चोलराजवंशीय क्षत्रिय महाराजा उरगपुर के प्राणप्रिय पुत्र थे। इनका जन्म उरगपुर में ही ईसा की दूसरी व तीसरी शताब्दी में हुआ। इनके माता-पिता तथा शिक्षा गुरु के विषय में कुछ विशेष ज्ञातव्य नहीं है। इनका जन्म क्षत्रीय वंश में हुआ उनका बचपन का नाम शांतिवर्मा था, शांतिवर्मा बड़ा ही होनहार बालक था उसके अंदर प्रतिभा बचपन से ही झलकती थी, ज्ञान के प्रति अंदर से प्यास थी। परिचर्या में सादगी, सत्यता, न्यायशीलता, सदाचार जैसे गुण एक साथ प्रकाशित होते थे। इनके गुरु तथा गुरु परंपरा का पूर्णतः उल्लेख इतिहास के झरोखों में देखने नहीं मिलता है लेकिन उनकी विद्वतता तथा बुद्धि चातुर्य को देख कर लगता है कि पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र स्वामीजी के गुरु बड़े विद्वान थे। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कठोर साधना के साथ-2 तप, त्याग, आराधना, भक्ति, स्तुति, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त के आचरण विषयक अनेकों ग्रंथों का प्रणयन किया और साधना के दौरान गुरु के सान्निध्य में ही उन्हें जीवन में एक बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ा उन्हें मठ से विहार करते समय अचानक ऐसी भीषण बीमारी हो गई कि वे चाहे जितना भी आहार कर ले परंतु क्षुधा का शमन हो ही नहीं रहा था, क्षुधा वेदना निरंतर बढ़ती ही जा रही थी और क्षुधा वेदना असह्य होने से साधना में विघ्न होने लगा। परंतु फिर भी आचार्य भगवन् अपनी साधना में दृढ़ रहे क्योंकि सच्चे साधक लिये गये व्रत को प्राणान्त तक नहीं छोड़ना चाहिए। हिन्दु साहित्य में भी कहा है कि-

**“रघुकुल रीति सदा चली आयी।
प्राण जाये पर वचन न जाई।”**

कहने का तात्पर्य है कि साधक प्राण को त्यागना अच्छा मानता है परंतु प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकता तत्पश्चात् आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी अपने गुरु के निकट जाते हैं उनकी चर्चा होती है। अंत में गुरु निर्णय देते हैं- कि हे यति! मैं अपने ज्ञान से जान रहा हूँ कि भविष्य में आपके द्वारा बहुत बड़ी धर्म प्रभावना होने वाली है इसलिए आपको सल्लेखना/समाधि ग्रहण करना उचित नहीं है मेरी आज्ञा है कि जैसे बने वैसे रोग का शमन करके आइए, यद्यपि आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी प्रकाण्ड विद्वान व दृढ़निश्चयी थे वे संयम को छोड़ने से प्राण छोड़ना श्रेष्ठ मानते थे परंतु गुरु की आज्ञा थी जैसे बने वैसे रोग का शमन करो। आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी की श्रद्धा की परीक्षा थी।

बंधुओ! श्रद्धा की परीक्षा कहने से नहीं अपितु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी गुरु आज्ञा पर दृढ़ रहने से है। विश्वास को तौला जाता है जब व्यक्ति विपरीत परिस्थिति से घिरा रहता है तब धैर्य



व दृढ़ता रखना कठिन होता है परंतु आचार्य समंतभद्र का विश्वास था कि कर्मों के फल को तो भोगना ही पड़ता है, कर्मों को कोई बांट नहीं सकता। कर्मों का उदय आने पर समता धारण करना ही श्रेष्ठ है साथ ही गुरु आज्ञा सर्वोपरि है। क्योंकि गुरु दूरदृष्टा होते हैं, गुणों में जो वजनदार हो वह गुरु कहलाते हैं, जिसमें गुरुत्व का आकर्षण हो, मार्गदर्शन की कला हो अनेक प्रकार से सोचने समझने की कला हो वह गुरु है।

एक शिष्य के जीवन में गुरु प्राणाघात होते हैं, जीवन के सबसे बड़े सहारे, संबोधक, मन को प्रसन्न करने वाले, सन्मार्ग पर ले जाने वाले वात्सल्यमयी, करुणासागर, होते हैं। गुरु अंधे की आंखें, गूंगे का मुख, पंगु के पैर, बहरे के कान तथा निर्धन को धन देन वाले होते हैं क्योंकि गुरु कभी अपने शिष्य को दुःख या कष्ट के बीच नहीं देखना चाहते हैं, गुरु का हर वचन, हर बात शिष्य के लिए अनूठी/अनुपम है। गुरु की डाँट भी उपलब्धियाँ देती है। कहा भी जाता है-

गुरु मारे धम्म-2, विद्या आवे छम्म-2, और भी कहा-

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है गढ़-गढ़ काढ़े खोट।

अंतर हाथ पसार कै, बाहिर मारै चोट।।

शिष्य के लिए गुरु के वचन औषधी है वह प्राण रक्षक औषधी, जीवन दायक संजीवनी बूटी है जो उसका प्रयोग करता है उसके सब रोग दूर हो जाते हैं। आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी जी गुरु आज्ञा को स्वीकार करते हैं और रोग शमन का उपाय सोचते हैं। उपाय न मिलने पर वे अपनी वेशभूषा परिवर्तित कर लेते हैं क्योंकि वे योग्य शिष्य थे उसे व्याख्या से समझाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कुछ काम संकेत के होते हैं और कुछ विस्तार के होते हैं और वेशभूषा परिवर्तित कर वे क्षुधा शमन हेतु विभिन्न स्थानों की ओर प्रयाण करते हैं और उन स्थानों के अनुसार अलग-2 रूप धरते हैं। आचार्य भगवन् अपना वेश बदल कर सबसे पहले कांची में मलिन वेषधारी नग्न रहे लेकिन क्षुधा पूर्ति नहीं हुई। फिर लम्बून नगर में गये वहाँ भस्म धारण कर साधु बने पर रोग शमन नहीं हुआ। बौद्ध भिक्षुक का वेश धरा परंतु भिक्षा से भस्मक व्याधि दूर नहीं हुई। इसके पश्चात् दसपुर नगर में मीठा भोजन करने वाले साधु बने, फिर वाराणसी में श्वेत वस्त्र को धारण करने वाला तपस्वी बना वहाँ भी रोग शमन का कोई उपाय नहीं मिला, अंत में अपनी विद्या व बुद्धि के बल से वे शिव मंदिर में पहुँच गये। वहाँ का राजा शिवजी का परम भक्त था अतः पर्याप्त मात्रा में वही-पकवान आदि सामग्रियाँ चढ़ाता था। आचार्य समंतभद्र महाराज ने सोचा कि इस मंदिर में रहकर चढ़ोत्तरी खाता रहूँगा तो अवश्य ही रोग शमन हो जायेगा। उन्होंने अपना वेश बदल ब्राह्मण का वेश बनाया। और उस मंदिर के पुजारी से कहा-हे पुजारी! तुम्हारी सारी जिंदगी शिव जी की सेवा, भक्ति करते-2 गुजर गई परंतु तुमको आज



तक शिव जी को भोग नहीं लगा पाया, मेरे पास ऐसी विद्या है कि मैं शिवजी को जितना नैवेद्य चढ़े सारा खिला सकता हूँ। उस पंडित की ऐसी बात सुन कर पुजारी को बड़ा आश्चर्य हुआ-कि अरे! यह कैसा पंडित है जो परमात्मा को भोजन करायेगा पुजारी ने कहा हाँ हे पंडित क्या तुम में इतनी शक्ति है पंडित ने कहा यह शिवजी की पिंडी भोजन करेगी और सब मन का भोग लगेगा। तथा भगवान उस भोग का उपभोग करेंगे। पंडितजी की आश्चर्य में डालने वाली बात को सुनकर वहाँ स्थित जनसमूह तथा पंडितों को विश्वास नहीं हुआ लेकिन पंडितजी विश्वास दिलाते हैं। तब पुजारी सोचता है कि देखते हैं इसकी भक्ति को तभी पंडितजी ने कहा-कि इस कार्य को करूँगा अवश्य परंतु मेरी एक शर्त है वह यह है कि भगवान को भोजन कराते समय कोई भी व्यक्ति वहाँ नहीं रहेगा पर्दे के पीछे बस में और शिवजी रहेंगे। पंडितजी के कहे अनुसार मंदिर का दरवाजा बंद कर दिया गया अब तो क्या था सवा मन का भोग और महाराज का आसाध्य रोग। रोगी को औषधी मिल जाए तो कहना ही क्या। आचार्य समंतभद्र महाराज कुछ ही देर में वह सवा मन का भोग पचा गये, इतना भोजन करने के बाद निद्रा सताती थी तो महाराज आराम पैं फैला कर सो जाते थे। जब निद्रा पूरी हो जाती थी तब दरवाजा खोला जाता था। जैसे ही दरवाजा खोला गया तो सवा मन का भोग गायब न तो इतना भोग फेंका ही जा सकता था, न ही सामान्य व्यक्ति के द्वारा खाया ही जा सकता था। अतः लोगों ने पंडितजी पर विश्वास कर लिया तब से पंडितजी एक उच्च दर्जे के तपस्वी कहलाने लग गये।

शिवजी भक्तों के भोग को खाने लगे हैं यह बात बहुत तेजी से सारे शहर में फैल गई। आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी (छद्म वेशधारी पंडितजी) की भक्ति को देखकर सभी लोग खुश हो गये अब तो रोज-रोज नये-नये व्यक्तियों का भोग लगाने के लिए नाम लिखा जाने लगा कि आज इन सेठ की तरफ से भोग लगेगा, कल उनकी तरफ से। भोग में अच्छे-2 स्वादिष्ट व्यंजन आने लगे, क्योंकि भोग भगवान ग्रहण कर रहे हैं। समंतभद्र महाराज की भूख धीरे-2 शमन होने लगी अब उनके समक्ष समस्या खड़ी हो गई कि भोग जो चढ़ाया जाता था वह धीरे-2 बचने लगा तब पुजारी लोग सोचने लगे कि आखिर बात क्या है अभी तक तो परमात्मा पूरा भोजन कर लेते थे। लेकिन अब बचने क्यों लगा, आखिर क्या बात है उन्होंने पंडितजी से पूछा-तो पंडितजी यानि समंतभद्र महान् विद्वान तो थे ही अतः उन्होंने उत्तर दिया कि अभी तक तो भगवान भूखे थे, अब उनकी भूख उपशमन होने लगी है जिससे भोजन बचने लगा है लेकिन पुजारी को कुछ शंका हुई कि “दाल में कुछ काला है” अतः पता लगाना चाहिए कि आखिर बात क्या है। इस हेतु एक दिन पुजारी ने शिव पिण्डी के चारों ओर लपेटी जाने वाली विशाल फूल माला के बीच एक छोटे बच्चे को छिपा दिया और उसे अच्छी तरह से समझा दिया कि जब तक दरवाजा न खुले तब तक कुछ भी मत करना बस देखते रहना कि ये पंडितजी दरवाजा बंद करने के बाद क्या करते हैं-बालक समझदार था वह देखता है कि पंडितजी स्वयं



शिवजी के भोग को खा रहे हैं और खा-पीकर कर पंडितजी आराम से पैर फैला सो जाते हैं। जब (समंतभद्र स्वामी) पंडितजी की नींद पूरी हो जाती है तब दरवाजा खोला जाता है तो सामने से एक बालक निकलता है बालक आंखों देखी सारी घटना सुना देता है।

अब तो पंडितजी की सारी पोल खुल गई। पंडितजी को दंडित करने हेतु राज सभा में बुलाया गया। राजा ने पंडितजी से पूछा-अब परमात्मा सब मन भोग क्यों नहीं करते। समंतभद्र महाराज तो तर्क शील/चिंतन शील थे उन्होंने उत्तर दिया- कि राजन्! परमात्मा पहले बहुत भूखा था अब उसकी भूख कम हो गई है। राजा ने कहा- परमात्मा तो परमात्मा है। तुम्हारी मनगढ़ंत बातें संदेहास्पद है यदि तुम वास्तविक शिव भक्ति हो तो शिवपिंड को सर्व साक्षी में नमस्कार करो। आचार्य समंतभद्र महाराज बोले- मैं तो सच्चे वीतरागी देव का उपासक हूँ अतः उन्हें ही नमस्कार करता हूँ। राजा कहता है जो भी हो तुम्हें शिव पिण्डी को नमस्कार तो करना ही होगा यह मेरा आदेश है। साथ ही राजा सोचता है कि यह पंडित नमस्कार न करने के बहाने निकाल रहा है कार्यक्रम की तिथि व दिन निश्चित किया जाता है। चूंकि पंडित ने निर्देश दिया था कि पिण्डी मेरा नमस्कार सहन नहीं कर पायेगी अतः पिण्डी को लोहे की जंजीरों से कस दिया जाता है कि कहीं कोई घटना न घट जाए। सारा मण्डप जन समूह के द्वारा भर जाता है और राजा के उपस्थित होते ही पंडितजी को शिवजी की भक्ति हेतु आदेशित किया जाता है। जो परम वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी के भक्त थे, प्रकांड विद्वान व शुद्ध सम्यक्त्व के धारी थे। ऐसे आचार्य समंतभद्र महाराज स्वयंभू स्तुति के माध्यम से चौबीस तीर्थकरों की आराधना प्रारंभ करते हैं। एक-2 भगवान की स्तुति करते-2 जैसे ही वे 8 वें चंद्रप्रभु की स्तुति में डूबते हैं अंतरंग की विशुद्धि के प्रभाव से तन्मय हो जाते हैं अर्थात् उनकी स्तुति करने चारों ओर सन्नाटा छा जाता है और देखते हैं कि चारों ओर से जंजीरों से जकड़ी शिवपिंडी मध्य से चंद्रप्रभु की प्यारी प्रतिमा उज्ज्वल/धवलवर्णी प्रकट हो जाती है सब ओर इस दृश्य को देख जय-जयकारों का अनुगूंज सुनाई देने लगता है सबको आश्चर्य था कि इतना बड़ा चमत्कार कैसे हो गया। राजा जब यह दृश्य देखता है तो वह मूर्ति स्थापित करके मंदिर बनवाता है और स्वयं जैन धर्म स्वीकार कर अष्ट मूलगुणों को धारण कर लेता है उसकी जैनधर्म पर गाढ़ श्रद्धा हो जाती है सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर राजा छद्मवेशधारी पंडितजी का परिचय पूछते हैं महाराज अपने रोग के उद्भव से लेकर शमन पर्यंत पूरा समाचार राजा को कह सुनाते हैं।

इस प्रकार भस्मक व्याधि ठीक होते ही आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी अपने गुरु के पास जाकर पुनः दीक्षा लेते हैं और साधनारत हो जाते हैं।

पूज्य आचार्य भगवन् का अन्य वेशधारी साधु बनने का मुख्य उद्देश्य व्याधि शमन था। किंतु उन्होंने यहाँ प्रतिभा का समीचीन प्रयोग किया और विभिन्न धर्मों व दर्शनों का निकटता से और उन



परंपराओं के मूल ग्रंथों से एवं उनके अधिकारी विद्वानों के साथ अध्ययन किया। यही कारण है कि इस तुलनात्मक अध्ययन का उपयोग उन्होंने अपनी कृतियों में विविध रूपों में उनके खंडन (पूर्व पक्ष) के रूप में बड़ी ही प्रबलता से किया उनकी कृतियां ही इस सबके लिए स्पष्ट प्रमाण है।

ग्रंथ परिचय-परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज की अद्भूत व गहन विद्वत्ता का यह ग्रंथ साक्षात् प्रमाण है। पूज्य आचार्य भगवन् के अनेक ग्रंथों में जहाँ एक ओर गंभीर दार्शनिक दृष्टियाँ हैं। वहाँ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य भगवन् की गहरी श्रद्धा और भक्ति का छलकता निर्झर है। जिन्होंने एक ओर अपनी उच्च तार्किक, दार्शनिक और स्याद्वाद शैली के द्वारा अनेक महान स्तुति रूप कृतियों और शास्त्रार्थों द्वारा अपने युग में एक क्रांति करके विद्वत् जगत को चमत्कृत किया तो दूसरी ओर सहज, सुबोध, प्रांजल शैली में तीव्र तृषा से संतप्त मानव को शीतल जल जैसी सन्तुष्टि प्रदान करने वाला डेढ़ शतक (150 श्लोक प्रमाण) सरल, संस्कृत पद्यों द्वारा मानव के जीवन और आचार की इतनी सुंदर और व्यवस्थित व्याख्या लिखी कि संपूर्ण श्रावकाचार साहित्य का यह प्रतिनिधि ग्रंथ बन गया और 1700-1800 वर्ष बाद भी सभी का कण्ठहार बनने के साथ ही चिरनवीनता की संज्ञा को चरितार्थ कर रहा है।

रत्नत्रय रूप रत्नों के पिटारे के सदृश होने से “रत्नकरण्डक श्रावकाचार” नामक संज्ञा सार्थक है। इसीलिए ‘अक्षयसुखावह’ कहा है। इस ग्रंथ को आचार्य भगवन् ने सात अधिकारों में विभाजित किया हैं-

1. सम्यग्दर्शन अधिकार	गाथा	1-41
2. सम्यग्ज्ञान अधिकार	गाथा	42-46
3. अणुव्रत अधिकार	गाथा	47-66
4. गुणव्रत अधिकार	गाथा	67-90
5. शिक्षाव्रत अधिकार	गाथा	91-121
6. सल्लेखना अधिकार	गाथा	122-135
7. सद्व्रताधिकार	गाथा	136-150

प्रस्तुत ग्रंथ पर आचार्यश्री प्रभाचंद महाराज जो कि 12वीं व 13वीं शताब्दी में हुए हैं उन्होंने संस्कृत भाषा में विस्तृत किंतु बहुत ही सरल भाषा में टीका लिखी। पुरानी हिन्दी (दुंदारी) भाषा में जयपुर के पंडित सदासुखदास जी कासलीवाल ने भी इस ग्रंथ पर बहुत ही लोकप्रिय व्याख्या लिखी जो आज भी प्रायः सभी जैन मंदिरों में स्वाध्याय हेतु प्रमुख रूप से प्रयुक्त होती है।



“रत्नकरण्डक-श्रावकाचार प्रवचन” कृति के कृतिकार का परिचय-

संपूर्ण भारत वर्ष में अपने विशाल संघ को लेकर जो धर्म का शंखनाद कर रहे हैं, चाहे तमिलनाडू हो या बिहार, कर्नाटक हो या राजस्थान, गुजरात हो या महाराष्ट्र जिनकी पगरज का स्पर्श भारत वर्ष ने किया है ऐसे महान तत्व मनीषी, आगम के गूढ़ रहस्यों के ज्ञाता, न्याय, व्याकरण, अध्यात्म, सिद्धान्त पर अपनी पकड़ रखने वाले उद्भूततत्त्व विज्ञानी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, लेखनी के धनी, विद्या वारिधि, सिद्धांत रत्न, न्याय भास्कर, आचार्य कुंदकुंद स्वामी के प्राचीन ग्रंथ वारसाणुवेक्खा एवं रयणसार पर प्रथम सर्वोदयी एवं रत्नत्रय वर्धिनी नामक संस्कृत टीका लिखने वाले राष्ट्रसंत, गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज बुंदेलखंड के प्रथम सूर्य हैं जिन्होंने संपूर्ण बुंदेलखंड में ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत में अपने तप त्याग की अमिट छाप बनाई है। एक ओर जहाँ विद्वान श्रेष्ठी, मनीषी सब आपकी प्रज्ञा का लोहा मानते हैं। वही दूसरी ओर आगम निष्ठ चर्या आपके व्यक्तित्व की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है जो स्वयं अपनी चर्या में अप्रमत्त रहते शिष्यों को प्रमाद से बचने का सदुपदेश देते हैं।

आपके पावन पुनीत उपदेश न केवल संतों अपितु जन मानस के मन मस्तिष्क को एक नयी ऊर्जा प्रदान करते हैं। आपकी वाणी में वह ओज है जो कानों से होती हुई सीधी हृदय में उतर जाती है तथा आत्महित पथ का अनुगमन करने हेतु बाध्य कर देती है भाषा शैली सरल, सुबोध व आकर्षक है जो बच्चों से लेकर वृद्धों तक को आल्हादित कर देती है। आपके तत्त्व चिंतन में समयोचित संपूर्ण तथ्य समाहित होते हैं जो कि प्राणी मात्र के लिए जीवनोपयोगी साबित होते हैं। आपके मार्मिक चिंतन जीवन जीने की दिशा बोध तो देते ही हैं साथ ही मरण की कला भी सिखाते हैं। यही कारण है कि हर एक मन आपको सुनने लालायित रहता है।

परम पूज्य आचार्यश्री 108 विराग सागर भगवन् सन् 2003 में जब विराजमान थे भिलाई नगर सेक्टर-6 में चार्तुमास हेतु। तब भिलाई नगर की धर्मपिपासु समाज व गणमान्य श्रेष्ठी जनों ने सर्वज्ञ की देशना से अपने को लाभान्वित करने हेतु प्रार्थना की। पूज्य आचार्य भगवन् ने भक्तों की प्रार्थना को अपनी स्मित मुस्कान देकर स्वीकृत किया। फलस्वरूप श्रावकों में सदाचार के संचरण का लक्ष्य लेकर तार्किक चूड़ामणि परम पूज्य आचार्यश्री 108 समंतभद्र महाराज द्वारा रचित “रत्नकरण्डक-श्रावकाचार” ग्रंथ पर विशद व्याख्यान सहित प्रवचन श्रृंखला का प्रारंभ हुआ।

पूज्य गुरुदेव की अमृत देशना को सभी ने मनोयोग से सुना, देशना का स्पष्ट प्रभाव चेहरे पर झलकते आल्हाद से व्यक्त होता था। प्रवचनों की मांग चारों ओर से हो रही थी। अतः पूज्य गुरुदेव के उपदेशों का संग्रह कर “रत्नकरण्डक-श्रावकाचार प्रवचन” कृति तैयार की गई। इन प्रवचनों का

संग्रह संघस्थ पू. आर्यिका विदक्षा श्री माताजी तथा संपादन कार्य संघस्थ पू. आर्यिका विशिष्टि श्री माताजी ने एवं विदूषी श्री माताजी ने किया। तीनों आर्यिकाओं के अथक श्रम से इस कृति का उद्भव हुआ उभय माताजियों का श्रम श्लाघनीय है। वे इसी प्रकार गुरुभक्ति व श्रुत सेवा के कार्यों को कर गुरु अनुग्रह को प्राप्त करें।

अंत में ग्रंथ प्रवचनकार, इस कृति के प्रणेता प्रातः स्मरणी, उद्भट प्रज्ञा पुंज, मार्मिक तत्त्ववेत्ता, धुरंधर विद्वान प.पू. गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी गुरुदेव के चरण द्वय में इस “स्वर्णिम जयन्ती” के पावन सुअवसर पर अपने भाव सुमन समर्पित करते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करती हूँ।

चिर आयु हो गुरु हमारे, संयम वृद्धि हो-2

कभी मुश्किलों का हे प्रभुवर, नहीं सामना हो-2

बाधा रहित हो मार्ग तुम्हारा...-2 शूल भी फूल बने

सूरिगच्छाचार्य गुरुवर, जल्दी भगवान बने...

हम भी उनका अनुग्रह पाकर, मुक्ति दूत बने...

अंत में त्रयभक्ति पूर्वक पूज्य गुरुदेव के चरण कमलों में कोटिशः नमोस्तु करती हुई उनके आशीष व छत्रछाया की आकांक्षी हूँ।

नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु।

- गुरु चरणानुरागिनी

श्रमणी आर्यिका वियुक्त श्री माताजी



सम्पादकीय.....✍

गुरुवर की वाणी में हमने सब सारों का सार है पाया

संसार सागरमपार मतीत्य पूतं,
मोक्षं यदि व्रजितुमिच्छत युक्त बाधम् ।
तज्ज्ञानवारिणि विधूतमले मनुष्यां,
स्नानं कुरुध्वमहाय जलाभिषेकम् ।।

हे मनुष्यों ! यदि तुम लोग अपार संसार रूप समुद्र को लांघकर निर्बाध व पवित्र मोक्ष जाने की इच्छा करते हो तो जल से अभिषेक को छोड़कर निर्मल ज्ञान रूप जल में स्नान करो ।

प्रायः अधिकांश संसार जगत् अज्ञान भाव में ही जीता है । ज्ञान की एक किरण भी मिलना दुरुह हो जाती है । उस अज्ञान अधंकार में भ्रमते प्राणी जगत को सम्यक्पथ दिखाने हेतु अर्वाचीन आचार्यों ने अथक श्रम किया है उन्होंने समय-समय पर अनेकानेक ग्रंथों का प्रणयन कर सर्वज्ञ की दिव्य देशना को हम तक पहुँचाने की महती अनुकंपा की है ।

उन परमोपकारी आचार्य भगवन्तों की श्रेणी में तत्त्व विज्ञ, आत्म-मनीषी, सिद्धान्तज्ञ, सरस्वती-पुत्र परम् पूज्य राष्ट्रसंत गणाचार्य श्री 108 विरागसारंग जी महाराज भी हुए हैं । जिन्होंने अनेक शोधपूर्ण ग्रंथों के प्रणयन के साथ-साथ अध्यात्म रसिक परम् पूज्य कुंदकुंदाचार्य के 2000 वर्ष प्राचीन ग्रंथ पर संस्कृत टीकायें लिखकर सरस्वती के भण्डार को समृद्धशाली बनाया हैं । पूज्य आचार्य भगवन् की अनेकान्त धर्म की प्रधानता को लिए हुए स्याद्वाद शैली संपन्न कथन प्रणाली आगम के गूढ़ रहस्यों को सरलता से प्रतिपादित करती है । पूज्य श्री के वचन भ्रमकारी नहीं संशयहारी होते हैं । जो उक्त पंक्तियों को चरितार्थ करते हैं-

भ्रमरोग हर जिनके वचन, श्रुति सुखद सब संशय हरै ।

परम् पूज्य आचार्य भगवन् का ज्ञान मात्र कथनी में नहीं अपितु करनी में भी होता है । वे मात्र आगम की चर्चा ही नहीं करते अपितु चर्चा को विषय बनाते हैं । जीवन में चरितार्थ हुआ ज्ञान ही



वास्तविक समीचीन ज्ञान हो जो कर्मक्षय में साक्षात् हेतु बनता हैं। पूज्य गुरुवर साक्षात् स्वयं चलते-फिरते मूलाचार है जो स्वयं मोक्षपथ पर अपने पगों को गति देते हुए शिष्यों को भी उसी पथ पर गतिमान कराते हैं।

आज का “श्रावक वर्ग” कहीं प्रमादी न हो जाए अथवा प्रमाद व अज्ञान के वशीभूत होकर अपने कर्तव्यों व सदाचार से विमुख न हो जाए इस हेतु भिलाई नगर (छत्तीसगढ़) में चातुर्मास के दौरान विद्वत् वर्ग व संपूर्ण समाज के आग्रह की ध्यान में रखते हुए पूज्य आचार्य भगवन् ने विशद व्याख्यान सहित “रत्नकरण्डक-श्रावकाचार” ग्रंथ पर अपना मांगलिक उद्बोधन प्रदान किया। इस दौरान गुरुवर के अंतस से स्फुरित चिंतन के मोतियों को संग्रह करने का श्लाघनीय कार्य पूज्य आर्यिका विविक्त श्री व पू. आर्यिका वियुक्त श्री माताजी ने किया है तथा ग्रंथ के संपादन कार्य का सौभाग्य पूज्य गुरुदेव की आशीषानुकंपा से मुझे प्राप्त हुआ।

सामग्री जब मेरे हाथों में आयी तो प्रथम सिंहावलोकन किया- मन हुआ कुछ एक बार बारीकी से अवलोकन अवश्य करूंगी। एक-एक लाईन में आगम का अमृत रस भरा हुआ है। गुरुवर को विषय को प्रतिपादित करने की जो कला है वह अपने आप में अनुपम है। निश्चय व व्यवहार दोनों नयों का आश्रय ग्रहण कर पूज्य गुरुवर ने जो भी कथन किया है उससे विषय सरल, सुबोध हो जाता है व सहजता से पाठक के गले उतरता है विषय उलझता नहीं अपितु सारी उलझने सुलस जाती है। “रत्नकरण्डक श्रावकाचार प्रवचन” कृति के पूर्वार्थ में पूज्य आचार्य भगवन् ने तीन अधिकारों पर विशेष प्रकाश डाला है। प्रथम अधिकार-सम्यग्दर्शन अधिकार है! इसके माध्यम से आचार्य भगवन् ने बाल की खाल निकालने वाली सूक्ष्म विवेचना सम्यग्दर्शन के विषय में की है।

गणित **Methamatics** के विषय में यदि देखे तो प्रायः शून्य की कुछ भी कीमत नहीं। परन्तु यदि शून्य के आगे अंक स्थपित कर दिया जाए तो शून्य कीमती हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मोक्षमार्ग के प्रकरण में यदि श्रद्धा रूपी अंक है तो व्रत, नियम, संयम रूपी सारे शून्यों की कीमत होती है। परन्तु यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो चाहे कितना भी तप करो, जप करो, ध्यान करो मुक्ति होने वाली नहीं है। इस प्रकार की अनेकानेक सूक्ष्म विवेचनाएँ आचार्य भगवन् ने दी है। जो पाठक के हृदय पर सीधा अपना प्रभाव जमाती है।

दूसरे सम्यग्ज्ञान अधिकार में आचार्य भगवन् ने सम्यग्ज्ञान की सूक्ष्म व्याख्याएँ देते हुए “सम्यग्ज्ञान” को केवलज्ञान का बीज कहा है।” क्योंकि आज का समीचीन ज्ञान ही ध्यान की भूमिका में ले जायेगा और ध्यान का फल हमें केवलज्ञान के रूप में प्राप्त होगा।



जब गुरुवर का यह गहरा चिंतन हम देखते हैं तो लगता है अब बोधि को समझना बिल्कुल आसान हो गया है।

तृतीय सम्यक्चारित्र अधिकार में पूज्य श्री ने अणुव्रत के स्वरूप, अतिचार, भेद आदि का विशद व्याख्यान किया है। इस प्रकार इन तीन अधिकारों के माध्यम से आचार्य भगवन् ने श्रावकों की आधार शिला तैयार की है।

इस कृति के संपादन का कार्य पूर्ण कर मैं बहुत गौरव अनुभव कर रही हूँ कि धन्य है हम जो हमें ऐसे महान् विद्वान्, धुरंधर प्रकाण्ड विद्वान् गुरुवर की देशना सुनने व पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। गुरुवर ने श्रावकाचार ग्रंथ पर अपना विशद व्याख्यान देकर हम पर बड़ा उपकार किया है उनके उन अनन्य उपकारों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हुआ स्वर्णिम जन्म-जयन्ती के पावन अवसर पर भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि हमारे पूज्य आचार्य भगवन् चिरायु हो, व स्वस्थ रहे ताकि उनके द्वारा इसी प्रकार निरंतर जिनधर्म की प्रभावना होती रहे, साथ ही गुरुवर ने अपनी प्राचीन संस्कृति को जीवंत बनाये रखने हेतु जो महान् प्रयास “युग-प्रतिक्रमण” व यदि सम्मेलन के रूप में किया है उसकी यशोगाथा चिर जीवंत रहेगी तथा आपका यह प्रयास अवश्य ही संत-समूह में एक नई जागृती लायेगा तथा दिगंबरत्व व जिनधर्म के गौरव को दिन-रात चौगुना वृद्धिगत करेगा।

अंत में, त्रयभक्ति पूर्वक, गुरु चरणों में कोटिशः नमन् करती हूँ। शुभाशीष की सदा आकांक्षी हूँ।

- श्रमणी आर्यिका विदक्षा श्री



मिताक्षर

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार 150 श्लोकों का छोटा, किन्तु महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म कहकर उनका वर्णन करते हुए सम्यक्चारित्र के अंतर्गत श्रावकाचार का निरूपण किया है।

उपलब्ध श्रावकाचारों में सबसे प्राचीन, प्रामाणिक और सुसम्बद्ध श्रावकाचार माना जाता है। इसे श्रावक-आचार-संहिता का आदर्श दस्तावेज कहा जाता है। इससे पूर्व आचार्य कुंदकुंद के चारित्र पाहुड में श्रावकाचार संबंधी वर्णन मात्र छः गाथाओं में उपलब्ध है। तात्त्वार्थ सूत्र के सप्तम् अध्याय में व्रत का स्वरूप बताकर अगारी, अनगारी ये दो भेद संक्षेप में कहे हैं। आचार्य कुंदकुंद एवं आचार्य उमास्वामी के बाद आचार्य समंतभद्र ने श्रावकाचार का सांगोपांग विवेचन किया है जो विविध श्रावकाचारों के मध्य एक दीपस्तंभ की तरह आज भी बेजोड़ है। यहीं कारण है कि इस ग्रंथ पर संस्कृत एवं हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में टीकायें लिखी गयी हैं। इस पर हिन्दी में वचनिकाएँ भी विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखी गयी है।

प.पू. राष्ट्रसंत गणाचार्य 108 विरागसागर जी महाराज ने इस ग्रंथ के प्रत्येक श्लोक पर प्रवचन कर उस श्लोक के प्रत्येक पद का व्युत्पत्तिपरक एवं शब्दार्थ विवेचना प्रस्तुत की है। इस विवेचना में विषय को सोदाहरण समझाकर आम श्रोताओं को सरल सुबोध शैली में परोसा है। विषय की विवेचना आगमानुकूल एवं व्यवस्थित है। आपने देव के स्वरूप की चर्चा में स्पष्ट किया है कि श्रावक को सच्चे देव के स्वरूप को जानना अनिवार्य है। जो वीतरागी हैं वहीं सच्चे देव हैं वहीं पूज्य हैं। सामान्य देवी-देवता सच्चे देव नहीं हो सकते अपितु जिनके सर्वज्ञता है वे ही सच्चे देव हैं। जो सच्चे देव का परिचय कर लेता है उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु का स्वरूप भी समंतभद्र की निर्भीक शैली में बताया है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार की यह प्रवचनात्मक टीका जन साधारण के लिए अत्यंत उपयोगी है। आचार्य श्री प्राचीन कृतियों पर प्रवचन कर एवं उनकी टीकायें संस्कृत और हिन्दी में लिखकर समाज



का कल्याण कर रहे हैं। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि आपके शिष्यों में भी निर्भीक एवं यथार्थ प्रवचन शैली और आगमिक प्रस्तुतिकरण बेजोड़ है। पूज्य आचार्य श्री की प्रस्तुत कृति का संकलन पूज्य आर्यिका 105 श्री विदक्षाश्री एवं आचार्य श्री के प्रवचनों का सम्पादन पूज्य आर्यिका 105 श्री विशिष्ट श्री एवं विदूषी श्री और प्रस्तावना का लेखन पूज्य आर्यिका 105 श्री वियुक्त श्री माताजी ने विद्वता पूर्ण किया है। जो अत्यन्त सराहनीय है। वाणी से आगम के ग्रंथों की इसी प्रकार साहित्य सृजना होती रहे ऐसी हमारी शुभ भावना है। 200 पिच्छीधारी संघस्थ आचार्य श्री के चरणों में कोटिशः नमोस्तु।

दिनांक : 22/04/12

डॉ. शीतलचन्द जैन

प्राचार्य

श्री दिगम्बर जैन आ.सं. महाविद्यालय

जयपुर



अनुक्रमणिका

आद्य-भूमिका	: 29	निज आत्मधर्म प्रकटा लो	: 188
मंगलाचरण	: 42	धनदास नहीं धर्मदास बनो	: 192
धर्मोपदेश करूँगा	: 48	सम्यग्दर्शन सम रत्न न दूजा	: 197
रत्नत्रय ही सच्चा धर्म	: 52	धर्म और अधर्म का फल	: 202
मुक्ति की आधार शिला : सम्यग्दर्शन	: 56	सम्यग्दृष्टि श्रद्धा में अटल रहता है	: 206
कैसे है सच्चे देव हमारे ?	: 61	मोक्षमार्ग में खेवटियाँ	: 210
वीतरागी ही सच्चा देव	: 66	मुक्ति का बीज : सम्यग्दर्शन	: 216
हितोपदेशी देव के गुण अनंत ही जान	: 72	निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ	: 222
ऐसा होता है सच्चा शास्त्र	: 79	सम्यग्दर्शन सा मित्र नहीं :	
सच्चे गुरु का स्वरूप	: 86	नहीं अरि मिथ्यात्व समान	: 228
निःशंकित श्रद्धा: मुक्ति का बीज	: 93	सम्यग्दृष्टि कहाँ नहीं जाता	: 234
इच्छाओं के त्याग से ही मिलेगी मुक्ति	: 98	सम्यग्दर्शन देता-सब कुछ	: 240
ग्लानि छोड़ो गुणप्रीति से नाता जोड़ो	: 103	सम्यग्दर्शन की महिमा अथाह	: 245
अमूढ़दृष्टि पाता मुक्ति	: 110	सम्यग्दर्शन धारो-किस्मत को	
दोष वादे च मौनम्	: 117	अपनी संवारो :	: 250
स्थितिकरण कर करें सम्यग्दर्शन का वर्धन	: 123	सम्यग्दर्शन अपनाओं :	
प्रीति हो गोवच्छ समान	: 135	तीर्थकर पद पा जाओं	: 255
आत्म प्रभावना से धर्म प्रभावना	: 142	मोक्ष सुख मिलता : सम्यग्दर्शन से ही	: 260
जगतपूज्य बनायें अंग	: 148	सम्यग्दर्शन देता :	
सम्यग्दर्शन की पूर्णता	: 161	शाश्वत सुख का आलय	: 265
लोकान्धानुकरण त्यागें	: 166	सम्यग्ज्ञान एवं प्रथमानुयोग	: 271
देव मूढ़ता त्यागो	: 171	करणानुयोग को ध्याओ :	
पाखण्डी को जानो तुम	: 178	सम्यग्ज्ञान को बढ़ाओं	: 277
यदि हो भव सागर से तरना :		पाओं आचरण की शिक्षा	: 288
मद को तुम कभी न करना	: 182	चलो अंधकार से प्रकाश की ओर	: 293
		मोक्षमार्ग का कदम-चारित्र	: 298



राग द्वेष की निवृत्ति से चारित्र सहज	: 303	चीज गहे सो चोरी होय	: 347
चारित्र ही जीवन का सार	: 310	पाँच पापों से बचो	: 352
छोटे-छोटे नियम एक दिन :		पार नहीं है शीलव्रतों का	: 357
बहुत बड़े हो जाते है	: 316	निरतिचार व्रतों का बाना :	
अणुव्रत का लक्षण	: 322	मुक्ति का बस यही ठिकाना	: 363
प्रथम अहिंसाणुव्रत	: 326	जोड़ो नहीं छोड़ो	: 367
दोष जानकर उनको त्यागो	: 331	अणुव्रत फलते है इस रूप	: 375
सच्चा सुख देता है-सत्य धर्म	: 337	व्रतों में प्रसिद्ध व्यक्ति	: 379
दोष त्याग निर्दोष बनो	: 342	मूलगुण ये श्रावक के	: 391
स्वामी का आज्ञा न होय :			



प्रवचन-1

आद्य-भूमिका

“रत्नकरण्डक श्रावकाचार” एक पावन पुनीत ग्रंथ है। जिसके अंदर आचार्यश्री समंतभद्र महाराज ने सारे श्रावकाचार या उपासकाध्यायन अंग के सारभूत तत्त्वों को भरने का प्रयास किया है। श्रावकों को कैसे चलना चाहिए, कैसे उठना, बैठना, बोलना चाहिए इत्यादि परिचर्या संबंधी जानकारी दी गई है। श्रावक साधना के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में अपनी जीवन पर्यंत की परिचर्या बनाए ऐसी शिक्षाओं का समन्वय इस ग्रंथ में किया गया है। ग्रंथ का नाम उसकी महिमा को गा-गाकर सुना रहा है। “रत्न-करण्डक” यहाँ करण्डक का अर्थ-पिटारा, पेटी है। और पेटी कैसी है तो रत्नों से भरी है। और वे रत्न कैसे हैं? तो आचार्य भगवन् कहते हैं कि वे रत्न कोई सामान्य रत्न नहीं है। लौकिक रत्न नहीं है। यद्यपि लोक में लौकिक रत्नों का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। हीरा, पन्ना, मूंगा, पुखराज, लहसुनिया, स्फटिक आदि मणि व रत्न बेतहाशा कीमती होते हैं। परंतु ये पौद्गलिक रत्न हैं इन पौद्गलिक रत्नों से बढ़कर भी यदि कोई रत्न है तो वे रत्न आत्मा के गुण रूपी रत्न हैं और वे आत्मीक गुण रत्न अनंत हैं जिनमें से यहाँ इस श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नों की बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं ऐसे इन “रत्नत्रय” से जो शोभा को प्राप्त हो रहा है वह पिटारा आपके सामने लाकर रख दिया है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि मैं एक-2 रत्न की कीमत उसका स्वरूप, उसकी क्वालिटी आपको क्रम-क्रम से आपको बताऊंगा आप जो चाहे वह रत्न ग्रहण कर सकते हैं। बाहर के रत्नों की तो कुछ न कुछ कीमत होती है परंतु इन त्रय रत्नों की कीमत आंकी ही नहीं जा सकती क्योंकि ये रत्न वेशकीमती हैं इनका कोई मूल्यांकन संभव नहीं है अतः ये अमूल्य हैं। यदि तुम्हें अमूल्यता को पाना है तो पिटारे को खोलना पड़ेगा। पिटारे को खोलने के लिए गुरु चरणों में आना पड़ेगा। गुरु ही उन रत्नों को तुम्हें प्रदान करने में समर्थ हैं। आचार्य समंतभद्र महाराज रत्नों के व्यापारी बनकर आज हमारे समक्ष आये हैं यदि तुम्हें वे रत्न चाहिए तो गुरुचरणों में समर्पण रूपी दक्षिणा देनी होगी, यही उन रत्नों को पाने का समीचीन मार्ग है।

श्रावकों के आचार का वर्णन करने वाले इस रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ का प्रारंभ करने के पूर्व आचार्य भगवन् 6 बातों को जानने की अनिवार्यता बतलाते हुए कहते हैं कि-



मंगल निमित्त हेऊ परिणामं णाम तह य कत्तारं ।

वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिया ।।1।। (गो.जी.का.टी.)

अर्थात्-मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम, कर्ता इन छह का व्याख्यान करके पश्चात् आचार्य शास्त्र का व्याख्यान करें।

सबसे पहले आचार्य भगवन् ने मंगल की बात कही है-मंगल क्या हैं?

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थ सिव भद्द खेमकल्लाणा ।

सुहसोक्खादो सव्वे णिद्धिट्ठा मंगलस्य पज्जाया ।।2।। (गो.जी.टी.)

अर्थात्-पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य आदि सब मंगल के पर्यायवाची नाम कहे गये हैं।

मंगल किसे कहते हैं? तो आचार्य भगवन् केशववर्णी जी महाराज कहते हैं-

गालयदि विणासयदि घादेदि दहेदि हंति सोधयदि ।

विद्धं सेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ।।3।। (गो.जी.टी.)

अर्थात्-जो मल का गालन करता है, विनाश करता है, घात करता है, जलाता है, मारता है, शोधन करता है, विध्वंस करता है वह मंगल कहा जाता है।

अहवा बहुभेदगयं णाणावरणादि दव्व भावमलं ।

ताइं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणियं ।।4।। (गो.जी.टी.)

अर्थात्-जो बहुत भेद रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यमल और भावमल को स्पष्ट रूप से नष्ट करता है उसे मंगल कहते हैं।

अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा ।

एदेण कज्ज सिद्धिं मंगदि गच्छेदि गंथ कत्तारो ।।5।। (गो.जी.टी.)

अर्थात्-मंग यानि जो सुख को लाता है वह मंगल कहलाता है ग्रंथकार इस मंगल के द्वारा कार्य की सिद्धि करता है।

विभिन्न पर्यायवाची नामों से युक्त मंगल मल (पापों) को नष्ट करता है। यहाँ मल दो प्रकार का होता है-1. द्रव्यमल 2. भावमल। द्रव्यमल दो प्रकार का है-1. बहिरंग 2. अंतरंग मल। पसीना, मल, धूलि, कादव, इत्यादि बहिरंग द्रव्यमल है तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशों के द्वारा, आत्मा के प्रदेशों में निविड़ रूप से बंधा जो ज्ञानावरणादि 8 प्रकार का कर्म है वह अंतरंग द्रव्यमल है।



तथा अज्ञान, अदर्शनादि परिणाम रूप भावमल होता है। अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के भेदरूप मल है। अथवा उपचार से मल जीव के पाप कर्म है। उन सभी मलों को जो 'गालयति' विनाश करता है, घात करता है, हनता है वह मंगल सुख के स्रोतों को खोल देता है वह मंगल कहलाता है।

मंगल के 6 भेद होते हैं-

1. नाम मंगल 2. स्थापना मंगल 3. द्रव्य मंगल 4. क्षेत्र 5. काल 6. भाव मंगल।

1. नाम मंगल-अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इनका नाम, नाम मंगल है।

2. स्थापना मंगल- जिनादिकों के कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिबिंब स्थापना मंगल है।

3. द्रव्य मंगल-जिन, आचार्य, उपाध्याय, साधु इनका तो शरीर है वह द्रव्य मंगल है।

4. क्षेत्र मंगल-कैलाश, गिरनार, सम्मेदाचलादि, के उपजने के स्थान वा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष पर्यंत केवली के शरीर द्वारा रोका हुआ आकाश अथवा केवली के समुद्रघात द्वारा रोका हुआ आकाश क्षेत्रमंगल है।

5. काल मंगल-जिस काल में अष्टाहिकादि, पंच कल्याणक आदि महान उत्सव वर्तते है वह काल मंगल है।

6. भाव मंगल-मंगल पर्याय से संयुक्त जीव द्रव्य मात्र भाव मंगल है।

अब प्रश्न पुनः हमारे मन में उठ सकता है कि मंगल हमें क्यों करना चाहिए। मंगलचरण क्यों आवश्यक है तो आचार्य कहते हैं कि-

नास्तिकता परिहारस्तु, शिष्टाचार प्रपालनम्।

पुण्य वाप्तिश्च, निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः।। (द्र.सं.टी. 1/6/5)

अर्थात् नास्तिकता का परिहार करने के लिए, शिष्टाचार का पालन करने के लिए, निर्विघ्न ग्रंथ की समाप्ति के लिए व पुण्य की प्राप्ति के लिए शास्त्र के प्रारंभ में मंगलाचरण किया जाता है।

पहला हेतु है-नास्तिकता का परिहार हो। नास्तिक व्यक्ति के मन में आराध्य, परमात्मा के प्रति भक्ति नहीं होती, वह आस्था से शून्य होता है स्वर्ग-नरक के प्रति, संसार मोक्ष के प्रति, कर्म सिद्धान्त के प्रति उसे आस्था/विश्वास नहीं होता। यह स्वर्ग, मोक्ष, संसार आदि पुण्य-पाप को नहीं मानता है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व इस धरा पर षट् दर्शनों का बोल बोला था। इन दर्शनों में एक चार्वाक मत भी है जिसकी मान्यता है कि-



यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूत देहस्य पुनरागमनम् कुतः ।।

जब तक का जीवन है सुख से जियो, ऋण लेकर घी पीओ, क्योंकि देह के भस्मीभूत होने पर पुनः आगमन कहा ।

उन चार्वाक मतियों की ऐसी मान्यता है कि पर भव को किसने देखा है इसलिए जिंदगी मिली है तो ऐश करो व्यर्थ तपस्या कर शरीर क्यों सुखाना । उन चार्वाक मतियों की मान्यता के अनुसार परभव आदि नहीं होता है । वे नास्तिक होते हैं ।

एक बार किसी दर्शन ने जैनों पर भी आक्षेप किया कि जैन दर्शन नास्तिक है और तर्क दिया कि जैन दर्शन किसी भी देवता को कर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता । जैनों की अपनी स्वतंत्र घोषणा है कि कोई भी देवता किसी के जीवन में सुख-दुःख नहीं दे सकता । इसी बात को आधार बनाकर जैनों को नास्तिक ठहराया गया लेकिन जब जैन दर्शन ने नास्तिकता की व्याख्या की तो उन्होंने कहा-कि यदि आप यह कहते हैं कि सुख-दुःख देवता देता है यदि देवी-देवता ही सुख-दुःख देने लग जायेंगे तो स्वयं का किया पुण्य, पाप कहाँ जायेगा फिर तो पाप करने वाले पर यदि देव की कृपा हो गई तो पाप करके भी सुख पायेगा और एक पुण्यात्मा भी पाप का फल भोगेगा । ऐसी मान्यता रखने पर पुण्य-पाप की व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी । संसार में सुखी-दुःखी व पाप और पुण्य करने वाले दोनों प्रकार के प्राणी देखे जाते हैं यदि परमात्मा ही सुख-दुःख देने लग जायेंगे तो परमात्मा किसी को सुख दे रहे हैं किसी को दुःख ऐसा करने पर परमात्मा रागी-द्वेषी हो जायेंगे और जो स्वयं रागी-द्वेषी है वह जिससे राग होगा उसे सुख देगा व जिससे द्वेष होगा उसे दुःख देगा और पर को पीड़ा देना महापाप है तो परमात्मा स्वयं पापी हो जायेंगे और जो स्वयं पापी है वह परमात्मा कैसे हो सकता है फिर परमात्मा की परिभाषा कि जो संपूर्ण दोषों से रहित है वीतरागी है वह परमात्मा है बाधित हो जायेगी ।

क्योंकि कोई भी दर्शनकार अपने परमात्मा को पापी नहीं कहता अपितु संपूर्ण दोषों से रहित ही मानता है जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की जितनी सूक्ष्म विवेचना की गई है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती जैन दर्शन कहता है जैसा बीज बोओगे वैसा फल तुम्हें मिलेगा यदि तुमने अच्छा काम किया जीवन भर पुण्य उपार्जन किया परोपकार, दान, धर्म, सेवा, संयम से जीवन बिताया है तो पर भव में पुण्य कर्म के फलस्वरूप धन, संपदा, श्री, धी, संपन्न बनोगे । यदि जीवन हिंसा, झूठ चोरी आदि पापों में गंवाया तो पर भव में दरिद्रता, रोगी काया आदि पाप फल भोगना पड़ेगा यह अकाट्य कर्म सिद्धान्त है कि बीज आम का बोया है तो फल आम का ही मिलेगा यदि बीज बबूल का बोया है तो वृक्ष व फल बबूल का ही मिलेगा । जब जैनाचार्यों ने तर्क पूर्ण युक्ति दी तो अन्य दाशनिकों को भी स्वीकार करना पड़ा वे विचार में पड़ गये और तुलसीदास जी को रामायण में लिखना ही पड़ा-



जो जस करहि, सो तस फल चाखा । कर्म प्रधान, विश्व कर्म राखा ।।

पहले तुलसीदास जी की मान्यता थी कि वही होगा जो राम चाहेंगे, तुम्हारे सोचने से कुछ नहीं होता। परंतु अध्ययन, चिंतन, मंथन व मनन के पश्चात् उनके विचारों में परिवर्तन आया और उन्हें कहना ही पड़ा कि जो जैसे कर्म करता है वह उसका वैसा ही फल पाता है। इसमें परमात्मा कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार परमात्मा को कर्ता मानने वालों के मत का खंडन जैनाचार्यों ने युक्तिपूर्ण ढंग से सिद्ध किया तब सभी दर्शनकारों को यह बात स्वीकारनी ही पड़ी कि जैन दर्शन नास्तिक नहीं अपितु आस्तिक दर्शन है। क्योंकि जैन दर्शन पुण्य-पाप, सुख-दुःख, इहलोक-परलोक आदि पर विश्वास ही नहीं करता अपितु इन सबकी तर्क पूर्ण सिद्धि भी करता है।

जो चार्वाक आदि मत परभव आदि के अस्तित्व को नहीं मानते वे नास्तिक हैं। चार्वाक मती परभव को नहीं मानते इसलिए कहते हैं कि चाहे कितना भी पाप करो परंतु जीवन ऐश में जीओ। तो उन्हें आचार्य भगवन् युक्ति पूर्ण तर्क देते हुए कहते हैं कि माना कि परभव नहीं होता। परंतु फिर भी अच्छे कार्य करने में हमारा कुछ बिगड़ता नहीं परंतु यदि परभव हुआ और आप पाप करते रहे तो सोचिए? आपका क्या होगा। आज किये पापों का दंड आपको घोड़ा, गधा न जाने कैसी-2 तिर्यच पर्याये धारण कर भोगना पड़ेगा। क्या आपकी आत्मा उन कष्टों को सहने तैयार है। दूसरी बात आगम में चार गतियों का वर्णन है-1. मनुष्य 2. तिर्यच 3. देव 4. नारकी। इन चार में से देव व नारकी हमें साक्षात् नहीं दिखते परंतु मनुष्य व तिर्यच पर्याय के दुःखों को तो हम साक्षात् देख ही रहे हैं जब पापों को करने से जीव तिर्यच बन सकता है तो नारकी भी बन सकता है तथा भूत, पिशाच आदि व्यंतर जाति के देव तो यत्र-तत्र मनुष्यों को सताते हुए मनुष्य लोक में भी देखे जाते हैं जब तीन गतियाँ सिद्ध हो गईं तो चौथी भी होती है क्योंकि आगम में चार ही गतियाँ बतलायी हैं इस प्रकार युक्ति पूर्ण ढंग से आचार्य उन नास्तिक वादियों की मान्यता का खंडन करते हैं। तो जब हम मंगलाचरण करते हैं तो इस नास्तिकता का परिहार होता है अब कोई प्रतिवादी या जिज्ञासु मन में शंका करता है जिसे जो रूचे वह करे हमें किसी की नास्तिकता का परिहार क्यों करना, उनका कहना है कि-

“सर्वथा स्वहित माचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।

विद्यते सन हि कश्चिदुपायः सर्वलोक परितोषकरोयः ।। (गो.जी.टी.)

अर्थात् प्राणी को सब ओर से अपना हित करने में उद्यम शील होना चाहिए। बहुत कुछ कहने वाले इस लोक के प्राणी हमारे हित में क्या कर सकेंगे और यदि कोई ऐसा कहे कि ऐसा कार्य हमें करना चाहिए जिससे सभी लोग संतुष्ट हो तो ऐसा न्याय है कि किसी भी उपाय के द्वारा सभी को संतुष्ट नहीं किया जा सकता। फिर हम दूसरों की नास्तिकता के परिहार के लिए उद्यम क्यों करें, हमें



तो अपने कार्य से प्रयोजन रखना चाहिए। तो आचार्य केशववर्णी जी महाराज उचित तर्क देते हुए कहते हैं- कि नहीं! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्रशम, संवेग, आस्तिक्य व अनुकंपा रूप गुणों के प्रकट होने रूप लक्षण का धारक सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन आस्तिक्य गुण के होने पर प्रकट होगा और आस्तिक गुण की प्राप्ति नास्तिकता के परिहार से ही संभव है। तथा दूसरी बात यह है कि ऐसा प्रसिद्ध वचन हैं कि-

“यद्यपि विमलो योगी, विद्वान् पश्यति मेदनि ।

तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न लंघयेत् ॥ (गो.जी.टी.)

यद्यपि योगीश्वर निर्मल है, तथापि पृथ्वी उसके भी छिद्रों को देखती है इसलिए लौकिक आचार को मन से भी उल्लंघन न करे, यह बात प्रसिद्ध है।

उदाहरण के लिए यद्यपि योगी निर्मल परिणामी है वे किसी पर बुरी दृष्टि नहीं रखते। चाहे कोई स्त्री बैठी हो या धनसंपदा पड़ी हो सबसे निर्लिप्त रहते हैं तथापि कभी भी वे किसी स्त्री से एकांत में चर्चा नहीं करते, भूल से भी धन पैसे को हाथ लगाना दूर दृष्टि भी नहीं डालते क्योंकि यह लोकाचार है। यदि मुनि जन इस लोकाचार का पालन न करे तो छिद्रान्वेषियों के निमित्त अपवाद का हेतु बनेंगे। उसी प्रकार यदि हम दूसरे की नास्तिकता का परिहार नहीं करेंगे तो प्रत्युत हमारे ऊपर ही नास्तिकता का आक्षेपण कर दिया जाएगा। अतः स्व आस्तिक्यवाद की पुष्टि करने के हेतु भी नास्तिकता का परिहार अनिवार्य है।

अब मंगलाचारण करने का दूसरा हेतु देते आचार्य भगवन् कहते हैं कि ‘शिष्टाचार-प्रपालनम्’ अर्थात् शिष्टाचार का पालन करने के लिए भी मंगलाचरण करना अनिवार्य है-जो आचार लोक में प्रशंसनीय है वह शिष्टाचार है। श्रेष्ठ पुरुषों के करने योग्य कार्य को शिष्टाचार कहते हैं। सज्जन पुरुष या शिष्ट पुरुष किसी भी अच्छे कार्य को प्रारंभ करने के पूर्व अपने आराध्य का स्मरण अवश्य करते हैं कभी भी भूलते नहीं और जो भूल जाते हैं वे शिष्ट नहीं अशिष्ट पुरुष हैं। शिष्टजन तो अपने आराध्य का स्मरण, स्तुति, वंदना, पूजा, अर्चना, उपासना तथा आज्ञा को शिरोधार्य करता है। एक गुरुकुल का शिष्य जितना शिष्टाचारी होता है वह अपने गुरु की आज्ञा के बिना कुछ कार्य नहीं करता चाहे किसी वस्तु का लेन-देन करना हो अथवा अन्य भी कोई कार्य करना हो। मूलाचार ग्रंथ में साधुओं की 10 समाचार विधियों का उल्लेख आता है जिनमें से एक पृच्छा/प्रतिपृच्छा समाचार विधि भी है। पृच्छा का तात्पर्य है कि किसी भी कार्य को करने के पूर्व गुरु से पूछना, आज्ञा लेना और प्रतिपृच्छा का तात्पर्य है एक बार ही नहीं बार-बार पूछना। अब प्रश्न यह है कि जब पृच्छा कर ली तो पुनः-पुनः क्यों पूछना? यह तो पुनरिक्त दोष की तरह कार्य हो गया। तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है। प्रतिपृच्छा इसलिए



की जाती है कि हो सकता है कि गुरु किसी कार्य विशेष में व्यस्त हो और आपकी बात न सुन पाये हो, अथवा सुन ली हो फिर भी अन्य कार्यों की वजह से उनके उपयोग में बात पहुँच पायी न हो अथवा वे आपकी परीक्षा ले रहे हो कि शिष्य कितनी बार पूछता है इसलिए आगम में पृच्छा के साथ प्रतिपृच्छा का भी विधान किया गया है।

सामान्यतया स्कूल में भी बालक जब अपने क्लास में प्रवेश करते हैं तो टीचर से पहले पूछते हैं कि 'May I come in sir' यदि उसके Teacher कहे कि "Yes, come in" तो ही बच्चा Class में प्रवेश कर सकता है अन्यथा नहीं। यदि Student Class से बाहर जाता है तो भी पूछता है May I go out sir?

यदि sir कहे "Yes, You May go." तो ही वह Student Class छोड़ कर जाता है। यदि Teacher अनुमति न दे तो नहीं जा सकता आज्ञा, अनुमति लेना शिष्य की मर्यादित परिचर्या व उसके विद्वान/ ज्ञानी होने का शिष्ट/सभ्य होने का परिचय देती है। यदि आज्ञा कदाचित् नहीं ली है तो कोई अपमानित भी कर सकता है तिरस्कार भी कर सकता है। यदि पहले पूछा है फिर Class में प्रवेश लिया है तो कोई तिरस्कार नहीं करेगा। जो शिष्य सदैव आज्ञा लेकर लेन-देन आदि कार्य करते हैं तो गुरु कभी टोकते नहीं है। ज्ञान अथवा शिष्टाचार सबके बीच आदर का पात्र बनता है और अज्ञान व अशिष्टाचार से तिरस्कार/अपमान होता है चाहे व्यक्ति बड़ा हो या छोटा। परन्तु प्रयत्न व प्रयास होना चाहिए कि हमें कोई टोक न पाये, हम ऐसा काम ही नहीं करेंगे कि जिससे कोई हमें टोके बस यही शिष्टाचार की आद्य भूमि है। यदि शिष्टता नहीं तो व्यक्ति को अनेक समस्याओं के बीच से गुजरना पड़ सकता है। शिष्टाचार का तात्पर्य है कि गुरु प्रत्यक्ष हो या परोक्ष फिर भी हर कार्य हमें पूछ कर ही करना चाहिए क्योंकि गुरुजन ही ऊपर उठाते हैं, पूज्यता दिलाते हैं मिट्टी को मूर्ति बनाते हैं इसलिए उपकारी के उपकारों को न भूलना यह भी शिष्टाचार है सुभाषितकारों ने कहा भी हैं कि- न हि कृत मुपकारः साधवा विस्मरन्ति। सज्जन पुरुष कभी किसी के द्वारा किये उपकारों को नहीं भूलते हैं।

जब कोई शिष्टाचारी शिष्य कोई भी कार्य प्रारंभ करता है तो अपने गुरु अथवा आराध्य का स्मरण करता है सत्पुरुषों की सभा मंगलाचरण से ही प्रारंभ होती है। मिलेट्री के जवान या अन्य नेता जब 15 अगस्त या 26 जनवरी को राष्ट्रगीत प्रारंभ करते हैं तो जहाँ है वही पर मौन धारण कर सावधान की स्थिति में खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार मुसलमानों में जब नमाज पढ़ी जाती है तो सभी एक साथ एक जैसी मुद्रा में बैठ जाते हैं। तथा जब मुसलमान रोजा का व्रत करते हैं तब भी नमाज शुरू हो अपनी व्यवस्थित मुद्रा में बैठ जाते हैं। इसी प्रकार एक भक्त जब भगवान की स्तुति करता है, आराध्य की स्तुति रूप मंगलाचरण करता है तो आंखें बंद कर हाथों को जोड़ एकाग्र मन से स्पष्ट व उच्च स्वर से करता है आराध्य की स्तुति में नम्रीभूत होता है बस यही शिष्टाचार है। परन्तु यदि कोई



मंगलाचरण में हाथों को पीछे बांधकर खड़ा हो जाए, हँसने लगे अथवा बातें करने लगे तो वह अशिष्टता है। आपकी वह क्रिया शिष्टाचार की कोटि में गर्हित की जायेगी।

शिष्टाचार शब्दों का नहीं आचरण का नाम है जो हमें अच्छे आचरण का संकेत देता है। शिष्ट यानि-सभ्य, श्रेष्ठ, सम्यक्, समीचीन, सुव्यवस्थित, सुंदर, प्रशस्त तथा आचरण अर्थात् सभ्य कार्य को अथवा श्रेष्ठ आचार को करना शिष्टाचार है।

अब प्रश्न यह है कि शिष्टाचार का पालन क्यों किया जाता है? तो गोम्पटसार जीवकांड में टीकाकार आचार्य केशववर्णी महाराज कहते हैं-कि ऐसा विचार योग्य नहीं है, क्योंकि लोक में यह वचन सुप्रसिद्ध हैं कि-“प्रायेण गुरुजन शील मनुचरन्ति शिष्याः” अर्थात् जो शिष्य है वे प्रायः गुरुजनों के स्वभाव का अनुसरण करके आचरण करते हैं यदि शिष्य, गुरु का अनुसरण न करे अथवा गुरु आज्ञा का उल्लंघन करें तो उन्मार्ग में प्रवर्तन होने का प्रसंग आयेगा अर्थात् गुरु द्वारा बताये शिष्टाचार को न पालने से शिष्य उन्मार्गगामी हो जायेगा किन्तु आत्महित कैसे संभव हो सकेगा।

शिष्टाचार का अपर नाम विनय भी है। भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि महाराज ने कहा हैं कि शिक्षा का फल शिष्टाचार है। जहाँ शिक्षा हो परंतु विनय न हो तो वह शिक्षा निःस्सार है। क्योंकि बिना विनय के आये न तो विद्या फलीभूत होती है न ही शिष्टाचार आ सकता है। एक सुभाषित में कहा गया हैं-“विद्या ददाति विनयं” अर्थात् विद्या, विनय को प्रदान करती है भले ही बड़े-2 शास्त्रों का ज्ञान हो या न भी हो लेकिन यदि जीवन में विनय है तो वह व्यक्ति बहुत बड़ा ज्ञानी है क्योंकि विद्या का फल विनय है। यदि ज्ञान बहुत भी है परंतु विनय नहीं है तो वह ज्ञान भी अज्ञान की कोटि में ही गर्हित हो जायेगा। इसलिए भगवान का जब भी स्मरण करें बड़े हर्ष, आनंद, खुशी के साथ करें, भक्ति से भाव विभोर होकर करें। उदास मन से, अनादर, अविनय अथवा अशिष्ट रीति से न करें। पहले के समय में जब मंदिरों में वचनिका होती थी तब शास्त्र को पढ़ते समय जहाँ भी भगवान का नाम निकलता था तो श्रोतागण हाथ जोड़कर नमस्कार करते थे। यह शिष्टाचार का प्रतीक है। इस प्रकार किसी भी कार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण करने से शिष्टाचार का प्रतिपालन होता है।

अब मंगलाचरण करने का तीसरा हेतु कहते हैं- “निर्विघ्नतः शास्त्र परिसमाप्ति निमित्तं” मंगलाचरण एक अमोघ मंत्र है जिससे अपने कार्य में निर्विघ्नता आती है। जब हम किसी कठिन परिस्थिति के मध्य खड़े होते हैं या कोई कठिन कार्य करने के लिए तत्पर होते हैं तब अपने आराध्य का स्मरण करते हैं। आराध्य के स्मरण से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। जिस विषय में हम कल्पना भी नहीं कर सकते ऐसे दुरुह कार्य भी परमात्मा के स्मरण मात्र से सहज हो जाते हैं जो परमात्मा का स्मरण नहीं करता उसे अपने कार्य में असफलता प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति यदि



ऐसी आशंका करे कि कार्य की निर्विघ्नता का परमात्मा के स्मरण से क्या संबंध? क्योंकि कार्य ही निर्विघ्नता तो हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। यदि हमने पूरे मनोयोग से अथक परिश्रम किया है तो सफलता अवश्य ही मिलेगी जैसे-जो बच्चा साल भर पढ़ता है मेहनत करता है तो उसे अपने परिश्रम का फल अवश्य मिलता है फिर परमात्मा के स्मरण से क्या प्रयोजन?

तो आचार्य भगवन् कहते हैं-परमात्मा के स्मरण से बहुत से लाभ हैं 1. विनय आती है 2. हमारी आस्था परमात्मा के प्रति दृढ़ होती है 3. तीसरी बात आने वाले विघ्न परमात्मा के अतिशय से पलायन कर जाते हैं पाप वर्गणाएँ पुण्य रूप संक्रमित हो जाती हैं जिससे कार्य में आया विघ्न दूर हो जाता है क्योंकि विघ्न पाप कर्म के उदय से ही आते हैं और परमात्मा का नामोच्चार उन पाप रूप वर्गणाओं को पुण्य रूप में संक्रमित कर रहा है। तथा कहा भी गया है-

विघ्नौघाः प्रलयं यांति शाकिनी भूतपन्नगाः।

विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे।।

जिनेश्वर के स्तवन से सारे विघ्न प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं शाकिनी, भूत व सर्पादिक का भय भी नष्ट हो जाता है तथा विष भी निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

जिस प्रकार औषधि से रोग नष्ट हो जाता है वैसे ही मंगल करने से संपूर्ण विघ्नों का नाश हो जाता है।

अब मंगलाचरण करने का चौथा हेतु कहते हैं “पुण्य वाप्तिश्च” मंगलाचरण करने से पुण्य की प्राप्ति भी होती है क्योंकि मंगलाचरण में अपने इष्ट परमात्मा को नमस्कार किया जाता है जब हम भाव भक्ति से परमात्मा का स्मरण करते हैं। तो परमात्मा को नमस्कार करने से मन वचन, काय की क्रिया शुभ रूप होती है जिससे शुभ/प्रशस्त/पुण्य वर्गणाओं की प्राप्ति होती है और मंगलाचरण करने से हमें सहज पुण्य की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि मंगलाचरण करने हेतु श्रम, पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता सहजता में ही पुण्योपार्जक हो जाता है और जो मंगलाचरण रूप शुभ क्रिया नहीं करता अपने परमात्मा को भूल जाता है वह उस पुण्य से वंचित ही रह जाता है। अतः पुण्य की प्राप्ति के लिए भी मंगलाचरण करना चाहिए।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में टीकाकार आचार्यश्री केशववर्णी ने मंगलाचरण का एक हेतु उपकार स्मरण भी बतलाया है- हमारे इष्ट परमात्मा सर्वज्ञ देव है। सर्वज्ञ देव ने अपनी दिव्य देशना के माध्यम से मोक्षमार्ग, रत्नत्रय धर्म, तत्व, पदार्थ आदि की व्याख्या की है यदि परमात्मा यह सारा व्याख्यान न करते तो हमें मुक्ति पथ का ज्ञान कैसे होता? आत्महित के रास्ते कैसे मालूम होते, यदि निर्ग्रन्थाचार्यों ने सर्वज्ञ की वाणी को लिपिबद्ध कर ग्रंथों में रूपान्तरित न किया होता तथा गुरुओं के श्रीमुख से वह



वाणी हमें सुनने न मिलती तो हम कैसे आत्महित पथानुगामी बन पाते। इसी बात को समझाते हुए आचार्य भगवन् विद्यानंदी महाराज आप्त परीक्षा में कहते हैं-

“श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुण स्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।।2।।

परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सम्यक् प्राप्ति और सम्यग्ज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं। अतः एवं शास्त्रों के प्रारम्भ में मुनिपुङ्गवों ने परमेष्ठी का स्तवन किया है और भी कहा हैं-

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति, स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै,

नहि कृत मुपकारः पण्डिताः (साधवो) विस्मरन्ति।। (गो.जी.टी.)

अर्थात् वांछित, अभीष्ट फल की सिद्धि होने का उपाय सम्यग्ज्ञान है। तथा वह सम्यग्ज्ञान शास्त्र से होता है। तथा उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त जो सर्वज्ञ है उनसे होती है। इस हेतु से आप्त सर्वज्ञ देव है। वे उनके प्रसाद से ज्ञानवंत हुए जो जीव उनके द्वारा पूज्य होते हैं, वह न्याय ही है और पंडित। साधु वे हैं जो किये हुए उपकार को नहीं भूलते हैं इसलिए शास्त्र के प्रारंभ में उपकार स्मरण अत्यंत अनिवार्य है।

अब आगे आचार्य भगवन् बतलाते हैं कि मंगलाचरण कब करना चाहिए तथा उसके करने का फल क्या है?

पुव्विल्लाइरिएहिं उत्तो सत्थाण मंगलुग्घोसो।

आइम्मि मज्झ अवसानेसु वि सणियमेण कायव्वो।।22।। (गो.जी.टी.)

अर्थात् शास्त्र के आदि, मध्य व अंत में मंगल का उद्घोष अवश्य करना चाहिए, ऐसा पूर्वाचार्यों का कथन है। आदि, मध्य व अंत मंगल करने का फल क्या है? तो आचार्य भगवन् कहते हैं-

पढमे मंगलकरणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।

मज्झिल्ले णिव्विग्घं विज्जा विज्जा फलं चरिमे।।23।। (गो.जी.टी.)

अर्थात् शास्त्र के आदि में मंगल करने से शिष्य शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मंगल करने से विद्या में विघ्न नहीं आता और अंत में मंगल करने से विद्या का फल प्राप्त होता है। अब ग्रंथ को प्रारंभ करने के पूर्व आचार्य भगवन् दूसरे हेतु निमित्त को बतलाते हैं-

2. निमित्त-प्रायः किसी भी कार्य की उत्पत्ति में कोई न कोई हेतु अवश्य होता है। इस ग्रंथ की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए कहते हैं-जो भव्य जीव है, वे बहुत नय व प्रमाणों से नाना प्रकार



के भेदों को लेकर पदार्थों को जाने। दूसरा इस ग्रंथ का निमित्त गंगवंश में पैदा हुए श्रीमान् राजमल्ल नामक महाराजा के मंत्री-चामुण्डराय के प्रश्न के उत्तर स्वरूप में इस ग्रंथ का अवतार हुआ है।

3. हेतु-किसी भी शास्त्र के अध्ययन में दो प्रकार के हेतु होते हैं-1. प्रत्यक्ष 2. परोक्ष प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं-1. साक्षात् प्रत्यक्ष 2. परंपरा प्रत्यक्ष।

साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु-अज्ञान का विनाश होना, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होना, तथा देव व मनुष्यों द्वारा निरंतर पूजा करना तथा असंख्यात गुणश्रेणी रूप कर्म की निर्जरा होना ये तो साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु हैं।

परंपरा प्रत्यक्ष हेतु-शिष्य और शिष्यों के प्रतिशिष्य, उनके द्वारा निरंतर पूजा का करना वह परंपरा प्रत्यक्ष हेतु है। शास्त्राध्ययन करने से ऐसी फल की परंपरा होती है। परोक्ष हेतु के दो प्रकार-

1. अभ्युदय 2. निःश्रेयस।

1. अभ्युदय सुख-सातावेदनीयादिक प्रशस्त प्रकृतियों के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न हुआ तीर्थकर, इंद्र, राजादिक का सुख वो अभ्युदय रूप है।

2. निःश्रेयस रूप-अतिशय संयुक्त, आत्मजनित, अनुपम, सर्वोत्कृष्ट तीर्थकर का सुख वा पंचेन्द्रियों से अतीत सिद्ध सुख वह निःश्रेयसरूप है। इस ग्रंथ का अध्ययन करने के पश्चात् परोक्ष ऐसा फल प्राप्त होता है।

इसलिए यह ग्रंथ इस तरह के फलों का हेतु जानना।

3. प्रमाण-इस शास्त्र का प्रमाण नाना प्रकार के अर्थों से अनंत है तथा अक्षरगणना से संख्यात है। तथा इस ग्रंथ “रत्नकरण्डक-श्रावकाचार” का प्रमाण 150 गाथा है।

4. नाम-चूंकि यह शास्त्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नों का पिटारा है। तथा श्रावकों के आचार पर आधारित है इसलिए ग्रंथ का सार्थक नाम “रत्नकरण्डक-श्रावकाचार” है।

5. कर्त्ता-6वां कारण कर्त्ता है। कर्त्ता की व्याख्या करते हुए उसे दो भागों में बांटा गया है।

1. अर्थकर्त्ता 2. ग्रंथकर्त्ता

अर्थकर्त्ता-भगवान् 1008 श्री महावीर स्वामी हैं जिनके शासन में हम रह रहे हैं।

अर्थकर्त्ता के चार भेद हैं-

1. द्रव्य अर्थकर्त्ता 2. क्षेत्र अर्थकर्त्ता 3. काल अर्थकर्त्ता 4. भाव अर्थकर्त्ता



1. **द्रव्य अर्थ कर्ता**-जो 18 दोषों से रहित है, अनंत चतुष्टय से सहित है, 34 अतिशयों से युक्त है, 8 प्रातिहार्यों से युक्त समवशरण में विराजित है तथा इंद्र, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, देवेन्द्रों से पूजित है वे महावीर भगवान द्रव्य अर्थ कर्ता है।

2. **क्षेत्र अर्थ कर्ता**-पंचशैल नगर में विपुलाचल पर स्थित महावीर भगवान ने उपदेश दिया यह क्षेत्र अर्थ कर्ता है।

3. **काल अर्थ कर्ता**-भरत क्षेत्र में अवसर्विणी के चौथे काल के अंतिम भाग में 33 वर्ष 8 माह 15 दिन शेष रहने पर वर्ष के प्रथम मास श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र में ही धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

4. **भाव अर्थ कर्ता**-नवकेवललब्धि व चार चतुष्टय से युक्त, अनंत गुणों से सहित, विशुद्ध चारित्र के धारक अपने केवलज्ञान से विश्व के चराचर तत्वों के ज्ञाता महावीर भगवान भाव अर्थ कर्ता है।

ग्रंथ कर्ता-तीन भेद है-

1. मूलग्रंथकर्ता 2. उत्तर ग्रंथ कर्ता 3. उत्तरोत्तर ग्रंथ कर्ता।

1. मूलग्रंथकर्ता- श्री 1008 महावीर भगवान है।

2. उत्तर ग्रंथकर्ता- गणधर परमेष्ठी इंद्रभूति गौतम है।

3. उत्तरोत्तर ग्रंथकर्ता - उत्तरोत्तर आचार्य है।

इस ग्रंथ 'रत्नकरण्डक-श्रावकाचार' के ग्रंथकर्ता 'आचार्यश्री संमतभद्र स्वामी' है।

ग्रंथकर्ता की बहुत बड़ी महिमा है-क्योंकि वक्ता की प्रामाणिकता, वचनों से होती है। जब हम धर्म की व्याख्या सुनते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि बात कहने वाले या व्याख्याता की परीक्षा कर लें। वक्ता को प्रमाणित किये बगैर उसके वचनों में प्रामाणिकता की सिद्धि संभव नहीं है। इसका तात्पर्य है कि मात्र वचन ही प्रमाणित नहीं होते हैं अपितु वक्ता की प्रामाणिकता से वचन भी प्रमाणित हो जाते हैं। हम लोक व्यवहार में भी देखते हैं कि यदि कोई आपके पास आये और कहे कि यहाँ भगवान की प्रतिमा जमीन से निकली है दर्शन कर लो, तो आप सबसे पहले यह देखते हैं कि बात को कहने वाला कौन है-यदि कहने वाला कोई पागल है तो आप उसकी बात पर ध्यान नहीं देते। शराबी या अन्य प्रकार के नशे में तो नहीं है यदि है तो आप उसकी बात पर विश्वास नहीं करते। यदि कोई सज्जन पुरुष आपके पास आकर उसी बात को कहता है तो आप उसकी बात मान लेते हैं आखिर



क्या है? तो आपकी दृष्टि में वक्ता है यदि वक्ता प्रमाणित है तो उसकी बात मान्य की जाती है अन्यथा नहीं। जो व्यक्ति केवलज्ञानी/सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित तत्व को कहता है स्वयं महाव्रतों का धारी है। वह अपने यथार्थ ज्ञान के साथ क्रोध, लोभ, भयादि के बिना सर्वज्ञ की वाणी प्रतिपादित कर रहा है तो उसकी बात प्रमाणिक मानी जाती है। दूसरा व्यक्ति आगम को मन वाणी बनाकर अपने हिसाब से बोल रहा है तो उसकी मन वाणी प्रमाणिक नहीं है अतः हम स्वीकार नहीं करते। क्योंकि सच्चे भक्त की श्रद्धा इतनी कमजोर नहीं होती कि सहसा किसी की भी बातों पर विश्वास कर ले जैसे-सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र में ही टिकता है अन्य में नहीं, वैसे ही श्रीमज्जिनेन्द्र की वाणी सम्यग्दर्शन रूपी पात्र में ही ठहरती है भक्त की श्रद्धा रूपी पात्र में सच्चे देव-शास्त्र गुरु के ही वचन टिक सकते हैं अन्य के नहीं। अतः हमें जिस ग्रंथ का व्याख्यान करना सुनना है उसके कर्ता को जानना आवश्यक है। इस ग्रंथ के कर्ता आचार्यश्री 108 समंतभद्र स्वामी जी हुए हैं जो कि एक महान तार्किक एवं नैयायिक आचार्य थे।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री महावीर भगवान की जय”





प्रवचन-2 श्लोक-1

मंगलाचरण

न्याय तपो महामार्तण्ड परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी एक महान् कृतज्ञ आचार्य भगवन् है। कृतज्ञता गुण की सबसे बड़ी पहचान यह है कि कृतज्ञ व्यक्ति अपने इष्ट, आराध्य को किसी भी कार्य का प्रारंभ करने के पूर्व स्मरण करते हैं, उनके उपकारों की गाथा गाते हैं। पूज्य आचार्य भगवन् ने श्रावकों के उपकारार्थ ग्रंथ का प्रणयन करने के पूर्व अपने इष्ट परमात्मा अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार किया है तथा उनकी विशेषता बतलाते हुए मंगलाचरण में कहा हैं-

**नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
साऽलोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ।। १ ।।**

अन्वयार्थ-

यद्विद्या	- जिनका केवलज्ञान
साऽलोकानां	- आलोक सहित
त्रिलोकानां	- तीनों लोकों के संबंध में
दर्पणायते	- दर्पण के समान आचरण करता है
निर्धूत-कलिलात्मने (तस्मै)	- नष्ट कर दिया है पापरूपी मैल को आत्मा से जिन्होंने ऐसे (उन)
श्री वर्द्धमानाय	- श्री महावीर भगवान के लिए
नमः	- नमस्कार
अस्तु	- हो ।

भावार्थ-जिनके केवलज्ञान में आलोक सहित तीनों लोक दर्पण के समान अवभासित होते हैं, जिन्होंने आत्मा में लगे हुए चार घातियाँ कर्मरूपी मैल को नाश कर दिया है। उन महावीर भगवान के लिए मैं (समंतभद्र) नमस्कार करता हूँ।



भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज एक तार्किक आचार्य है वे अपनी जो भी बात कहते हैं उसे तर्क, आगम, युक्ति से कसते हैं, तथा सांगोपांग बात कहते हैं। इस ग्रंथ के मंगलाचरण में पूज्य आचार्य भगवन् ने न केवल अपने इष्ट परमात्मा को नमस्कार किया है अपितु अपने इष्ट के अनंतशः संपूर्ण गुणों को गागर में सागर की तरह मात्र चार चरणों में भर दिया है, पूज्य श्री का एक-एक शब्द गहरे अर्थ को लिये हुए है।

प्रथम विशेषण दिया “यद्विद्या” जिनकी विद्या। यहाँ ‘विद्या’ शब्द अपने आप में बहुत महत्त्वशाली है क्योंकि विद्या तो संसार में बहुत लोगों के पास होती है, बहुरूपी विद्या, जल चारण विद्या, आकाश गामिनी विद्या आदि क्रियाओं को साधक अपनी साधना के बल से सिद्ध कर लेते हैं, परंतु इन संपूर्ण विद्याओं का कार्य क्षेत्र व सीमाएं निर्धारित होती हैं जैसे-बहुरूपी विद्या के बल से उसको साधने वाला बहुत से रूप बना लेता है। आकाश गामिनी विद्या को साधने वाला अपनी विद्या के बल से आकाश में गमन कर सकता है। परंतु सर्वज्ञ प्रभु की ‘विद्या’ इतनी विशद है कि विश्व की संपूर्ण विद्याएँ उस एक विद्या में समाहित हो जाती हैं, वह विद्या है-“केवलज्ञान”। संसारी प्राणियों के पास जो विद्या है वह मति, श्रुतज्ञान जन्य है अथवा अवधि और मनःपर्यय ज्ञान जन्य हो सकती है, परंतु वह सब कुछ क्षायोपशमिक ज्ञान से ही उत्पन्न विद्या है। अतः उसमें संपूर्णता का अभाव है परंतु सर्वज्ञ की एक विद्या ‘केवलज्ञान’ छद्मस्थों की संपूर्ण विद्याओं पर भारी है, क्योंकि ‘केवलज्ञान’ क्षायोपशमिक नहीं अपितु क्षायिक है।

केवलज्ञान ऐसी अनुपम विद्या है जिसमें विश्व के संपूर्ण चराचर द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें युगपत् झलकती हैं तथा यह ज्ञान सकल प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अर्थात् इंद्रिय व मन की सहायता के बिना संपूर्ण आत्म प्रदेशों से ही होता है। पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं-

“यद्विद्या दर्पणायते” जिनका केवलज्ञान दर्पण के समान आचरण करता है। आपने दर्पण अवश्य देखा होगा। वह कैसा होता है? तो कांच का बना होता है जिसमें दूसरी ओर Polish रहता है उस दर्पण के समक्ष जो भी पदार्थ आते हैं वे स्पष्टतः प्रतिभासमान होने लगते हैं। फिर दर्पण उन पदार्थों से कोई राग-द्वेष नहीं करता कि इस पदार्थ को ही झलकाऊंगा अन्य को नहीं। उसी प्रकार सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान में विश्व के चराचर पदार्थ झलकते हैं परंतु उन पदार्थों में उनका प्रवेश नहीं है, केवली का विचरण तो मात्र अनंत चतुष्टय रूप अपनी आत्मा में ही होता है। दर्पण की तरह भगवान का केवलज्ञान संपूर्ण पदार्थों को मात्र प्रतिबिंबित करता है इसलिए उसे दर्पण की उपमा दी गई है। पूज्य आचार्य भगवन् ने बतलाया कि केवली के ज्ञान में “साऽलोकानां त्रिलोकानां” अलोकाकाश सहित तीनों लोक स्पष्ट झलकते हैं। संपूर्ण आकाश के ठीक बीचों बीच असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश होता है और यह लोकाकाश कमर प्रदेश पर हाथ रखकर व दोनों पैरों को फैलाकर खड़े मनुष्याकार रूप में होता है। लोक का अर्थ है जगत, इसे दूसरे प्रकार से ऐसा भी कह सकते हैं कि



आकाश के जितने हिस्से में छहों द्रव्यों पायी जाती है, वह लोकाकाश है। वह लोकाकाश उर्ध्व, मध्य व अधोलोक के भेद से तीन भेद वाला है। इनमें से अधो लोक दोनों पैरों के फैले हुए हिस्से जैसा है। जिसमें सातों नरक-धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा व माघवी है। तथा इन सातों नरकों के 99 पटल है। जिनमें नारकी जीवों का निवास होता है।

नारकियों का निवास पहली पृथ्वी रत्नप्रभा से प्रारंभ होता है जो कि 1 लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग है। 1. खरभाग 2. पंकभाग 3. अब्बहुल भाग। खरभाग 16 हजार योजन का होता है जिसमें सात प्रकार के व्यंतर व 9 प्रकार के भवनवासी देव निवास करते हैं। पंकभाग 84 हजार योजन प्रमाण होता है जिसमें राक्षस व असुरों के भवन होते हैं। तीसरा अब्बहुल भाग 80000 योजन का होता है। यही पहली पृथ्वी कहलाती है जिसमें नारकी जीव निवास करते हैं। सातों नरकों में कुल 49 पटल होते हैं। पहले में 13, दूसरे-11, तीसरे-9, चौथे-7, पाँचवे-5, छठवे-3, सातवें में 1 (13+11+9+7+5+3+1) 49 पटल। अधोलोक का आकार वेत्रासन के समान होता है। रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियों में क्रमशः 30 लाख, शर्करा प्रभा-25 लाख, बालुका प्रभा-15 लाख, पंक प्रभा-10 लाख, धूमप्रभा में 3 लाख, तमप्रभा में-5 कम 1 लाख और महातमप्रभा में 5 ही बिल है इस प्रकार कुल 30, 25, 15, 10, 3, 5 कम 1 लाख 5, अतः 80 लाख बिल होते हैं जिनमें असंख्यात की संख्या में नारकी जीवों का निवास होता है। ये नारकी जीव स्वभाव से ही क्रूर प्रकृति के होते हैं तथा परस्पर में लड़ते रहते हैं। नरक की भूमि का प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वहाँ क्रोध का बाहुल्य पाया जाता है।

अधोलोक के ऊपर मध्यलोक है जो कि झालर की आकृति का होता है। इसमें असंख्यात द्वीप व समुद्र पाये जाते हैं इसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं। जंबूद्वीप को आदि लेकर अंतिम स्वयंभूरमण द्वीप व स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत असंख्यात द्वीप समुद्र होते हैं। प्रत्येक द्वीप व समुद्र दूने-2 विस्तार वाले होते हैं ये द्वीप व समुद्र पहले-2 के द्वीप व समुद्र को घेरे हुए व चूड़ी के समान आकार वाले होते हैं। सभी द्वीप व समुद्रों के बीचों बीच 1 लाख योजन विस्तार वाला जंबूद्वीप होता है जिसके मध्य में सुमेरु पर्वत होता है। जंबूद्वीप में भरत आदि 7 क्षेत्र होते हैं तथा इन सात क्षेत्रों में विभाग करने वाले 6 कुलाचल होते हैं। जिनमें पद्म आदि 6 तालाब होते हैं इन तालाबों के बीच में 1 योजन का कमल होता है जिनमें श्री, ही आदि देवियाँ निवास करती हैं। इन सात क्षेत्रों से 14 महानदियाँ व 14 हजार को आदि लेकर सीता-सीतोदा तक दूनी-2 सहायक नदियाँ होती हैं। फिर क्रमशः घटती जाती है।

मध्य लोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में से ढाई द्वीपों में मनुष्य लोक होता है क्योंकि ढाई द्वीप के बाद मानुषोत्तर पर्वत पाया जाता है और उससे आगे मनुष्यों का आवागमन नहीं होता। मनुष्य द्वीप के ढाई द्वीपों में पहला द्वीप जंबूद्वीप है जंबूद्वीप के भरत व ऐरावत आदि क्षेत्रों में काल का परिवर्तन होता है। एक उत्सर्पिणी काल के बाद दूसरा अवसर्पिणी काल आता है उत्सर्पिणी के छह



कालों में मनुष्यों की आयु, बुद्धि, ऊँचाई आदि बढ़ता-2 होता है तथा अवसर्पिणी के छहों कालों में आयु, बुद्धि, बल, ऊँचाई आदि घटता-2 होता है। दस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक अवसर्पिणी काल होता है तथा दस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है तथा दोनों को मिलाकर 20 कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण वाला कल्पकाल होता है। सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा, दुषमा-दुषमा इस प्रकार छहकालों के बीत जाने पर प्रलय होता है तथा प्रलय के उपरांत पुनः पहला काल प्रवर्तित होता है एक अवसर्पिणी के छहों काल बीत जाने पर फिर उत्सर्पिणी काल प्रवर्तमान होता है और इस प्रकार का काल चक्र परिवर्तन भरत व ऐरावत क्षेत्रों में होता है।

इन छह कालों में से प्रारंभ के तीन काल में उत्तम, मध्यम व जघन्य भोगभूमि है। तथा 4,5 व 6वें काल में कर्मभूमि होती है तथा भरत क्षेत्र की अशाश्वत भोगभूमि के अलावा हैमवत, हरि, विदेह देवकुरु, विदेह उत्तरकुरु, रम्यक, हैरण्यवत, संबंधी द्वाई द्वीप में कुछ 30 शाश्वत भोगभूमियाँ पायी जाती है तथा द्वाईद्वीप में 5 भरत, 5 ऐरावत व 5 विदेह संबंधी कुल 15 कर्मभूमियाँ होती है।

इस प्रकार मध्य लोक में मनुष्य ज्योतिषी देव व तिर्यचों का निवास होता है तथा यहाँ पर भवनवासी व व्यंतर देव भी यत्र तत्र विचरण करते देखे जाते हैं तथा भगवान के पंचकल्याणक के अवसर पर वैमानिक देव भी मध्यलोक में आते हैं। लेकिन अल्प आरंभ व अल्प परिग्रहवान्, मंदकषायी, भद्र परिणामी जीव मरकर मध्यलोक में जन्म लेते हैं।

मध्य लोक के ठीक ऊपर ऊर्ध्व लोक होता है। जिसमें देवगति के जीवों का निवास होता है। ऊर्ध्वलोक मृदंग की तरह आकार वाला होता है। ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों का निवास होता है वे देव अपने-2 विमानों में निवास करते हैं। प्रत्येक विमान युगल में एक-2 इंद्र होता है। सौधर्म-ऐशान में सौधर्म इंद्र व ऐशान इंद्र, सानत्कुमार माहेन्द्र युगल में सानत्कुमार इंद्र व माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में ब्रह्म इंद्र, लान्तव-कपिष्ठ युगल में लान्तव इंद्र, शुक्र-महाशुक्र युगल में शुक्र इंद्र, शतार-सहस्त्रार युगल में शतार इंद्र, आनत-प्राणत युगल में आनत इंद्र, आरण-अच्युत में आरण इंद्र व अच्युत इंद्र होते हैं इस प्रकार 16 कल्पों में 12 इंद्र होते हैं। चूंकि इन 16 कल्पों तक इंद्र आदि की कल्पना की जाती है अतः ये कल्पवासी देव कहलाते हैं 16 स्वर्गों से ऊपर सभी अहमिन्द्र होते हैं यानि वहाँ इंद्र आदि की कल्पना नहीं होती इसलिए वे कल्पातीत देव कहलाते हैं। 16 स्वर्गों के ऊपर 9 ग्रैवेयक, फिर 9 अनुदिश और उसके ऊपर 5 अनुत्तर विमान होते हैं तथा सबसे अंतिम अनुत्तर विमान सर्वार्थसिद्धि के ठीक ऊपर 1 बाल के अंतर से सिद्ध शिला होती है जिसमें सिद्धों का निवास होता है उसके ऊपर तीनों लोकों को घेरे हुए तीन वात वलय पाये जाते हैं, जिनमें से पहला वात वलय घनोदधिवात वलय होता है जो 20,000 योजन मोटा होता है। इसके बाद घनवात वलय 20,000 योजन मोटा, उसके बाद संपूर्ण लोक को घेरे हुए अंतिम तनुवात वलय होता है वह भी 20,000 योजन मोटा है, संपूर्ण लोक इसी



तनुवात वलय के आधार से होता है। इस प्रकार संपूर्ण लोक की ऊँचाई 14 राजू होती है। तथा लोक के बीचों बीच कुछ कम 13 राजू ऊँची त्रस नाली होती है, जो सर्वत्र 1 राजू चौड़ी होती है।

इस प्रकार तीनों लोकों में बढ़ा हुआ लोकाकाश होता है और लोकाकाश के अतिरिक्त सर्वत्र अलोकाकाश ही होता है। लोकाकाश में तो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्यों पायी जाती है परंतु अलोकाकाश में मात्र एक आकाश द्रव्य ही पायी जाती है।

इस प्रकार लोकाकाश व अलोकाकाश में पाये जाने वाले संपूर्ण द्रव्यों व उनकी समस्त पर्यायों को केवली भगवान युगपत् जानते हैं। अर्थात् उनके केवलज्ञान में लोक सहित अलोकाकाशवर्ती समस्त चराचर पदार्थ दर्पण के समान युगपत् झलकते हैं। अगला विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कहते हैं, “निर्धूत कलिलात्मने” ‘कलिल’ अर्थात् चार घातिया कर्म रूपी पाप मैल को जिन्होंने ‘आत्मने’ यानि अपनी आत्मा से ‘निर्धूत’ नष्ट/अलग कर दिया है। चार घातिया कर्म-ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय व अंतराय हैं इनमें से-

1. **ज्ञानावरणी कर्म**-यह आत्मा के ज्ञानगुण का नाश करता है। जिससे प्राणी को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। यह किसी वस्तु पर पड़े पर्दे की तरह होता है जिस प्रकार पर्दे के पड़े होने पर वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता वैसा ही ज्ञानावरण कर्म होता है।

2. **दर्शनावरणी कर्म**-जिस प्रकार द्वारपाल दर्शन नहीं होने देता बाहर ही रोक लेता है, वैसे ही दर्शनावरणी कर्म दर्शन नहीं होने देता।

3. **वेदनीय कर्म**-जिस प्रकार शहद लपेटी तलवार एक साथ सुख-दुःख दोनों का वेदन कराती है यह शहद को तलवार पर रखकर उसे चाटने की चेष्टा की जाए तो खाने वाले की जिह्वा ही कट जायेगी। उसी प्रकार जो कर्म प्राणी को सुख व दुःख दोनों का वेदन कराता है, वह वेदनीय कर्म है।

4. **मोहनीय कर्म**-जिस प्रकार शराब के नशे में धुत प्राणी को हिताहित का विवेक नहीं होता, अच्छे-बुरे, कार्य-अकार्य का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार मोह के नशे में धुत प्राणी अपनी आत्मा के हित व अहित के बारे में नहीं सोच पाता और मोह की नींद में पड़े-2 अनंतों भव यूं ही गंवा देता है।

5. **आयु कर्म**-जैसे कैदी के पैरों में पड़ी लोहे की बेड़ी उसे परतन्त्र बना देती है वैसे ही शरीर रूपी कैद में पड़ी आत्मा को आयु कर्म एक समय सीमा तक बांध कर रखता है।

6. **नाम कर्म**-यह चितरे (चित्रकार) की तरह है, जिस प्रकार चित्रकार नाना रंग व आकृतियाँ बनाकर रंग-बिरंगे चित्र बनाता है ठीक वैसे ही नाम कर्म भी चित्र-विचित्र नाना जीवों का निर्माण करता है। आंगोपांग, शरीर के अवयवों की रचना नाम कर्म के आधीन होती है।



7. गोत्र कर्म-जैसे कुम्हार छोटे-बड़े आदि विभिन्न घड़े बनाता है, वैसे ही गोत्र कर्म ऊंच-नीच आदि कुलों में उत्पन्न कराता है।

8. अंतराय कर्म-जिस प्रकार खजांची, खजाने से धन निकालने में रोक लगा देता है वैसे ही अंतराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य में विघ्न खड़ा कर देता है।

इस प्रकार ये आठों कर्म पाप रूप मल कहलाते हैं क्योंकि आत्मा की शुद्धावस्था इन मलों से आच्छादित होने से विभावरूप परिणत हो रही है तथा इन पापरूपी मलों के नष्ट होने पर ही आत्मा की शुद्ध, चैतन्य, ज्ञायक एक स्वरूप, टंकोत्कीर्ण अवस्था प्रगट होती है तो जिन्होंने अपनी आत्मा से उन पापरूपी मलों को नष्ट कर दिया है “नमः श्री वर्द्धमानाय” “तस्मैः” उन महावीर भगवान् के लिए मैं (समंतभद्र आचार्य) नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने अपने रत्नकरण्डक-श्रावकाचार ग्रंथ के प्रारंभ में अपने इष्ट आराध्य परमात्मा श्री महावीर भगवान की गुण परक स्तुति करते हुए मंगलाचरण के माध्यम से नमस्कार किया है। यह पूज्य आचार्य भगवन् की अपने इष्ट परमात्मा के प्रति अनन्य श्रद्धा, भक्ति, लघुता, कृतज्ञता व शिष्टता का परिचायक है। महापुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे किसी भी कार्य को आरंभ करने से पूर्व अपने इष्ट का स्मरण अवश्य करते हैं। इस ग्रंथ के ग्रंथकार की भी यह बहुत बड़ी विशेषता है तथा उनकी यह विशेषता हमें भी शिक्षा दे रही है कि हम भी अपने इष्ट परमात्मा के प्रति सच्चे हृदय से समर्पित होते हुए उनकी भक्ति में लीन रहे तथा जीवन में लघुता, कृतज्ञता जैसे महान गुणों का विकास करें।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री महावीर भगवान की जय”





प्रवचन-3
श्लोक-2

धर्मोपदेश करूँगा

भव्य मनीषियो! जो महापुरुष होते हैं श्रेष्ठ व विद्वत् वर्ग के लोग होते हैं वे अपनी बात कहने के पूर्व प्रतिज्ञा अवश्य लेते हैं कि मैं अमुक-2 बात कहूँगा, अमुक-अमुक विषय के तहत अपनी बात करूँगा। हमारे आचार्य भगवन् समन्तभद्र महाराज भी एक तार्किक, न्यायाचार्य, महान विद्वान आचार्य हैं। वे भी अपनी बात को प्रतिज्ञापूर्वक कह रहे हैं-

ग्रंथ लिखने की प्रतिज्ञा व धर्म का निरुक्ति अर्थ-

देशयामि समीचीनं, धर्म कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥

अन्वयार्थ-

यः	-	जो
सत्त्वान्	-	जीवों को
संसार दुःखतः	-	संसार के दुःखों से छुड़ाकर
उत्तम-सुखे	-	उत्तम सुख में
धरति	-	रखता है
(तम्)	-	उस
कर्मनिबर्हणं	-	कर्मों का नाश करने वाले
समीचीनं	-	उत्कृष्ट
धर्म	-	धर्म को
अहम्	-	मैं, समन्तभद्र स्वामी
देशयामि	-	कहता हूँ उपदेश करता हूँ।

भावार्थ- जो धर्म कर्मों का क्षय करने के साथ ही जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर अनन्त सुखमय मोक्ष अवस्था में पहुँचाता है, मैं समन्तभद्र उस समीचीन धर्म का उपदेश दे रहा हूँ।



भव्य मनीषियो! इस द्वितीय श्लोक में आचार्य महाराज प्रतिज्ञा लेते हैं कि मैं धर्म का उपदेश दूंगा, धर्म का कथन/व्याख्यान करूंगा। यः जो 'संसार दुःखतः सत्त्वान्' जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर 'उत्तम सुखे धरति' उत्तम सुख में रखता है। अब प्रश्न यह उठता है कि संसार में दुःख क्या है। किसी से पूछा जाए कि आपको क्या दुःख है? तो कोई कहता है कि मैं बहुत बीमार हूँ इसलिए बड़ा दुःखी हूँ। कोई कहता मैं दरिद्र हूँ इसलिए दुःखी हूँ। किसी के पास पैसा भी है, स्वस्थ शरीर भी है। लेकिन संतान नहीं है इसलिए दुःखी हूँ। परंतु आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जिसे आप दुःख मान रहे हैं उससे भी बड़ा दुःख का हेतु संसार में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र है। संसार के दुःखों की तीन मूल है क्योंकि श्रद्धा रूपी आंख के अभाव में सही मार्ग दिखाई नहीं देता, सही ज्ञान नहीं तो मार्ग के विषय में सही ज्ञान नहीं हो सकता तथा सच्ची श्रद्धा व सच्चे ज्ञान के अभाव में समीचीन चारित्र की कल्पना भी कैसे की जा सकती है।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ही संसार के दुःखों का मूल हेतु है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि इन तीन दुःख के मूल हेतुओं से निकालकर जो उत्तम सुख अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में ले जाकर रख देता है अथवा मोक्ष पहुँचा देता है वही धर्म है। यहाँ मोक्ष को 'उत्तम सुख' की संज्ञा दी गई है क्योंकि मोक्ष से बढ़कर सुख अन्यत्र कहीं नहीं है और उस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ही है यदि हम कारण में कार्य का उपचार करें तो जो रत्नत्रय से युक्त चक्रवर्ती के सुख वैभव तथा देवों की विभूति को प्राप्त कराता है या इन-इन स्थानों पर ले जाता है वही धर्म है।

यदि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान से युक्त कोई देवगति का देव भी है तो वह भी दुर्गति को प्राप्त करता है, मिथ्यादर्शन के प्रभाव से देवों के आर्त-रौद्र व संक्लेष्टा रूप परिणाम होते हैं और उन संक्लेष्ट परिणामों से मरकर वे देव वनस्पतिकायिक आदि एकेन्द्रियों में जन्म लेते हैं। अग्नि व वायुकायिक जीवों में देवों का जन्म नहीं होता क्योंकि अग्नि व वायुकायिक निकृष्ट जाति में गर्हित होते हैं।

बंधुओ! पाप पुण्य के पन्ने इतनी जल्दी पलट जाते हैं एक स्वर्ग के वैभव का भोग करने वाला देव एकेन्द्रिय हो गया, आखिर ऐसा पुण्य भी किस काम का जो अंत में एकेन्द्रियों में पहुँचा दें। जो ज्ञानी, विवेकी भक्त होता है। वह तो भगवान से यही प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मुझे वह पुण्य नहीं चाहिए जो पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों का ग्रास बनाकर अंत में दुर्गति का हेतु बने मुझे तो सम्यग्दर्शन युक्त पुण्य चाहिए क्योंकि मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि के पुण्य से प्राप्त सारा का सारा वैभव पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त कराके धर्मध्यान से वंचित करता है और दुर्गति का पात्र बनाता है।

पूर्व पुण्य के उदय से प्राप्त वैभव का उपयोग मिथ्यादृष्टि दुर्व्यसनों में करता है धन संपदा को



व्यर्थ के अनाप-शनाप कार्यों में खर्च करता है और अततः पापों का संचय कर दुर्गति को जाता है। वह भूल जाता है कि यह वैभव, संपदा मुझे भगवान् भक्ति, उपासना, अर्चना, पूजा से प्राप्त हुई है। जपे, तप तथा मंदकषाय रूप परिणामों से प्राप्त हुई है। वह अपने विवेक का सदुपयोग न कर पाप कार्यों में अपने धन का व्यय करता है और उसका परिणाम उसी प्रकार होता है जैसे कोई किसान जब बीज सहित फल को खा लेता है तो अगली फसल बोने के समय पछताना पड़ता है। क्योंकि हमने वर्तमान की फसल को खत्म कर दिया व भविष्य के लिए कुछ बचाया नहीं। इसीलिए वैराग्य भावना में कहा गया है-

**बीज राख फल भोगवै ज्यों किसान जग माहि ।
त्यों चक्री नृप सुख करे, धर्म विसारै नाहिं ।।**

जिस प्रकार समझदार किसान बीज को (रखकर) बचाकर फिर फल का उपभोग करता है उसी प्रकार चक्रवर्ती धन-संपदा का उपयोग करते हुए भी धर्म को कभी नहीं भूलता। सदा धर्माचरण करता है और उस धर्मध्यान के फलस्वरूप सुगति का पात्र बनता है।

पू. आचार्यश्री 108 विमलसागरजी महाराज हमेशा श्रावकों से पूछते थे कि भैया! आप सभी बासी खाते हो या ताजी। तो सभी का एक ही उत्तर होता महाराज! हमारी माता तो हमें ताजा-ताजा खिलाती है। हम बासा क्यों खाये। तो महाराज कहते-झूठ मत बोलो, मुझे मालूम है कि तुम सब बासा खाते हो। एक सज्जन बोले-महाराज! आपकी बात कुछ समझ में नहीं आयी तब पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि आज तुम जो धन-वैभव आदि का सुख भोग रहे हो वह ताजी नहीं अपितु सब बासी कमाई है। पूर्व में आपने जो पुण्य कर्म किया है उसी का आज उदय आने पर आप सुख भोग रहे हैं।

परंतु पुराना पुण्य कब तक चलेगा, वह ज्यादा नहीं चल सकता है, आगे का नास्ता (कलेवा) तैयार करना पड़ेगा। कल किया था, आज पाया। आज करोगे तो कल पुनः मिलेगा। इसलिए नवीन पुण्य का आस्रव करने के लिए धर्माचरण को अपनाना होगा यदि पुण्य का नास्ता आपके पास है तो शीघ्र सुगति रूप मंजिल मिलेगी और परंपरा से मोक्ष की भी प्राप्ति होगी यदि आपके पास पुण्य का नास्ता नहीं तो भूखा रहना पड़ेगा, और अंततः दुर्गति में जाना पड़ेगा।

इसलिए विवेकवान् किसान बीज को सुरक्षित रख फिर फसल का उपभोग करता है। उसी प्रकार ज्ञानी तथा विवेक संपन्न व्यक्ति अपने पुण्य का इस प्रकार संचय करता है कि वह आगे काम आयेगा अर्थात् पुण्योदय में धर्म के कार्य करता है। साधु संतों को आहार देता है, धर्म व तीर्थ क्षेत्रों में अपनी चंचला लक्ष्मी का उपयोग करता है। भगवान् की पूजन, अभिषेक, विधान, पंचकल्याणक आदि महोत्सवों में भाग लेता है और नवीन-2 पुण्य का संचय करता है यह आगामी भव का कलेवा (नास्ता) है।



लौकिक अवस्था में जब हम किसी घनिष्ठ व्यक्ति के घर जाते हैं। तो भी नाश्ते का डिब्बा साथ ले जाते हैं क्योंकि जिसके पास डिब्बा है उसकी पूछ होती है तथा जिसके पास डिब्बा न हो उसे कोई नहीं पूछता क्योंकि आप किसी के घर जाएं और जाते ही आपको मांगना पड़े तो यह ठीक नहीं है। मांगना अच्छी बात नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव मांगता नहीं वह तो सत्ता में इतना पुण्य कलेवा रखता है कि स्वयं भी खाता है व दूसरों को भी खिलाता है।

जबकि मिथ्यादृष्टि का कदाचित् पूर्व पुण्य उदय में भी हो तो भी दुर्व्यसनों व व्यर्थ के कार्यों में लगाकर भविष्य का कलेवा तैयार नहीं कर पाता। अपितु मिथ्यादृष्टि तो निरंतर लुटता ही जाता है। इसलिए संसार में रूलाने वाला, 84 लाख योनियों में भ्रमण कराने वाला तथा चारों गतियों में घुमाने का मुख्य कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ही है। तथा आत्मा को पतन से बचाने वाला धर्म ही है। सच्चे सुख को दिलाने वाला एक मात्र जिन धर्म ही है। “तम् कर्म निबर्हणं समीचीनं धर्मं” उन कर्मों का नाश करने वाले उत्कृष्ट धर्म को ‘अहम्’ मैं समंतभद्र स्वामी ‘देशयामि’ कहता हूँ। ‘कर्म’ शब्द महत्वशाली है। आत्मा के असली स्वभाव को ढंकने वाले पुद्गल परमाणु कर्म कहलाते हैं। कर्म के तीन भेद हैं-1. द्रव्यकर्म 2. भाव कर्म 3. नो कर्म। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय। ये आठ द्रव्यकर्म हैं रागद्वेष आदि रूप अशुभ परिणाम को भावकर्म कहते हैं।

तथा औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर और छह: पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) के योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण नो कर्म कहलाता है। इन तीनों प्रकार के कर्मों का क्षय धर्म को धारण करने से ही होता है। अतः उस रत्नत्रय रूप धर्म को इस प्राणी के लिए जैसे बने वैसे अवश्य ही जीवन में धारण करना चाहिए। वही सुख का सच्चा हेतु व मुक्ति का सेतु है। ऐसे पवित्र धर्म का ही मैं आगे व्याख्यान करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा पूज्य आचार्य भगवन् ने की है। आगे आचार्य भगवन् धर्म का स्वरूप कहेंगे आप बड़े मनोयोग से उसे सुने, गुने व जीवन में अवधारण कर आत्महित पथानुगामी बनें।

इसी भावना के साथ-

“1008 वासुपूज्य भगवान की जय”





प्रवचन-4

श्लोक-3

रत्नत्रय ही सच्चा धर्म

भव्य मनीषियो! तार्किक चूड़ामणि परम् पूज्य आचार्य श्री समंतभद्र महाराज गुण व दोषों की ओर हमारा ध्यान ले जा रहे हैं क्योंकि- “बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये”

दोषों का विमोचन तथा गुणों का सृजन बिना जानकारी के संभव नहीं। यदि हमें मालूम हो जाए कि यह सही दिशा है इस पर चलकर हमें मंजिल मिल जायेगी तो हमारी वह जानकारी बहुत महत्त्वशाली है यदि हमें जानकारी ही न हो, रास्ता भी न मालूम हो तो मंजिल मिलना असंभव ही है। यदि हम जानते है यह गलत है यह सही है अथवा कोई हमें जानकारी दे कि यह गलत है, यह सही है तभी दोषों को छोड़ना व गुणों का ग्रहण कर पाना संभव है। इसलिए जानकारी बहुत अनिवार्य होती है।

पूज्य आचार्य भगवन् ने पूर्व गाथा में हमें बताया कि संसार के दुःखों से हटाकर जो हमें सच्चे उत्तम सुख में पहुँचा दें वही धर्म है। तो संसार के दुःख व उत्तम सुख इन दो को जानना अनिवार्य है। संसार के दुःख व उत्तम सुख को बतलाते हुए श्लोक तीन में कहते हैं-

धर्म का लक्षण-

सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भव पद्धति॥३॥

अन्वयार्थ-

सद्दृष्टिः	-	सम्यग्दर्शन
ज्ञान	-	सम्यग्ज्ञान
वृत्तानि	-	व सम्यक्चारित्र को
धर्मेश्वरा	-	धर्म के ईश्वर
धर्म	-	धर्म
विदुः	-	कहते हैं
यदीय प्रत्यनीकानि-		इनसे उल्टे मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र



भव पद्धति - संसार में भ्रमण कराने वाले
भवन्ति - होते हैं।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धर्म के ईश्वर (तीर्थकर देव) धर्म कहते हैं और इनसे उल्टे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं।

भव्य मनीषियो! इस श्लोक के माध्यम से आचार्य भगवन् धर्म की परिभाषा तथा लक्षण बतलाते हुए कहते हैं- “सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि” कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को “धमेश्वरा विदुः धर्म” धर्म के ईश्वर अर्थात् तीर्थकर देव ने धर्म कहा है यह बात बहुत मार्मिक व गहन चिंतनीय है कि ऐसा धर्म के ईश्वर ने कहा है। दुनियाँ के लोग तो अपने अभिमान की पुष्टि के लिए कहते हैं कि ऐसा मैं कह रहा हूँ। ‘मैं’ शब्द प्रथम तो अभिमान का सूचक है दूसरी बात आप छद्मस्थ है केवली नहीं। फिर आपके शब्द प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं। जब आप सर्वज्ञ बनेंगे तब आप अपनी बात कहना तभी आपकी बात मान्यता प्राप्त हो सकेगी। अभी तो हम उसकी मानेंगे, जो केवलज्ञान के द्वारा विश्व के चराचर संपूर्ण पदार्थों को युगपत् जानते हैं। उन सर्वज्ञ देव के वचन ही हमारे लिए प्रामाणिक है। आचार्य भगवन् विद्वान्/ज्ञानी है। अतः वे कह रहे हैं कि जो धर्म की व्याख्या मैं आपके सन्मुख करने जा रहा हूँ वह मैं अपनी ओर से नहीं कर रहा अपितु, भगवान् सर्वज्ञ देव ने जो धर्म का स्वरूप प्रतिपादित किया है वही मैं कह रहा हूँ। आचार्य भगवन् के ये शब्द गहरी प्रामाणिकता को लिए हुए हैं क्योंकि “वक्तु प्रमाणात् वक्ता प्रामाण्यम्।” वक्ता से वचनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। आचार्य भगवन् जो भी कथन करने जा रहे हैं क्योंकि वे अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे जो धर्म के ईश्वर ने कहा वही कह रहे हैं। यदि हम कोई बात कहें और यह कह दें कि ऐसा मैं कह रहा हूँ तो कोई व्यक्ति आपकी बात पर सहसा विश्वास नहीं करेगा यदि आप कहें कि ऐसा मैं अपनी तरफ से नहीं कह रहा अपितु ऐसा भगवान् ने कहा है तो उस व्यक्ति की बात पर सभी जन विश्वास कर लेते हैं क्योंकि आप सर्वज्ञ की बात कह रहे हैं तो गलत नहीं हो सकती क्योंकि जिन्होंने संपूर्ण को जान लिया है वे ही पदार्थों का समीचीन प्रकार से वर्णन कर सकते हैं।

जो भगवान् का सच्चा भक्त है, जिसका समर्पण सच्चा है देव, शास्त्र, गुरु पर जिसकी अनन्य आस्था है, तो वह शब्दतः उनकी बात को अंगीकार कर लेता है क्योंकि भगवान् ही उसकी श्रद्धा के आधार बिंदु है आचार्य भगवन् यहाँ अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं और आराध्य के प्रति सबको जोड़ रहे हैं दुनियाँ के लोग हर व्यक्ति को अपने से जोड़ना चाहते हैं उनका प्रयोजन होता है कि सब मुझसे जुड़े, परंतु सच्चा देव भक्त अपने पास आने वाले श्रद्धालु को प्रभु/परमात्मा के चरणों में पहुँचा देता है। गुरु चरणों में पहुँचा देता है कि जाओ तुम्हारी उन्नति के द्वार वहीं से खुल सकेंगे।

परंतु जब अभिमान भाव जाग्रत होता है तो जोड़ने नहीं तोड़ने के सूत्र प्रारंभ हो जाते हैं भाषा में अहंकार का विष घुल जाता है और व्यक्ति कहने लगते हैं कि ऐसा मैं कह रहा हूँ, अथवा दूसरों



से सुना, पढ़ा, समझा है परंतु अभिमान वश यही कहता है कि ऐसा तो मुझे पहले से ही आता है आपने क्या नया सिखाया। जबकि कृतज्ञ गुण संपन्न तो एक-एक शब्द को गुरु का, भगवान का उपकार मानता है, कि मेरे पास आज जो कुछ भी है वह सब कुछ गुरु ने ही दिया है।

सम्यग्ज्ञान के 8 अंगों में एक अनिहव नाम का गुण आता है अनिहवाचार अर्थात् हमने जिन गुरु, अथवा शास्त्र से ज्ञान का उपार्जन किया है उनका नाम कभी भी नहीं छिपाना। यदि गुरु से सीखा है तो सहज रूप से स्वीकार लेना चाहिए। जिस शास्त्र से पढ़ा है उसका नाम अवश्य लेना चाहिए, वह लघुता कहलाती है तथा लघुता एक महान् गुण है। जो प्रभु बनने के रास्ते को खोल देती है। गुरु या शास्त्र का नाम लेने में हमारी कुछ हानि नहीं अपितु एक तो यह हमारी लघुता/कृतज्ञता कहलायेगी दूसरा गुरु व शास्त्र का नाम लेने से हमारी बात प्रामाणिक हो जायेगी कि हम जो भी कह रहे है वह सत्य ही है क्योंकि गुरु आगम के ज्ञाता होते है। जो भी कहते है आगम के अनुसार कहते है। जिनवाणी सर्वज्ञ के मुख से उद्भूत हुई है इसलिए सत्य ही है। यदि हमने गुरु का नाम लिया है तो हमारी बात प्रामाणिक हो गई।

इसीलिए अपनी कृतज्ञता व प्रामाणिकता करते हुए आचार्य भगवन् ने “धर्मेश्वरा विदुः” ‘धर्म के ईश्वर’ ने ऐसा कहा यह बात कही है। अर्थात् धर्म की परिभाषा मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा अपितु वही कह रहा हूँ जो भगवान अर्थात् धर्म के ईश्वर ने कहा है। ‘धर्म के ईश्वर’ यह शब्द बहुत महत्वशाली है। मात्र ईश्वर की बात नहीं अपितु धर्म के ईश्वर की बात कही जा रही है। क्योंकि जो जिस विषय का विशेषज्ञ होता है वह उस विषय में निष्णात होता है। अर्थात् Complete Knowledge रखता है। अर्थात् उस विषय में Perfect होता है। यदि हम eye Specialist के पास जाते है तो वह हमें आंख संबंधी सारी जानकारी दे देता eye diseases के बारे में deep knowledge दे देता है क्योंकि वह उस doctor का कार्य क्षेत्र है ठीक उसी प्रकार आचार्य भगवन् धर्म के ईश्वर की बात कह रहे है। हमारे ईश्वर धर्म के विषय में पूर्ण जानकारी रखते है क्योंकि विषय की जानकारी विशेषज्ञ ही दे सकता है।

धर्म के लक्षण को धर्म के ईश्वर ने कहा है यह बात बहुत शक्ति सम्पन्न है क्योंकि जो धर्म के बारे में पूरी जानकारी रखता है वही हमें उसका स्वरूप बता सकता है। भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को धर्म कहा है “यदीय प्रत्यनीकानि भव पद्धति भवन्तिः” तथा इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र को भवपद्धति अर्थात् संसार वर्द्धन का हेतु बताया है।

जब हमारी श्रद्धा समीचीन नहीं होती तो विचारधाराएँ विपरीत व नकारात्मक ही पैदा होती है सोचने का तरीका समीचीन नहीं होता है। जो कर्म क्षय के हेतु है उन पर श्रद्धा नहीं जम पाती। बुद्धि विपरीत हो जाती है। स्वेच्छाचारी, स्वच्छंदता का समावेश जीवन में हो जाता है। रयणसारजी ग्रंथ में आचार्यश्री कुंदकुंद देव मिथ्यादृष्टि की पहिचान बतलाते हुए कहते हैं कि-



**मदिसुदणाण बलेण दु, सच्छंदं बोल्लदे जिणुद्दिट्ठं ।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्गरवो ।।३।।**

जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से स्वच्छन्द (मनःकल्पित) बोलता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है। तथा उसका वचन जिनेन्द्र देव के मार्ग में आरूढ़ व्यक्ति का वचन नहीं है।

ज्ञान का क्षयोपशम होना और बात है तथा ज्ञान का सम्यक् होना अलग बात है बहुत सारा ज्ञान हो परंतु सर्वज्ञ के वचनों से मेल न खाता हो तो वह समीचीन नहीं है। मति व श्रुतज्ञान के बल से अपने सत्यता का दंभ भरते यहाँ बहुत लोग देखे जाते हैं परंतु वे सत्य नहीं होते क्योंकि जिन्होंने अपने केवलज्ञान के द्वारा सब कुछ जान लिया है उनके वचन ही प्रामाणिक होते हैं और उन सर्वज्ञ के वचनों के विरुद्ध बोलने वाले के वचन प्रामाणिक नहीं हो सकते।

जब श्रद्धा समीचीन नहीं होती है तो वह मिथ्या श्रद्धा ही है और उस मिथ्या श्रद्धान के साथ जो ज्ञान होता है वह सारा का सारा ज्ञान मिथ्या ही होता है। तथा मिथ्या श्रद्धान व ज्ञान के विपरीत होने के साथ जो भी आचरण किया जाएगा वह भी मिथ्यारूप ही होता है। पथ सही नहीं है तो मंजिल कैसे मिलेगी इसीलिए इन मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र को संसार की वृद्धि में हेतु बताया गया है। जब हमारी श्रद्धा समीचीन होती है, तो हमारे सोचने का तरीका/नजरिया बदल जाता है। सकारात्मक विचार उत्पन्न होने लगता है सर्वज्ञ के प्रति समर्पण व आस्था का दीप प्रज्वलित हो जाता है और एक नया प्रकाश आत्मा में उत्पन्न हो जाता है। समीचीन पथ की प्राप्ति हो जाती है। सर्वज्ञ के दिखाये मार्ग पर कदम बढ़ने लगते हैं और हमारी दशा व दिशा दोनों सम्यक् हो जाते हैं। जब हमारी दशा व दिशा दोनों समीचीन हो जाती है तो मुक्ति रूपी मंजिल अधिक दूर नहीं रह जाती। मिथ्यात्व यदि संसार को अनंत कर देता है बढ़ा देता है तो उसका विरोधी सम्यग्दर्शन संसार को घटाकर चुल्लु प्रमाण कर देता है। अर्थात् कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर्म की स्थितियाँ घट कर अंतः कोड़ाकोड़ी-प्रमाण रह जाती है तथा अनंत संसार घटकर उपार्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण रह जाता है। सम्यग्दर्शन संसार के उच्छेद का हेतु है तो मिथ्यात्व भवों की वृद्धि का हेतु बीजभूत है। इसीलिए आचार्य भगवन् ने श्लोक 3 में सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को धर्म कहा तथा इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र को संसार परिभ्रमण का कारण कहा है।

पूज्य आचार्य भगवन् ने धर्म का स्वरूप अच्छी तरह बता दिया अब क्षीर/नीर के समान विवेकी बन हे भव्य प्राणियों! आप उस रत्नत्रय रूप धर्म को धारण करने हेतु उद्यमशील बनें।

इसी भावना के साथ-

“1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-5

श्लोक-4

मुक्ति की आधार शिला : सम्यग्दर्शन

भव्य मनीषियो! न्याय की कसौटी पर अपनी बात को कस कर आगम के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करने वाले परम् पूज्य आचार्य भगवन् समन्तभद्र महाराज ने पूर्व गाथा में संसार परिभ्रमण का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र को अधर्म कहा तथा इन तीनों से ठीक विपरीत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धर्म कहा। अब आगे आचार्य महाराज रत्नत्रय रूप त्रयरत्नों में से प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाते हुए कह रहे हैं-

श्रद्धानं परमार्थानां माप्तागमतपोभृताम् ।

त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अन्वयार्थ-

परमार्थानाम्	-	सत्यार्थ अथवा मोक्ष के लिए कारणभूत
आप्तागमतपोभृताम्	-	देव, शास्त्र व गुरु का
अष्टांगं	-	आठ अंग सहित
त्रिमूढापोढम्	-	तीन मूढ़ता रहित तथा
अस्मयं	-	आठ मद रहित
श्रद्धानं	-	श्रद्धान करना
सम्यग्दर्शनं	-	सम्यग्दर्शन
उच्यते	-	कहा जाता है।

भावार्थ- सच्चे देव, शास्त्र, और गुरु को मोक्ष के कारणभूत मानकर उनका आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता रहित तथा आठ मद रहित दृढ़ विश्वास करना (उनकी पूजा, भक्ति करना तथा विनय करना, तारण-तरण मानकर आदर-सम्मान देना) सम्यग्दर्शन कहलाता है।



भव्य मनीषियो! धर्म की व्याख्या करने के उपरांत अब पूज्य आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन की बात कह रहे हैं कि सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर 3 मूढ़ता, 8 मद रहित व 8 अंगों से सहित होकर सच्चा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अत्यंत, सूक्ष्म व जटिल विषय है। यह विषय चाहे आप किसी भी अनुयोग का अध्ययन करें उससे अधूरा नहीं रहता, चाहे अध्यात्म हो या सिद्धान्त, आगम हो या न्याय अपनी-2 अपेक्षा से सभी का प्रारंभिक बिंदु सम्यग्दर्शन ही होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष-मार्ग का प्रारंभ भी नहीं होता तो मोक्ष कैसे होगा मुक्ति का बीज सम्यग्दर्शन है। अथवा यूँ कहें कि यह मोक्षमार्ग रूपी मंजिल को पाने के लिए नींव का पत्थर है। जैसे-नींव का पत्थर भले ही दर्शकों को दिखाई न दे पर वह वेशकीमती होता है। उसी प्रकार मुक्ति को पाने हेतु हम जिस मुक्ति पथ पर चलते हैं उसका आधार बिंदु सम्यग्दर्शन है। देव, शास्त्र, गुरु पर यथार्थ श्रद्धान, आस्था, विश्वास का नाम ही सम्यग्दर्शन है।

हम चाहे कैसी भी परिस्थिति से गुजरे, कितने ही कष्टों में पड़ जाए परंतु अपनी सम्यक् श्रद्धा से कभी भी विचलित न हो, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही भव पार लगाने वाला खेवटिया है। उसका साथ कभी भी न छोड़े कभी-2 हम देखते हैं कि हवा/पवन के झोंके दीपक की लौ को चंचल बना देते हैं। उस प्रकार जब चल, मलिन, अवगाढ़ रूपी पवन के झोंके चलते हैं तो सम्यग्दर्शन में दोष रूपी कुछ चंचलता अवश्य उत्पन्न करते हैं, परंतु सम्यग्दर्शन को समूल नष्ट नहीं करते।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि हे भव्य! ये झोंके तुम्हारी श्रद्धा को चंचल न कर पाये ऐसा प्रयत्न/प्रयास करना चाहिए। निरंतर तत्व चिंतन/मनन करते ही रहना चाहिए कि किस प्रकार यह वेशकीमती रत्न सुरक्षित रहे। आप अपने रत्नों को किस प्रकार तिजोरी में एक के बाद एक कई कपाटों के बीच रखते हैं फिर एक मजबूत ताला उसमें लगा देते हैं। उसी प्रकार इस कीमती रत्न सम्यग्दर्शन की रक्षा हेतु आस्था की मजबूत तिजोरी में भक्ति का ताला लगाकर रखना चाहिए और यदि आपने अभी उसे प्राप्त ही नहीं कर पाया है तो उसे पाने का शीघ्र यत्न करो। पंडित दौलतराम जी अपने छहड़ाला ग्रंथ में स्वात्म संबोधन देते हुए ढ़ाल में कह रहे हैं-

दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।

यह नर भव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहीं होवै।।

पं. दौलतरामजी बड़े विद्वान कवि थे। उनकी विद्वत्ता के दर्शन उनकी पंक्तियों से हो जाती है क्योंकि व्यक्ति का चिंतन उसके व्यक्तित्व का परिचायक होता है। बड़ी सुंदर बात पंडितजी कह रहे हैं-



धर्मात्माओं की चिंतन शैली उनका उपदेश पर के लिए नहीं होता वे तो आत्म संबोधन करते हैं- वे कहते हैं यह ग्रंथ मैंने दूसरों के लिए नहीं अपितु अपने लिए लिखा है। यहाँ पहला विशेषण दिया गया है-“समझ”। दौलतरामजी स्वयं को संबोधन देते हुए कह रहे हैं हे दौल! समझो, समझने का प्रयास करो क्योंकि समझने के लिए लगन, रुचि, श्रम की आवश्यकता है यदि रुचि है तो बड़े-से-बड़े काम क्षण भर में हो जाते हैं और रुचि के अभाव में सरल से सरल काम भी भारी प्रतीत होते हैं और फिर छोटी-2 बातें भी समझ में नहीं आती, इसलिए पहली बात है कि समझो।

दूसरा विशेषण है ‘सुन’ इसका तात्पर्य है कि ध्यान से सुनो। बंधुओ! गुरु समझाएँ और आप यहाँ-वहाँ देखें तो समझ में नहीं आयेगा। आपको समझ में तभी आयेगा जबकि आप ध्यान से सुने, उपयोग से सुनना, चित्त को एकाग्र करके सुनना चाहिए।

किसी दार्शनिक ने सुनने के विषय में कहा हैं कि सुनना स्मृति पटल पर अधिक प्रभाव छोड़ता है जब हम पढ़ते हैं तो अधिक श्रम लगता है तथा स्मरण कम रहता है परंतु जब हम ध्यान से एकाग्र चित्त होकर सुनते हैं तो स्मरण अधिक रहता है इसका एक कारण यह भी है कि सामने वाले के हाव-भाव, भाव-भंगिमा का हमारे Mental grasping power पर प्रभाव पड़ता है। हाव-भावों को दिमाग की तरंगें तेजी से Catch करती हैं। स्कूल में बच्चे अपने Teacher के Action को देखकर पढ़ाए गए पाठ को तुरंत वहीं का वहीं याद कर लेते हैं।

समवशरण में भी कोई पढ़ता-लिखता नहीं है अपितु तीर्थंकर की देशना को ध्यान से सुनता है। आचार्यश्री वीरसेन स्वामी ने धवलाजी में कहा हैं-कि देशना लब्धि नामक जो तीसरी लब्धि है वह भी सुनने से ही होती है। अतः सुनना बहुत महत्वशाली है। तीसरा विशेषण दिया-“चेत” हे दौल! समझो! सुनो!! और चेत जाओ। तात्पर्य यह है कि मात्र समझने और सुनने से काम नहीं चलता सुनने व समझने के साथ-साथ सावधान होना भी अनिवार्य है।

हे दौल! यदि तुमने सम्यग्दर्शन की बहुत व्याख्याएँ सुन ली हैं, समझ ली है तो अब ‘चेत’ सावधान हो जाओ क्यों? क्योंकि तुम ‘सयाने’ हो। पंडितजी बहुत बहुत चुन-2 कर सुंदर शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि आत्मा को मोक्षमार्ग पर लगाना है। जैसे एक माँ जब बच्चे से काम करना चाहती है तो कहती है तू तो मेरा राजा बेटा है, बड़ा सयाना है, बहुत होशियार है इत्यादि। इस प्रकार से प्रोत्साहन परक शब्दों का प्रयोग करती है और बेटा खुश होकर ‘माँ’ का काम तुरंत कर देता है। बस उसी प्रकार दौलतरामजी अपनी आत्मा को बालक की तरह समझा रहे हैं संबोधन दे रहे हैं कि हे आत्मन्! तू सावधान हो जा यदि तुम सावधान नहीं हुए तो इस नर भव का मिलना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार समुद्र में राई का मिलना। एक प्रसिद्ध कहावत हैं-



**डालकर राई समुद्र में, खोजने से मिलती नहीं।
गर मिल भी जाए राई तो, मनुज पर्याय मिलती नहीं।।**

यदि समुद्र में राई का दाना गिर जाए तो मिलना मुश्किल है क्योंकि राई का दाना इतना छोटा और समुद्र इतना बड़ा फिर भी एक बार हो सकता है कि बड़े-2 गोताखोर अपने विशेष यंत्रों से उसे खोज भी ले, कदाचित् संभव है परंतु यदि यह नर भव रूपी राई यदि संसार समुद्र में खो गई तो दुबारा उसका मिल पाना असंभव ही है।

इसलिए सम्यग्दर्शन को पाकर इस नर भव को सार्थक कर लेना बहुत बड़ी बुद्धिमानी है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर नियम से देवगति में ही उत्पन्न होता है दुर्गति को नहीं पाता और शीघ्रातिशीघ्र कर्मों का क्षय कर निर्वाण पा लेता है अतः इस भव की सार्थकता सम्यग्दर्शन को धारण कर लेने में ही है। क्योंकि आज आपको अच्छा कुल मिला, संझी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक आदि सम्यग्दर्शन के अनुकूल साधन सामग्रियाँ मिल गई है यदि आपने अनुकूलता में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाया तो प्रतिकूलता में तो उसकी प्राप्ति असंभव ही जानो।

अब यदि आपका मन उस सम्यग्दर्शन को धारण करने को तैयार है तो आचार्य भगवन् ने उसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि सच्चे आप्त, आगम और गुरु का जो स्वरूप है उस स्वरूप से सहित आप्त, आगम व तपोभृत का दृढ़ श्रद्धान तुम्हें करना होगा वही सम्यग्दर्शन है वह सम्यग्दर्शन देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता व लोकमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं से रहित होता है। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन 8 अंगों से सहित होता है। तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन 8 मदों से रहित होता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि अन्य शास्त्रों में तो 6 द्रव्य, 7 तत्त्व व 9 पदार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है परंतु यहाँ आचार्य भगवन् ने देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कह कर अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित लक्षण का संग्रह नहीं किया तो इसका उत्तर यही है कि आगम के श्रद्धान से ही 6 द्रव्य, 7 तत्त्व व 9 पदार्थों के श्रद्धान रूप लक्षण का संग्रह हो जाता है, क्योंकि-

‘अबाधितार्थ-प्रतिपादक माप्तवचनं ह्यागमः’

अबाधित अर्थ का कथन करने वाला जो आप्त का वचन है वही आगम है। आगम का यह लक्षण शास्त्रकारों ने स्वीकृत किया है। इसलिए आगम के श्रद्धान में ही 6 द्रव्य आदि का श्रद्धान संग्रहीत हो जाता है।



जैन शास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभाजित हैं। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में आचरण की प्रधानता से पदार्थ का कथन होता है करणानुयोग में आत्मपरिणामों की प्रधानता है, द्रव्यानुयोग में तत्त्व चिंतन की प्रधानता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप भी भिन्न-2 अनुयोगों में भिन्न-2 प्रकार से कहा गया है

चूंकि रत्नकरण्डक श्रावकाचार यह ग्रंथ चरणानुयोग प्रधान है अतः इसमें अप्त, आगम व तपोभृत पर श्रद्धा करने का नाम सम्यग्दर्शन कहा है साथ ही सम्यग्दर्शन को निर्दोष रखने के लिए तीन मूढ़ताओं और 8 मदों से दूर रहना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकास के लिए 8 अंगों का पालन करना चाहिए। करणानुयोग में 7 प्रकृतियों के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होने वाले सम्यग्दर्शन को संग्रहीत किया गया है। तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा 7 तत्त्व, 9 पदार्थ व पंचास्तिकाय पर श्रद्धान रखने का नाम सम्यग्दर्शन कहा है।

इस प्रकार अनुयोगों की प्रधानता से परिभाषा व स्वरूप में अंतर दिखाई दे सकता है परंतु पृथक-2 होकर भी ये एक-दूसरे के साधक हैं एक के प्राप्त होने पर दूसरे लक्षण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं।

अतः कहने का तात्पर्य यही है कि सम्यग्दर्शन के वास्तविक स्वरूप को जानकर आप उसे जैसे बने वैसे ग्रहण करने का जीवन में अंगीकार करने का प्रयास करें क्योंकि सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में ही इस मानव देह की सार्थकता है।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री वासुपूज्य भगवान की जय”



गुरु सेवा क्यों ?

गुरु सेवा विधातव्या मनोवाञ्छित सिद्धये ।

संशय ध्वान्तनाशार्थ मिहामुत्र सुखाय च ॥416॥ (सु.स.)

अर्थ : मनोवाञ्छित कार्य की सिद्धि के लिए, संशयरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए तथा इहलौकिक और परलौकिक सुख के लिए गुरु की सेवा करनी चाहिए।





प्रवचन-6

श्लोक : 5

कैसे है सच्चे देव हमारे ?

भव्य मनीषियो! संसार का प्रत्येक प्राणी सुख व शांति चाहता है तथा सुख व शांति की खोज में निरंतर अपने कदमों को बढ़ाता रहता है। लेकिन वह सुख व शांति को पाना तो दूर रहा, सुख व शांति का संवेदन भी नहीं कर पाता क्योंकि जहाँ जो वस्तु है ही नहीं यदि वहाँ उसकी खोज की जाए तो मिलना असंभव ही है। यदि हम किसी देवी/देवता के पास जाकर मुक्ति की याचना करें तो बंधुओं! जिसने स्वयं मोक्षफल का आस्वादन नहीं किया वह आपको उस मोक्षफल को प्रदान कैसे करा पायेगा।

बंधुओ! यह सिद्धान्त हैं कि-“ददाति यत्तु यस्यास्ति” अर्थात् जिसके पास जो है वह वही वस्तु प्रदान कर सकता है। जिन देवी/देवताओं के पास सांसारिक वस्तुएँ हैं उनसे उनकी मांग की जाए तो कदाचित् पूर्ण भी हो सकती है परंतु जिसके पास जो है ही नहीं, शाश्वत से जो स्वयं कोसों दूर है वह हमें शाश्वत सुख कैसे दिला सकता है जो स्वयं संसार के दुःख सागर में, संसार समुद्र में फंसा हो वह हमें भव पार क्या लगायेगा? जो स्वयं रागी और द्वेषी है वह हमें वीतरागता क्या दे सकेगा, जो स्वयं मोही है वह हमें निर्मोही कैसे बना सकेगा अर्थात् नहीं बना सकेगा।

अतः यदि हमें रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग व मुक्ति मंजिल को पाना है तो हमें उस परमात्मा के ऊपर श्रद्धा करना चाहिए, जिसने स्वयं मुक्ति की सिद्धि कर ली हो, अंतिम लक्ष्य को पा लिया हो उन सच्चे देव का लक्षण बतलाते हुए आचार्यश्री समंतभद्र महाराज कहते हैं-

**आप्तेनोच्छिन्न (नोत्सन्न) दोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥**

अन्वयार्थ-

नियोगेन - नियम से
उच्छिन्न दोषेण - दोषों से रहित



सर्वज्ञेन	-	सर्वज्ञ और
आगमेशिना	-	हितोपदेशी पुरुष ही
आप्तेन	-	सच्चा देव
भवितव्यम्	-	होना चाहिए
हि	-	निश्चय से (क्योंकि)
अन्यथा	-	अन्य किसी प्रकार से
आप्तता (देवत्व)-	-	आप्तपना, सच्चा देव पना
न भवेत्	-	नहीं हो सकता है।

भावार्थ-नियम से दोषों से रहित वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी पुरुष ही सच्चा देव होना चाहिए क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से सच्चा देवपना नहीं हो सकता है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् आज हमारी पहचान उनसे कराने जा रहे हैं जिनसे परिचय किये बिना न तो मोक्षमार्ग मिल सकता है, न ही मोक्ष। यदि आपको Swmming सीखना है तो Swmming Master से पहचान अनिवार्य है यदि आपको Doctor बनना है तो जो डॉक्टर बन चुका, उससे सम्पर्क करना होता है तथा वह किस प्रकार उस अवस्था को प्राप्त हुआ यह जानना भी अनिवार्य है। एक School Stuedent जब Doctor बनने का लक्ष्य बनाता है तो वह पहले Enterence Examination की Preparation करता है दिन और रात एक करता है और अपने अथक परिश्रम के माध्यम से वह Exams pass कर लेता है इतना होने पर उसे सारे सेमिस्टर Cover करने होते हैं वे भी cover हो जाए तो किसी Doctor के under में practice करना होती है, Traning लेना होती है तब जाकर वह स्वयं एक Perfect Doctor बन पाता है। ठीक इसी प्रकार यदि आप मुक्ति को पाना चाहते हैं, सिद्ध बनना चाहते हैं, सच्चे देवत्वपने को पाना चाहते हैं तो पहले देव के स्वरूप को समझना होगा पश्चात् उन पर अपनी अकाट्य श्रद्धा जमाना होगी पश्चात् उनके बताये पथ पर चलना होगा तब कहीं जाकर आपको मुक्ति मंजिल मिल सकेगी।

इसलिए सच्चे देव के स्वरूप को जानना यह प्रथम अनिवार्य कार्य है। क्योंकि जाने बिना श्रद्धान सही नहीं हो सकता और जाने बिना यदि श्रद्धा कर भी ली तो वह अज्ञानता परक श्रद्धा होगी और अज्ञानता परक की गई श्रद्धा सम्यग्दर्शन का हेतु नहीं बन सकती। अब सच्चे देव को हम कैसे जाने? तो सच्चे देव को हम दो उपायों से जान सकते हैं 1. शाब्दिक रूप से 2. लाक्षणिक रूप।

शाब्दिक रूप से अर्थात् पारिभाषिक रूप से जो सच्चे देव के स्वरूप का वर्णन किया जाता है अर्थात् शब्दों के द्वारा परीक्षण करके जो श्रद्धा का विषय बनाया जाता है वह मनुष्य गति में ही



संभव है तथाकथित देवगति में भी संभव है। लेकिन तिर्यच गति में शाब्दिक परिभाषा से समझाना संभव नहीं है। तिर्यच शास्त्रों से नहीं पढ़ सकते परंतु सच्चे देव के लक्षण से परिचित होने पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाते हैं उदाहरण के लिए अमितंजय, अजितंजय मुनिराजों के द्वारा संबोधन किये जाने पर महावीर भगवान का जीव जो सिंह की पर्याय में था वह आत्मबोध को प्राप्त हुआ, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर यथार्थ श्रद्धान प्रकट हो गया भले ही वह सम्यग्दर्शन की परिभाषा न जानता हो, शब्द से, न्याय से, तर्क से बता नहीं पाये परंतु परमात्मा के लक्षण/स्वरूप का श्रद्धान उसे भी प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार अबोध बालक भी अपनी 'माँ' को जानता है परंतु परिचय नहीं दे पाता ठीक उसी प्रकार तिर्यच प्राणी भी अपने आराध्य को जानता तो है परंतु आगमिक परिभाषाएँ नहीं दे सकता। नारकी जीव भी संजी होते हैं सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं भले ही उसके स्वरूप का वर्णन कर पाये या नहीं।

मनुष्य का मस्तिष्क विभिन्न विचारों का पिण्ड है 'Many man many minds' जितने प्रकार के मनुष्य उनका सोच विचार भी उतने ही प्रकार का होता है। सच्ची श्रद्धा के अभाव में वह अपने सिर को बाजार का श्रीफल बना देता है जिसे चाहे जहाँ मन हो वहाँ चढ़ा दिया मिथ्यादृष्टि की मान्यता होती है कि चण्डी-मुण्डी आदि देवी-देवता के पास जाने से हमारे दुःख दूर होंगे, दरिद्रता दूर होगी, धन-दौलत मिल जायेगी परंतु जिसकी श्रद्धा समीचीन होती है वह अपने सिर को बाजारू श्रीफल नहीं बनाता कि चाहे जहाँ चढ़ा दिया वह तो अपने सिर को कीमती श्रद्धा फल बनाकर सच्चे परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है। वह सच्चे देव के स्वरूप का परीक्षण करता है। सच्चे देव का प्रथम विशेषण-'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण' अर्थात् जिस देव में 18 दोषों से रहितपना है जो राग-द्वेष से रहित है। अर्थात् वीतरागी है वे ही सच्चे देव हैं क्योंकि राग-द्वेष ही दुःख के हेतु हैं, संसार परिभ्रमण के कारण हैं जहाँ राग-द्वेष है वही संसार है यदि देवता किसी को सुख दे अपनी पूजा सम्मान करने वाले को संपदा दें तथा अपमान करने वाले पर कुपित होकर शाप दें तो वह रागी, द्वेषी हो जायेगा और जो स्वयं रागी-द्वेषी है वह आपको वीतरागता क्या प्रदान कर सकेगा। राग-द्वेष संसार के हेतु हैं इष्टोपदेश ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज ने कहा भी हैं-

रागद्वेष द्वयीदीर्घ नेत्राकर्षण कर्मणा ।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ।।११।।

अर्थात् संसारी जीव राग-द्वेष रूपी दो लंबी रस्सियों के द्वारा कर्मों को ग्रहण करता है और अज्ञान से संसार समुद्र में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

राग-द्वेष को जीतने वाले जिन कहलाते हैं तथा राग-द्वेष को जीतकर वे वीतरागी व वीतद्वेषी बन जाते हैं। जिनके पास ऐसी परम वीतरागता है वे ही सच्चे देव हैं दूसरा विशेषण दिया-'सर्वज्ञेन' अर्थात् जो सर्वज्ञ है वे ही सच्चे देव हैं।



जो विश्व के समस्त चराचर पदार्थों को युगपत् जानते हैं वे 'सर्वज्ञ' कहलाते हैं। जबकि रागी-द्वेषी देवता स्वयं अपने को ही नहीं जानते। तो सबको क्या जानेगे उनका ज्ञान अपने अवधिज्ञान की सीमा से बंधा होता है। इसलिए असीम को नहीं जान सकता जबकि केवलज्ञानी का ज्ञान संपूर्ण सीमाओं से परे असीम, अनंत होता है इसलिए सब को जानता है। इसलिए सामान्य देवी-देवता सच्चे देव नहीं हो सकते अपितु जिनमें सर्वज्ञता है वे ही सच्चे देव हैं।

तीसरा विशेषण है—“आगमेशिना” अर्थात् जो आगम के ज्ञाता है। यानि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के नेता हैं तथा भव्यजीवों को कल्याणपथ पर लगाने के लिए जो हित का उपदेश देते हैं वे परमात्मा हितोपदेशी कहलाते हैं। जो स्वयं हितपथानुगागी बन कर हित के पथ को प्राप्त कर चुका है वही दूसरों को हित का उपदेश दे सकता है। जबकि जो स्वयं अपना ही हित नहीं कर सका संसार के कारणभूत 8 कर्मों से जो सहित है वह हित का उपदेश क्या दे सकेगा। इसलिए जो हितोपदेशी है वही सच्चा देव हो सकता है।

इस प्रकार सच्चे देव में ये तीन गुण होना अनिवार्य है वीतरागता, सर्वज्ञता व हितोपदेशीपना। ये तीनों ही गुण एक दूसरे के अविनाभावी हैं अर्थात् एक के होने पर दूसरा व तीसरा नियम से पाया ही जायेगा। जिनमें ये तीनों गुण पाये जाते हैं वे ही हमारी श्रद्धा व आस्था के केंद्र बिंदु हो सकते हैं अन्य रागी-द्वेषी देवता नहीं। भक्तामर जी में आचार्यश्री मानतुंग महाराज कहते हैं कि—

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्ट्वा, दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।

किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः, कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि।।12।।

अर्थात् हे प्रभो! यह अच्छा हुआ कि मैंने पहले रागी-द्वेषी देवताओं को देख लिया और मुझे यह ज्ञात हो गया कि संसार में आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं। आपके दर्शन से चित्त इतना संतुष्ट हो गया है कि अब मरने के बाद भी वह किसी दूसरे देव के दर्शन नहीं करना चाहता हरि हर आदि देव तो रागी-द्वेषी हैं, उनके दर्शन से चित्त संतुष्ट नहीं होता।

सच्चा भक्त तो वीतरागी देव का ही अकाट्य भक्त होता है वह तो अपने इष्ट, आराध्य की ही शरण में जाता है और कहता है कि भगवन्! मुझे तो बस आपका ही सहारा है—

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।

तस्मात् कारुण्य भावेन, रक्ष-रक्ष जिनेश्वर!।।(समाधि भक्ति 15।।

हे भगवन्! आप ही मेरे लिए शरण भूत हैं। आप करुणा कर मेरी रक्षा करें।



आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं कि परमात्मा के स्वरूप को समझने वाला कभी दिग्भ्रमित नहीं हो सकता। सच्चा देव वही हो सकता है- जो सर्वज्ञ, वीतरागी व हितोपदेशी हो। तथा वीतरागी वह कहलाता है जो संपूर्ण दोषों से रहित हो। दोष का अर्थ है जो हमारा वास्तविक स्वभाव नहीं है, जो धर्म नहीं है, जो गुण नहीं है तथा जिसके माध्यम से हमें नाना कष्ट, बदनामी व तिरस्कार सहना पड़ता है वे सभी दोष कहलाते हैं अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा दोषों का पिण्ड रही है। दोषों की साक्षात् मूर्ति रही है। एक मात्र परमात्मा ने ही समस्त दोषों पर विजय प्राप्त की है इसलिए वे परमात्मा इस संज्ञा को प्राप्त हो सके हैं, यदि वे दोषों पर विजय प्राप्त नहीं करते तो परमात्मा नहीं कहला सकते थे। उन दोषों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा ने वीतरागता को प्रकट कर लिया है और जो वीतरागी है वही सर्वज्ञ होता है तथा जिसके पास वीतरागता व सर्वज्ञता है वही हित का उपदेश दे सकता है। इस प्रकार सच्चे देव में ये तीन गुण नियामक रूप से पाये ही जाते हैं। “अन्यथा आप्तता न भवेत्” इसके अलावा अन्य कोई सच्चादेव नहीं हो सकता है।

हम उन सच्चे देव के स्वरूप को जानकर उनके प्रति अनन्य श्रद्धा, भक्ति को धारण कर अपने मोक्ष पथ को प्रशस्त करें।

इसी भावना के साथ-

“1008 ऋषभनाथ भगवान की जय”

गुरु कैसे शिष्य को चाहते हैं ?

गुरुभक्तो भवादभीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।

शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ।।420।। (सु.स.)

अर्थ : जो गुरु भक्त हो, संसार से भयभीत हो, विनयवान् हो, धार्मिक हो, बुद्धिमान हो, शान्तचित्त हो, आलस्य रहित हो तथा सभ्य हो, ऐसा शिष्य गुरुओं के द्वारा चाहा जाता है।



प्रवचन-7
श्लोक 6

वीतरागी ही सच्चा देव

भव्य मनीषियों! आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने पूर्व गाथा में बतलाया है कि सच्चे देव वे होते हैं जो संपूर्ण दोषों से रहित होते हैं जिनमें एक भी दोष पाया जाय वह सच्चा देव नहीं। अब आगे वे दोष कौन-2 से है तो श्लोक 6 के माध्यम से आचार्य भगवन् कहते हैं-

**क्षुत्पिपासा जरातंक, जन्मान्तक भयस्मयाः ।
न रागद्वेष मोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।। 6 ।।**

अन्वयार्थ-

यस्य	-	जिस देव के
क्षुत्पिपासाजरातंक	-	भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग
जन्मान्तक	-	जन्म, मरण
भयस्मयाः	-	भय, घमण्ड
राग द्वेषमोहाः	-	राग, द्वेष, मोह
च	-	और (आश्चर्य, अरति, खेद, निद्रा, चिंता, शोक,
न सन्ति	-	खेद ये 18 दोष) नहीं होते ।
स आप्तः	-	वह आप्त
प्रकीर्त्यते	-	कहा जाता है ।

भावार्थ-जिस देव में क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, घमण्ड, राग-द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, निद्रा, चिंता, शोक और स्वेद (पसीना) ये 18 दोष नहीं पाये जाते हैं वही वीतराग देव, सच्चा देव कहा जाता है ।

भव्य मनीषियो! आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने वीतरागी देव की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा कि जो संपूर्ण दोषों से रहित है वे वीतरागी हैं। आचार्य महाराज ने आप्त के अठारह दोषों को गिनाने का प्रयत्न/प्रयास किया है परंतु दोष तो मात्र 18 ही नहीं अपितु अनंतानंत होते हैं क्योंकि आत्मा में गुण भी अनंतानंत होते हैं तथा उन गुणों की वैभाविक परिणति का नाम ही दोष है ।



यदि हम शक्ति रूप से देखे तो आत्मा अनंत गुणों का पिंड स्वरूप है परंतु व्यक्ति रूप में संसारी अवस्था में आत्मा अनंत दोषों का पिण्ड है। एक ही आत्मा के शक्ति व व्यक्ति रूप में ये दो रूप होते हैं। उन अनंत दोषों में से 18 महादोष हैं तथा दोषों का स्वामी कर्मों से सहित आत्मा है धवला जी में आचार्यश्री वीरसेन महाराज ने कहा हैं कि जीव दो प्रकार के होते हैं 1. बंधक 2. अबंधक।

अबंधक जीव वे हैं जो कर्मों का बंध नहीं करते ऐसे सिद्ध जीव हैं जो अबंधक ही हैं तथा 14 वें गुणस्थान में स्थित जीव भी अबंधक होते हैं इसके अतिरिक्त 1-13 गुणस्थानवर्ती जीव तो नियम से बंधक ही हैं। जो कर्मों को बांधता है वह दोष से सहित होता है। कर्मों से बद्ध आत्मा संसार में भटकती है। तथा जिन्होंने संपूर्ण दोषों पर जय प्राप्त कर ली वे परमात्मा सिद्ध शिला में राजते हैं।

जिन 18 महादोषों से रहित परमात्मा है उन 18 महादोषों के विषय में कहा हैं-

**जन्म जरा तिरखा क्षुधा विस्मय आरत खेद,
रोग-शोक-मद मोह भय निद्रा चिंता स्वेद।
राग-द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष,
नहीं होत अरहंत के, सो छवि लागे मोष॥**

अर्थात्-जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, आरत, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिंता, स्वेद, राग-द्वेष, और मरण ये अठारह दोष अरहंत परमेष्ठी में नहीं पाये जाते हैं।

“क्षुप्तिपासा जरातकं जन्मान्तक भयस्मयाः राग द्वेषमोहाः” क्षुधा भूख को कहते हैं, पिपासा-प्यास को कहते हैं, जरा-वृद्धावस्था को कहते हैं, वात, पित्त तथा कफ के विकार से होने वाले रोगों को व्याधि कहते हैं, कर्मों की आधीनता से चारों गतियों में उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है, अन्तक मृत्यु को कहते हैं, इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक के भेद से भय सात प्रकार का होता है। जाति, कुल आदि के गर्व को स्मय अथवा अहंकार कहते हैं, इष्ट वस्तुओं में प्रीति रूप परिणाम होना राग कहलाता है, अनिष्ट वस्तुओं में अप्रीतिरूप परिणाम होना द्वेष कहलाता है, शरीरादिक पर वस्तुओं में अहंबुद्धि करना मोह कहलाता है। श्लोक में आये हुए ‘च’ शब्द से चिंता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद इन सात दोषों का संग्रह पृथक् से होता है। इष्ट वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट वस्तु संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए परिणामों में जो विकलता होती है उसे चिंता कहते हैं, अनिष्ट वस्तुओं का समागम होने पर जो अप्रसन्नता होती है उसे अरति कहते हैं, निद्रा का अर्थ प्रसिद्ध है, श्रम का परिहार करने हेतु जो शरीर को विश्रांति दी जाती है वह निद्रा है इसके पाँच भेद हैं-निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और



स्त्यानगृद्धि। आश्चर्य रूप परिणाम को विस्मय कहते हैं नशा को मद कहते हैं, पसीना को स्वेद कहते हैं, और थकावट को खेद कहते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि सब मिलाने पर 18 दोष होते हैं। ये दोष, यस्य न सन्ति जिनमें नहीं है, “स आप्तः प्रकीर्त्यते” वे ही आप्त कहलाते हैं।

भूख लगना दोष है भोजन करना अच्छी बात नहीं है, अच्छा काम नहीं है। बंधुओ! मुनिराज निरंतर आशीर्वाद देते हैं और हाथ ऊपर करके देते हैं लेकिन एक मात्र आहार की बेला ऐसी होती है जबकि साधुओं को अपना हाथ नीचे करना पड़ता है। तो आप ही बताइए कि ऐसा भोजन करना कैसे अच्छा हो सकता है आहार संज्ञा की उदीरणा होने पर अपनी एषणा समिति के अनुसार साधुओं को परिचर्या के लिए निकलना पड़ता है। उस समय वे चिंतन में डूबते हैं कि अगर पेट न होता है तो नगर में नहीं जाना पड़ता, आचार्य महाराज कहते हैं क्षुधा सामान्य नहीं अपितु महादोष है। यह सूक्ति जगत में प्रसिद्ध हैं-‘क्षुधासमा नास्ति शरीर वेदना’ अर्थात् क्षुधा के समान शरीर में कोई दूसरी वेदना नहीं है, भूखा व्यक्ति कुछ नहीं देखता। भूख से पीड़ित प्राणी दूसरे प्राणियों का भक्षण कर जाता है यह तो आपने सुना ही होगा परंतु इस संसार में एक प्राणी ऐसा भी है। जो भूख की वेदना को जब सहन नहीं कर पाता तो अपने ही शरीर का भक्षण कर अपनी क्षुधा को मिटाता है वह है-फीता कृमि। इसीलिए क्षुधा को सबसे बड़ा रोग कहा है छहढ़ाला की पहली ढाल में पंडित दौलतरामजी ने नारकियों की क्षुधावेदना का वर्णन करते हुए कहा हैं- कि ‘तीन लोक को नाज जु खाय मिटे न भूख कणा न लहाय’। नरक में उन नारकियों को ऐसी क्षुधा सताती है कि यदि उन्हें तीनों लोकों का संपूर्ण अनाज भी खाने को दे दिया जाए तो भी क्षुधा का शमन न हो परंतु उन्हें नरकों में खाने को अन्न का एक दाना भी नहीं मिलता।

पेट तो मात्र प्राणी का एक विलस्त का है परंतु तीनों लोक का अनाज भी क्षुधा शमन नहीं कर पाता। अनेकों-2 भव खाते-2 ही निकल गये परंतु क्षुधा का शमन नहीं हो सका। जब तक हमारे अंदर क्षुधा है तब तक परमात्मपना नहीं आ सकता यदि कोई सोचे कि जो द्रव्य हम भगवान को चढ़ाते हैं वह भगवान खा लेते होंगे, तो बंधुओ! भगवान कुछ नहीं खाते और यदि खाने लगेंगे तो भगवानपना समाप्त हो जायेगा, वे इन वस्तुओं को नहीं खाते हैं उनका भोजन अमृतमयी होता है वह भी बाहर का नहीं अपितु उनके ही कण्ठ में झरता है। जितने सागर की देवों की आयु होती है उतने हजार वर्ष बाद झरता है। जिन भी संसारी प्राणियों को भूख लगती है अर्थात् जो भोजन करते हैं उन सबमें यह महादोष विद्यमान होता है। तथा जो इस दोष से रहित हो चुके हैं। जिन्होंने क्षुधा को जड़मूल से नष्ट कर दिया है वे ही परमात्मा हैं। परंतु जिन्होंने अभी क्षुधा पर जय प्राप्त नहीं कर पायी है ये संसारी प्राणी क्षुधाजयी नहीं हो सकते क्योंकि शरीर ही स्थिति भोजन पर निर्भर है भोजन से ही शरीर का संचालन होता है एक ही दिन यदि कोई भोजन न करे तो हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं, शक्ति नहीं रहती।



अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि केवली भगवान के भी शरीर है तो उन्हें भी भोजन करना चाहिए जबकि वे भोजन नहीं करते हैं। उसी प्रकार पेड़-पौधे भी भोजन नहीं करते फिर उनका शरीर कैसे टिकता है। तो आगम में 6 प्रकार के आहारों का वर्णन आता है

1. ओजाहार 2. कवलाहार 3. कर्माहार 4. नोकर्माहार 5. मानसिक आहार 6. लेपाहार।

अर्थात् भगवन् कहते हैं-

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारा ।
 ओजमणो हि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ ।। 1 ।।
 णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
 कवलाहारो णर पसु ओज्जा पक्खीण लेप्प रुक्खाणं ।।
 विग्गहगइमावण्णा केवलिणो सम्मुहदो अजोगी य ।
 सिद्ध अणाहारा सेसाण आहारिणो जीवा ।।

1. कर्म आहार 2. नोकर्म आहार 3. कवलाहार 4. लेप आहार 5. ओज आहार 6. मानसिक आहार।

1. लेपाहार-एक इंद्रिय वृक्षादि में होता है वृक्षों के योग्य खाद्य पानी का जब संसर्ग उनसे होता है तो उस लेप आहार के बल से ही वृक्ष हृष्ट-पुष्ट होते हैं।

2. मानसिक आहार-मानसिक आहार देवों के होता है। मन में विचार करते ही उनके गले से अमृत झरने लगता है।

3. ओजाहार-पक्षियों के अंडों का ओज आहार होता है जो पक्षी अंडे देते हैं वे अपने अंडे को से लेते हैं। अर्थात् वे अंडे के ऊपर बैठ जाते हैं तथा अपनी ऊर्जा अंडों को देते हैं। जिससे अंडे के अंदर स्थित बच्चे का पोषण होता है। यदि पक्षी अंडे को न सेये तो वे मर जाते हैं।

4. कर्माहार-छद्मस्थ जीवों में अनेक प्रकार के आहार के साथ-2 कर्माहार होता है क्योंकि आत्मा के प्रदेशों में प्रतिक्षण कर्म का आस्रव हो रहा है। प्रति समय, प्रत्येक जीव को सिद्धों के अनंतवें भाग व अभव्य राशि के अनंतवें गुणे कर्म परमाणुओं का आस्रव होता है।

5. नोकर्म आहार-3 शरीर व 6 पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्णनाओं को नोकर्म कहते हैं। जिसका शरीर नो कर्मों पर टिका रहता है वह नोकर्म आहार है। नो कर्म आहार तीर्थकर केवलियों के होता है।



6. कवलाहार-ग्रास के रूप में जो भोजन ग्रहण किया जाता है वह कवलाहार है तथा सभी मनुष्य व पशु कवलाहारी होते हैं।

जैसे ही महापुरुषों को केवलज्ञान होता है तो उनका शरीर परमौदारिक हो जाता है। जिनमें सप्त धातुएँ नहीं पायी जाती वह परमौदारिक शरीर कहलाता है। तथा जो औदारिक शरीर है वह सप्त धातुओं से सहित होता है। जब हम भोजन करते हैं तो आयुर्वेद के अनुसार 7 धातुओं का निर्माण उनके शरीर में होता है। जिनके ग्रास सहित कवलाहार होता है। तथा जिनके शरीर में सप्त धातुएँ ही नहीं हैं तो उन्हें भोजन की आवश्यकता नहीं और शरीर में उनकी आपूर्ति के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। चूँकि तीर्थकरों का शरीर परमौदारिक यानि सप्त धातुओं से रहित है इसलिए उनमें कवलाहार न होकर नो कर्माहार होता है।

श्वेताम्बरो में तीर्थकर को कवलाहारी कहा है लेकिन दिगम्बरो में कवलाहारी नहीं स्वीकारा गया। कवलाहार के बिना केवलियों का शरीर इतने लंबे समय तक कैसे टिका रहता है जबकि प्रतिक्षण कार्माण वर्गणाएँ उनके शरीर से निकल रही हैं। चूँकि तीर्थकरों के असातावेदनीय का तीव्र उदय व उदीरणा तो नहीं होती है, मंदोदय अवश्य होता है। परंतु मोहनीय के क्षय से राग-द्वेष, मोह, भय रूप परिणाम नहीं होते। मोहनीय के अभाव में वेदनीय अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। यद्यपि असाता वेदनीय के उदय से क्षुधा तृषा आदि होते हैं परंतु मोहनीय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव न होने से क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं होती। अब बात है शरीर की स्थिति कैसे रह पाती है? तो तीर्थकरों के शरीर में प्रतिक्षण नई-2 कार्माण वर्गणाएँ आकर मिलती रहती हैं। अतः तीर्थकरों के प्रतिसमय नो कर्म आहार होता है। हम छद्मस्थों को तो अपने शरीर को स्थिर रखने के लिए वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है। लेकिन तीर्थकरों का अंतराय कर्म क्षय हो चुका है और क्षय हो जाने से अब वे अनंतबल के स्वामी बन गये अतः शरीर को स्थिर रखने वाली कर्म वर्गणाएँ प्रतिसमय शरीर में आकर मिलती रहती हैं, और नो कर्म आहार के बल से शरीर टिका रहता है। जन्म लेने के पश्चात् 8 वर्ष अंतमुहूर्त के पश्चात् केवलज्ञान हो सकता है और केवलज्ञान होने के उपरांत उनका शरीर 8 वर्ष अंतमुहूर्त कम 1 कोटि वर्ष तक नो कर्म वर्गणा के आधार पर टिका रह सकता है।

चूँकि केवलज्ञान होते ही केवली भगवान का शरीर औदारिक से परमौदारिक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसमें त्रस तथा बादर निगोदिया जीव नहीं रहते हैं अतः वृद्धावस्था का प्रभाव नहीं रहता। असाता वेदनीय कर्म की तीव्र उदय, तृषा आदि बाधाएँ नहीं होती। मोहनीय कर्म का अभाव होने से राग-द्वेष, मोह, भय आदि दोष नहीं होते हैं। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्रा नहीं होती। यद्यपि भुज्यमान-वर्तमान मनुष्यायु का सद्भाव है तथापि आगामी आयु का बंध न होने

से उन्हें जन्म धारण नहीं करना पड़ता। उनके मृत्यु नहीं होती किंतु निर्वाण होता है। मृत्यु उसे कहते हैं जिसके बाद जन्म धारण करना पड़े और निर्वाण उसे कहते हैं जिसके होने पर फिर जन्म धारण न करना पड़े। अरहंत भगवान के क्षुधा, तृषा आदि का अभाव होने से कवलाहार नहीं होता।

इस प्रकार क्षुधा तृषादि 18 प्रकार के दोषों से अरिहंत परमात्मा रहित होते हैं और जो 18 दोषों से रहित है वही सच्चा वीतरागी है। वही सच्चा देव है। अतः जिनके क्षुधा आदि दोष साक्षात् देखे जाते हैं वे हरि हर आदि सच्चे देव हो ही नहीं सकते।

इन अठारह दोषों से रहित वीतरागी ही हमारे सच्चे देव हैं ऐसी अकाट्य श्रद्धा मन में रखते हुए उनके प्रति अपनी आस्था, श्रद्धा, भक्ति को मजबूत बनाना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“ श्री 1008 अजितनाथ भगवान की जय”



उत्तम शिष्य

विनीतः सुगुणग्राही, गुर्वाज्ञा प्रतिपालकः ।

सार संग्राहको भव्यः, सम्यग्दृष्टिः सुशिष्यकः ।।421।। (सु.स.)

अर्थ : जो विनीत हो, उत्तम गुणों को ग्रहण करने वाला हो, गुरु आज्ञा का पालक हो, सार को ग्रहण करने वाला हो, भव्य एवं सम्यग्दृष्टि हो, वह उत्तम शिष्य है।





प्रवचन-8
श्लोक-7-8

हितोपदेशी देव के गुण अनंत ही जान

भव्य मनीषियो! जब आत्मा की साधना में उतरा हुआ कोई साधक अपनी अंतरात्मा में झांकता है तो पाता है ओहो! मुझ में तो अनंत दोष है, समुद्र के समान अथाह दोष भरे हैं वह साहस बटोरता है कि आखिर इन दोषों से जैसे हो वैसे मुझे मुक्त होना ही है मैं एक-एक दोष को निकालता जाऊँगा तो एक दिन संपूर्ण दोषों से मुक्त हो जाऊँगा जैसे घड़े में से एक-2 बूंद को निकालते जाए-निकालते जाए तो एक दिन ऐसा आता है जबकि वह घड़ा खाली हो जाता है।

गुरुजन एक ओर कहते हैं तेरे कर्मों का क्षय हो, तो कभी कहते हैं तुम्हारी धर्म वृद्धि हो आदि-2 शब्दों का प्रयोग करते हैं परंतु उनके कहने का तात्पर्य एक ही है एक विधि परक कथन होता है तो दूसरा निषेध परक। जब एक साधक अपने दुर्गुणों को देखता है तो उसे पश्चाताप होता है, मन संताप उत्पन्न होता है और दोषों का भान हो जाने के पश्चात् उसके कदम गुणों को पाने प्रयत्नशील हो उठते हैं। साधक जब दोषों का चिंतन करता है तो दोषों को निकालने की भावना जाग्रत होती है और दोषों के निकल जाने पर आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड बन जाती है। उसी प्रकार वीतराग भगवान दोषों को निकाल कर अनंत गुणों का पिण्ड बन गये हैं।

आचार्य महाराज ने भी परमात्मा को कसौटी पर कसा है कि जिनमें ये दोष पाये जायेंगे वे सच्चे परमात्मा नहीं हैं। अभी ऐसे लोगों को परमात्मा बनने के लिए तपस्या करनी पड़ेगी और तप के बल से कर्मों का क्षय कर दोष मुक्त हो जाने पर वे निर्दोष आप्त बन सकेंगे। निर्दोष आप्त में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं उन गुणों को बतलाते हुए वीतरागी देव के हितोपदेशीपने की पुष्टि करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-

परमेष्ठी परंज्योति, विरागो विमलः कृती।

सर्वज्ञोऽ नादि मध्यान्तः, सार्वः शास्तोपलाल्यते । 7 ।।

अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्।

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते । 8 ।।



अन्वयार्थ-

यः	-	जो देव
परमेष्ठी	-	परम पद में स्थित हो
परंज्योतिः	-	उत्कृष्ट केवलज्ञानरूपी ज्योति वाला हो
विरागः	-	राग से रहित हो
विमलः	-	कर्म फल से रहित हो
कृती	-	कृतकृत्य हो
सर्वज्ञः	-	समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाला हो,
अनादि मध्यान्तः	-	आदि, मध्य व अंत से रहित हो
सार्वः	-	और सब जीवों का हित करने वाला हो
स शास्ता	-	वही हितोपदेशी
उपलाल्यते	-	कहा जाता है।
शास्ता	-	हितोपदेशी देव
अनात्मार्थ	-	स्वार्थ के बिना
रागैः विना	-	तथा रागादि भावों के बिना
सतः हितं	-	सज्जनों के हित के लिए मोक्ष मार्ग का
शास्ति	-	उपदेश करता है।
यथा	-	जैसे
शिल्पिकरस्पर्शात्	-	बजाने वाले के हाथ के स्पर्श होने से
ध्वनन्	-	शब्द करता हुआ
मुरजः	-	मृदंग
किं अपेक्षते	-	क्या किसी की अपेक्षा करता है ?
अपितु न अपेक्षते-	-	अर्थात् कुछ भी अपेक्षा नहीं करता।

भावार्थ-जो परमपद में स्थित हों, केवलज्ञान ज्योति से युक्त हों, राग से रहित-वीतरागी हों, कर्मफल से रहित हों, कृतकृत्य हों, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाले हों, आदि, मध्य और अंत से रहित हों और तीनों लोकों के सर्व प्राणियों का हित करने वाले हों वे सच्चे देव हितोपदेशी कहे जाते हैं। ॥७॥

जैसे मृदंग बजाने वाले के हाथ का स्पर्श पाकर अपने आप बिना किसी अपेक्षा के बजने लगता है। वैसे ही वीतराग हितोपदेशी अरहन्त देव रागादि भावों के बिना ही सज्जनों-भव्य जीवों के हित के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।



भव्य मनीषियो! तार्किक चूड़ामणि प. पू. आचार्य श्री समंतभद्र महाराज भगवान के अन्वयार्थक नामों का उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि भगवान तो अनंतगुणों के धारी हैं अतः उनके नाम अनंत भी होते हैं। सहस्रनाम स्त्रोत में भगवान के 1000 नामों का उल्लेख मिलता है और इस श्लोक के माध्यम से भगवान के कुछेक नामों का उल्लेख किया जा रहा है।

बंधुओ! नाम कितने भी हो उसमें कोई परेशानी नहीं परंतु गुण समान होना चाहिए। 'मेरी-भावना' में इस विषय संबंधी कुछ पंक्तियों में कवि कहता है कि-

**जिसने राग द्वेष कामादिक, जीते सब जग ज्ञान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निष्पृह हो उपदेश दिया।।
बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो।।**

'जिसने राग, द्वेष कामादिक जीते' यानि जो वीतरागी है 'सब जग जान लिया' यानि जो सर्वज्ञ है। तथा 'सब जीवों को मोक्षमार्ग का निष्पृह हो उपदेश दिया' यानि जो हितोपदेशी है। इन तीन गुणों से युक्त हो फिर चाहे वे बुद्ध हो, वीर हो, हरि हो, हर हो, ब्रह्मा हो या स्वाधीन कह लो परंतु मेरा मन इन तीन गुणों से युक्त परमात्मा में ही सदा लीन रहे। सदैव उनकी भक्ति में लगा रहे। क्योंकि ये नाम तो अनंत हो सकते हैं। इसलिए नाम नहीं गुण महत्वशाली है पूज्यता गुणों से आती है नाम से नहीं।

आज की दुनियाँ में झगड़े नाम पर होते हैं। ये शांतिनाथ भगवान हैं मैं तो इनका ही भक्त हूँ पार्श्वनाथ की नहीं अपने मंदिर में तो शांतिनाथ की ही स्थापना करवाऊँगा।

बंधुओ! प्रभु का नाम चाहे शांतिनाथ हो या पार्श्वनाथ, महावीर हो या अजितनाथ परंतु यदि हम गुणों की दृष्टि से देखे तो सभी के गुण समान हैं सभी ने 8 कर्मों का क्षय करके अष्ट गुणों की सिद्धि की है यद्यपि क्षयोपशमिक सम्यक्त्व के व्याख्यान के समय हम पढ़ते हैं कि सम्यक्त्व प्रकृति अपना काम करती है लेकिन वह सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्दर्शन को दूषित ही करती है। इसलिए जब सच्चा ज्ञानी साधक जब शांतिनाथ भगवान के समक्ष पहुँचता है तो जिन भक्ति भावों से शांतिनाथ भगवान की पूजा करता है उसी भावना से अन्य भगवान की पूजा करता है। वह कहता है कि हे भगवन्! जैसे आप अनंतगुणों के धारी हैं वैसे ही अन्य तीर्थकर (जो भूत, भविष्य में हो चुके हैं अथवा वर्तमान चौबीसी के समस्त तीर्थकर) भी।

हम आज भगवान महावीर के शासन में रह रहे हैं तो महावीर भगवान की भक्ति, नमस्कारादि करते हैं उनका चिंतन करते हैं। तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम अन्य भगवानों में अंतर डालें।



हमारे लिए तो सभी समान रूप से पूज्यनीय है परंतु वे ही पूज्यनीय हैं जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है इन गुणों से रहित अन्य रागी-द्वेषी देवी, देवता हमारे लिए पूज्यनीय नहीं हैं।

आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज भगवान के एक-2 नाम का अन्वय करते हुए कहते हैं-

“परमपदे तिष्ठतीति परमेष्ठी”

परमेष्ठी: -अर्थात् जो परम, उत्कृष्ट या श्रेष्ठ पद में स्थित है उन्हें परमेष्ठी कहते हैं जिन्हें राजा, चक्रवर्ती आदि बड़ी श्रद्धा/भक्ति के साथ अपना शीश झुकाते हैं।

“परंज्योतिर्येख्यासौ परंज्योति”

परंज्योति: -जिन्होंने केवलज्ञान रूपी उत्कृष्ट/परम ज्योति को अपने जीवन में प्रज्ज्वलित कर लिया है तथा जिसके प्रकाश में विश्व के चराचर पदार्थ अवभासित होते हैं वह उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप होने से आप परमज्योति हैं।

“विद्धातो रागो यस्य स, विरागः”

विरागः- संपूर्ण राग भावों का जिन्होंने अपनी आत्मा से क्षय कर दिया है अर्थात् जो भाव कर्म से रहित हो चुके हैं वे विराग हैं।

“विनष्टो मतो यस्य स विमलः”

विमलः- अर्थात् जो संपूर्ण कर्मकालिमा से रहित होकर निर्मलता को प्राप्त हो गये अर्थात् जिन्होंने संपूर्ण आठों द्रव्य कर्मों को नष्ट कर दिया है वे विमल हैं।

कृती- ‘कृतमनेनेति कृती’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त हेय तथा उपादेय तत्वों के विषय में विवेक संपन्न होने के कारण कृती कहलाते हैं।

अथवा-कृती का दूसरा अर्थ कृत्कृत्य भी है। अर्थात् जिनके करने योग्य संपूर्ण कार्य पूर्ण हो चुके हैं यानि अब कुछ करने को जिन्हें शेष नहीं है वे कृत्कृत्य हैं।

सर्वज्ञः -“सर्व जानातीति सर्वज्ञः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त पदार्थों के साक्षात्कारी होने से सर्वज्ञ कहलाते हैं। अथवा जो सर्व को जाने सो सर्वज्ञ।

अनादिमध्यान्तः -“न विद्यन्ते आदिमध्यान्ता यस्य सः नादिमध्यान्तः”। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वोक्त स्वरूप वाले आप्त के प्रवाह की अपेक्षा आदि, मध्य और अंत से शून्य होने के कारण वे अनादिमध्यान्त कहे जाते हैं।



‘सार्व’:- “सर्वेभ्योहितः सार्वः” । इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस लोक और परलोक का उपकार करने वाले मार्ग को दिखलाने के कारण सार्व कहलाते हैं ।

‘शास्ता’-‘शास्तीति शास्ता’ । इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वा पर विरोध आदि दोषों को बचाकर समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का उपदेश देने से शास्ता कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि इन परमेष्ठी आदि शब्दों के द्वारा पूर्वोक्त स्वरूप वाले आप्त का कथन होता है ।

अब आगे आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी सच्चे देव में हितोपदेशीपने की सिद्धि करते हुए कह रहे हैं कि सच्चे भगवान्, चित्त विक्षेप आदि दोषों से रहित श्रेष्ठ, भव्य जीवों को दिव्यध्वनि के द्वारा जो स्वर्गादिक तथा उनके साधन भूत सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देते हैं वह ख्याति, पूजा, लाभ आदि की अभिलाषा रूप राग के बिना ही देते हैं और उस उपदेश में उनका निज का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । मात्र परोपकार के लिए उनकी उपदेश में प्रवृत्ति होती है जैसा कि कहा गया है-

**“परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय दुहन्ति गावः ।
परोपकाराय वहन्ति नद्यः, परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ।।**

‘परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः’ - परोपकार के लिए ही वृक्ष फलते हैं अर्थात् वृक्षों में जो फल होते हैं उन्हें वृक्ष स्वयं नहीं खाता अपितु अपने में उत्पन्न मिष्टेष्ट फलों से वह दूसरे प्राणियों की क्षुधा का शमन करता है । अपनी सघन छाया में दूसरों को स्थान देता है स्वयं तो धूप में खड़ा-2 कष्ट सहता रहता है । परोपकाराय ‘दुहन्ति गावः’-तथा गाय चौपाया प्राणी है जो कि सारे संसार को दूध प्रदान करती है लेकिन कभी भी गायें दूध इसीलिए नहीं देती कि वे स्वयं दूध पीयेगी अपितु इतने विशाल प्राणीजगत के निर्वहन के लिए वे दुहती हैं । सोचिए! दूध हमारे भोजन का एक अभिन्न तत्व है सारे पौष्टिक तत्व, Vitamins हमें दूध से ही प्राप्त होते हैं यदि हमें दूध न मिले तो बहुत कठिनाई हो जाए । वह दूध हमें गायों से मिलता है गायें स्वयं का कुछ स्वार्थ नहीं होने पर भी मात्र परोपकार के लिए दूध का दुहन करती हैं । ‘परोपकार वहन्ति नद्यः’ परोपकार के लिए ही नदियाँ बहती हैं । क्योंकि नदी के बहने में उसका अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होता है । वह तो मात्र दूसरों को मिष्ट जल प्रदान करने हेतु बहती है । बस ठीक इसी प्रकार ‘परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः’ अर्थात् सत्पुरुषों की प्रवृत्ति भी परोपकार के लिए ही होती है वे अपना निजी स्वार्थ नहीं देखते । मात्र पर के उपकार के विषय में ही सोचते हैं । गुरुजनों की प्रवृत्ति भी परोपकार के लिए ही हुआ करती है । वे शिष्यों को दीक्षा देते हैं, शिक्षा देते हैं पढ़ा-लिखा कर सुसंस्कारवान् बनाकर उच्च पदों पर भी आसीन कर देते हैं परंतु कभी यह अपेक्षा नहीं रखते कि यह मेरी सेवा करेगा कि नहीं, मेरे पास रहेगा कि नहीं मेरा नाम ऊँचा उठायेगा कि नहीं । वे तो मात्र निःस्वार्थ भाव से उसे रत्नत्रय निधि प्रदान कर आत्महित के पथ का अनुगामी बना देते हैं ।



उपर्युक्त परोपकार की भावनाओं में सर्वोत्कृष्ट परोपकार की भावना जिनके अंदर समाहित है वे केवली भगवान्/समवशरण में विराजे अरहंत केवली होते हैं। जो कि राग व निज प्रयोजन के बिना उपदेश देते हैं। इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-कि “यथा शिल्पिकर स्पर्शान् ध्वनम् मुरजः” जिस प्रकार मृदंग राग व निज प्रयोजन के बिना वादक के हाथ के आघात से ही शब्द करने लगता है। उसी प्रकार “आनात्मार्थं रागैः विना शास्त्रि” आप्त भगवान् भी राग और निज प्रयोजन के बिना ही वचन वर्णना के निमित्त से उपदेश करते हैं।

क्योंकि राग भाव व निज प्रयोजन के सिद्ध करने की इच्छा मोहनीय कर्म के उदय में होती है। केवली भगवान् ने तो इस मोह कर्म का क्षय 12 वें ही गुणस्थान में कर दिया तथा दिव्य ध्वनि का खिरना 13 वें गुणस्थान में होता है इसलिए दिव्यध्वनि के खिरने में राग व निज प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता।

इसी बात की पुष्टि प्रवचनसार जी ग्रंथ में आचार्यश्री कुंदकुंद महाराज ने स्त्रियों में मायाचारी का उदाहरण देते हुए की है-

ठाणणिसेज्ज विहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।

अरहंताणं काले मायाचारो त्व इत्थीणं ।।44।।

अर्थात् जिस प्रकार स्त्रियों में मायाचारी स्वभाव से/बिना प्रयत्न के ही पायी जाती है वैसे ही अरहंत भगवान् की विहार, उपदेश (दिव्य देशना) आदि क्रियाएँ स्वाभाविक सहज रूप से ही होती हैं। इस हेतु उन्हें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज ने अपनी संस्कृत टीका में भी कहा है-

‘अपि चाविरुद्ध मेतदम्भोधर दृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भो धराकार परिणतानां पुद्गलानां गमनवस्थानं गर्जन मम्बुवर्ष च पुरुष प्रयत्न मन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयो बुद्धि पूर्वका एव दृश्यन्ते ।’ (अमृतचंद्राचार्य कृत टीका-प्रवचनसार)

यहाँ आचार्य महाराज ने आकाश में गर्जने वाली बिजली का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार आकाश में बादल पुद्गल (परमाणुओं) स्कन्धों के परस्पर में टकराने से गर्जना रूप प्रतिक्रिया बिना किसी पुरुष के प्रयत्न के सहज रूप में होती है यानि बादलों की टक्कर होना तथा उनके टकराने से गर्जना होना यह कार्य कोई पुरुष नहीं करता अपितु यह एक सहज प्राकृतिक प्रक्रिया है। ठीक इसी प्रकार अरहंत केवली का एक स्थान से दूसरे पर विहार तथा दिव्यदेशना अबुद्धि पूर्वक ही होती है। केवली भगवान् की इन क्रियाओं में स्वयं की कुछ प्रयत्न रूप क्रिया नहीं होती मात्र भव्य जीवों के पुण्य व वचन वर्णनाओं की सहज प्रवृत्ति रूप से दिव्य देशना खिरती है।



इस प्रकार अरहंत देव अपने किसी निजी स्वार्थ या अपेक्षा के बिना परोपकार के हेतु “सतः हितम्” प्राणी मात्र को हित का उपदेश देते हैं इसलिए वे हितोपदेशी हैं।

वे सच्चे हित का उपदेश देने वाले परमात्मा ही हमारे सच्चे देव हैं अन्य रागी-द्वेषी देवी-देवता नहीं। इस प्रकार सच्चे देव के स्वरूप को जानकर हमें उन ही सच्चे आप्त पर अपनी अकाट्य श्रद्धा भक्ति रखनी चाहिए। वे हमारे परमहितकारी, परमोपकारी देव हैं।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 संभवनाथ भगवान की जय”



शिष्य को गुरुवचन ही प्रमाण है

ये कुवन्ति गुरोर्वाक्यं, प्रमाणं भक्ति निर्भराः।

तेषां स्वर्गापवर्गोत्थं, सौख्यमायाति लीलया।।22।। (सु.स.)

अर्थ : भक्ति से परिपूर्ण जो शिष्य गुरु के वचन को प्रमाण करते हैं, स्वीकृत करते हैं, उन्हें स्वर्ग और मोक्ष संबंधी सुख अनायास ही प्राप्त होता है।



प्रवचन-9
 श्लोक 9

ऐसा होता है सच्चा शास्त्र

भव्य मनीषियो! आज वर्तमान पंचमकाल में हमारा इतना सौभाग्य नहीं है कि हमें साक्षात् समवशरण में विराजे तीर्थंकर परम देव की दिव्य-देशना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके परंतु कम से कम इतना सौभाग्य तो है कि तीर्थंकर के लघुनंदन श्री गुरुओं के मुख से सर्वज्ञ की देशना को सुनने का हमें सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। उस देशना का सार संग्रह जो लिपिबद्ध कर दिया जाता है। वही शास्त्र कहलाता हैं। हर एक सामान्य पुस्तक शास्त्र नहीं है, हर एक लेख भी शास्त्र नहीं है। पत्र-पत्रिकाएँ भी शास्त्र नहीं है। कुछ लोग पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर ही अपना स्वाध्याय का नियम पूरा कर लेते है। परंतु ध्यान रखिये। वह स्वाध्याय नहीं है क्योंकि आपने जो पत्र-पत्रिका पढ़ी है वह सर्वज्ञ की देशना नहीं है। और जो सर्वज्ञ की देशना नहीं वह शास्त्र कैसे हो सकता है। शास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा जाता है-जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये व गणधरों के द्वारा लिपिबद्ध किये गये तथा मुनियों के द्वारा प्रचारित किये आगम को शास्त्र कहते हैं। वह शास्त्र और किन-2 विशेषताओं से सहित होता है तो आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज श्लोक 9 के माध्यम से कहते हैं-

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य मद्दृष्टेष्ट विरोधकम् ।
 तत्त्वोपदेश कृत्सार्स शास्त्रम् कापथघट्टनम् ।।9।।

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो
आप्तोपज्ञं	-	सच्चे देव का कहा हुआ हो
अनुल्लंघ्यं	-	वादी-प्रतिवादी द्वारा खंडन करने में
अद्दृष्टेष्ट विरोधकं	-	प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से विरोध को प्राप्त न हो
तत्त्वोपदेश	-	तत्त्वों का उपदेश करने वाला हो
सार्व	-	सब जीवों का हितकारक हो



कापथ घट्टनम्	-	मिथ्यामार्ग का खंडन करने वाला हो
तत्	-	वही
शास्त्रं	-	सच्चा शास्त्र
अस्ति	-	है।

भावार्थ-जो सच्चे देव का कहा हुआ हो, वादी-प्रतिवादी से खंडन नहीं होने वाला, प्रत्यक्ष, अनुमानादि के विरोध से रहित, वस्तु स्वरूप का उपदेश करने वाला, सब जीवों का कल्याण करने वाला, मिथ्यामार्ग का खंडन करने वाला है वही सच्चा शास्त्र है।

भव्य आत्महितपथेच्छुओ! दया की प्रतिमूर्ति आचार्य भगवन् सच्चे देव के स्वरूप को उनके गुणों को समझाने के उपरांत अब गाथा 9 के माध्यम से सच्चे शास्त्र का स्वरूप हमें समझा रहे हैं वे कहते हैं कि सच्चा शास्त्र वह है जो 'आप्तोपज्ञं' अर्थात् आप्त यानि सच्चे देव के द्वारा कहा गया हो क्योंकि सच्चे देव की व्याख्या हम पूर्व में पढ़ ही चुके हैं कि जो सर्वज्ञ, वीतरागी व हितोपदेशी है वे ही सच्चे देव हैं। अर्थात् जिनका केवलज्ञान विश्व के चराचर पदार्थों को जानता है वे सर्वज्ञ हैं। जो संपूर्ण को जान लेता है वही सभी पदार्थों का कथन ठीक-2 प्रकार से कर लेता है जबकि छद्मस्थों का ज्ञान क्षायोपशमिक होता है यानि जितना-2 ज्ञान का क्षयोपशम होगा वे उतना-2 ही पदार्थों को जान पाते हैं और अशेष रूप से तत्त्वों को न जान पाने के कारण तत्त्व का अन्यथा निरूपण संभव है। जबकि 'सर्व' को जानने वाला क्षायिक ज्ञानी है जिसके द्वारा ज्ञान के आवरणों का पूर्णरूपेण क्षय कर दिया वह जो जानेगा, कहेगा वह अधूरा नहीं होगा अपने आप में पूर्ण होगा क्योंकि उनके ज्ञान से कोई भी पदार्थ अछूता नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अज्ञान व कषायभाव से ही तत्त्वों का मिथ्या कथन होता है। वीतराग सर्वज्ञ, सच्चे देव अरहंत के न तो कषाय है और न ही अज्ञानभाव क्योंकि अज्ञान भाव को किन्हीं आचार्यों ने 1-12 गुणस्थानों तक ही स्वीकारा है इसके आगे अज्ञान का पूर्ण रूपेण अभाव है तथा कषाय 10 वें गुणस्थान तक ही पायी जाती है। तथा अरहंत केवली का 13 वाँ गुणस्थान होता है तात्पर्य अज्ञान व कषाय दोनों नहीं इसलिए उनके द्वारा तत्त्व के प्रतिपादन में अन्यथा प्रवृत्ति संभव ही नहीं है। अतः सर्वज्ञ ने अपने केवलज्ञान व केवल दर्शन के द्वारा जो-जो देखा व जाना है वह सर्वथा सत्य ही है और वे उस सत्य का ही प्रतिपादन अपनी दिव्य देशना के माध्यम से करते हैं। इसलिए सच्चा शास्त्र वही है जो सच्चे देव के द्वारा कहा गया हो।

एक बार श्री हरकतचंद्र जी अजमेरा ने मुझसे एक बहुत अच्छा प्रश्न किया-कि आज के इस



भीषण पंचम काल में साक्षात् भगवान तो है नहीं। और बात भगवान की ही प्रमाणिक होती है। और जिस समय शास्त्र का लेखन हुआ उस समय भगवान थे नहीं फिर आज हमारे पास जो आगम/शास्त्र है वह 'आप्तोपज्ञ' कैसे हुआ? तो मैंने कहा-कि हमारे यहाँ भगवान महावीर की अखंड परंपरा प्रवाह रूप से चली आ रही है। जिस दिन महावीर भगवान को निर्वाण हुआ उसी दिन संध्याकाल में श्री गौतम स्वामी को केवलज्ञान हो गया। फिर 12 वर्ष तक गौतम स्वामी ने धर्म का उपदेश देकर धर्म परंपरा का प्रवाह कायम रखा। पश्चात् जब 12 वर्ष पूर्ण हुए तो गौतम स्वामी को निर्वाण की प्राप्ति हुई और उसी दिन श्री सुधर्मा स्वामी को संध्याकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई गौतम स्वामी के बाद 12 वर्ष तक सुधर्मा स्वामी ने धर्म गंगा को प्रवाहमान बनाये रखा 12 वर्ष के उपरांत जब सुधर्मा स्वामी को जब निर्वाण की प्राप्ति हुई उसी दिन शाम को श्री जंबूस्वामी को केवलज्ञान हो गया इनका केवलज्ञान 38 वर्ष तक का रहा। पश्चात् जंबूस्वामी को भी निर्वाण की प्राप्ति हुई। इस प्रकार महावीर भगवान के बाद 62 वर्ष तक अनुबद्ध केवलियों की परंपरा चली। पश्चात् और भी केवली हुए तथा श्री तिलोपपण्णत्ति में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सबसे अंतिम श्रीधर केवली हुए शास्त्रों के उल्लेखानुसार उनकी निर्वाण भूमि बुंदेलखंड का कुण्डलपुर है। इसलिए कुण्डलपुर के बड़े बाबा के मंदिर में काले पत्थर के रंग की चरणपादुका बनी है। पंडित श्री जगन्नमोहन शास्त्री व उनके बाद गोकुलचंद्र जी हुए उन्होंने खोज करके इस बात के लिए सिद्ध कर दिया कि अंतिम श्रीधर केवली की निर्वाण स्थली यही कुण्डलपुर है। तब से वह सिद्ध क्षेत्र के नाम से जाना जाने लगा उसके पहले कुण्डलपुर के लिए अतिशय क्षेत्र कहा जाता था। अंतिम श्रीधर केवली के पश्चात् यह परंपरा प्रवाह रूप से चलती रही। इसके पश्चात् 5 श्रुतकेवली श्री विष्णुकुमार जिनका काल 14 वर्ष, श्री नंदीमित्र-16 वर्ष, श्री अपराजित-22 वर्ष, श्री गोवर्धन -19 वर्ष, श्री भद्रबाहु स्वामी जिनका काल-29 वर्ष रहा। इस प्रकार कुल 100 वर्ष तक श्रुतकेवली परंपरा रही इसके बाद दस पूर्वधारी 11 आचार्य हुए।

श्री विशाखाचार्य-10 वर्ष (काल), श्री प्रोष्ठिलाचार्य काल-19 वर्ष, श्री क्षत्रियाचार्य-17 वर्ष, श्री जयसेनाचार्य-21 वर्ष, श्री नागसेनाचार्य-18 वर्ष, श्री सिद्धार्थाचार्य-17 वर्ष, श्री धृतिसेनाचार्य-18 वर्ष, श्री विजयाचार्य-13 वर्ष, श्री बुद्धिलिंगाचार्य-20 वर्ष, श्री देवसेनाचार्य-14 वर्ष, श्री धर्मसेनाचार्य-16 वर्ष इस प्रकार दस पूर्वधारी आचार्यों का कुल काल 183 वर्ष का रहा। इसके बाद एक दशांग के धारी 6 आचार्य हुए। श्री नक्षत्राचार्य-18 वर्ष, श्री जयपालाचार्य-20 वर्ष, श्री पांडवाचार्य-39 वर्ष, श्री ध्रुवसेनाचार्य-14 वर्ष, श्री कंसाचार्य-32 वर्ष, श्री सुभद्राचार्य-06 वर्ष, इस प्रकार एक दशांगधारी आचार्यों का कुल काल 129 वर्ष तक रहा है। इसके पश्चात् दस अंग के धारी श्री यशोभद्राचार्य हुए जिनका काल-18 वर्ष का रहा। इसके बाद 9 अंग के धारी श्री भद्रबाहु आचार्य हुए जिनका काल-23



वर्ष रहा। इसके बाद आठ अंग के धारी 1 आचार्य श्री लोहाचार्य हुए जिनका काल-50 वर्ष तक का रहा। इसके बाद 1 अंग के धारी 4 आचार्य हुए श्री विनयदत्ताचार्य, श्री दत्ताचार्य, श्री शिवदत्ताचार्य, श्री अर्हददत्ताचार्य इनका काल 20 वर्ष का रहा। इसके बाद अंगाशधर पूर्वविद् 5 आचार्य हुए श्री अर्हदबलि आचार्य-28 वर्ष, श्री माघनन्दि आचार्य-21 वर्ष, श्री धरसेनाचार्य-19 वर्ष, श्री पुष्पदन्ताचार्य-30 वर्ष, श्री भूतबलि आचार्य-20 इनका कुल काल 118 वर्ष रहा।

आचार्य पुष्पदन्त व भूतबली महाराज के पूर्व ग्रंथों का लेखन कार्य नहीं होता था परंतु धीरे-2 स्मृतियाँ क्षीण होने लगी तब आचार्य धरषेण महाराज को श्रुत संरक्षण की चिन्ता हुई तब उन्होंने अर्हदबलि महाराज के सान्निध्य में हो रहे यति सम्मेलन के अवसर पर अर्हदबलि आचार्य को एक पत्र भेजा और दो सुयोग्य शिष्यों को भेजने की भावना व्यक्त की। तब अर्हदबलि आचार्य ने अपने दो योग्य शिष्यों को पुष्पदन्त व भूतबलि को धरषेणाचार्य के पास भेजा। उन्होंने अपने अथक श्रम से षट्खंडागम ग्रंथ की रचना की तथा ग्रंथ प्रणयन हो जाने के उपरांत उत्सव के साथ हाथी पर पालकी रख ग्रंथ राज का सम्मान रूप में जुलूस निकाला गया तभी से श्रुतपंचमी पर्व प्रारंभ हुआ।

आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि महाराज के षट्खंडागम ग्रंथ पर समय-2 पर आचार्यों ने अनेक टीका लिखी। आचार्य कुंदकुंद महाराज ने सर्वप्रथम परिकर्म नाम की टीका लिखी, समंतभद्र महाराज ने भी टीका लिखी पश्चात् वीरसेनाचार्य महाराज ने धवला, जयधवला, महाधवला नामक विभिन्न प्रकार की टीकाएँ लिखी। इसके उपरांत और भी बहुत से ग्रंथों की रचना हुई। आचार्य कुंदकुंद महाराज ने 84 पाहुड़ों की रचना की और अनेक श्रुतधारी आचार्य हुए जिन्होंने समय-2 पर अनेक-2 ग्रंथों का प्रणयन कर सरस्वती के भंडार को समृद्धशाली बनाकर हम पर अनन्य उपकार किये हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर की दिव्यदेशना अखण्ड रूप से प्रवाहमान हो रही है इसलिए आज जो आचार्य प्रणीत ग्रंथ है वे सब सर्वज्ञ की ही देशना होने से आप्तोपज्ञ है आचार्य भगवन् दूसरा विशेषण देते हुए कह रहे हैं-‘अनुल्लंघ्य’ अनुलंघनीय का अर्थ होता है जिसका उल्लंघन न किया जा सके अथवा वादी और प्रतिवादी जिसका खंडन न कर सके वह अनुलंघनीय होता है उलंघन उसका हो सकता है जो गलत हो। परंतु जो सत्य ही है उसका खंडन नहीं किया जा सकता है। गलत बात को व्यक्ति अपनी बुद्धि कौशल्य से सत्य कर सकता है परंतु विशेषता यह है कि वह सत्य कही न कहीं से अवश्य बाधित होगा क्योंकि वह वास्तविक सत्य नहीं है अपितु उसे सत्य का बाना पहनाया गया है। परंतु जो बात सर्वथा सत्य ही है उसे कोई गलत भी कहना चाहे तो एक समय सीमा के बाद वह तर्क दे देकर वह थक जायेगा और अंततः हार मानना पड़ेगी क्योंकि जो सर्वथा सत्य है वह अकाट्य होता है उसे खंडित करना संभव नहीं।



चूँकि सर्वज्ञ ने सब कुछ जान लिया वे राग-द्वेष से परे वीतरागी व सर्वहित चाहने वाले हितोपदेशी होने से जो कुछ भी कहते हैं वह सर्वथा सत्य होता है और जो सर्वथा सत्य है वह अनुल्लंघनीय ही होता है। यही कारण है कि सच्चा शास्त्र जिनोपदिष्ट होने से अनुल्लंघनीय होता है आचार्य भगवन् तीसरा विशेषण देते हुए कहते हैं-‘अदृष्टेष्टविरोधकम्’ अदृष्ट यानि अनुमानादि परोक्ष प्रमाण तथा इष्ट यानि प्रत्यक्ष प्रमाण से सच्चा शास्त्र विरोध को प्राप्त नहीं होता।

उदाहरण के लिए हमारे सर्वज्ञ देव ने वृक्षों/वनस्पति कायिक को एकेन्द्रिय जीव कहा है। पहले विज्ञान वनस्पति को जीव स्वीकार नहीं करता था परंतु बाद में वैज्ञानिक-जगदीश चंद्र वसु ने वनस्पति में जीवत्व की खोज की। Green and Red Light लगाकर वृक्षों के Vibration Catch किये गये कोई व्यक्ति जब कुल्हाड़ी लेकर वृक्षों के पास जाता है तो वे डर जाते हैं Vibration तेजी से होता है व Red Light जल जाती थी तथा जब खाद पानी लेकर कोई वृक्षों के पास जाता है वे हर्षित हो जाते हैं तब Green Light Vibration होती है जिससे पता लगाया गया कि वृक्षों में भी जीवत्व शक्ति है। केवली के वचन अन्यथा नहीं होते, यह प्रत्यक्ष से वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया।

अन्य शास्त्रों में जो कि मिथ्या है कहा गया है कि महिला से बंदर उत्पन्न हुआ अथवा मछली से मेढ़क, मेढ़क से छिपकली, छिपकली से बंदर, बंदर से गोरिल्ला व उससे मनुष्य की उत्पत्ति हुई। तो बंधुओं! यह बात प्रत्यक्ष से ही बाधित हो रही है क्योंकि आज तक मछली से मेढ़क की उत्पत्ति होते हुए नहीं देखी गई। यहाँ तक विज्ञान भी इसे सिद्ध नहीं कर पाया।

यद्यपि वैज्ञानिकों ने प्राणियों के Clones भी तैयार किये परंतु जिस प्रजाति का Clone है वे उसी प्रजाति को उत्पन्न कर सकते हैं अन्य दूसरी प्रजाति को नहीं।

तो यह बात प्रत्यक्ष से ही बाधित हो रही है इसलिए सत्य नहीं। जबकि सर्वज्ञ के वचन अकाट्य होते हैं वे कभी प्रत्यक्ष व अनुमान आदि से विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं पूर्वापर विरोध से भी रहित होते हैं। चौथा विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-“तत्त्वोपदेशकृत्” अर्थात् सच्चा शास्त्र वह है जो तत्व का उपदेश करने वाला हो। यहाँ-वहाँ की तत्व विहीन बातों को भर देने का नाम शास्त्र नहीं है। शास्त्र तो वह है जिसमें अंततः सारगर्भित बात निकले। ऐसा न हो कि प्याज के छिलके की तरह छीलते ही जाओ, छीलते ही जाओ परंतु सारभूत तत्व कुछ नहीं निकलता। ऐसी ही बात कुछ लोग करते हैं बड़ी लंबी-चौड़ी व्याख्याएँ देते हैं परंतु सार कुछ भी नहीं निकल पाता।

एक बार हमारे प्रथमानुयोग ग्रंथों पर एक प्रश्न खड़ा कर दिया गया कि प्रथमानुयोग के ग्रंथों



में राग-द्वेष की बातें होती है। कभी स्त्रियों के रूपादिक का वर्णन किया जाता है तो कभी युद्धस्थल में होने वाले युद्धों का वर्णन किया जाता है। इसलिए वे भी नहीं पढ़ना चाहिए।

तो आचार्य भगवन् उसका भी समाधान देते हैं। यह सत्य है कि प्रथमानुयोग के ग्रंथों में स्त्रियों के एक-एक अंग-प्रत्यंगों का विशद व्याख्यान मिलता और इतना सूक्ष्म विवेचन की सुनने वाले के रोंगटे खड़े हो जाए परंतु अंततः मोड़ वैराग्य की ओर ले जाता है। श्रृंगार व वीर रस से अंततः शांत रस पर आ जाते हैं। इसलिए प्रथमानुयोग के ग्रंथ भी समीचीन शास्त्र ही हैं। एक बार श्री जिनसेनाचार्य महाराज पर आक्षेप लगा दिया गया कि जिनसेनाचार्य बाल बह्वचारी कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उन्होंने अपने आदिपुराण में स्त्री विषयक ऐसी-2 सूक्ष्म व गहन बातें लिखी तथा एक-2 अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया है। पूज्य आचार्य भगवन् ने समाधान देने हेतु एक सभा की आयोजना की और उसमें श्रृंगार रस पर ही उन्होंने अपना पूरा व्याख्यान दिया जिसे सुनकर अच्छे-अच्छों के छक्के छूट गये परंतु अंततः आचार्य भगवन् शांत रस पर आ गये और इतना सुंदर सार निकाला कि उसी व्याख्यान को सुनकर अनेक लोगों को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे दीक्षा लेने तैयार हो गये।

बंधुओ! यह कहलाती है तत्त्व की बात। जंबूस्वामी के जीवन वृत्त को देखे तो उनके मन को परिवर्तित करने कितने उपाए निकाले गये। एक नहीं 8-8 सुंदर कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया गया, संपत्ति के तो ढेर लगे थे पानी की तरह संपदा बह रही थी। परंतु संपूर्ण राग की सामग्री एकत्र होने पर भी उन्होंने अपना मुख वैराग्य पथ की ओर मोड़ लिया। सारे राग भावों के पीछे छिपा वैराग्य का मोड़ ही तत्त्व है। इसीलिए कहा जाता है कि सारभूत तत्त्व की बात जिसमें छिपी हो वह शास्त्र है अन्य हास्य, व्यंग्य, श्रृंगार आदि रसों से भरे परंतु सार विहीन पोथी पत्रे जिनमें कुछ तत्त्व ही नहीं ऐसे उपन्यास आदि कुशास्त्र है सम्यक् शास्त्र नहीं है। जैसे तिल में तेल व दूध में घी छिपा होता है वैसे ही सच्चे शास्त्र में तत्त्व छिपा होता है।

सच्चे शास्त्र का अगला विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-‘सार्व’-अर्थात् संपूर्ण प्राणियों का हित करने वाला हो और हितकारक शास्त्र वह हो सकता है जो पापों से हटाकर धर्म में लगा दें। आत्मा के हित की बात करने वाला हो। जिन शास्त्रों में कोरा शब्द पांडित्य हो, कला-कौशलता हो, श्रृंगार या रागवर्द्धक वचनालाप हो, या युद्ध के पेटरे मात्र सिखाये जा रहे हो ऐसा पोथी पन्ना आत्मा का हितकारक कैसे हो सकता है जिसमें आत्मा के हितपरक अहिंसा आदि का व्याख्यान हो, राग से वैराग्य का दर्शन कराया गया हो, आत्म स्वरूप का कथन हो ऐसा शास्त्र ही प्राणियों का हितकारी हो सकता है अगला विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं कि-“कापथ



घट्टनम्” इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-“कुत्सितं पन्थाः कापथः तस्स घट्टनम्” अर्थात् जो कुत्सित यानि मिथ्या मार्ग है वही कापथ है और उस मिथ्या मार्ग का जो खंडन कर दे वही सच्चा शास्त्र है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ये कापथ कहलाते हैं जो मार्ग पापों की ओर ले जाए, हिंसा की ओर ले जाए, झूठ व चोरी में प्रवृत्त कराए, परिग्रह संचय व कुशील की ओर ले जाए वह सब कापथ ही है और घट्टनम् यानि मर्दन या खंडन करना, तो जो शास्त्र इन सभी मिथ्या पथों को नष्ट करने वाला वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की बात करके जो मिथ्यामार्ग का निराकरण कर दें बस वही सच्चा शास्त्र है।

इस प्रकार उक्त विशेषणों से जो युक्त है। वही सच्चे देव के द्वारा कहा हुआ सच्चा शास्त्र है हमें उसी पर श्रद्धा करना चाहिए तथा उसी को पढ़ना चाहिए। ताकि आत्म हित का वास्तविक मार्ग हमें प्राप्त हो सके।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 अभिनंदन नाथ भगवान की जय”



स्वर्ग को कौन प्राप्त होते हैं ?

गुणालंकार सम्पन्नः सुशील सुरयीकृतः।

सर्वेन्द्रियहरं भोगं भजते त्रिदशालये।।455।। (सु.स.)

अर्थ : जो गुणरूपी अलंकारों से सहित है तथा उत्तम शीलव्रत से सुशोभित है, वह स्वर्ग में समस्त इन्द्रियों को हरने वाले भोग को प्राप्त होता है।





प्रवचन-10

श्लोक-10

सच्चे गुरु का स्वरूप

भव्य मनीषियो! गुरु जीवन के आधार स्तंभ होते हैं गुरु के बिना जीवन का प्रारंभ ही नहीं होता है इसलिए जीवन में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान होता है। गुरु ही मोक्षमार्ग पर चलने हेतु दृढ़ आधार हैं। गुरुरूपी जड़ ही हमारे चारित्ररूपी वृक्ष की लाठी की तरह हमारे मुक्ति पथ के संबल प्रदाता होते हैं। मिथ्यात्व व मोहरूपी अंधकार में भटकते हुए प्राणियों के लिए सम्यक् पथ का पाथेय देते हैं। आचार्यश्री समंतभद्र महाराज आगे सच्चे गुरु का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ-

यः	-	जो
विषयाशावशातीतः	-	विषयों की आशा के वश से रहित हो
निरारम्भः	-	आरंभ रहित हो
अपरिग्रहः	-	चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित
ज्ञान ध्यान तपोरक्तः	-	ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन
सः तपस्वी	-	वही तपस्वी (गुरु)
प्रशस्यते	-	प्रशंसनीय होता है।

भावार्थ-जो पंचेन्द्रिय विषयों की लालसा के वश नहीं हैं, आरंभ और चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, निरंतर ज्ञान, स्वाध्याय, ध्यान और व्रत उपवासादि तप के पालन में तत्पर रहते हैं, वे साधु प्रशंसा के योग्य हैं वे ही सच्चे गुरु कहे जाते हैं।

भव्य मनीषियों! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने 'गुरु' शब्द का प्रयोग न करके तपस्वी शब्द का प्रयोग किया है जबकि आचार्यश्री कुंदकुंद महाराज ने अपने अष्टपाहुड़ ग्रंथ में



सच्चे गुरु के लिए 'गुरु' शब्द से संबोधित किया है। कहीं-2 तपस्वी के स्थान पर 'तपोभृत' शब्द भी आता है आचार्य भगवन् में तपस्वी शब्द में-आचार्य, उपाध्याय व साधु तीनों को समाविष्ट किया है। जबकि गुरु के दो भेद होत है-1. सामान्य 2. विशेष।

1. सामान्य गुरु में- सामान्य से सभी निर्ग्रन्थों का दिगंबर संतों का ग्रहण हो जाता है वे तपस्वी भी कहलाते हैं। 2. विशेष-विशेष गुरु में शिक्षा-व दीक्षा गुरु का अंतर्भाव करना है। दीक्षा गुरु आचार्य परमेष्ठी होते हैं तथा शिक्षा गुरु में उपाध्याय का ग्रहण होता है। “वक्तुमिच्छा विवक्षा” इस सूत्र के अनुसार वक्ता के कहने के अभिप्राय को विवक्षा कहते हैं। यद्यपि सामान्य से चाहे निर्ग्रन्थ कहो, दिगंबर कहो, गुरु कहो, तपस्वी या तपोभृत सब एकार्थवाची है। परंतु विशेष की अपेक्षा समझने के अभिप्राय से शब्दानुसार अलग-2 अर्थ परिभाषा बन जायेगी। परंतु उपलक्षण से कथन “सच्चे गुरु” का ही अभीष्ट है अतः तपस्वी से ‘सच्चे गुरु’ का ग्रहण किया गया है।

यद्यपि बाहर से निर्ग्रन्थ होना, संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर तपस्वी बनना आसान है परंतु तदनुरूप गुणों का पाना कठिन है। तपस्वी के जांचे में ढलना कठिन है। कभी-2 लोग बाह्य, लौकिक प्रयोजनों को सिद्ध करने हेतु भी तप को अंगीकर कर निर्ग्रन्थ बन जाते हैं उनके विषय में कहा जाता है-

**मूढ मुढ़ाये तीन गुण, तन की मिट गई आवा।
खाने को लड्डू मिले और लोग कहेंगे वाह-वाह।।**

तो बंधुओ! जिनकी धारणा उपर्युक्त अनुसार है वे सच्चे गुरु नहीं हैं। अपितु सच्चे गुरु के स्वरूप जिन्होंने अपनी जीवंत चर्या ही बना लिया है वे निर्ग्रन्थ ही सच्चे गुरु हैं।

आचार्यश्री समन्तभद्र महाराज सच्चे गुरु का स्वरूप बतलाते हुए प्रथम विशेषण देते हैं-‘विषयाशावशातीतो’ अर्थात् जो विषयों की आशा से रहित है। “विषयाशा वशा अतीतः” जो पंचेन्द्रिय के विषयों की आशा के वश से अतीत या परे वे ‘सच्चे निर्ग्रन्थ’ हैं। पंचेन्द्रिय के विषय कुल-28 होते हैं- स्पर्शन-8, रसना-5, घ्राण-2, चक्षु-5, कर्ण-7 एवं मन-1 कुल-28।

जिनका मन काम वासना से वासित है वह अंतरात्मा की सुवास कैसे ले सकता है। जबकि ‘सच्चे गुरु’ आत्मा की साधना करते हैं इसलिए इन विषयों पर विजय पाते हैं इसीलिए आगम में ‘सच्चे गुरु’ के लिए ‘जिन’ शब्द का भी प्रयोग किया गया है अर्थात् जिन्होंने इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है वे ही ‘जिन’ संज्ञा धारी सच्चे गुरु हैं।

इसके विपरीत जो संपूर्ण इंद्रिय विषयों के सेवन में रत हैं, स्त्री आदि को रखते हैं, अनेकों बार भोजन करते हैं, भभूद आदि शरीर पर लपेटते हैं, वाहन का प्रयोग करते हैं वे सच्चे गुरु कैसे हो सकते हैं? मेरी भावना में भी सच्चे गुरु का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है-



“विषयों की आशा नहीं जिनके साम्य भाव धन रखते हैं
निज पर के हित साधन में जो निशदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के दुःख समूह को हरते हैं।”

अन्य इंद्रिय विषयों को जीतना फिर भी आसान है। परंतु स्पर्शन व रसना इन दो को जीतना बहुत कठिन माना जाता है।

‘पुष्पडाल’ की तरह यदि वर्षोवर्ष बीत जाए और पत्नि व घर का ध्यान बना रहे तो फिर वे मनोजयी नहीं कहला सकते क्योंकि जब तक मन की प्रवृत्ति विषयों में रहेगी तब तक धर्माचरण नहीं हो सकेगा, अथवा बाह्य धर्माचरण हो भी जाए परंतु अंतरात्मा धर्म से नहीं भींग पायेगी। विषयों से प्रायः व्यक्ति काम वासना को ही ग्रहण करता परंतु ध्यान रखिये! इंद्रियों के मात्र एक नहीं अपितु 28 विषय है। उन सबको जीतने वाला ही जितेन्द्रिय है। रसना इंद्रिय भी कठिनाई से जीती जाती है। खान-पीन का विवेक, एषणा समिति का निर्दोष पालन, रस परित्याग आदि बिना रसना इंद्रिय को जीते संभव नहीं है। इसीलिए आगम में साधु की आहार चर्या को गोचरी व भ्रामरी वृत्ति कहा है। जिस प्रकार गाय को मात्र चारे से प्रयोजन होता है देने वाले से नहीं उसी प्रकार साधु मात्र प्रासुक, निर्दोष, शुद्ध आहार से प्रयोजन रखते हैं देने वाला अमीर है या गरीब, सुंदर या कुरूप आदि बातों से प्रयोजन नहीं रखते। भ्रमर जिस प्रकार काष्ठ में छिद्र करने की शक्ति होते हुए भी अपने उपकारी भोजन देने वाले कमल को छेदना पसंद नहीं करता, प्राण गंवा देता हैं परंतु फूल को क्षति नहीं पहुँचाता वैसे संतजन श्रावकों के घर प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं परंतु कभी उसे बदनाम नहीं करते। अपितु श्रावक के दान तीर्थ की प्रशंसा करते हैं। परंतु यह भी याद रखे कि वे अच्छे स्वादिष्ट भोजन मिले ऐसा अभिप्राय रखते हुए कभी श्रावक की पूर्व स्तुति व पश्चात् स्तुति भी नहीं करते अन्यथा एषणा समिति सदोष मानी जायेगी। इस प्रकार वे महाकठिनाई से जीती जाने वाली रसना पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इंद्रियों के 28 विषयों में यदि किसी को जीतना कठिन है तो वह सबसे दुर्जेय ‘मन’ ही है। क्योंकि यदि 5 इंद्रियों के विषय यदि रेल के डिब्बे हैं तो मन इंजन है। इंजन जहाँ-2 जायेगा, डिब्बे उसका ही अनुसरण करेंगे। इसीलिए संतजन मन को जीतने का अभ्यास सबसे पहले करते हैं आज अमुक सामग्री खाने का मन हो गया तो अमुक वस्तु का त्याग। अथवा जो सामग्री प्रिय हो उसी का त्याग। ये सब मन को मारने के उपाय हैं। चूंकि संतजन इंद्रियों से सहित हैं अतः इंद्रियों के विषय भी नियम से होंगे ही। परंतु उन विषयों की आशा को इच्छा/आकांक्षा को दास बना लेने से वे ‘विषयाशावशातीत’ कहलाते हैं। इंद्रिय विषय को जीतना तभी आसान होगा जबकि आप आशा पर विजय प्राप्त कर लें। कवि कहता है-‘आशा तृष्णा न मरी, मर-मर गयो शरीर’ विषय सामने नहीं है या हमने उसे हटा



दिया यह संभव है परंतु हमारे अंदर जो उसके प्रति आशा लगी है, आसक्ति, तृष्णा भाव बना है उसका नष्ट करना अत्यंत आवश्यक है। शरीर तो मर गया परंतु आशा रूपी तृष्णा नहीं मरी तो उसी प्रकार होगा जैसे खेत से खरपतवार तो सारी हटा दी परंतु जड़ विद्यमान है यदि जड़ है तो आप कितनी भी खरपतवार हटा दो वह तो वापस ऊग आयेगी। उसी प्रकार यदि आपने तृष्णा को नहीं जीता और बाहर से कितना भी त्याग कर दिया तो वह त्याग वास्तविक नहीं होगा उदाहरण के लिए आपने मीठे का तो त्याग किया परंतु मुनक्के की व्यवस्था बनवा ली, नमक का त्याग किया परंतु जवाखार की व्यवस्था बना ली। तो खरपतवार की तरह तृष्णा तो बनी ही रहेगी। फिर आपने जीता किसे? मात्र मनः संतुष्टि के लिए मोह का Transfer ही किया है। इंद्रियों को जीतने के लिए मन पर Brake लगाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ती है। चूंकि मन ही सब का मुखिया सरताज है इसलिए उसे जीत लिया तो इंद्रियाँ स्वयं ही आत्म समर्पण कर देती है। एक कहावत है-

**मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।
जाने याको वश किया, सो पहुँचो भव पार।।**

मन को जीतने का नाम ही 'इंद्रिय जय' है। एक बार इंद्रियाँ तृप्त हो भी जाए परंतु मन को तृप्त करना कठिन है। क्योंकि उसके गति इतनी तेज है कि पल भर में देश-विदेशों तक की यात्रा कर जाता है आत्मानुशासन ग्रंथ में आचार्यश्री गुणभद्रस्वामी कहते हैं-

**आज्ञागर्तं प्रति प्राणी, यस्मिन् विश्व मणुपमं।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।36।।**

अर्थात्-प्राणी का आशा रूपी गड्ढा इतना बड़ा है कि जिसमें यदि विश्व के संपूर्ण पदार्थ भी भर दिये जाए तो भी तृप्ति नहीं हो पाती।

पेट तो भर जाता है परंतु मन नहीं भर पाता। आशा मन को विषयों की ओर धकेलती है परंतु निर्ग्रन्थ संत मन पर विजय प्राप्त कर राग भाव को जीत लेते हैं। फिर पदार्थों का उपभोग करते हुए भी राग भाव के अभाव में कर्म बंध नहीं करते। रसगुल्ला आप भी खाते हैं और संत भी, और आपको तो व्यंजन कभी-2 खाने मिलते होंगे परंतु संतजन अतिथि है अतः प्रतिदिन व्यंजन मिलते रहते हैं परंतु राग भाव नहीं होता, आसक्ति नहीं होती। समयसार ग्रंथ में आचार्यश्री कुंदकुंद देव ने ज्ञानी व अज्ञानी के विषय में गाथा है-

**प्राणी रागप्पजहो सब्बदब्बेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।218।।
अण्णाणी पुण रत्तो सब्ब दब्बेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।219।।**



अर्थात्-ज्ञानी जीव सभी पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी राग भाव के अभाव होने से कर्मों को नहीं बांधता जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना उससे लिप्त नहीं होता।

तथा जीव सभी पदार्थों राग भाव होने से उसी प्रकार निरंतर कर्मों को बांधता है जिस प्रकार कीचड़ में पड़े लोहे में जंग लग जाती है और वह सड़ जाता है।

आसक्ति के अभाव में संतजन कर्मों का लेप नहीं करते क्योंकि वे मन विजेता है। अपने मन को उन्होंने अपना दास बना लिया है संतजनों के पास तीन गुप्तियाँ होती है। जिनमें से एक मनोगुप्ति भी है। मनोगुप्ति का तात्पर्य ही है मन कि दुष्ट प्रवृत्ति का त्याग, विषयों से मन को हटाकर धर्मध्यान में एकाग्र कर लेना, अपध्यान का त्याग करना।

संपूर्ण पदार्थों के प्रति मोह, राग भाव का त्याग। अनुकूलता व प्रतिकूलता दोनों में भी वे अपनी समता में ही रहते हैं तथा निज आत्मा व पर द्रव्यों की हित साधना में निशदिन तत्पर रहते हैं। इसीलिए वे गुरुजन ‘विषयाशावशातीतः’ कहलाते हैं। आचार्य भगवन् दूसरा विशेषण देते हैं- “निरारम्भोपरिग्रहः” अर्थात् सच्चे निर्ग्रन्थ संत आरंभ व परिग्रह से रहित होते हैं।

निरारम्भः जो आरंभ से रहित है जिन-जिन कार्यों को करने से जीवों की विराधना होती है वे सब आरम्भ कहलाते हैं। जैसे-नौकरी, खेती, व्यापार आदि इनमें बाहुल्यता से जीव हिंसा होती है। यद्यपि आरंभ प्रतिमा धारी भी इन सब कार्यों को नहीं करता परंतु विशेषता यह है कि मुनिराज इन आरंभ के कार्यों का मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना इन कोटि से त्याग करते हैं। अर्थात् वे न तो आरंभ के कारण स्वयं करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और न ही करने वालों की अनुमोदना करते हैं।

शरीर पर भूत-भभूत लपेटने वाले जो पाखंडी लोक में देखे जाते हैं उनकी इन कार्यों में प्रवृत्ति देखी जाती है वे यज्ञ, हवन भी करते हैं जिसमें बहुतायत में जीवराशि का क्षय हो जाता है अतः वे ऐसे लौकिक पाखंडी ‘सच्चे गुरु’ नहीं हैं। **अपरिग्रहः**-जो परिग्रह से सर्वथा रहित है। “परिता समन्तात् ग्रहणाति इति परिग्रहः”

अर्थात्-चारों ओर से जो ग्रहण करने का भाव है वह परिग्रह है। अथवा **मूर्छाः परिग्रहः**-पदार्थों में आसक्ति, इच्छा होना परिग्रह है। जो प्रेत की तरह प्राणी के पीछे पड़ जाता है। वह परिग्रह कहलाता है। परिग्रह एक रस्सी की तरह है एक ऐसा बंधन है जो दिखता तो नहीं परंतु प्राणी को जकड़े रहता है। परिग्रहवान व्यक्ति को न तो नींद आती है, न भोजन रुचता है। नींद की गोलियां लेनी पड़ती है रात को सोता है तो भी स्वप्न में भी उसे पैसा ही दिखता है और हाय-हाय करके अपना सारा जीवन परिग्रह संचय में ही पूरा कर देता है। एक कवि ने कहा हैं-



Money-Money-Money, Money is a Sweet Honey, but with out life no Money no honey. व्यक्ति को पैसा मीठे शहद की तरह प्रिय होता है सारा जीवन हाय पैसा! हाय पैसा! करने में निकाल देता है कवि कह रहा है कि तुम आखिर पैसा-2 कब तक करोगे तभी तक जब जीवन है जीवन के न रहने पर चमड़ी और दमड़ी दोनों को यही छोड़ कर जाना पड़ता है। जिस पैसों के लिए प्राण छोड़ रहे हो वह तुम्हारे आत्महित के द्वारा नहीं खोलेगा अपितु नरक की सीट रिजर्व कर देता है। जिस धन के दीवाने हो उसी पर सर्प बनकर बैठना पड़ेगा तात्पर्य मनुष्य जीवन भी हाथ से जायेगा। परिग्रह ही संपूर्ण पापों की जड़ है। पैसे के लिए ही भाई-2 से झगड़ता है बेटा, बाप के खून का प्यासा रहता है रिश्तों की अहमियत को पैसा समाप्त कर देता है।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी महाराज कहते हैं- ‘बह्यवारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः’ अर्थात् बहुत आरंभ व बहुत परिग्रह नरक आयु के आस्रव का कारण है। ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य शुभचंद्र महाराज कहते हैं- कि परिग्रह की तो माला फेरते हुए भी परिग्रह ही दिखता है इतनी गहरी मूर्छा उसकी परिग्रह में होती है। पापों की जड़ स्वरूप ऐसे अंतरंग व बहिरंग परिग्रह को मुनिराज नव कोटि से त्याग देते हैं- पूजा में भी कहा जाता है ‘परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करे मुनिराज जी’ 10 प्रकार के बहिरंग व 14 प्रकार के अंतरंग परिग्रहों को मुनिजन मन, वचन, काय व कृत, कारित और अनुमोदना इन कोटियों से त्याग कर देते हैं। इसलिए वे अपरिग्रह महाव्रत धारी हैं।

इस प्रकार निर्ग्रंथ संत विषयों की आशा से रहित, आरंभ व परिग्रह के त्यागी तो होते ही साथ ही अगला विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं- ‘ज्ञानध्यानतपोरक्तः’ अर्थात् ‘सच्चे निर्ग्रंथ गुरु’ खाली नहीं बैठे रहते अपितु हर क्षण, हर पल ज्ञान, ध्यान व तप में लीन रहते हैं। अधिकांशतः लोगों का सोचना ऐसा होता है कि साधु बन गये पका पकाया खाने को मिलता है न काम न धाम। बड़े मजे-मौज है। फुसत रहते होंगे। परंतु ध्यान रखिये! ‘सच्चे निर्ग्रंथ संतों’ के पास एक क्षण भी व्यर्थ गंवाने को शेष नहीं है कभी संतों को आप गपशप लगाते नहीं पायेंगे वे तो निरंतर जाप, पाठ, स्वाध्याय आदि में लीन मिलते हैं कभी प्रयोजनवशात् बोलना भी पड़ जाए तो तुरंत वहाँ से उपयोग हटा कर ज्ञान, ध्यान, तप में रत हो जाते हैं। ‘ज्ञानध्यानतपोरक्तः’ का अर्थ कहीं-2 1. ज्ञान तप 2. ध्यान तप में लीन रहते हैं ऐसा किया है। तथा कहीं-कहीं (1) ज्ञान (2) ध्यान व (3) तप तीनों को पृथक्-2 गिनाया है तथा रक्तः की जगह कहीं-2 रत्नः पाठ भी आता है।

रक्तः यानि ज्ञान, ध्यान, तप में रत रहते हैं तथा रत्नः का तात्पर्य ज्ञान, ध्यान, तप रूप रत्नों से विभूषित होते हैं दोनों ही अर्थ प्रकरणवशात् ग्राह्य हैं। भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि महाराज कहते हैं-कि ज्ञान के बिना मन वश में नहीं हो सकता है। मन को वश करने का सुगम साधन ज्ञान है। क्योंकि जब व्यक्ति स्वाध्याय में तल्लीन हो जाता है तो भूख, प्यास, दिन-रात कुछ मालुम



नहीं पड़ता। पंचम काल में 'स्वाध्याय परमं तपः' स्वाध्याय को ही परम तप कहा है क्योंकि स्वाध्याय से ही मन वश में होता है कवि कहता है-

**स्वाध्याय के मनन से मन हाथ आता, विज्ञान भानु उगता तम को नशाता।
स्वाध्याय को गुरुकुली होकर पढ़ोगे, सद्यः स्वयं श्रुत विशारद जो बनोगे।।**

जो स्वाध्याय में लीन रहते हैं उन्हें न घर से मतलब होता है न कुटुम्बी से। न किसी की याद आती है, न किसी से झगड़ा होता है अर्थात् राग-द्वेष को जीतने का सुगम उपाय स्वाध्याय ही है।

तिलोय- पण्णत्ति में लिखा है कि-सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु 33 सागर की होती है और इतनी बड़ी आयु भी क्षण भर की तरह व्यतीत हो जाती है क्योंकि वे देव हर क्षण तत्त्वचर्चा में ही लगे रहते हैं।

एक साधक जब ज्ञान में डूबता है तो उसके सारे कष्ट व तकलीफें दूर हो जाती हैं।

अधिकांशतः संत जन स्वाध्याय में तल्लीन रहते हैं। जब वे स्वाध्याय से निवृत्त होते हैं तो ध्यान तप में लवलीन हो जाते हैं। ध्यान वह अवस्था है-जिसमें किसी एक विषय पर मन को एकाग्र कर लिया जाता है। संपूर्ण तपों में सर्वश्रेष्ठ ध्यान तप है ध्यान तप के माध्यम से कर्म क्षय होकर केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ध्यान तप के माध्यम से संत जीवन में आने वाले बड़े-2 कष्टों व उपसर्गों को सहन कर लेते हैं। सुकुमाल व सुकौशल मुनिराज को श्यालनी भक्षण करती रही, सुकौशल मुनि को शेरनी खाती रही परंतु वे हिले भी नहीं क्योंकि उन्होंने ध्यान तप का आश्रय लिया था और सुकुमाल मुनिराज ध्यान तप के बल से सर्वार्थसिद्धि व सुकौशल मुनिराज ने केवलज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार संतजन सदैव ज्ञान तप व ध्यान तप में तल्लीन रहते हैं। शरीर को कोड़ों से पीटना, अग्नि जलाकर बैठ जाना, पंचाग्नि तप करना यह वास्तविक तप नहीं अपितु काय क्लेश मात्र है और कायक्लेश से कर्म क्षय नहीं होते इसलिए सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु तो वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान व ध्यान तप में निमग्न रहते हैं। कायक्लेश करने वाले मिथ्या तापसी सच्चे गुरु नहीं हैं।

अतः इस प्रकार 'सच्चे गुरु' के स्वरूप को समक्ष कर आप उन सच्चे गुरुओं के प्रति श्रद्धा, भक्ति रखते हुए सदैव सेवा, वैयावृत्ति में तत्पर होकर अपने आत्मा का कल्याण करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 अभिनंदन नाथ भगवान की जय”





प्रवचन-11

श्लोक : 11

निःशंकित श्रद्धा: मुक्ति की बीज

आत्महितेच्छु भव्यात्माओ! अभी तक हुए व्याख्यान में आचार्यश्री समंतभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन के आधार स्तंभ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का व्याख्यान किया। पूज्य आचार्य भगवन् ने गाथा 4 के माध्यम से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाते हुए कहा था कि परमार्थभूत सच्चे देव-शास्त्र पर तीन मूढ़ता से रहित व आठ अंगों से सहित जो श्रद्धान किया जाता है वह सम्यग्दर्शन है परंतु आचार्य भगवन् ने अपने ग्रंथ का प्रणयन करते समय मूढ़ता के पहले आठ अंगों को रखा क्योंकि आठ अंगों के आते ही मूढ़ताएँ स्वयं नष्ट हो जाती है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार आठों अंग से युक्त मानव सांगोपांग माना जाता है क्योंकि अंगों की विकलता धर्म क्षेत्र में बाधक है। हीनांग या अधिकांग मनुष्य अभिषेक, पूजन, आहार दान आदि धार्मिक क्रियाओं का पात्र नहीं होता। एक श्रेष्ठ मनुष्य वह माना जाता है जिसके अष्टांग व्यवस्थित होते हैं-दो हाथ, दो पैर, छाती, पीठ, कमर, सिर सब अंगोपांग व्यवस्थित हो। यदि इनमें से एक अंग भी न हो तो वह व्यक्ति अपूर्ण है। उसी प्रकार अष्टांगों के होने पर ही सम्यग्दर्शन पूर्णता को प्राप्त होता है। अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन ही मुक्ति में हेतु बनता है। वे आठ अंग-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावना। इनमें से एक अंग का भी यदि अभाव हो तो वह सम्यग्दर्शन नहीं कहला सकता।

जिस प्रकार अक्षर न्यून या अधिक अक्षर वाला मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार यदि इन आठ अंगों में से 1 भी अंग कम हो जाए तो वह मोक्ष को प्रदान नहीं कर सकता।

इसीलिए आठ अंगों को पाने के पूर्व उन अंगों के स्वरूप को अच्छी तरह समझना अनिवार्य है इसलिए करुणा की मूर्ति पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज क्रम-क्रम से 1-1 अंग का व्याख्यान कर रहे हैं।

वे पहले निःशंकित अंग का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं।



इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।

इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ।।1।।

अन्वयार्थ-

तत्त्वं	-	यथावस्थित वस्तु का स्वरूप
इदं एव	-	यही है
ईदृशं एव	-	इसी प्रकार ही है
अन्यत् न	-	अन्य नहीं है
अन्यथा न	-	अन्य प्रकार भी नहीं है
इति	-	इस प्रकार
सन्मार्गे	-	मोक्षमार्ग में
आय साम्भोवत्	-	लोह निर्मित तलवार के पानी (चमक)
	-	चमक के समान जो
अकंपा	-	अकंप या नि अड़ोल/निष्कंप
रुचिः	-	श्रद्धान है उसे
असंशया	-	निःशंकित अंग कहते हैं ।

भावार्थ-यथावस्थित वस्तु का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य या अन्य प्रकार का नहीं है, इस प्रकार मोक्षमार्ग में लोहे से बनी तलवार के पानी (चमक) के समान अचल-अड़ोल, निश्चल श्रद्धान करने को निःशंकित अंग कहते हैं ।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् पहले निःशंकित अंग का व्याख्यान करते हुए कह रहे हैं कि निःशंकित अर्थात् शंका न हो । इस श्लोक के माध्यम से विधि व निषेध पूर्वक व्याख्या की गई है । ‘तत्त्वं’ यानि यथावस्थित वस्तु का स्वरूप “इदम् एव” यही ही है तथा ‘ईदृशं एव’ इस प्रकार ही है । ‘न अन्यत् न अन्यथा’ न अन्य है, न अन्य प्रकार है । सच्चे देव, शास्त्र व गुरु का जो स्वरूप आगम में कहा है वे उसी प्रकार का दृढ़ श्रद्धान रखना निःशंकित अंग कहलाता है वह दृढ़ श्रद्धान कैसा है? तो आचार्य भगवन् कहते हैं- “इत्यकम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः” जिस प्रकार तलवार पर जब किसी केमिकल का पानी चढ़ाया जाता है तो लुहार सर्वप्रथम तलवार को भट्टी में डालता है जब वह तपा कर रैड-हॉट हो जाती है । तब गरम तलवार पर केमिकल का पानी चढ़ाया जाता है । अथवा उस पर धीरे-2 पानी डाला जाता है । तलवार पर पानी डालने पर वह मजबूत हो जाती है अब लोहा कच्चा नहीं रहा, पक्का हो गया । कच्चा लोहा तो मोड़ने पर मुड़ जाता है । परंतु पक्का लोहा टूट सकता है परंतु मुड़ता नहीं है । पहले वही तलवार मुड़ जाती थी परंतु जिसमें पानी चढ़ा



दिया वह अकंप हो जाती है, परिवर्तन रहित हो जाती है। फिर हम कितना भी प्रयास करें परंतु तलवार को नहीं मोड़ सकते उसी प्रकार जब हमारा श्रद्धान पक्का नहीं होता तो श्रद्धा निःशंक हो जाती है तो सम्यग्दृष्टि टूट सकता है परंतु अपनी सम्यक् श्रद्धा से चलायमान नहीं हो सकता। वह किन्हीं भी लौकिक व पारलौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होता कुछ ग्रंथकारों ने सात प्रकार के भयों से सन्मार्ग विषयक श्रद्धा में चंचलता नहीं होने को सम्यग्दर्शन का निःशंकितत्व गुण माना है। आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।

सप्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।

सम्यग्दृष्टि अपनी शुद्ध-बुद्ध एक ज्ञायक स्वरूपी आत्मा का आश्रय लेते है तथा निर्दोष परमात्मा की आराधना करते हुए वे निशंक रहते है इसी से वे मरणादि सप्त भयों से रहित होते है। सम्यग्दृष्टि जीव के अंदर कोई शंका नहीं होती इसलिए भय भी नहीं होते। आगम में वे सात भय-1. इह लोक भय 2. परलोक भय 3. मरण भय 4. वेदना भय 5. अरक्षा भय 6. अगुप्ति भय 7. आकस्मिक भय।

1. **इह लोक भय**-सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा और शरीर संबंधी भेद विज्ञान होता है। शरीर अलग है तथा मेरा आत्म तत्व इन शरीर, स्त्री, पुत्रादिक से सर्वथा अलग है। मेरे आत्म तत्व को छोड़कर परमाणु मात्र भी मेरा इस जगत में मेरा कुछ नहीं। ये सांसारिक संबंध तो आत्मा के साथ अनंतों बार हुए और होकर छूट गये। जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग भी सुनिश्चित है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने पर शरीर के छूटने, परिग्रह के वियोग होने, शत्रु या बलवान मेरा कुछ अहित करेंगे इस प्रकार के संपूर्ण इहलोक संबंधी भयों से सम्यग्दृष्टि जीव रहित होता है।

2. **परलोक भय**-परलोक पुण्य और पाप की बदलती परिपाटी है पुण्योदय से परलोक में संपूर्ण सुख यश, सुगति की प्राप्ति होती है। तथा पापोदय से दुःख, अशांति दुर्गति की प्राप्ति होती है परंतु ये पुण्य व पाप के फल दोनों ही विनाशीक है सदा काल नहीं रहते अपितु जिस स्थिति को लेकर कर्म का बंध हुआ है उसी निर्धारित स्थिति तक ही रहते है मेरा लोक तो मुझमें है। मैं अपने उसी लोक अवलोकन करता हुआ पुण्योदय से प्राप्त स्वर्गादिक की विभूति तथा पापोदय से प्राप्त नरकादि के दुःखों में समभाव धारण करता हुआ अपनी आत्मा के समता स्वरूप में लीन होता हुआ निजात्म लोक का वासी हूँ। इसलिए मुझे परलोक गमन का कुछ भय नहीं है।

3. **मरण भय**-आंधी, तूफान, अकाल, बैरी, विद्रोही आदि के आ जाने पर मैं मारा जाऊँगा ऐसे मरण के भय से सम्यग्दृष्टि मुक्त होता है क्योंकि वह जानता है कि-

“मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ।”



चाहे मणि हो, मंत्र-तंत्र हो कुछ का भी प्रयोग कर लिया जाए परंतु आयु के निषेक पूर्ण होते ही आत्मा एक शरीर को छोड़ नियम से दूसरा नवीन शरीर तो ग्रहण करता ही है। दस प्राणों का वियोग निर्धारित है परंतु मेरी आत्मा का तो कभी मरण होता नहीं है वह तो अजर-अमर शाश्वत है त्रैकालिक ध्रुव है। वह सोचता है-‘न मे मृत्यु कुतो भीति’ जब मेरी मृत्यु ही नहीं होती तो भय कैसा इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टि जीव मरण भय से रहित होता है।

4. वेदना भय-शरीर में कोई भयंकर व्याधि आ जाए, कोई शरीर का छेदन-भेदन कर दे और उससे शरीर में अत्यंत वेदना हो रही हो तो वह उस वेदना की संवेदना से मन को हटाकर निज स्वरूप की संवेदना पर ले जाता है। यह वेदना भी मेरा स्वभाव नहीं एक वैभाविक परिणति है। वेदनीय कर्म जनित सुख व दुःख का वेदन भी शरीर में होता है वह भी मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो इससे भिन्न ज्ञाता स्वभावी हूँ मात्र जानना व देखना मेरा काम है विभाव रूप परिणमन मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार स्वरूप संवेदना करता हुआ शारीरिक वेदना के भय से मुक्त होता है।

5. अरक्षा भय-सम्यग्दृष्टि जानता है कि जगत में जो सत्तारूप वस्तु है उसका त्रिकाल में कभी नाश नहीं होता तथा पौद्गलिक वस्तुएँ कभी शाश्वत नहीं रहती ऐसा सोचकर धनादि के नष्ट हो जाने पर किसी के द्वारा चुराये जाने पर वह भय को प्राप्ति नहीं होता अथवा धनादि के नाश हो जाने के भय से अथवा डाकू, चोर, लुटेरों से कोई मेरी रक्षा कौन करे? ऐसा अरक्षा भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता।

6. अगुप्ति भय-धन को गुप्त स्थान पर कपाट आदि लगाकर सुरक्षित रखना चाहिए, अन्यथा चोर लुटेरे ले जायेंगे। ऐसा चोर लुटेरों का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। कोई मेरे गुप्त रहस्यों को जान मेरे राज्य पर आक्रमण न कर दें, कोई मेरे गुप्त धन को न जान ले ऐसा अगुप्ति भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता क्योंकि वह जानता है अपना स्वरूप अपने से बाहर नहीं है, वह अपने स्वरूप के ही भीतर है मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, मुझ में पर का प्रवेश नहीं, पर में मेरा प्रवेश नहीं। अतः कुछ गुप्त नहीं, फिर अगुप्ति भय कैसा?

7. आकस्मिक भय-कहीं बम न गिर जाए, कोई शत्रु चढ़ाई न कर दें, घर में कोई अनहोनी न घट जाए ऐसे आकस्मिक भय से सम्यग्दृष्टि जीव रहित होता है। वह जानता है मेरा आत्मा अचल, अविनाशी है इसलिए स्वभाव सिद्ध है इसमें अचानक कुछ नहीं होता। फिर आकस्मिक भय कैसा?

इस प्रकार सप्त भयों से रहित होता हुआ सम्यग्दृष्टि निःशंकित अंग में सुदृढ़ चित्त होता है।

प्रायः भय के कारण ही व्यक्ति की श्रद्धा चलायमान होती है। यदि अचानक कोई रोग बीमारी आ जाए तो आप किसी भी देवी-देवता के समक्ष अपना नारियल लेकर पहुँच जाते हो। शरीर के लिए



आत्मा की अमूल्य निधि को बेचने चल दिये। आप की इतनी कच्ची श्रद्धा कि थोड़े से कष्ट के आने पर चलायमान हो गई।

आप एक मुसलमान को ही देख लीजिए-चाहे उस पर कैसी भी विपत्ति आये, बीमारी हो जाए परंतु कभी किसी देवी के आगे वह श्रीफल नहीं चढ़ा सकता। प्राण दे सकता है लेकिन वह कभी किसी अन्य दर पर माथा नहीं टेकता और एक आप है कि किसी ने भूत-प्रेतादि का भय दिखाया और आप किसी के भी दर पर माथा टेकने तैयार हो जाते हैं आज भूत प्रेत के नाम पर 90 प्रतिशत मिथ्यात्व चल रहा है। आप सोचिए! जिन तीनों लोकों के नाथ के दर्शन, पूजन, भक्ति से बड़े-2 निधत्ति, निकांक्षित जैसे कर्म बदल जाते हैं जिनके चरणों में आकर पंगु-पैर वाला, अंधा-सुनेत्री, दरिद्र-धनवान व दुःखी प्राणी, सुखी हो जाता है तो क्या आपके छोटे-मोटे संकट दूर नहीं होंगे। संसार के रागी-द्वेषी देवता जब अपना भव दुःख ही नहीं मेट पाये तो आपका क्या मेटेंगे। जो स्वयं दुःखी है क्या वह आपको सुख दे सकेगा। धर्म में आज भी संपूर्ण चमत्कारों को प्रकट करने की शक्ति है परंतु वह आपकी भक्ति भी देखता है। तुम धर्म को परखना चाहते हो और वह तुम्हें। धर्म भी देखना चाहता है कि तुम अंदर, बाहर कैसे हो? यदि भगवान के सामने शर्त रखोगे तो सौदा हो जाएगा और जहाँ सौदा होता है वहाँ से श्रद्धा, भक्ति पलायन कर जायेगी। यदि भगवान तुम्हारी गलत प्रवृत्तियों में साथ देने लगे तो धर्म व धार्मिकता की सुरक्षा कौन करेगा? इसलिए भगवान को कभी शर्त में खड़े मत करना।

बंधुओ! आप अपनी छोटी मानसिकता के दायरे से निकलकर अपनी श्रद्धा को मजबूत बनाए। आज दुःख का समय आया है तो धैर्य धारण करो, परमात्मा पर विश्वास रखें तुम्हारे दिन भी फिरेंगे और सुख के दिन आयेंगे।

अतः बंधुओ! अपनी श्रद्धा को निःशंकित व निर्मल बनाते हुए अपने आत्म हित के पथ में लग जाइए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”





प्रवचन-12

श्लोक : 12

इच्छाओं के त्याग से ही मिलेगी मुक्ति

आत्मपथ हितेच्छुओ! पूर्व श्लोक के माध्यम से हमने सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग निशंकित अंग को समझा निःशंकित श्रद्धा ही जीवन में कार्यकारी होती है। आज पूज्य आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन के दूसरे अंग निःकांक्षित अंग पर हमें ले जा रहे हैं। कांक्षा का अर्थ होता है-इच्छा, अभिलाषा, चाह। जब तक हमारे जीवन में ये चाहते बनी रहती है तब तक हम धर्म के नजदीक नहीं पहुँच पाते, इच्छायें लक्ष्य के समीप नहीं पहुँचने देती। बीच में ही अटका देती है। प्रायः व्यक्ति भगवान के दर्शन करने तो जाते हैं। परंतु अपने साथ इच्छाओं को भी ले जाते हैं। किसी व्यापारी से पूछो भाई! भगवान के दर्शन क्यों करने आये हो तो वह उत्तर देगा-भगवान के दर्शन करने से, रोज मंदिर आने से मेरा व्यापार अच्छा चलता है। जिस दिन दर्शन न कर पाऊँ मेरी दुकान ही नहीं चलती। अब आपने भगवान का दर्शन, पूजन तो किया परंतु अभिलाषा मन में दूसरी रखी तो उस अभिलाषा से आपके और भगवान के बीच कुछ दूरी, कुछ फासला खड़ा किया।

कुछ लोग दर्शन करने इसलिए आते हैं ताकि मैं बीमार न पड़ूँ अथवा जो भी रोग हो गया है वह ठीक हो जाए। आप बच्चों को ही देख लीजिए। परीक्षा के समय दौड़-2 कर मंदिर जाते हैं परंतु परीक्षा होते ही भगवान को भूल जाते हैं। आपने इच्छा रखकर, आकांक्षा रख कर भगवान का दर्शन, पूजन किया है तो आपने अपने व अपने परमात्मा के बीच दीवार खड़ी कर ली है। परमात्मा को इच्छा पूर्ति का साधन बना दिया, अब यदि कहे कि आपकी भक्ति भगवान की नहीं अपितु व्यापार के प्रति अधिक है क्योंकि जिसे हम पाना चाहते हैं वह हमें इष्ट हो गया है अब हम चाहते हैं कि व्यापार अच्छा चले इसका तात्पर्य यह हुआ कि आपको परमात्मा से भी इष्ट व्यापार हो गया। जिसे जग की इच्छाएँ इष्ट हो जाती हैं वह परमात्मा के अमूल्य गुणों तक ही नहीं पहुँचा वह अपनी निजआत्मा तक कैसे पहुँच सकता है क्योंकि परमात्मा वह दर्पण है जिसमें हमें अपनी आत्मा का दर्शन होता है। यदि बिना दर्पण के कोई अपना मुखावलोकन करना चाहे तो तीन काल में संभव नहीं। अतः यदि तुम अपने अस्तित्व को पाना चाहते हो तो परमात्मा तक पहुँचना होगा और परमात्मा तक पहुँचना है तो कांक्षा-इच्छाओं का त्याग करना होगा। वे इच्छाएँ कभी पूरी भी नहीं हो सकती, जिन्हें पाकर हम सुखी होना चाहते हैं वे इच्छाएँ दुःख की ही हेतु है इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य भगवन्



समंतभद्र महाराज आगे के माध्यम से निःकांक्षित अंग को समझाते हुए कहते हैं-
कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये ।
पाप बीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता ।।12।।

अन्वयार्थ-

कर्मपरवशे	-	जो कर्म की पराधीनता को लिये हुए हैं
सान्ते	-	अन्त सहित हैं
दुःखैः अन्तरितोदये-		अनेक प्रकार के दुःखों से मिश्रित हैं
पाप बीजे	-	पाप बंध के कारण
सुखे	-	ऐसे सांसारिक सुखों में
अनास्था श्रद्धा	-	अस्थिर रूप श्रद्धा रखना
अनाकांक्षणा	-	निःकांक्षित अंग
स्मृता	-	कहा गया है।

अर्थ-सातावेदनीय आदि कर्मों के आधीन, नाशवान, अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक दुःखों की बीच-2 में उत्पत्ति होते रहने से बाधा रूप, अनेक प्रकार के दुःखों से युक्त, पापबंध का बीज ऐसे सांसारिक सुख हैं इसमें अश्रद्धा, अरुचि अथवा अस्थिर बुद्धि रखना निःकांक्षित अंग कहा गया है।

भव्य बंधुओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि इच्छाएँ तो अनन्त होती है। आप किस-किस इच्छा की पूर्ति करेंगे। एक इच्छा पूर्ति हो नहीं पाती कि अनेकानेक इच्छाएँ सामने आकर दस्तक देने लगती है कि हमारी मांगे भी पूरी करो। पूज्य हे आत्मन्! तुम किस-2 इच्छा की मांग को भरोगे, आप जिंदगी में एक की ही मांग भरते हो उसकी ही मांग आप पूरी नहीं कर पाते, फिर अनेक इच्छाओं की मांगों की पूर्ति कैसे कर पाओगे। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि ये सांसारिक सुख जिनकी तुम्हें चाहत है वे कैसे है? तो पहला विशेषण देते हुए कहते हैं-“**कर्मपरवशे**” अर्थात् संसार के सुख कर्मों के आधीन होने से पराधीन है। शास्त्रों में प्रायः कर्मों को दो भागों में बांटा गया है 1. पाम कर्म 2. पुण्य कर्म।

जब पूर्वोपार्जित पाप कर्म का उदय होता है तो नियम से जीव को दुःख भोगना पड़ता है। पाप के उदय में हाथ में आया सोना भी मिट्टी बन जाता है व्यक्ति जिस काम में हाथ डालता है उसी में असफलता पाता है। पाप कर्म के उदय से कोई रोगी होता है तो कोई दरिद्र तो कोई किसी अन्य विपत्ति से ग्रस्त हो जाता है दूसरा कर्म पुण्य कर्म होता है। जब पुण्य कर्म का उदय होता है तो सम्पूर्ण अनुकूल सामग्रियाँ स्वयमेव मिल जाती है मिट्टी भी हाथ लग जाए तो सोने में बदल जाती



है। पुण्योदय से निरोगी काया, धन संपदा की प्राप्ति होती है। परंतु पूर्ण रूपेण सुखी कोई नहीं हो पाता। संपूर्ण सुखों के बीच एक न एक बाधा आ ही जाती है एक सेठ जी थे-बड़े धर्मात्मा/पुण्यात्मा थे पुण्योदय से धन संपदा तो थी। परंतु उन्हें डायबिटीज हो गया। त्यौहार होता तो अच्छे-2 व्यंजन बनते, जिन्हें देख मुख में पानी आ जाए परन्तु सेठजी मात्र देखते खाने की मना ही थी। अब इंद्रिय तो सामने मौजूद है परंतु उपभोग नहीं कर पा रहे हैं। इंद्रिय विषय तो है परंतु अंतराय कर्म ने बाँधा खड़ी कर दी। अच्छे-2 स्वादिष्ट व्यंजन बन रहे हैं। परंतु बी.पी. हाई हो गया, नमक बंद, घी, तेल बंद। इंद्रिय विषय तो सन्मुख है। परंतु अंतराय कर्म ने, असाता वेदनीय ने बाधा खड़ी कर दी। अर्थात् जिन इंद्रिय विषयों के लिए हे प्राणी! तुम दिन रात एक कर रहे हो वे इंद्रियों के विषय बाधा से सहित है। पुण्योदय है तो ही उपभोग कर सकोगे, पाप कर्म के उदय में सब कुछ मना। जब इंद्रिय जन्य सुख कर्मों के पराधीन है तो हम उन सुखों की आकांक्षा ही क्यों करें।

दूसरा विशेषण दिया-“सान्ते” “दुखैरन्तरितोदये” अर्थात् पंचेन्द्रियों के विषय अंततः नष्ट हो जाते हैं। सदा काल नहीं रहते। आप ने रसगुल्ला खाया आपको आनंदानुभूति हुई कितने क्षण के लिए क्षण भर के लिए। “घाटी उतरे माटी” गले से नीचे उतरा की आनंद समाप्त। आपको जब गर्मी लगती है तो आप कूलर, ए.सी. का उपयोग करते हैं परंतु ध्यान रखना जब आप लगातार 4-6 घंटे तक कूलर के सामने बैठे रहेंगे तो ठंड लगने लगेगी तथा अकृत्रिम हवा अधिक देर तक लेने से हाथ-पैर में दर्द होने लगता है और शारीरिक सहनशीलता भी कमजोर पड़ जाती है परिणाम यह निकलता है कि व्यक्ति कुछ भी सहन नहीं कर पाता। शरीर पर प्रतिकूल Environment को Adopt नहीं कर पाती फलस्वरूप व्यक्ति बीमार पड़ जाता है। जिसे आपने सुख का हेतु माना अंत में उससे दुःख पैदा हो गया। यानि इंद्रिय सुख अधिक समय तक नहीं रहता अंततः दुःख में बदल जाता है।

आपको गुलाब जामुन बहुत पसंद होते हैं वे आपको सुख देते हैं आप एक खाते हैं मन खुश हो जाता है यदि दूसरा खाये तो सुख Double होना चाहिए। तीन खाये सुख में तीन गुनी वृद्धि होना चाहिए जब 10 खाये तो सुख में दस गुना बढ़ जाना चाहिए क्योंकि आपने रसगुल्ले को सुख का हेतु माना है। परंतु देखा यह जाता है कि जब व्यक्ति अपनी सीमा/पाचन शक्ति से अधिक रसगुल्ले खा लेता है तो गुणित क्रम से सुख होने के स्थान पर दुःख होने लगता है पेट दुःखने लगता है Loose Motion and Vomiting होने लगती है। सुख की सामग्री अंत में दुःख में बदल गई। इन इंद्रिय विषयों का सुख शाश्वत नहीं अपितु पराधीन, बांधा से सहित, अंत से सहित और अंत में दुःखों को देने वाला है जबकि आत्मा का शाश्वत सुख स्थिर व चिर स्थायी रहने वाला ही एक बार शाश्वत सुख प्राप्त हो जाए तो फिर वह छूटता नहीं अनंतकाल तक रहता है। ऐसी समीचीन श्रद्धा उसी की होती है जिसने कांक्षाओं पर जय पा ली है।

अगला विशेषण देते हैं- “पाप बीजे” अर्थात् एक-एक इंद्रिय संबंधी विषयों पर हम दृष्टि



डाले तो स्पर्शन के 8, रसना इंद्रिय के 5 विषय है पहले के समय में राजा आदि 56 प्रकार का ही भोग करते थे परंतु आज के समय में आप बड़ी-2 शादी पार्टी में जाकर स्टाल को देखो तो पचासों प्रकार सब्जियाँ 100-200 प्रकार के मीठा, 200 प्रकार के नमकीन और न जाने कितने स्टाल होते हैं आज के व्यंजनों की सीमा 56 नहीं अपितु 56000 तक पहुँच गई है इंद्रिय आज के बदलते भौतिक परिवेश में मानव भोगी-विलासी, आलसी होता जा रहा है आज कपड़े धोने की मशीन से लेकर रोटी बनाने तक की मशीन तक आ गई है यदि मनुष्य वश चले तो भोजन को खाने का काम भी मशीन से करेगा। घ्राण इंद्रिय के विषयों पर दृष्टि डाले तो कितने प्रकार का इत्र, फुलेद आदि-2 का निर्माण हो रहा है। चक्षु इंद्रिय पर दृष्टि डाले तो सारी दुनियाँ रंगीन नजर आती है चक्षु इंद्रिय के विषयों की तो कोई सीमा नहीं, जितने पदार्थ ही उतने उनके चक्षु संबंधी विषय बन जाते हैं। कर्ण इंद्रिय के विषय सा, रे, ग, म, प, ध, नि मात्र ये 7 स्वर ही नहीं अपितु नाना प्रकार के वाद्य यंत्र, संगीत गान आदि। अनेकों विषय हैं 28 विषय तो उपलक्षण मात्र हैं गहराई से देखें तो इंद्रिय विषयों की कुछ सीमा नहीं इन सब विषयों में प्रवृत्ति कराने वाला मन होता है। जो विषयों का दास आत्मा को बना देता है।

परंतु ये सभी इंद्रियों के विषय जीवों की हिंसा से सहित होते हैं जिन-2 पदार्थों का हम उपभोग करते हैं वे सारे पदार्थ इत्र, फुलेल आदि हजारों, लाखों जीवों की हिंसा से निर्मापित होते हैं। अतः पाप के बीज है। आप जितने इंद्रिय विषयों का सेवन करेंगे उतने ही पाप में डूबते जायेंगे क्योंकि 'इंद्रिय विषयों' के सेवन से 1. द्रव्य हिंसा 2. भाव हिंसा। दोनों प्रकार की हिंसा होती है। लाखों प्राणी मरते हैं यह तो द्रव्य हिंसा हुई। तथा ये इंद्रिय विषय आत्मा को स्वभाव से हटाकर विभाव में ले जाते हैं इसलिए ये इंद्रिय विषय भावहिंसा के भी हेतु हैं और हिंसा-पाप का मूल हेतु है और हिंसा पाप तो प्रधानता से कहा गया है सूक्ष्मता से देखे तो पापों पाप इंद्रिय विषयों के निमित्त ही होते हैं इसलिए ये इंद्रिय विषय पापों की जड़ है आचार्य पूज्यपाद महाराज ने इन इंद्रियों के विषय में अपने इष्टोपदेश ग्रंथ में कहा हैं-

आरम्भे तापकान्प्राप्तावतृप्ति प्रतिपादकान्।

अंते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः॥१७॥

अर्थात् प्रारंभिकता में ये इंद्रिय विषय संताप उत्पन्न करते हैं। प्राप्त होने पर अतृप्ति उत्पन्न करते हैं तथा अंत में बड़ी कठिनाई से छूटते हैं ऐसे इंद्रिय विषयों को कौन बुद्धिमान सेवन करेगा अर्थात् कोई नहीं। आचार्य भगवन् कहते हैं-'सुखे अनास्था श्रद्धा' जो कर्मों के पराधीन है, अंत सहित है, अनेक प्रकार के दुःखों से मिश्रित है, पाप बंध के कारण है ऐसे सांसारिक सुखों में अस्थिर रूप श्रद्धा रखना अथवा उनमें आस्था नहीं रखता 'अनाकांक्षणा स्मृता' सम्यग्दर्शन का दूसरा निःकांक्षित अंग कहा गया है।



जो व्यक्ति निःकांक्षित अंग को जीवन में अपना लेता है वह संसार के किसी भी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करता क्योंकि वह इस सत्य को जानता है कि कांक्षा करने से मिलती नहीं। वह तो प्रभु अर्चना से आने वाली पुण्य वर्गणाओं के निमित्त से स्वयं पूर्ण हो जाती है। जो प्रभु भक्ति कर्मों का क्षय कर मोक्ष फल दे सकती है क्या वह प्रभु भक्ति सांसारिक फल नहीं देगी। अवश्य ही देगी। ऐसा दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ सम्यग्दृष्टि दूसरे अंग में मजबूत हो जाता है। स्वरूप संबोधन ग्रंथ में तो आचार्य भगवन् अकलंक देव ने बहुत गहरी बात कही है वे कहते हैं-

यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

इत्युक्त्वाद् हितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

अर्थात्-जिसकी मोक्ष को पाने विषयक इच्छा भी शेष नहीं रही वह मोक्ष को पाता है ऐसा सोचकर अपना हित चाहने वालों को किसी भी प्रकार की कांक्षा नहीं करना चाहिए।

बहुत ऊँची बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि मोक्ष की भी इच्छा मत करो मात्र स्वरूप का आश्रय ग्रहण करो मोक्ष तुम्हें बिना चाहे ही मिल जायेगा। आप ही सोचिए जहाँ मोक्ष को पाने की इच्छा का भी निषेध कर दिया क्या वहाँ लौकिक इच्छाएँ रखना योग्य है। लौकिक इच्छा रखने वाला तो मोक्षमार्ग से ही बहिर्भूत है। अतः मोक्षपथ पर यदि तुम बढ़ना चाहते हो आत्म हित के इच्छुक हो तो संपूर्ण इच्छाओं का विसर्जन कर दो। जब आचार्य गण किसी को दीक्षा देते हैं तो पहला प्रश्न यही पूछते हैं? कि आप मोक्षपथ पर बढ़ना चाहते हैं तो पहले यह बताइए कि आपकी इच्छा क्या है कर्मों की क्षय की भावना रखने वाला साधक हाथ जोड़कर यही निवेदन करता है कि हे भगवन्! मैंने संपूर्ण इच्छाओं का विसर्जन कर दिया अब मेरी कोई इच्छा शेष नहीं है। दीक्षा का तात्पर्य ही है कि दी इच्छा अर्थात् जहाँ सारी इच्छाएँ छोड़ दी जाती है संपूर्ण इच्छाओं का विसर्जन कर दिया जाता है वही दीक्षा है। अर्थात् मुक्ति पथ पर बढ़ने का पात्र वही है जो संपूर्ण इच्छाओं पर विजय पा लेता है। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में उमास्वामी महाराज कहते हैं-“इच्छानिरोधस्तपः” अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना ही वास्तविक तप है। जहाँ इच्छा आकांक्षा शेष हो वह सम्यक् तप नहीं है। समयसार ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं कि ‘ज्ञानी’ वह होता है-जो संपूर्ण इच्छाओं का त्याग कर देता है अथवा जिसके कोई इच्छा शेष नहीं वही ज्ञानी है। उसके अतिरिक्त इच्छाओं से सहित संपूर्ण प्राणी जगत् अज्ञानी है।

इस प्रकार इच्छाओं का विसर्जन कर आप सच्चे आत्म सुख को पाने हेतु सम्यग्दर्शन के दूसरे अंग निःकांक्षित अंग को जीवन में अपनाएँ।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 पद्मप्रभ भगवान की जय”



प्रवचन-13

श्लोक : 13

ग्लानि छोड़ो गुणप्रीति से नाता जोड़ो

भव्य मनीषियो! न्याय-चूड़ामणी, महाप्रज्ञ प. पू. आचार्यश्री समंतभद्र न्याय के धुरंधर विद्वान् हुए जो अपने ग्रंथों में न्याय परक विश्लेषण करके अपनी बात करते हैं, पूज्य आचार्य भगवन् का हृदय करुणा से भरा हुआ है। यह आचार्यों की विशेषता होती हैं कि उनका मन प्राणी मात्र के कल्याणार्थ दयार्द्र होता है। आचार्य महाराज लोक में व्याप्त मिथ्यात्व का मर्दन करने हेतु भक्त भव्यात्माओं का ध्यान सम्यग्दर्शन की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। क्रम-2 से एक-2 अंग का विश्लेषण करते जा रहे हैं। पूज्य आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन के निःशंकित व निःकांक्षित अंग को समझाने के उपरान्त आज आचार्य भगवन् तीसरे अंग निर्विचिकित्सा अंग का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि-

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते ।

निर्जुगप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।।13।।

अन्वयार्थ-

स्वभावतः	-	स्वभाव से
अशुचौ	-	अपवित्र (किंतु)
रत्नत्रयपवित्रिते	-	रत्नत्रय से पवित्र
काये	-	धर्मात्माओं के शरीर में
निर्जुगप्सा	-	ग्लानि रहित
गुण प्रीतिः	-	गुणों में प्रीति है वह
निर्विचिकित्सता	-	निर्विचिकित्सा (अंग)
मता	-	माना गया है।

भावार्थ-स्वभाव से अपवित्र किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म से पवित्र ऐसे धर्मात्माओं के शरीर में निरादर व ग्लानि न करके रत्नत्रय रूप गुणों में प्रीति का भाव होना, निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।



भव्यात्माओ! कल हमने समझा कि जीवन में कभी भी कोई भी इच्छा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि हमारा कांक्षा भाव मुक्ति प्राप्ति में बाधक सिद्ध होता है। आज प. पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज हमें सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग निर्विचिकित्सा अंग पर ले जा रहे हैं निर्विचिकित्सा यानि-निर्गता विचिकित्सा यस्मात् स निर्विचिकित्सः, तस्या भावो निर्विचिकित्सता।

इस विग्रह के अनुसार विचिकित्सा ग्लानि को कहते हैं, जो ग्लानि से रहित है उसे निर्विचिकित्सक कहते हैं और उसका जो भाव है उसे निर्विचिकित्सा कहते हैं।

रत्नत्रयधारी धर्मात्माओं के मलिन शरीर को देख उससे ग्लानि नहीं करना चाहिए। चूंकि दिगंबर संत अहिंसा महाव्रती होते हैं। वे पानी की एक-एक बूंद की रक्षा करते हैं। इसीलिए वे स्नान भी नहीं करते क्योंकि जल की एक बूंद में धर्म की दृष्टि से (जैन सिद्धान्त की अपेक्षा) असंख्यात जीव होते हैं। तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अनछुने पानी की एक बूंद में 36,450 जीव होते हैं। तथा हमारा यह पौद्गलिक शरीर भी अनंतों निगोदियों जीवों का निवास स्थान है। जब हम नहाते हैं तो उन अनंतों जीवों की विराधना होती है इसलिए मुनिजन अस्नान मूलगुणधारी हैं वे कभी भी नहाते नहीं हैं। मात्र आहार आदि के निमित्त हाथ पैर की शुद्धि मात्र करते हैं। आप तो जब नहाते हैं तो कितना पानी ढोलते हैं 2-4 बाल्टी कोई सीमा ही नहीं वह भी अनछुना। सोचिए आप कितने जीवों की विराधना करते हैं। दूसरी बात अधिक पानी ढोलने से अनेक स्थानों पर जल समस्या बनी हुई है। यदि हम पानी का कम से कम प्रयोग करें तो 1. जल समस्या 2. अहिंसा दोनों से बच सकते हैं। संतजन वस्त्र धारण नहीं करते अतः उनका वायु व धूप स्नान तो होता ही है साथ ही लघुशंका आदि से आने के बाद कायोत्सर्ग भी करते हैं तो मंत्रस्नान भी हो ही जाता है। इसलिए वे शुद्ध, पवित्र माने जाते हैं यद्यपि शरीर का यह गुणधर्म है कि पसीना आदि तो निरंतर निकलता ही रहता है और जब उस पसीने पर धूल, मिट्टी बैठती है तो शरीर में मैल भी जम जाता है संतजन वैरागी होते हैं वे शरीरादिक के प्रति ममत्व भाव नहीं रखते इसलिए शरीर के मैल को साफ नहीं करते। न ही दूसरों से करवाते हैं। अब यदि हम Science की दृष्टि से देखें तो पसीने में बहुत से Bacteria उत्पन्न हो जाते हैं। फलतः बदबू आ सकती है। दूसरी बात सबका शरीर अलग-2 प्रकृति का होता है किसी-2 के शरीर से दुर्गंध अधिक आती है तथा किसी-2 के शरीर से कम आती है। तीर्थंकर भगवान के शरीर अतिशय सुगंधित होता है अतः सबसे अधिक सुगंध उन्हीं के शरीर से आती है तथा नारकियों के शरीर से सबसे अधिक दुर्गंध आती है क्योंकि वे पाप बहुल हैं। तिलोय पण्णत्ति में ऐसा उल्लेख मिलता है कि यदि नरक की भूमि का 1 कण यहाँ आ जाए तो 4 कोस तक के जीव उसकी दुर्गंधि से मरण को प्राप्त हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि औदारिक शरीर है तो दुर्गंध संभव है। अतः हो सकता है कि किन्हीं रत्नत्रयधारियों के शरीर से दुर्गंध आ जावे क्योंकि आचार्य भगवन् कह रहे हैं-



“स्वभावतोशुचौकाये” अर्थात् हमारा यह औदारिक शरीर सप्त धातुमय होने से स्वभाव से ही अशुचि/अपवित्र है। व निरंतर इससे मल झरता ही रहता है। वैराग्य भावना में कहा हैं।

देह अपावन अथिर धिनावन, यामैं सार न कोई।
सागर के जलसों शुचि कीजैं, तो भी शुद्ध न होई।। 18।।
सात कुधातु-भरी मलमूरत, चाम लपेटी सोहै।
अंतर देखत या सम जग में, अवर अपावन कोहै।
नवमलद्वार स्रवैं निशिवासर, नाम लिये धिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहां तहँ, कौन सुधी सुख पावै।। 19।।

अर्थात्-यह शरीर तो स्वभाव से अशुचि ही है तथा इस अपवित्र देह का संसर्ग पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। जैसे सुंदर, सुगंधित पुष्पों को यदि शरीर में धारण कर लिया जाए तो कुछ समय बाद उनकी सुंदरता/सुगंधी सब चली जाती है। कोई सोचे कि मैं स्नान कर लूंगा तो शरीर स्वच्छ हो जायेगा, दुर्गंधि चली जाएगी। परंतु यह मात्र हमारा भ्रम है। आपने भी देखा होगा गर्मी के दिनों में व्यक्ति तीन-2 बार स्नान करता है परंतु स्नान करने के 10 मिनट बाद ही पुनः पसीने की बदबू आने लगती है। कविवर कह रहे हैं दो, चार बाल्टी क्या, यदि आप सागर के जल से भी स्नान कर लोगे तो भी आपकी देह पवित्र नहीं हो सकेगी।

(रक्त) रूधिर, मांस, पीप, हड्डी, चर्म, वीर्य आदि सात प्रकार की धातुओं से निर्मापित यह देह मल की मूरत है। गंदगी से भरी है। अथवा अशुचि पदार्थों से ही बनी है मात्र ऊपर चर्म लिपटी है इसलिए वह अशुचिता हमें दिखती नहीं। यदि किसी का Accident हो जाए या कोई जल जाए और उसकी चर्म जल जाए तो इस देह का रूप इतना वीभत्स हो जाता कि आप उस ओर देख भी नहीं पायेंगे। जब हम देह के अंदर झांककर देखते हैं तो लगता है कि जितना अशुचिता इस देह में है उतनी अशुचिता संसार में अन्यत्र नहीं है। अपितु संसार के सभी शुचि पदार्थों में अपवित्रता लाने वाला यह शरीर ही है।

नवमलद्वारों से निरंतर मल इस शरीर से बहता ही रहता है, विष्ठा, पीप श्लेष्मा आदि उन अशुचि पदार्थों का नाम लेने मात्र से ही घृणा उत्पन्न हो जाए तथा जो निरंतर नाना प्रकार की व्याधियों का घर है। कहने का तात्पर्य है कि जिसका स्वभाव ही अशुचि रूप है वह शुचि कैसे हो सकता है? चाहे शरीर आपका हो या साधुसंतों का स्वभाव की दृष्टि से तो अपवित्र ही है क्योंकि सप्तमल धातुओं से बना है। परंतु आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं यद्यपि स्वभाव से शरीर अपवित्र परंतु “रत्नत्रय पवित्रिते” अर्थात् रत्नत्रय से पवित्र होते हैं। चूंकि रत्नत्रय से मंडित आत्मा उनके शरीर में



विद्यमान रहती है इसलिए मुनिजनों का शरीर पवित्र माना जाता है। जैसे जिनालय में जिनदेव की प्रतिमा स्थापित रहने से जिनालय भी पूजनीय होते हैं इसीलिए नवदेवताओं में जिनचैत्यालय भी आता है यद्यपि चैत्यालय तो ईंट, गारे से बना होता है निर्जीव है परंतु उसमें स्थापना निक्षेप से प्रतिष्ठापित की गई जिनमूर्ति विराजमान है। इस अपेक्षा से वह ईंट, गारे से बना जिनमंदिर भी पूज्यता को वो प्राप्त हो जाता है जबकि घर को नवदेवता में नहीं गिना। आप जिस मकान में रहते हैं वह पूजनीय नहीं है क्योंकि उसमें परमात्मा नहीं है बस उसी प्रकार संतों का शरीर और आपका शरीर समान होते हुए, आप का शरीर पूज्यता नहीं पाता जबकि संतों का शरीर रत्नत्रय से मंडित आत्मा के संसर्ग से पवित्रता व पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। आपके द्वारा स्नानित जल अशुचि है जबकि परमात्मा के नहवन अभिषेक प्राप्त गंधोदक को सर, माथे रखा जाता है गुरुओं के चरणोदक को सर माथे रखा जाता है। आपके मृत शरीर को शव कहा जाता है जिसे कोई हाथ भी नहीं लगाता, यदि छूने में आ जाए तो नहाना पड़ता है साथ ही सूतक भी लगता है आप अभिषेक, पूजन उस दिन नहीं कर सकते। तीर्थंकरों को जब मोक्ष हो जाता है तो उनका संपूर्ण शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है मात्र नख, केश शेष रह जाते हैं। उन नख, केशों को भी पवित्र व पूज्य माना जाता है। इंद्र उन नख, केशों का आधार लेकर पुनः तीर्थंकरों की रचना कर उस शरीर का अंतिम संस्कार विधि पूर्वक पूजन, अभिषेक पूर्वक करता है। अग्नि कुमार जाति के देव अपने मुकुट से अग्नि प्रज्ज्वलित कर दाह संस्कार करते हैं। तथा अपना अहोभाग्य सराहते हैं।

जब मुनिराजों की सल्लेखना/समाधि होती है तो उनका मृत शरीर भी पूजनीय आदरणीय माना जाता है चतुर्विध संघ उस अंतिम शरीर को योगी, सिद्ध, श्रुत, आचार्य, शांति, समाधि आदि यथा योग्य भक्तियाँ पढ़कर नमस्कार करते हैं। तथा श्रावकगण श्रीफल आदि चढ़ाकर नमस्कार करते हैं तथा जब मुनियों के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार किया जाता है। तो पहले पंचामृत अभिषेक किया जाता है फिर पूजन की जाती है पश्चात् चंदन की लकड़ी में रखकर दाह संस्कार करते हैं। कारण मात्र इतना ही है कि संतों का शरीर रत्नत्रय मंडित आत्मा के संसर्ग से मंदिर की तरह पवित्र/पूजनीय हो गया है। हम निर्वाण भूमि की पूजन करते हैं। जबकि वहाँ से मुक्ति को गये तीर्थंकर व मुनियों को कई हजार वर्ष हो चुके हैं। इसका कारण यही है कि उन महापुरुषों की पुण्य वर्गणाओं के संसर्ग से उस निर्वाण भूमि का कण-2 पावन हो चुका है। जो ऋद्धि सम्पन्न मुनिराज होते हैं उनके तो शरीर का मल भी पवित्र होता है। यदि ऋद्धि सम्पन्न मुनिराजों के शरीर संपर्कित हवा, पानी आदि किसी रोगी को छू जाए तो उसका रोग भी पूर्ण रूपेण ठीक हो जाता है।

आचार्यश्री आदिसागरजी अंकलीकर महाराज के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक माँ के बच्चे को सर्प ने काट लिया वह मूर्छित हो गया बचने के कुछ Chance नहीं थे, लोगों ने तो उसे



मृत ही घोषित कर दिया। वह माँ आचार्य आदिसागर महाराज के पास गई, उस समय महाराज ध्यान कर रहे थे अतः उस माँ ने अपने बालक को महाराज के चरणों में रख दिया, कुछ देर में बारिश होने लगी अब बारिश का पानी महाराज के शरीर से बहकर उस बालक तक पहुँचा और उस जल का स्पर्श होते ही बालक उठ कर खड़ा हो गया ऐसे लग रहा था मानो सो कर जागा हो।

तो बंधुओ! संतों के तपस्या के प्रभाव से उनकी देह भी इतनी पवित्र हो जाती है कि उससे संसर्गित जल भी पवित्र ही नहीं अपितु चमत्कारी हो जाता है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं—“निर्जगुप्सा गुण प्रीतिः” जुगुप्सा यानि ग्लानि भाव। यह नोकषाय का एक भेद है। इसके उदय से मलिन पदार्थों विष्ठा आदि में ग्लानि भाव होता है। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थ के बाह्य रूप की ओर दृष्टि न देकर अंतररूप की ओर दृष्टि देता है बाह्य पर पदार्थों से उपयोग हटाकर स्वरूप का आश्रय लेता है। विष्ठा देखकर ग्लानि नहीं करते अपितु सोचते हैं कि पुद्गल के इन परमाणुओं का स्वरूप ही ऐसा है तथा मेरा स्वभाव, दर्शन, ज्ञान स्वभावी ही है। अतः उसी में रहना मुझे योग्य है। वह अर्जुन की तरह अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हैं। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जब आध्यात्मिक दृष्टि से ग्लानि उत्पादक पदार्थों में भी ग्लानि करना दोष है तो धर्मात्माओं के शरीर को देख ग्लानि क्यों करना अपनी दृष्टि को तुम बदल दो। ग्लानि को त्याग गुणों में प्रीति उत्पन्न करो। ज्ञानी की दृष्टि गुणों पर होती है। वह गुणग्राही होता है।

एक बार अर्जुन व श्रीकृष्ण रथ पर सवार हो जा रहे थे कि अर्जुन ने मुख बिगाड़ कर कहा-भगवन्! रथ का मुख मोड़िए। श्रीकृष्ण ने कहा इतनी ग्लानि की क्या बात है पार्थ! क्या हुआ। अर्जुन गुस्से में कहते हैं- क्या सामने पड़ा वीभत्स शरीर वाला मृत कुत्ता आपको नहीं दिखता श्रीकृष्ण बोले-हे पार्थ! मुझे तो उसमें कुछ बुरा नहीं दिखता देखो तो जरा! उस कुत्ते के दाँत कितने सुंदर हैं।

बंधुओ! यह है गुणग्राहक दृष्टि। जब दृष्टि गुणों पर होती है तो बुरे से बुरे पदार्थ में भी अच्छाई दिखने लग जाती है। परंतु आज का कलिकाल बड़ा विचित्र है आज तो साधु भी साधु की निंदा करते नजर आते हैं एक दूसरे का मुख देखना पसंद नहीं करते, आपस में मिलना पसंद नहीं करते बड़ी विडम्बना है हे साधक! थोड़ा चिंतन करो यदि तुम ही अपने साधर्मों से ग्लानि करोगे तो तुम्हारा सम्यग्दर्शन सुरक्षित कैसे रह पायेगा तुम्हारे निर्विचिकित्सा अंग का पालन कैसे हो सकेगा। यदि हमारी दृष्टि बुरी है तो सारी दुनियाँ हमें बुरी नजर आती है यदि हम अच्छे हैं तो सब संसार हमें अच्छा दिखता है कहा जाता है—“आप भला तो जग भला”। अतः अपने दोषों को दूर कर दो। क्योंकि दोष हमारे ही अंदर है अतः हमें दुनियाँ दोषों से युक्त दिख रही है।

एक बार एक राजसभा में विद्वान कवियों को आमंत्रित किया गया, बड़े-2 धुरंधर आसु कवि



राज आमंत्रण पा राजसभा में पधारे उनमें से एक अष्टावक्र भी थे जिनका पूरा शरीर टेढ़ा-मेढ़ा वीभत्स था। जैसे ही वे राजसभा में पहुँचे सारी सभा में हँसी के ठहाके होने लगे विद्वान अष्टावक्र-सभा को संबोधित करते हुए अपने दो शब्दों में बोले मुझे ऐसा लग रहा है कि आज मैं चमारों की सभा में आ गया हूँ क्योंकि आप की दृष्टि मेरे गुणों पर नहीं अपितु दोष युक्त शरीर पर है। सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सभी सभासद् लज्जित थे। राजा भी कविवर की विद्वत्ता का सम्मान करते हुए क्षमा मांगते हैं।

बंधुओ! दृष्टि दोषों पर जब होती है तो गुण नहीं दिख पाते। इसीलिए साधकों को भी संबोधन देते हुए आचार्य देव कहते हैं-कि हे साधक! तुम तो दुनियाँ के लिए वह महान् आदर्श हो तुम दुनियाँ को ग्लानि त्याग का उपदेश देते हो फिर क्या आपने साधर्म्य के प्रति ग्लानि तुम्हें शोभती है। हे साधक! तुम अपने सम्यक्त्व गुण को निर्मल बनाते हुए ऐसे ग्लानि भाव का त्याग कर दो। गुणग्राहक दृष्टि बना लो। क्योंकि अनजानता में भी किया गया निर्प्रथों का अपमान महापाप बंध का हेतु बनता है। जिसका दंड हमें भव-भव में दुर्गतियों में जाकर भोगना पड़ता है।

रानी लक्ष्मीमती का उदाहरण सुप्रसिद्ध है जो कि अपने महाराजा की प्रिय, अति सुंदर पटरानी थी। एक दिन राजा अपनी प्रिय रानी के साथ मनोविनोद व क्रीड़ा में रत थे। तभी द्वारपाल आकर सूचना देता है कि महाराज! नगर में किन्हीं दिगंबर संतों का आगमन हुआ है। राजा मुनिभक्त था अतः उसने मुनिसेवा को प्राथमिकता दी परंतु उसी समय किसी राजकीय कार्य के आ जाने से राजा को बाहर जाना पड़ा वह रानी को मुनिसत्कार में नियुक्त कर विदेश चला गया। रानी बहुत सुंदर थी उसकी क्रीड़ा में अवरोध आ गया वह मुनि को देख ग्लानि पूर्ण विचार करती है कि-इन्हीं गंदे मलिन शरीर धारी मुनि के निमित्त मेरे आनंद सुखानुभूति में अवरोध आ गया है अतः उनके प्रति निरादर भाव रखती है महाराज रानी के अभिमान युक्त व नवधा भक्ति रहित मुख मंडल को देख बिना आहार लिये वन में वापस लौट जाते हैं। मुनि के अनादर के प्रभाव से लक्ष्मीमती को गलित कुष्ठ हो जाता है जिस देह के अभिमान में वह चकनाचूर थी। आज उसी देह से कुष्ठ मल फूट-फूट कर बाहर झर रहा था शरीर दुर्गंधि से भर गया, इतना वीभत्स हो गया कि कोई देखना भी पसंद न करें। राजा को जब मुनि के अपमान विषयक समाचार प्राप्त होता है तो वह रानी को देश से निकाल देता है और अंत में मरकर वह कूकरी, सूकरी, डूकरी आदि नारा पर्यायों को प्राप्त होती है।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि कभी भी रत्नत्रय से मंडित मुनिजनों, धर्मात्माओं का स्वप्न में भी अनादर/अपमान नहीं करना चाहिए कभी भी उनके प्रति ग्लानि अथवा जुगुप्सा भाव नहीं रखना चाहिए। अपितु उनके गुणों में प्रीति करना चाहिए। क्योंकि उन तपोभूतों की भक्ति ही लौकिक व पारलौकिक सुख संपदा प्रदान करती है। कहा जाता है-“भक्तेः सुंदर रूपं” अर्थात् रत्नत्रय से मंडित तपस्वियों की भक्ति से सुंदर रूप की प्राप्ति होती है तपस्वियों के गुणप्रीतिः गुणों में ग्लानि रहित



होकर प्रीति रखना ही माता “मता निर्विचिकित्स ता” निर्विचित्सा अंग कहा जाता है आचार्य भगवन् अमृतचंद्र महाराज पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रंथ में कहते हैं-

**क्षुत्तृष्णाशीतोष्ण प्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥**

क्षुधा, तृषा आदि नाना प्रकार के भावों में, नाना द्रव्यों में व धर्मात्मा पुरुषों आदि में ग्लानि भाव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार आप सभी निर्विचिकित्सा अंग को धारण कर आत्महित में प्रवृत्त हो। इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 श्री वासुपूज्य भगवान की जय”



परमार्थ स्वास्थ्य

चिद्रूपे केवले शुद्धे, नित्यानन्दमये सदा ।

स्वे तिष्ठति तदास्वस्थः, कथ्यते परमार्थतः ॥ 457 ॥ (सु.स.)

अर्थ : जो सदा चैतन्य रूप केवल पर से रहित, शुद्ध, नित्यानंद से तन्मय अपने स्वद्रव्य-शुद्धात्म तत्त्व में स्थिर रहता है वहीं परमार्थ से स्वस्थ कहलाता है।





प्रवचन-14

श्लोक- 14

अमूढदृष्टि पाता मुक्ति

भव्य मनीषियो! पूर्व गाथा में आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने रत्नत्रयधारी धर्मात्माओं में ग्लानि भाव का त्याग करने व उनके रत्नत्रय स्वरूप गुणों में प्रीति रखने की बात की। प्रायः देखा जाता है कि जो साधु स्वस्थ, जवान अथवा अच्छे प्रवचनकार हो उनके पास तो भीड़ जमा रहती है तथा जो साधु अस्वस्थ, प्रवचन पटु न हो उनके पास कोई फटकता भी नहीं। ऐसे लोगों को सावधान करते हुए आचार्य भगवन् कह रहे हैं- कि वैय्यावृत्ति के दस स्थानों में एक 'ग्लान' स्थान भी आता है। ग्लान का तात्पर्य है रोगी, अस्वस्थ साधु। कर्मोदयवशात् शरीर का अस्वस्थ होना एक सहज प्रक्रिया है। हे श्रावकों! तुम ग्लान से ग्लानि मत करो अपितु यदि तुम सच्चे सम्यग्दृष्टि हो तो ग्लानि भाव को दूर कर निर्विचिकित्सा गुण को विकसित करो। आज आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन के चौथे अंग पर पहुँच रहे हैं। अमूढदृष्टि का तात्पर्य है-मूढ़ता नहीं होना। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के विषय में मूढ़ता नहीं रखना चाहिए इसी बात को आचार्य भगवन् आगे कह रहे हैं-

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।

असंपृक्तिरनुत्कीर्ति रमूढादृष्टिरुच्यते ॥१४॥

अन्वयार्थ-

दुःखानां पथि	-	दुःखों के कारणभूत
कापथे	-	कुमार्ग में
अपि	-	तथा
कापथस्थे	-	कुमार्ग स्थितों में
असम्मतिः	-	मन से सम्मत नहीं होना
अनुत्कीर्तिः	-	वचन से प्रशंसा नहीं करना
असंपृक्तिः	-	तथा काय से विनय भक्ति नहीं करना
अमूढदृष्टिः	-	सो अमूढदृष्टि अंग



उच्यते

-

कहा जाता है।

भावार्थ-भव भ्रमण रूप दुःखों के कारण भूत कुमार्ग-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र तथा उसके धारक व प्ररूपक कुदेवादिकों में मन से सम्मति नहीं देना, वचन से स्तुति नहीं करना तथा काय से उनका आदर-सत्कार नहीं करना, अमूढदृष्टि अंग कहलाता है।

भव्यात्माओ! संसार रूपी चक्र में फंसा हुआ यह मानव प्रायः मूढ़ताओं में ही जी रहा है। सम्यक् पथ विषयक ज्ञान के अभाव में यद्वा-तद्वा प्रवृत्तियों को ही धर्म मान बैठता है। कोई पत्थरों को अपना इष्ट देव मानता है तो कोई वट-वृक्ष को देवी देवता मान उसकी पूजा करते हैं। तथा अपनी मनोति पूरी करने के लिए वटवृक्ष के चारों ओर धागा आदि बांधते हैं। ये सारी मिथ्या प्रवृत्तियाँ ही मूढ़ता कहलाती हैं। कोई गंगा में स्नान से पापों का क्षय मानता है। श्रीकृष्ण व पाँचों पांडवों के विषय में एक घटना प्रायः हिंदू शास्त्रों में मिलती है। एक बार की बात है कि पाँचों पांडव गंगा स्नान हेतु यात्रा पर जा रहे थे चूंकि श्रीकृष्ण उन्हें अत्यंत प्रिय थे अतः पांडव श्रीकृष्ण जी से आग्रह करते हैं हे तात! आप भी हमारे साथ गंगा स्नान पर चलिये। श्रीकृष्ण जी कहते हैं आपके आत्मीय स्नेह का मैं सम्मान करता हूँ परंतु राज कार्यों में व्यस्तता होने से आपके साथ आने में असमर्थ हूँ आप ऐसा करिये मेरे प्रतिनिधि के रूप में यह तुम्बी अपने साथ ले जाइए आप भी गंगा में स्नान करिये और जितने बार आप स्नान करे उतने बार इस तुम्बी को भी स्नान कराये पांडवों ने उसे स्वीकार किया और यात्रा पूर्ण कर जब वे वापस लौटे तो उन्होंने वह तुम्बी श्रीकृष्ण जी को भेंट की। श्रीकृष्ण जी ने आधी तुम्बी उन्हें भेंट में देते हुए भोजन में पकाकर खाने को कहा। तुम्बी को यात्रा का प्रसाद समझ कर पांडवों ने खुश मन से तुम्बी की साग बनायी परंतु जैसे ही मुख में डाली थूं-थूं करने लगे। श्रीकृष्णजी ने उपहास करते हुए कहा-क्या हुआ यह तो गंगा स्नान करके आयी है फिर तुम थूं-थूं क्यों करते हो? पांडवों ने उत्तर दिया यह तो बहुत कड़वी है श्रीकृष्ण? जी ने पांडवों को अभिप्राय समझाते हुए कहा-

आत्मा नदी संयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्र! न वारिणा शुद्ध्यते चान्तरात्मा। गीता।।

कि हे पाण्डु पुत्रों! तुम उस आत्मा रूपी नदी में स्नान करो जो कि संयम रूपी जल से परिपूर्ण हो, जिसमें सत्य का प्रवाह हो, जिसके शील रूपी तट हो तथा जिसमें दया रूपी उर्मिया उठ रही हो। क्योंकि गंगा में स्नान करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती।

जब यह कड़वी तुम्बी इतने बार गंगा स्नान करने से मीठी नहीं हुई तो गंगा में स्नान करके तुम्हारे पापों का क्षालन कैसे हो सकता है। अर्थात् गंगा में स्नान करने से पाप नष्ट होते हैं ऐसी जो लोक में मान्यता प्रचलित है। वह भी मूढ़ता ही है।



मूढ़ता का शाब्दिक अर्थ ही अज्ञानता है लोक में अधिकांश प्राणी जगत आज अज्ञान परक प्रवृत्ति जगत आज अज्ञान परक प्रवृत्ति करता ही देखा जाता है। कभी अज्ञानता होती है तो कभी परिस्थिति, तो कभी लोक लाज।

एक बार ऐसी ही घटना घट गई। बहुत से राजाओं को सम्राट ने अपने राज महोत्सव में आमंत्रित किया। सुंदर-2 भेटों को लेकर साफ-सुथरे नवीन वस्त्राभूषणों को धारण कर सभी राजा के राजप्रसाद की ओर बढ़ चले। उन राजाओं में एक राजा जब आगवानी के समय रथ से नीचे उतर आगे बढ़े तभी उनका पग विष्ठा से लिप्त हो गया राज प्रासाद में प्रवेश का अवसर, क्या किया जाए। तभी मंत्री ने एक उपाय निकाला उसने किसी व्यक्ति को भेज सम्मानादि के लिए पास में रखी फूलों की टोकरी मंगवा ली और राजा के पैरों पर डाल दी। राजा ने धीरे से जूती पैर से खिसका दी। मंत्री उसे ओर अधिक फूलों से तोपकर राजा के साथ आगे चला गया धूमधाम से प्रवेश हुआ, राजमहोत्सव के बाद जब सब लौटने लगे तो नजारे ही बदल गये जिस स्थान पर राजा ने मल से लिप्त जूते को फूल से ढका था उसे ढंकते हुए लोगों ने देख लिया था तो सोचा कि जिस वस्तु पर स्वयं राजा ने फूल चढ़ाये वह अवश्य ही कोई देवता होगा ऐसा सोचकर सारे जन समूह ने उस फूल के ढेर पर और अधिक फूल व श्रीफल चढ़ाना शुरू कर दिये और देखते ही देखते श्रीफल व फूलों का ढेर लग गया। जब राजा वहाँ से निकला तो देखकर आश्चर्य चकित हुआ। **‘मल भी देवता बन गया’**। हाय! रे मानव के मन में बैठी कुमति तेरे अजब नजारे है।

बंधुओ! अधिकांशतः मूढ़ता का प्रवेश जीवन में अंधानुकरण से होता है क्या उचित है क्या अनुचित। क्या योग्य है क्या अयोग्य इसका विचार किये बिना ही व्यक्ति प्रायः एक दूसरे की देखा सीखी करते हैं और मूढ़ता को जीवन में अपना लेते हैं।

एक बार की ऐसी ही रोचक घटना है एक घर परिवार कुटुम्ब में विवाह की तैयारियाँ चल रही थी और प्रायः विवाहारिक उत्सवों में पाक शाला में तरह-तरह के व्यंजन लड्डू पेड़े, कचौरी आदि बनाएँ जाते हैं। उस घर में भी व्यंजन बनाये जा रहे थे, घर के प्रमुख ज्येष्ठ महिलाओं की देखरेख में मिठाई बन रही थी, व्यंजनों की सुगंध को पाकर एक बिल्ली वहाँ बार-बार चक्कर लगा रही थी परंतु कोई न कोई वहाँ से उसे भगा देता था, एक बार बिल्ली अवसर देख पाक शाला में घुस गई, महिलाओं ने सोचा इसे भगायेगे तो व्यंजन की सामग्री में मुख मारकर सामग्री को बिल्ली अशुद्ध कर देगी ऐसा सोचकर एक वृद्ध दादी जो कि समझदार थी उसने मिठाई को बर्बाद होने से बचाने के लिए एक उपाय अपनाया और उस कुछ समय के लिए उस बिल्ली को एक बड़ी टोकनी से ढक दिया। जब सारी सामग्री दूसरे स्थान पर Transfer कर दी गई। पश्चात् बिल्ली भी चली गई। बिल्ली तो चली



गई लेकिन उस कुटुम्ब परिवार की यह परंपरा बन गई कि जब भी कोई विवाह का उत्सव होता तो पाक शाला में एक बिल्ली को टोकनी से ढ़क कर बिठा दिया जाता था।

बंधुओ! किसी ने यह नहीं सोचा कि ऐसा क्यों किया जाता है मात्र अनुसरण किया। ऐसी अंधानुकरण की परंपरा प्रायः हमारे बीच व्याप्त रहती है।

कहीं-2 पर तो देवी-देवताओं को तंबाकू, गुटखा, चरस, गांजा भी चढ़ाया जाता है क्या देवता इन अपवित्र वस्तुओं का भक्षण करते हैं। देवताओं का तो अमृत आहार होता है वह भी जब इच्छा उत्पन्न हो तो उनके कण्ठ में झरता है कल्याणक कारक पत्रिका में एक बार पढ़ने में आया कि अपनी आपूर्ति के लिए देवों को अंग, शराब आदि अपवित्र वस्तुएँ चढ़ा दी जाती है। कोई-2 देवताओं को डबल रोटी चढ़ाते हैं। तो चिंतन का विषय है कि यदि देवताओं को डबल रोटी ही खाना है तो किसी बेकरी वाले को आशीर्वाद दें देगे तो पूरी बेकरी खाने मिल जायेगी आपकी डबल रोटी के वे भूखे नहीं हैं।

कोई कहता है जब आपके भगवान क्षुधा तृषाजयी है तो आप चावल क्यों चढ़ाते हैं तो वह इसलिए चढ़ाया जाता है कि पूज्य पुरुषों का दर्शन कभी भी खाली हाथ नहीं किया जाता। वैद्य, ज्योतिषी, गुरु, परमात्मा का दर्शन/भेट कभी खाली हाथ नहीं करना चाहिए ऐसा सुभाषित कारों ने कहा है इसीलिए हम अपने सच्चे देव को चावल चढ़ाते हैं। वे हमारे चावल खाते नहीं हैं क्योंकि वे तो क्षुधा तृषादिक 18 प्रकार के दोषों से रहित होते हैं। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति मूढ़ताओं पर मूढ़ताएँ करता चला जाता है। तथा कभी-2 अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए पत्थर को भी परमात्मा बना दिया जाता है।

एक बार की घटना है एक व्यक्ति अपने कार्यवशात् जिस रास्ते से होकर गुजरता था उस रास्ते में बहुत सारे पत्थर पड़े थे जिससे उसे रास्ता पार करने में बहुत परेशानी होती थी वह व्यक्ति बहुत समझदार था अतः उसने रास्ते में आने जाने वालों में यह अफवाह फैला दी कि जो कोई भी व्यक्ति इन रास्ते के पत्थरों को उठाकर किनारे रखेगा देवता उससे प्रसन्न हो जायेगे तथा उसकी मनोकामना को पूरी कर देंगे। जहाँ मनोकामना पूरी होने की बात हो वहाँ तो भीड़ अपने आप इकट्ठी हो जाती है। लोगों ने शीघ्रातिशीघ्र सारे पत्थर किनारे कर दिये। उस व्यक्ति की समस्या तो सुलझ गई परंतु जो पत्थर किनारे किये गये थे अंधविश्वासी जनता ने उसे ही परमात्मा स्वीकार कर लिया और उन पत्थरों को परमात्मा मान एक मंदिर ही बना डाला।

बंधुओ! यही मूढ़ता कहलाती है। कभी-2 व्यक्ति अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं कर पाता और दूसरों के बिछाये जाल में फंस कर मूढ़ताओं का सेवन करने लगता है।



देव में अदेव या कुदेव में देव बुद्धि रखना यह तो देव मूढ़ता कहलाती है तथा कुत्सित मार्ग का वर्णन करने वाले छोटे शास्त्रों का पढ़ना अथवा हिंसा करने को धर्म मानना, शास्त्रों में हिंसा को ही धर्म कहा है देव सुरापान करते हैं, मांस खाते हैं इत्यादि वचनालाप करने वाले छोटे शास्त्र पढ़ना आगम मूढ़ता है तथा शरीर में कोड़ों व चाबुकों की मार लगाने वाले, अग्नि लगाकर बीच में बैठकर तप करने वाले, राख खाकर जीवित रहने वाले पाखंडी साधु को गुरु मानना यह गुरु मूढ़ता कहलाती है।

जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु विषयक ज्ञान व्यक्ति को नहीं होता है तो वह मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है। इसीलिए पहला विशेषण आचार्य भगवन् ने पहला विशेषण देते हुए कहा है कि-“**कापथे पथि दुःखानां**” ‘कुत्सितः पथः इति कापथः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुत्सित पथ है, कुमार्ग है, उन्मार्ग है वही कापथ है। शास्त्रों में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र्य को कापथ कहा है ये तीनों ही दुखों को देने वाले हैं। इन तीनों में तथा ‘**कापथस्थे**’ कुमार्ग में स्थितों में ‘**असम्पत्तिः**’ अर्थात् मन से सम्पत्ति नहीं होना चाहिए। मन से कभी भी मिथ्यात्व का पोषण हो ऐसा मिथ्यामार्ग की प्रशंसा उनकी सम्पत्ति परक विचार मन में नहीं लाना चाहिए यथा-कितना अच्छा आराम का मार्ग है इनको कोई कष्ट नहीं, कोई बांधा नहीं, इन मिथ्या मार्गियों के देवी देवता तो मन चाहा वर, धन पैसा देते हैं। इनके गुरु तो कारणों में घूमते हैं फिर भी दुनियाँ सम्मान देती है यह बहुत अच्छा मार्ग है इस प्रकार मिथ्यामार्ग की सम्पत्ति प्रशंसा विषयक विचार कभी मन में नहीं लाना चाहिए।

अरे! सोचों यदि देवी-देवता दूसरों को वर देते हैं, मन चाहा धन पैसा देते हैं तो स्वयं संसार में क्यों है उन्हें भी मुक्त हो जाना चाहिए था। तथा जो कार हजारों लाखों जीवों की हिंसा का हेतु है जिसमें बैठकर साक्षात् संज्ञी पंचेन्द्रिय के प्राण पखेरू उड़ सकते हैं क्या आप उस हिंसा के मार्ग की सराहना कर रहे हैं। यदि ऐसा है तो नियम से आप भी उस पाप के भागी होंगे अतः कभी भी मिथ्यामार्ग व मिथ्यामार्गियों की मन से सम्पत्ति नहीं देना। दूसरा विशेषण है-

अनुत्कीर्तिः- अर्थात् कुमार्ग तथा कुमार्ग स्थितों की वचनों से प्रशंसा नहीं करना। कभी-2 चमत्कारों के चक्कर में फंसा हुआ मनुष्य सही गलत का निर्णय नहीं कर पाता और वचनों पर काबू न रख पाने के कारण शीघ्रता से चमत्कारों से प्रभावित होता है। एक जादूगर को देखों पल भर में लाखों के नोट बरसा देता है। हम बड़े प्रभावित हो जाते हैं परंतु थोड़ा सोचो यदि उसके पास इतनी ही जादुई शक्ति है तो उसे सबसे पहले अपनी दरिद्रता दूर करना चाहिए क्यों वह रोजी रोटी कमाने दर-दर भटकता फिर रहा है।

चमत्कारों में बहकर व्यक्ति मिथ्यापथ की विवेक विहीन होकर वचनात्मक प्रशंसा भी कर देता



है कि धन है अमुक का मंदिर कितना सुंदर है कितना भव्य है। अमुक साधु तो बड़ी कला कुशलता से कमाई कर लेते हैं। यह सब वचनात्मक प्रशंसा है जो कि सम्यग्दर्शन को मलीन करती है। अतः उन्मार्ग की कभी वचनात्मक प्रशंसा नहीं करना चाहिए।

असंपृक्ति:- अर्थात् उन्मार्ग गामिक्यों की काय से विनय भक्ति नहीं करना। परंतु कभी-2 व्यक्ति लोक प्रशंसा में पड़कर उन्मार्ग की कायिक विनय में लग जाता है किसी मिथ्यामार्गी की लोक में बहुचर्चा है प्रशंसा है नाम है तो व्यक्ति उसे आदर सम्मान हेतु उसके आने पर खड़ा हो जाता है हाथ जोड़ लेता है यह सब काय से की गई विनय भी सम्यग्दर्शन को मलीन करती है क्योंकि सम्यग्दर्शन के पांच अतिचारों में से दो 1. अन्यदृष्टि प्रशंसा 2. अन्यदृष्टि संस्तव कही है। अर्थात् कुमारगामियों की मन से अनुमोदना तथा वचनों से स्तुति करने से हमारा सम्यग्दर्शन मलीन हो जाता है।

जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होते हैं वे किसी भी परिस्थिति में कभी भी उन्मार्ग व उन्मार्गगामी की मन, वचन, काय या कृत, कारित, अनुमोदना से सम्मति: नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यदि आज कोई मिथ्यादृष्टि धन संपन्न या वैभव यश युक्त दिख रहा है तो यह उसके पूर्वोपाजित पुण्य कर्मों का ही उदय है परंतु वर्तमान में तो वह मिथ्यामार्ग का ही सेवन कर रहा है अतः नियम से दुर्गति का ही पात्र बनेगा।

अथवा मिथ्यामार्ग के सेवन जन्य पाप को ही भोगेगा और यदि कोई सन्मार्गगामी धर्मात्मा यदि दुःखी दरिद्रता से युक्त नजर आ जाए तो वह यही विचार करता है कि अवश्य ही यह इसके पूर्वोपाजित पाप कर्मों का फल है परंतु आज जो यह सन्मार्ग का सेवन कर रहा है अतः नियम से उसके अच्छे फल को प्राप्त करेगा ऐसा सम्यक् चिंतन करता हुआ वह ज्ञानी संपूर्ण मूढ़ताओं पर विजय प्राप्त कर अमूढ़दृष्टि अंग का धारी हो जाता है।

यहाँ पर कुमार स्थिति की प्रशंसा किस प्रकार नहीं करना यह बात महत्वशाली है उदाहरण के लिए-एक मनुष्य धार्मिक दृष्टि से किसी ऐसे मत का अनुयायी है, जिसे कुमार समझना चाहिए। परंतु वह राज्य के राज्यमंत्री या रक्षामंत्री आदि किसी ऊँचे पद पर आसीन है और उसने उस पद पर आसीन होकर बड़ी योग्यता से, ईमानदारी पूर्वक कार्य करके प्रजाजनों को शांति पहुँचायी है, इस दृष्टि से यदि कोई सम्यग्दृष्टि उसकी प्रशंसादिक करता है, तो उसमें उसके सम्यग्दर्शन में कोई बाधा नहीं आती। बाधा तब ही आयेगी जबकि वह कुमार में स्थित के रूप में उसकी प्रशंसादिक करेगा।

इस प्रकार मन, वचन, काय से मिथ्यामार्ग की सम्मति न देने वाला ही 'अमूढ़ दृष्टि उच्यते' अमूढ़ दृष्टि अंग का धारी कहा जाता है पुरुषार्थ सिद्धियुपाय ग्रंथ में आचार्य अमृतचंद्र महाराज कहते हैं-



लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।

नित्यमपि तत्त्वरूचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ।। 26 ।।

लोक में मिथ्याशास्त्र, मिथ्या धर्म व मिथ्या देवी-देवताओं को छोड़कर तत्त्व में अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र गुरु में रूचि रखना । श्रद्धा, आस्था रखना चाहिए । ऐसी ही रूचि रखने वाला अमूढदृष्टि अंग का धारी होता है ।

आप भी ऐसी पुनीत अंग को अपने जीवन में धारण करें ।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”



वे परमात्मा बन जाते हैं

यथा लोहं सुवर्णत्वं, प्राप्नोत्यौषधयोगतः ।

आत्म ध्यानात्तथैवात्मा, परमात्मत्वश्नुते ।। 45 ।।

अर्थ : जिस प्रकार औषध के प्रयोग से लोहा सुवर्णत्व को प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मध्यान से परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है । परमात्मा बन जाता है ।



प्रवचन-15

श्लोक: 15

दोष वादे च मौनम्

भव्य मनीषियो! मूढ़ताओं के त्याग के उपदेश के बाद आज आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन के पांचवे अंग उपगूहन की ओर बढ़ रहे है। इसके पूर्व हमने देखा था कि अन्यदृष्टि प्रशंसा व अन्य दृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन में अतिचार रूप दोष उत्पन्न करते है जिनके त्याग की बात कही गयी परंतु आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि अनुपगूहन-तो सम्यग्दर्शन का समूल नाश ही कर देता है। इसलिए इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। उपगूहन अंग सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतीक है। उपगूहन अंग से ही सम्यग्दृष्टि की पहचान हो जाती है। जो सम्यग्दृष्टि होगा वह नियम से उपगूहन करेगा और यदि उपगूहन नहीं हो रहा है तो समझो कि वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

इसी बात को आचार्य भगवन् समंतभद्र आगे कह रहे हैं-

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाऽशक्त जनाऽऽश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

अन्वयार्थ-

स्वयं शुद्धस्य	-	स्वभाव से पवित्र
मार्गस्य	-	मोक्ष मार्ग की
बालाऽशक्त जनाऽऽश्रयां	-	अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के निमित्त
वाच्यतां	-	से उत्पन्न हुई निंदा को
यत्प्रमार्जन्ति	-	जो दूर करता है
तत्	-	उसको
उपगूहनम्	-	उपगूहन अंग
वदन्ति	-	कहते है।



भावार्थ-स्वभाव से पवित्र जैनधर्म व मोक्षमार्ग की उसके पालन करने वाले जीवों से कदाचित् अज्ञानता या असमर्थतावश कोई गलती हो जावे तो उसे ढाँककर जैनधर्म को सुरक्षित रखना, सो उपगूहन नाम का सम्यग्दर्शन का पाँचवा अंग है।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् यहाँ कह रहे हैं कि मार्ग कभी गलत नहीं होता, धर्म बुरा नहीं होता यदि मार्ग ही गलत होने लग जाए तो रास्ता ही बिगड़ जायेगा। आचार्य भगवन् कह रहे हैं “स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य” मोक्षमार्ग स्वयं स्वभावतः ही शुद्ध है। परंतु लोग अज्ञानतावशात् मोक्षमार्ग की हंसी करने लगते हैं कि ऐसा मोक्ष होता है ऐसे व्यक्ति चलते-फिरते जटिल कर्म बांध लेते हैं ऐसा भी धर्म होता है ध्यान रखिये! धर्म कभी गलत नहीं होता अन्यथा धर्म संज्ञा ही गलत हो जायेगी यदि धर्म ही गलत होने लग जाए तो सही फिर क्या होगा। हाँ उस धर्म पर चलने वाले कदाचित् गलत हो सकते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं-‘बालाऽशक्त जनाऽऽश्रयाम् वाच्यतां’ कि बाल व अशक्त जनों के द्वारा गलती हो सकती है बाल यानि अज्ञानी जन यहाँ पर 4 प्रकार के बालों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है 1. दर्शन बाल 2. ज्ञान बाल 3. चारित्र बाल 4. तप बाल।

1. दर्शन बाल-जिनका सम्यग्दर्शन मजबूत नहीं है, श्रद्धा, आस्था ङगमगाती रहती है। अस्थिर श्रद्धा, अस्थिर रुचि होती है। यूँ तो मंदिर सभी जाते हैं प्रतिदिन भगवान का अभिषेक, पूजन करते हैं। परंतु जब कुछ बिगड़ जाता है तो वचनावली बदल जाती है कि मैंने भगवान की इतनी पूजा, भक्ति की और मुझे क्या मिला, मेरा सारा धन नष्ट हो गया, अपितु जिंदगी बीत गई सेवा करते करते परंतु मेरा अमुक रोग तक ठीक नहीं हुआ क्या होता भगवान की पूजन से, अभिषेक से। इतनी सेवा करने पर भी विकलांग बच्चा पैदा हुआ, क्या लाभ पूजन से। आपकी श्रद्धा पेन्डुलम की तरह डुल रही है अस्थिर है दर्शन में जो गाढ़पना, प्रकर्षता होनी चाहिए वह नहीं है ये ही दर्शन बाल कहलाते हैं तथा उनके कारण ही मोक्षमार्ग की निंदा संभव है। दूसरे ज्ञान बाल है।

2. ज्ञान बाल-बहुत से लोगों को धर्म के विषय में सम्यक् रूपेण ज्ञान ही नहीं होता। क्या हमारे भगवान ने कहा है, क्या आचार्यों ने कहा उनका Basic Fundamental ही Clear नहीं होता कि तत्व का सार क्या है और प्रवचन करने बैठ जाते हैं-बंदर की तरह एक झाल से दूसरी दूसरी झाल पर कूदते रहते हैं परंतु तत्व का सार मालूम ही नहीं पड़ पाता कि क्या विषय चल रहा है क्या सार भूत बात है। ऐसे लोग यद्वा-तद्वा वचनालाप कर धर्म की हंसी करा देते हैं। फिर बुराई प्रारंभ हो जाती है एक से दूसरे दूसरे से तीसरे में बुराई से बुराई बढ़ती जाती है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि यदि आपको आगम का अधिक ज्ञान नहीं है। तो कोई बात नहीं आप मौन रहिये, मौन रहने में कुछ हानि नहीं। अथवा यदि आपको किसी विषय में जानकारी न हो तो आप स्पष्ट कह दीजिए मुझे



इस विषय में जानकारी नहीं इस में भी कुछ हानि नहीं अधिक से अधिक व्यक्ति यही कहेगा कि महाराज को जानकारी नहीं परंतु यदि आप ने कुछ का कुछ बता दिया तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा, या तो वह सामने वाला भटक जायेगा अथवा यदि सामने वाला ज्ञानी है तो वह आपके निमित्त से धर्म की हंसी उड़ायेगा कि जैन संतों को इतना भी ज्ञान नहीं होता क्या। आप चर्चा का विषय बनकर धर्म की हंसी का स्थान बनेंगे।

3. चारित्र बाल-बहुत से लोग संयम तो धारण कर लेते हैं परंतु उसका पालन नहीं कर पाते मुझसे सहन नहीं होता, सामायिक, प्रतिक्रमण में घंटे-2 भर नहीं बैठ सकता, लोग कहते हैं हमसे अमुक साधना नहीं होती फलतः प्रमाद व स्वेच्छाचार का भाव आ जाता है। चारित्र बाल की प्रमादी चर्या धर्म की हंसी का हेतु बनती है परंतु जो चारित्र में मजबूत होते हैं वे यदि हंसी-2 में भी संयम ग्रहण करते हैं तो प्राणपन से उसका पालन करते हैं। उदाहरण बह्मगुलाल है जिन्होंने खेल-खेल में संयम धारण किया था परंतु एक बार धारण करने पर फिर छोड़ा नहीं। कुछ लोग हंसी में खेल-2 में संयम धारण कर लेते हैं किंतु बाद में बोलते हैं कि अब हमसे सहन नहीं हो रहा मुझे मालूम होता कि यहाँ मुझे इतना कष्ट सहना पड़ेगा तो मैं कभी नहीं आता। इतनी सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय करना पड़ता है संयम में चारित्र के प्रति ढील रखने वाला ही चारित्र बाल है।

4. तप बाल-तप धारण करके भी जिनका आचरण शुद्ध नहीं होता। तप के अनुसार आत्म विशुद्धि नहीं हो पाती। यह तप बाल है।

इन बाल जनों के द्वारा धर्म की निंदा संभव है। दूसरे लोग “आशक्त जन” हैं जिनकी शक्ति नहीं है, स्वास्थ्य खराब है जिस कारण उनके दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उत्कृष्ट रूप से पालन नहीं हो पाता। चारित्र में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं उन अशक्त जनों के द्वारा भी मोक्षमार्ग का उपहास हो सकता है। क्योंकि संसार में नाना जीव हैं तथा उनके नाना विचार हैं फिर हम किसी के मुख पर ताला भी तो नहीं लगा सकते। किसी बात को तूल देना आसान है दूसरे की आलोचना करना आसान है। परंतु दूसरी की परिस्थिति को समझना कठिन है। व्यक्ति बुराई करने जल्दी तैयार हो जाते हैं। धजी का सांप और राई का पहाड़ बना देते हैं। व्यक्ति दूसरों की निंदा में बड़ा रस लेते हैं।

फलाने ऐसे ढिकाने वैसे और बड़ी-2 बातें बना देते हैं और अंत में पता चलता है कि बात कुछ नहीं थी। एक माँ तथा उसका एकलौता बेटा था। एक बार माँ अचानक बीमार पड़ गई-बेटा अपनी माँ को लेकर शहर ईलाज के लिए लाया। डॉक्टर को दिखाया, डॉक्टर ने पीने के लिए एक शीशी दवा दी परंतु माँ पीने को तैयार नहीं हुई। बेटे ने बहुत समझाया यदि तूने यह दवा नहीं पी



तो तू स्वस्थ न हो सकेगी इसलिए दवा तो पीना ही पड़ेगी उसने जिद्द कर जबरदस्ती दवा पिलाना चाही। अब देखने वालों ने कहा-कैसा लड़का है दवा है कि शराब किसी ने कहा दवा है कि जहर जो जबरदस्ती अपनी माँ को पिलाना चाहता है। एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और फैलते-2 पूरे गाँव में फैल गई। पत्नि भी गाँव से आ गई पूछा गया क्या बात है पता चला कि दवा लेना जरूरी है पर माँ नहीं पीती। धीरे-2 उस बात का जैसे-तैसे समाधान हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि बात कुछ की कुछ हो जाती है और लोक अपवाद का कारण बन जाती है।

यदि हम सीताजी के पूर्व भव पर दृष्टिपात करें तो अपने पूर्व भव में सीताजी ने एक मुनि व एक आर्यिका को पारस्परिक चर्चा करते हुए उन पर चारित्रिक दोष मढ़ दिया तथा यह चर्चा सब ओर फैला दी जबकि वे मुनि व आर्यिका पूर्व गृहस्थावस्था के भाई-बहिन ही थे तथा एक दूसरे के रत्नत्रय की क्षेमकुशल पूछ रहे थे। राई का पहाड़ बनने में तो पल भर भी नहीं लगता परंतु जब पहाड़ बन जाता है तो उसे तोड़ने में भव-भव धारण करने पड़ जाते हैं। मुनि, आर्यिका के अपवाद से बंधने वाले कर्मोदय वशात् ही सीता को धोबी द्वारा लोकापवाद का दुष्परिणाम वन में रहकर भोगना पड़ा, अग्नि परीक्षा देनी पड़ी तथा बहुत अपमान व तिरस्कार भी सहना पड़ा। इसीलिए कहा जाता कि कभी किसी धर्मात्मा पर लांछन व दोषारोपण मत करो। यदि कोई दोष दिख भी जाए तो अपने विवेक से समाधान निकालो, परंतु निंदा हरगिज मत करो। सोचो तुम्हारे द्वारा धर्मात्मा की निंदा से उस साधर्मी का भला तो होगा नहीं अपितु धर्म की हंसी और होगी। जो विवेकवान होते हैं वे उचित समाधान खोज ही लेते हैं।

रानी चेलना जो शुद्ध शीलवती सम्यक्त्व में सुदृढ़ थी। उसने अपनी बड़ी बहिन ज्येष्ठा जो कि आर्यिका अवस्था में थी। कर्मोदय वशात् उसका संसर्ग किन्हीं मुनि से हो जाने के कारण वह गर्भवती हो गई। उस समय रानी चेलना ने ज्येष्ठा के दोष का उपगूहन करने हेतु उन्हें अपने महल में ही रखा तथा गूढ़ रूप से परिचर्या की तथा समय पूर्ण होने पर उसकी संपूर्ण परिचर्या की तथा पुनः अपनी बहिन को उसके व्रतों में सुदृढ़ किया वापस आर्यिका दीक्षा दिलवायी।

सोचिए! उनका सम्यक्त्व कितना निर्मल होगा कोई होता तो उपहास करता अथवा निंदा करता खरी खोटी सुनाता। परंतु आयी विपत्ति में आगे के समाधान का उपाय कोई नहीं बतलाता। चेलना ने तो स्वयं सेवा की यह कोई छोटी बात नहीं अपितु उसके शुद्ध, निर्मल सम्यग्दर्शन की परिचायक है। उपगूहन अंग का धारी इतना मजबूत हृदय वाला होता है कि वह छोटी-2 समस्याओं से घबराता नहीं। अपितु हो रही धर्म की निंदा को येनकेन प्रकारेण दूर करने का पूरा प्रयत्न करता है।



आम तौर पर जो विद्रोही, ईर्ष्यालु लोग होते हैं वे अपनी कषाय की पूर्ति के लिए कुछ भी कुकृत्य करने तैयार हो जाते हैं महाव्रतियों पर भी निर्दोष होते हुए भी चारित्रिक दोषारोपण करने से नहीं चूकते। पत्राचार, माईक, मीडिया का दुरुपयोग अपनी कषाय पूर्ति में करते हैं। अजीबो गरीब हत्कण्डे अपनाते हैं। मुनियों तथा आचार्यों पर भी अंगुली उठाने से नहीं चूकते। फिर दुनियाँ तो दुनियाँ है बुराई सुनने व ग्रहण करने के सहज संस्कार होते हैं बुराई या फैलाई हुई अफवाह के शमन में तो वर्षों वर्ष लग जाते हैं। परंतु बुराई तो बिजली के करंट की तरह फैलती है। बुराई पर यकीन दुनियाँ शीघ्रता से कर लेती है अच्छाई को 100 बार भी कहोगे तो जूँ तक नहीं रेंगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा की निंदा आसान है परंतु उस कलंक को धोना बहुत कठिन है। अतः ऐसा निकृष्ट निंद्य कार्य कभी नहीं करना चाहिए। तथा जो ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं वे मुनि निंदा के दुष्परिणामों से शायद परिचित नहीं हैं। मुनि निंदा का परिणाम भयंकर गलित कुष्ठ होता है तथा अंत में कूकर, सूकर आदि दुर्गतिओं को भोगता हुआ यह जीव नरकगामी बनता है दुर्गंधा व रानी लक्ष्मीवती की कहानी शास्त्रों में आती है कि किस प्रकार मुनि के अपमान के प्रभाव से नाना कुयोनियों में जाकर उन्होंने दुःख भोगा। बुराईयों में फंसना आसान है परंतु उससे निकलकर सन्मार्ग पर लगना कठिन है। अतः बुराईयों से बचने का प्रयत्न व प्रयास करना चाहिए। यहाँ उपगूहन अंग की बात चल रही है शास्त्रों में उपवृंहण शब्द भी आता है। जिसका अर्थ है-आत्म गुणों की वृद्धि करना।

यदि आप दूसरों की निंदा करने, सुनने में ही लगे रहेंगे तो आत्मगुणों की वृद्धि संभव नहीं इसलिए आचार्य भगवन् ने कहा-कि यदि आपको अपना सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाना है व आत्म गुणों में वृद्धि करना है तो सबसे पहले “दोष वादे च मौनम्” अर्थात् दोषों के कहने में मौन यह सूत्र जीवन में अपना लीजिए। जितना बने अपने साधर्म्य के दोषों को ढंको तथा बाद में विवेक पूर्ण ढंग से समझा दो ऐसा करने से आपके गुणों में वृद्धि होगी परंतु यदि धर्मात्मा की निंदा की तो जो गुण तुम्हारे अंदर हैं वे भी चले जायेंगे। पुरुषार्थ सिद्धियुपाय ग्रंथ में उपगूहन अंग के विषय में आचार्य भगवन् अमृतचंद्र महाराज कहते हैं-

धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम् ॥

मार्दव आदि भावों से सदा आत्मा में धर्म की अभिवृद्धि करना तथा पर के दोषों को ढंकना यह सम्यग्दर्शन का पांचवा उपवृंहण/उपगूहन अंग है।



यहाँ आचार्य भगवन् ने 1. निज गुणों की वृद्धि 2. तथा पर दोषों को ढांकने की बात कही है। दोनों की बाते परस्पर में Inter-related है। आप यदि अपने साधर्मी के दोषों को चार लोगों के सामने ढंककर धर्मरक्षा का कार्य करेंगे तो नियम से आपके निजात्म गुणों की वृद्धि ही होगी और तभी आपके अंदर उपगूहन अंग का प्रवेश हो सकेगा।

बाल यानि अज्ञानी, हिताहित के विवेक से शून्य तथा अशक्त जन यानि-बाल्यावस्था, वृद्धावस्था या रूग्णावस्था के कारण जो व्रतों का निरतिचार पालन करने में असमर्थ है। उसे अशक्त कहते हैं। ऐसे बाल व अशक्त मनुष्यों के आश्रय से रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक पुरुष में आये दोषों को 'यत्प्रमार्जन्ति' जो दूर करता है। "तद्वदन्त्युपगूहनम्" उसे उपगूहन अंग कहते हैं।

इस प्रकार उपगूहन अंग को अच्छी तरह समझकर उसे जीवन में अपनाकर अपने आत्म हित में प्रवृत्त हो।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मुनिसुव्रत नाथ भगवान की जय”

आत्म चिंतन से लाभ

बुभुक्षामत्सरानङ्ग, मानमाया भयक्रुधाम् ।

निद्रालोभादिकानां च, नाशः स्यादात्मचिन्तनात् ॥ 459 ॥ (सु.स.)

अर्थ : आत्मा का चिंतन करने से क्षुधा, मात्सर्य, काम, मान, माया, भय, क्रोध, निद्रा तथा लोभादिक का नाश होता है।





प्रवचन-16

श्लोक- 16

स्थितिकरण कर करें सम्यग्दर्शन का वर्धन

भव्य बंधुओ! सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में 6 वां स्थितिकरण अंग कहा गया है। 'स्थितिकरण' में जो 'च्वि' प्रव्यय हुआ है वह अभूत तद्भाव अर्थ में हुआ है इसलिए 'अस्थितस्य स्थितिकरणं स्थितीकरण' ऐसा उसका विग्रह होता है। अस्थित दर्शन आदि से विचलित होते हुए पुरुष का फिर से स्थित कर देना स्थितिकरण है। जो स्थित नहीं है उसे स्थित कर देना अर्थात् गिरते को उठा लेने का नाम स्थितिकरण है। उत्तम तरीका तो यह है कि यदि कोई गिर रहा है तो उसे इतना सावधान कर देना कि वह गिर ही न पाये। दूसरी बात है कि जो गिर गया है उसे उठा लेना। अपेक्षा अपेक्षा में अंतर है। मान लीजिए-जैसे कि कोई अस्वस्थ है, उसे चक्कर आ रहे हैं, बहुत कमजोरी है जब वह चलने की कोशिश करता है और उसके गिरने की संभावना है तो उत्तम तरीका तथा आपका उसके प्रति स्नेह भाव यही है कि गिरने के पहले ही आप उसे हाथ का सहारा दे दे। गिरने के बाद संभालना बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, कोई गिर ही न पाये ऐसा उपाय निकालना चाहिए। माना कोई गरीब वृद्ध रोड़ पार कर रहा है सामने से बहुत से वाहन गाड़िया आ रही हैं और वृद्ध होने से गति भी कम है अब महत्वशाली बात यह है कि आप एक्सीडेंट होने से पूर्व ही उसकी संभाल कर ले हाथ का सहारा दें रोड़ पार करा दें। एक्सीडेंट होने या गिरने के बाद आपने हाथ का सहारा दिया, संभाला तो कोई विशेषता नहीं।

स्थितिकरण अंग को विशेष रूप से समझाते हुए आचार्यभगवन् आगे कहते हैं कि-

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ-

दर्शनात्	-	सम्यग्दर्शन से
वा	-	अथवा



चरणात् अपि	-	सम्यक्चारित्र से भी
चलतां	-	डिगते हुए जीवों को
प्राज्ञैः धर्मवत्सलैः-		उन्हें उस विषय में दक्ष एवं धर्म से
प्रत्यवस्थापनं	-	प्रेम रखने वाले स्त्री-पुरुषों के द्वारा फिर उसी में
स्थितीकरणम्	-	स्थित कर देना स्थितिकरण अंग
उच्यते	-	कहा जाता है।

अर्थ-यदि कोई साधर्मी जन सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हो रहा हो तो उस विषय के ज्ञाता बुद्धिमान, धर्म प्रेमियों के द्वारा उसकी अस्थिरता, चलचित्तता, खलना एवं डँवाडोल स्थिति को दूर करके उसे पुनः सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में स्थित कर देना, सो स्थितिकरण नामक छटवाँ सम्यग्दर्शन का अंग है।

भव्य मनीषियो! पूर्व श्लोक में आचार्य भगवन् ने सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग के माध्यम से बतलाया था कि पहले अपने साधर्मी के दोषों को ढंकना चाहिए क्योंकि चार लोगों के सामने यदि दोषों को नहीं ढंका तो वह धर्म की निंदा का स्थान बनेगा इसलिए उपगूहन अनिवार्य है। उपगूहन के पश्चात् एकांत में उसे प्रेम से समझाना चाहिए। देखें यदि तुम ऐसी परिचर्या रखोगे तो क्या तुम्हें धर्म से होने वाला समीचीन फल मिल पायेगा अथवा आपकी ऐसी परिचर्या धर्म की अप्रभावना में हेतु बनेगी। इस प्रकार जैसे-वैसे अपने साधर्मी को जो दर्शन या चारित्र से चलायमान हो रहा है उसे पुनः उसी दर्शन व चारित्र में स्थिर कर देना यह स्थितिकरण है। चूंकि उपगूहन पूर्वक ही स्थितिकरण का होना संभव है इसलिए आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने उपगूहन के पश्चात् स्थितिकरण अंग को रखा है। स्थितिकरण दो प्रकार से होता है- 1. स्व स्थितिकरण 2. पर स्थितिकरण

1. स्व स्थितिकरण-संयम धर्म की साधना करते हुए जीवन में अनेकों कष्टों/तकलीफों का सामना हो जाता है, जीवन में अनेकों उपसर्ग/परीषह आते हैं। तथा उन उपसर्ग व परीषहों के आने पर कभी-2 साधक घबरा जाते हैं और दर्शन व चारित्र से विचलित होने की संभावनाएँ निर्मित हो जाती हैं। ऐसे समय में साधक महापुरुषों के जीवन चरित्र का आश्रय ग्रहण करते हैं एक वे भी तो साधक थे, श्यालिनी भक्षण करती रही, फिर भी ध्यान चलता रहा। शेरनी ने खा लिया फिर भी चेहरे पर सौम्यता थी सिर पर जलती सिगड़ी जला दी गई फिर भी वे तो ध्याग्नि के द्वारा कर्मों को जलाते रहे। जब उन्होंने इतना कष्ट सहकर भी रत्नत्रय में अड़िगता रखी तो मैं भी तो उनका ही पथानुगायी हूँ मैं क्यों अपने रत्नत्रय से विचलित होऊँ, मैं सहनशीलता रखूँगा, प्राणपन से अपने संयम का पालन करूँगा यह स्वस्थितिकरण कहलाता है। यानि अपनी गलतियों, बुराईयों को अपने ही आत्म चिंतन से



ही दूर कर लेना यह स्वस्थिति करण कहलाता है। जिसने स्व का स्थितिकरण कर लिया है वही पर का भी स्थितिकरण कर सकता है।

2. पर स्थितिकरण- अपने साधर्मी यदि किसी भी कारणवशात् अपने सम्यक् रत्नत्रय से चलायमान हो रहा है दर्शन व चारित्र से भ्रष्ट हो रहा है तो उसे येन-केन प्रकारेण वापस दर्शन/चारित्र में स्थित कर देना परस्थितिकरण है।

‘दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां’ अर्थात् रत्नत्रय से ड़िगने वाले प्रायः मुख्यता से 1. सम्यग्दर्शन 2. सम्यक्चारित्र से चलायमान होते हैं।

1. प्रायः व्यक्तियों की श्रद्धा बहुत कच्ची होती है। यदि हमारी किसी ने प्रशंसा कर दी तो व्यक्ति लट्टू हो जाते हैं प्रशंसा में बह जाते हैं। फिर क्या उचित है क्या अनुचित, क्या योग्य है क्या अयोग्य, व्यक्ति कुछ भी नहीं सोच पाता तथा मूल को ही भूल जाता है और धर्म विरुद्ध कार्य करने को तैयार हो जाता है कुछ लोग मंत्र-तंत्रों के चक्कर में पड़ जाते हैं और इतने प्रभावित हो जाते हैं कि परमात्मा को ही भूल जाते हैं अपनी साधना को ही भूल जाते हैं अपने लक्ष्य को ही भूल जाते हैं तथा भक्तों की भीड़ जमा करने के लिए, प्रतिष्ठा सम्मान पाने के लिए मंत्र को व्यापार बना लेते हैं और धर्म साधक की ओर में मंत्र-तंत्र के व्यापारी बन जाते हैं। ऐसे लोगों को न सामायिक दिखती है। न प्रतिक्रमण। न स्वाध्याय, न जाप-माला, और न पाठ। उन्हें तो मात्र भीड़ ही दिखती है कि कैसे मैं दुनियाँ को अपना चमत्कार दिखाकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाऊँ तथा सबको अपना भक्त बनाकर सर्वोच्चता को प्राप्त हो जाऊँ ऐसे लोग अपनी समीचीन श्रद्धा से शीघ्र चलायमान हो जाते हैं श्रद्धा से चलायमान होने का दूसरा कारण-बाह्य चमत्कार है-जब व्यक्ति देखते हैं कि अरे अमुक देवी को पूजने से तो पैसा आता है, रोग बीमारी ठीक हो जाती है अमुक देवता इतने चमत्कारी हैं सारी दुनियाँ माथा टेक रही है अतः ये ही देवी-देवता पूजना श्रेष्ठ है। इन्हें प्रसाद चढ़ायेंगे तो ये हमारे कष्ट दूर करेंगे, हमारे वीतरागी भगवान तो राग-द्वेष से रहित हैं इसलिए कुछ देते नहीं। जो दे उसकी आराधना श्रेष्ठ है इस प्रकार बाह्य चमत्कारों से प्रभावित होकर व्यक्ति श्रद्धा से चलायमान होने लगता है।

ऐसे लोगों को आचार्य भगवन् समझाते हैं- कि जो स्वयं संसार में भटक रहे हैं, स्वयं कर्मों की पराधीनता में हैं, स्वयं दुःखी हैं वे तुम्हें क्या सुख दे सकेंगे ? हमारे वीतरागी भगवान ने संपूर्ण कर्मों को नष्ट कर शाश्वत सुख को पा लिया है वे ही आपको सुख दे सकते हैं और यदि वीतराग के चरणों में सुख शांति नहीं मिली तो कहीं नहीं मिल पायेगी।

3. तीसरा श्रद्धा से चलायमान होने का कारण है भगवान की भक्ति व सेवा की परंतु साक्षात्



सफलता न मिलने पर भी व्यक्ति श्रद्धा से चलायमान हो जाता है। अरे हमने तो वर्षों वर्ष भगवान् की पूजन की, अभिषेक किया परंतु हम तो दरिद्र है हमें कुछ लाभ ही नहीं हुआ। ऐसे लोगों की कर्म सिद्धान्त पर श्रद्धा नहीं होती। बहुत पूजन की पर लाभ नहीं हुआ इसलिए मैंने तो मंदिर ही जाना छोड़ दिया तो सोचिए क्या आप वास्तविकता में भगवान के दर्शन को जा रहे थे आप ही श्रद्धा भगवान के प्रति कम हमारी दुकान खूब चले इस पर अधिक है। यानि दुकान, भगवान से बड़ी हो गई। जब आपकी दृष्टि में परमात्मा की कीमत ही नहीं तो उनकी कृपा कैसे हो अर्थात् पुण्य वर्णाएँ आप तक कैसे आयेगी। इसीलिए पहले भगवान की सच्ची भक्ति तो करो। दूसरी बात है कर्मोदय। पुण्य, पाप रूप दो पटरियों के बीच जीवन रूपी गाड़ी चलती है। कभी पुण्योदय चलता है। कभी पापोदय। पाप के उदय में कभी-2 बहुत पुरुषार्थ करने पर भी हमें सफलता नहीं मिल पाती और हम ऐसा सोच लेते है कि इतना धर्म करने पर भी लाभ नहीं हो रहा यानि परमात्मा में अतिशय नहीं है। चमत्कार नहीं है। परंतु हमारी सोच गलत है क्योंकि परमात्मा अतिशय चमत्कारी ही है पुण्यात्मा पुरुष उनकी सम्यक् भक्ति कर धनसंपदा भी पाता है और कर्मों तक का क्षय कर लेता है।

आज पाप कर्म का उदय है तो क्या परमात्मा की भक्ति करना छोड़ देना चाहिए? तो नहीं परमात्मा की भक्ति तो करते ही जाना चाहिए क्योंकि भक्ति ही एक दिन मुक्ति दिलायेगी भले ही आज हमें साक्षात् लाभ हो या न हो परंतु वह भक्ति कालान्तर में समीचीन पुल प्रदान करेगी।

एक बार की घटना है। दो भाई थे परंतु भाग्यवशात् किस्मत जुदा-जुदा थी। माता-पिता ने तो दोनों की परवरिश समान रूप से की परंतु हर व्यक्ति को वस्तु का लाभ भाग्यानुसार होता है। दोनों भाईयों के माता-पिता तो चल बसे। दोनों भाईयों ने अपने-2 अनुसार काम शुरू किया। बड़ा भाई व्यसनों में आसक्त था कभी जुआ खेलता, शराब पीता परंतु पूर्व के पुण्योदय से उसे हर कार्य में लाभ होता जाता था इधर छोटा भाई बहुत धर्मात्मा था न्याय नीति से धनोपार्जन करता था परंतु वह दरिद्र था। बड़ा भाई उसे सदैव कोसता था-इतना तो तुम भगवान को पूजते हो, क्या देते है तुम्हारे भगवान, खाने को तक नहीं पूरता। देखो मैं तो मंदिर भी नहीं जाता आज का समय नं. 2 की कमाई करने का ही है ज्यादा ईमानदार बने रहोगे तो भूखे ही मरोगे। छोटा भाई धर्म में अकाट्य पक्की श्रद्धा रखता था और यही कहता कि भाई मैं गरीब ही भला हूँ न्याय नीति से कमाई सूखी रोटी में ही खुश हूँ। तुम्हारी अन्याय, पाप की कमाई तुम्हें ही मुबारक हो। छोटा भाई कहता है-अन्याय/पाप की कमाई पाप कर्म का बंध करा दुर्गति में ले जाती है यदि तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं तो चलकर हमारे गुरु दिगंबर संतों से पूछ लो वे तो हमारा सब भविष्य जानते है। बड़े भाई ने कहा-यद्यपि तुम्हारी धर्म की बातों को मैं नहीं मानता फिर भी तुम्हारे कहने से मैं उन संतों के पास चलने तैयार हूँ। वे दोनों निर्धारित समय पर मुनिराज के पास जाने हेतु अपने-2 घर से निकल पड़ते है रास्ते में बड़े भाई को



पैसों से भरी थैली मिलती है। तथा छोटे भाई के पैर में कांटा चुभ जाता है। बड़े भाई को छोटा भाई रास्ते में टकरा जाता है तो कहता है क्या हुआ अनुज लगड़ा कर क्यों चल रहे हो। छोड़ भाई बोला-रास्ते से आ रहा था बीच में ही कांटा चुभ गया। बड़े भाई को पुनः अवसर मिल गया-बोला देखो भैया! मैंने तुम्हें कितना समझाया ये धर्म-कर्म छोड़ो, क्यों पंडित बन कर जीवन तबाह कर रहे हो मेरी मानो मेरे पथ को अपना लो मालामाल हो जाओगे। परंतु जिसकी अंतर श्रद्धा सच्ची होती है वह छोटे-मोटे हवा के झोंकों से प्रभावित नहीं होता, और हवा के झोंके ही क्या तुफानी हवाओं के बीच भी वह सुमेरु की तरह अविचल खड़ा रहता है। छोटे भाई ने दो टूक उत्तर देते हुए कहा-तुम्हारा पाप का पथ प्राण जाने पर भी मुझे स्वीकार नहीं। ठीक है चलो तुम्हारे महाराज से ओर मिले आते है। दोनों शीघ्र ही महाराज के पास पहुँच जाते है श्रद्धा भक्ति से छोटा भाई महाराज को नमोऽस्तु करता है यद्यपि बड़ा भाई धार्मिक क्रियाओं से अनभिज्ञ था परंतु छोटे भाई का अनुसरण करता हुआ महाराज को ढोक देता है। महाराज दोनों को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते है।

दोनों अपनी-2 समस्या महाराज के सामने रख देते है। साथ ही रास्ते में घटी हुई घटना को भी सुना देते है। सारी परिस्थिति का महाराज अवलोकन करते है तथा अपने अवधिज्ञान से कहते है कि जो तुम्हें रास्ते में पड़ी पैसों की थैली मिली वह पुण्योदय से नहीं अपितु पुण्य क्षीण होने से मिली है अन्यथा तुम्हें तो आज राज्य मिलने वाला था। तथा तुम्हारा भाई को कांटा लगा है वह पुण्योदय ही जानो क्योंकि आज सर्प दंश से इसकी मृत्यु होने वाली थी। परंतु इसकी धर्मभावना के प्रभाव से मृत्यु, कांटे में बदल गई तथा तुम्हारे पाप कार्यों के प्रभाव से तुम्हें आज राज्य मिलने वाला था वह पैसों की थैली में बदल गया। मुनिराज की मुख मुद्रा से निःसृत वचनों को सुनकर बड़ा भाई प्रभावित हुआ परंतु वचनों के परीक्षण हेतु अपने घर गया। घर जाकर उसे ज्ञान हुआ कि नये उत्तराधिकारी की खोज में राज्य का हाथी निकाला गया था नियम यह था कि हाथी अपनी सूँड़ से माला जिस व्यक्ति के गले में डालेगा वही राज्य का उत्तराधिकारी चुना जायेगा। लोगों ने बताया कि वह हाथी आपके घर के बाहर बहुत देर खड़ा रहा परंतु आप थे नहीं इसलिए घूमकर वापस चला गया। बड़े भाई को मुनिराज के वचन स्मरण हो आये कि आज तो मुझे राज्य होने वाला था। इधर छोटा भाई प्रतिदिन जिस नदी को पार कर जाता था उसमें बीच में एक पत्थर पर पैर रखना पड़ता था परंतु पैर में कांटा लगा होने से वह पत्थर पर पैर रखे बिना सीधा निकल गया इस पत्थर के नीचे एक विषैला सर्प था यदि उस दिन कांटा न लगता तो वह पत्थर पर पैर रखता और सर्प उसे काट लेता। आज ही उसकी मृत्यु हो जाती परंतु मृत्यु धर्म के प्रभाव से कांटे में बदल गई।

बंधुओ! धर्म पर अकाट्य श्रद्धा रखने वाला उसके समीचीन फल को पाता है। व्यक्ति कर्म सिद्धान्त को भूल जाते है। अरे, यदि पूर्व का पाप कर्म का उदय चल रहा है तो फल पाप रूप ही



मिलेगा और पुण्य कर्म का उदय चल रहा है तो फल पुण्य रूप ही मिलेगा। परंतु ऐसा भी होता है कि पूर्व का तो पुण्योदय चल रहा है परंतु अभी व्यक्ति (वर्तमान में) पाप कर्म कर रहा है तो उसके यह पापानुबंधी पुण्य ही कहा जायेगा, ऐसा पुण्य जो भविष्य में पाप का अनुबंधक होगा। बड़े भाई की वही अवस्था थी। तथा कभी-2 पापोदय से व्यक्ति दरिद्र होता है परंतु वर्तमान में वह धार्मिक कार्य कर रहा है तो यह उसका पुण्यानुबंधी पाप कर्म का उदय कहा जायेगा अभी तो पाप का उदय चल रहा है परंतु भविष्य में पुण्य का अनुबंधक होगा।

परंतु जब श्रद्धा समीचीन नहीं होती तो मन डमाडोल होने लगता है कि इतना धर्म करते है फिर भी दुःख भोगते है ऐसे लोगों को कर्म सिद्धान्त का चिंतन करना चाहिए। कि सत्ता में पड़ा कर्म भी तो अपना काम करता है। वर्तमान का पुरुषार्थ समीचीन है तो फल भी समीचीन मिलेगा।

कुछ लोगों की अपने वीतरागी भगवान पर श्रद्धा ऐसी होती है कि गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुना दास। यानि जिसके द्वारे गये वही माथा टेक दिया, श्रद्धा का कोई ठिकाना नहीं। जो स्वयं रागी-द्वेषी व दुःखी है वह तुम्हें क्या सुख देगा परंतु कभी व्यक्ति कोई विपत्ति, कष्ट, बीमारी से प्रभावित होकर तथा दूसरों की बातों में आकर कुदेवों को पूजने लगता है। किसी ने कह दिया यदि देवी को श्रीफल नहीं चढ़ाया तो वह कुपित हो जायेगी और तुम बीमार ही बने रहोगे।

बंधुओ! ऐसे समय में आपको कर्म सिद्धान्त का आश्रय लेना चाहिए। यदि हमारे पूर्व के पुण्य कर्म का उदय चल रहा है और हम सच्चे देव की शरण में है तो संसार की कोई भी शक्ति हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती और यदि हमारे पाप कर्म का ही उदय चल रहा है तो कष्टों से क्या घबराना ऐसे समय में भी यदि हम अपने वीतरागी देव की शरण में जायेंगे तो पाप प्रकृतियों का पुण्य रूप संक्रमण होगा और हमारे कष्ट धीरे-2 दूर हो जायेंगे। कर्म सिद्धान्त के चिंतन के अभाव में व्यक्ति भटक जाता है और फिर उसकी हालत वैसी ही हो जाती है कि धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

आपने दीपक अवश्य देखा होगा उसके बुझने के मुख्य तीन कारण होते है।

1. हवा चले 2. ऑक्सीजन न मिले 3. ईंधन न हो। परंतु श्रद्धा से डिगने के अनेकानेक कारण हो सकते है-हम बड़ी श्रद्धा, भक्ति से महाराज के पास गये कार्य की व्यस्तता वशात् वे हमारी ओर नहीं देख पाये, हमें आशीर्वाद नहीं दिया तो हमारी श्रद्धा, भक्ति टूटने लगती है। मेरा तो मन टूट गया अब मैं नहीं आऊँगा महाराज के दर्शनों को।

क्या आपकी श्रद्धा का दीप इतना चंचल था कि जरा सा हवा का झोंका आया और बुझ गया। आपकी श्रद्धा का डोरा बस इतने में ही टूट गया। नहीं। जो सच्ची व पक्की श्रद्धा में रखते है उनकी चिंतन धारा नेगेटिव नहीं पॉजीटिव होती है कोई बात नहीं महाराज व्यस्त थे इसलिए नहीं देख पाए मैं अवसर मिलने पर पुनः दर्शनार्थ आऊँगा तब मुझे अवश्य आशीर्वाद मिल जायेगा और यदि नहीं भी



मिल पाए तो भी सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा किंचित भी चलायमान नहीं होती वह सोचता है कि महाराज आशीर्वाद दे न दे मैंने श्रद्धा/भक्ति से शीश झुकाया है तो आशीर्वाद तो मिल ही गया।

परंतु जब व्यक्ति की श्रद्धा कच्ची होती है तो वह नेगेटिव चिंतन में पहुँच जाता है ऐसे श्रद्धा से चलायमान लोगों को पॉजीटीव चिंतन देना चाहिए। यह भी तो सोचो महाराज कितने व्यस्त रहते हैं, थक जाते हैं। यदि एकाद बार आशीर्वाद नहीं दिया तो क्या हुआ। येन-केन प्रकारेण सकारात्मक चिंतन देकर उन्हें श्रद्धा से चलायमान होने से बचा लेना चाहिए।

कुछ भक्त भगवान के सामने शर्त रखते हैं कि यदि हमारा अमुक काम हो गया तो आपको मानूंगा अन्यथा नहीं। तो ऐसे लोगों से यही कहूंगा कि भगवान तुम्हारे नौकर नहीं हैं, तुमसे वे वेतन नहीं लेते, तुम पाप करो और भगवान से स्वर्ग मांगो। यदि भगवान, तीन लोक के नाथ होकर ऐसा अन्याय का काम करने लग जायेगे तो न्याय कौन करेगा यदि तुमने नेकी की है तो नेकी का फल नेक है यदि बेईमानी की है, दूसरे को सताया है तो कल दुःख रूप ही मिलेगा इसलिए भगवान तुम्हारी शर्तों से नहीं बंधे और तुम्हारे मानने न मानने से भगवान को कुछ फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उन्होंने तो उस परम ध्येय स्वरूप मोक्ष, परम सत्य को पा लिया है। इसलिए शर्त रखने वाला भगवान की आड़ में अपने दुष्कृत्यों पर पर्दा डालना चाहता है जो सर्वथा गलत है।

इसलिए अपने कर्मों को बदल लो तो फल भी बदल जायेगा, अच्छा करोगे अच्छा पाओगे भगवत् भक्ति करोगे तो पुण्य वर्णाएँ पास आयेगी और पापों का क्षय होगा।

आचार्य समंतभद्र महाराज कह रहे हैं-कि नव निर्माण से अधिक श्रेष्ठ पुराने का जीर्णोद्धार है 1000 नये मंदिर बनाने में जितना पुण्य मिलता है उतना एक पुराने का जीर्णोद्धार करने में मिलता है। उसी प्रकार आपने बहुतों को सम्यग्दर्शन के सन्मुख पहुँचा दिया यह अच्छी बात है परंतु आपने यदि एक भी गिरते को संभाल लिया तो बहुत बड़ी बात है श्रद्धा से गिरते हुए को वापस श्रद्धा में स्थिर कर देना किसी प्राचीन मंदिर के जीर्णोद्धार से कम नहीं।

दूसरों के विषय में चर्चा करना आसान होता है कि फलाना ऐसा फलाना वैसा परंतु उसकी परिस्थिति को समझना बहुत कठिन है उसे क्या तकलीफ, कष्ट, परेशानी है उसे समझना चाहिए फिर यथायोग्य रीति से संभालने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि गिरना तो बहुत आसानी से हो जाता है।

व्यक्ति जरा-जरा सी बातों में पुनपुना जाते हैं गुस्सा करने लगते हैं और उनका चेहरा उनके अंदर की सब बातों को कह देता है। कहा भी है- “Face is the Index of Heart”

अर्थात् चेहरा हृदय का दर्पण है जो अंदर की सब बातों को कह देता है। आपकी भाषा व



ऐक्शन से आपकी श्रद्धा का पता चल जाता है। एक पुराना समय था जबकि भगवान लेते ही श्रद्धा से सबके हाथ जुड़ जाते थे। ये हाथों का जुड़ना व शीश का झुकना उनकी आंतरिक श्रद्धा, भक्ति का प्रतीक है। भगवान का नाम सुनते ही जो प्रसन्नता हो रही है वह आपकी आस्था का प्रतीक है प्रसन्नता-श्रद्धा का दर्पण है।

आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन को पाना जितना महत्वशाली है उससे भी महत्वशाली उसका रक्षण व संवर्धन है।

सम्यग्दर्शन के रक्षण हेतु-

1. सदा देखते रहे कि कहीं हमारी श्रद्धा चलायमान तो नहीं तो रही।
2. यदि कहीं कोई भ्रम खड़ा हो रहा है तो उसे शीघ्रातिशीघ्र दूर कैसे करें।
3. सम्यग्दर्शन का स्थितिकरण कैसे हो।

4. यदि कोई आपके सामने आकर आपके वीतरागी देव की निंदा करे और आप चुपचाप रहे आये, चुपचाप बुराई सुनते रहे तो समझ लो अब आपकी श्रद्धा का दीप बुझने वाला है।

अनायतनों में रुचि लेने वाला शीघ्र ही सम्यक्त्व से गिरता है। अनायतनों में आपको आनंद आने लगे, रस आने लगे आपकी सहभागिता होने लगे तो अब आपको सम्यक्त्व रूप शिखर से गिरने से कोई नहीं बचा सकता।

ऐसे लोगों को पुनः सम्यक्त्व के पथ पर कैसे लगाये उनकी टूटती श्रद्धा को कैसे जोड़े ऐसा प्रयत्न हमें करना चाहिए। परंतु दूसरे का स्थितिकरण करने के पूर्व अपनी श्रद्धा को भी तौल लो कहीं ऐसा न हो कि आप दूसरों को समझाने जाएं और स्वयं समझकर आ जाये चले थे दूसरे को आस्तिक बनाने और उसकी बातों में उलझ कर अपनी श्रद्धा ही खो बैठे। यदि आस्तिक कमजोर है तो वह दूसरे नास्तिक को आस्तिक बना पाये या न बना पाये परंतु स्वयं नास्तिक जरूर बन जायेगा और यदि नास्तिक कमजोर है तो उसे सहजता से आस्तिक बनाया जा सकता है अतः दूसरों को संभालने के पूर्व इस बात का ध्यान रखे कि कहीं हम स्वयं ही न फंस जाये। ऐसा न हो कि चले तो थे इलाज करने और स्वयं रोगी बन गये क्योंकि कुछ-2 रोग संक्रामक भी होते हैं दूसरे के संपर्क से शीघ्र ही हमारे अंदर भी पनप सकते हैं इसलिए सावधान रहे।

स्वयं की श्रद्धा अकंप/अड़ोल मंझी हुई है तो दूसरों का स्थितिकरण करने पहुँचे। अब स्थितिकरण किस प्रकार करना चाहिए तो आचार्य भगवन् कहते हैं-



“धर्मवत्सलैः प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरण मुच्यते” ।

पहली बात आचार्य भगवन् ने कही-“धर्मवत्सलैः” यानि धार्मिक वात्सल्य से प्रेरित होकर आप स्थितिकरण करें। प्रेम से आप अपने साधर्मी को लाईन पर लाने का प्रयास करें।

कई बार ऐसा भी होता है कि हमारा किसी से झगड़ा हो गया, बुराई हो गई तो हम उसकी एक-एक शिकायत गुरुजी के पास जाकर सुनाते हैं। महाराज! ये सामायिक ही नहीं करते अथवा सामायिक में सोते रहते हैं। तथा जिससे मित्रता है, प्रेम है, घनिष्ठता है। यदि उसकी मिस्टेक है तो गुरु महाराज तक नहीं पहुँचाते तो यह स्थितिकरण नहीं है अपितु स्थितिकरण की आड़ में आप अपनी कषायों की पूर्ति कर रहे हैं। तथा कभी-2 ऐसा होता है कि किसी ने हमारी शिकायत कर दी तो हम भी उसकी करेंगे और पारस्परिक बौछारे प्रारंभ हो जाती है।

तो यह आपका स्थितिकरण अंग नहीं कहलायेगा। स्थितिकरण करने के पूर्व उपगूहन हो चार लोगों के सामने अपने साधर्मी के दोषों का बखान न करें और प्रायः होता ऐसा ही है कि हम जिसकी मिस्टेक है उससे नहीं कह पाते तथा गुरु तक भी नहीं पहुँचाते वरन् चार अन्य लोगों के सामने अपने साधर्मी की बुराईयाँ प्रारंभ कर देते हैं। चार लोगों से कहने से न तो उस व्यक्ति का सुधार होगा न आपका कुछ काम बनेगा व्यर्थ में दुनियाँ धर्म की हंसी करेगी। ऐसे साधु होते हैं। ऐसा जैनधर्म है। इसलिए स्थितिकरण के पूर्व उपगूहन करना सीखिए। यदि उपगूहन अंग को आपने धारण कर लिया है तो अब वात्सल्य भाव से भर जाइए। जिसका हृदय वात्सल्य से भरा होता है वह अपने साधर्मी को प्रेम से एकांत में समझाता है देखों यदि आप समय पर सामायिक नहीं करेंगे, व्यवस्थित ढंग से नहीं करेंगे तो हो सकता है एक बार गुरुजी कुछ न भी कहें परंतु तुम्हारा व्रत सदोष हो जायेगा। चारित्र में मलिनता आयेगी और जिस मात्रा में कर्म का संवर, निर्जरा होनी चाहिए थी वह नहीं होगी हमने तो कर्मों का क्षय करने के लिए घर छोड़ा है फिर प्रमाद करके व्यर्थ का कर्मास्रव क्यों करें।

दूसरी बात यदि कोई साधर्मी स्वास्थ्य खराब होने के कारण अपने क्रियाओं को भूल रहा है। तो प्रेम से स्मरण दिला दीजिए। आज आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है मैं वैय्यावृत्ति कर देता हूँ। आपको अच्छा लगने लगेगा फिर आप बैठ कर ठीक से सामायिक कर लेना। यह कहलाता है धर्मवत्सल।

यद्यपि शास्त्रों में आचार्यों के लिए तो यहाँ तक आज्ञा दी गई है कि आचार्य अपने शिष्यों को सम्यक् राह पर लाने के लिए लातों से भी प्रताड़ित कर सकत हैं। तथा हृदय को चुभाने वाले कटु शब्दों का भी प्रयोग कर सकते हैं। मूलाचार आदि ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है परंतु यह अधिकार मात्र गुरु का होता है, हर व्यक्ति गुरु न बने, बनना है तो सेवक बनो, सहोदर बनो, मित्र बनो। यही धर्म वत्सलता है।



अगली बात आचार्य भगवन् ने कही-कि स्थितिकरण करने वाले के पास प्रज्ञा शक्ति होना चाहिए। परिस्थिति को समझने की, तथा उससे अपने साधर्मि को उबारने की कला, दक्षता होनी चाहिए तभी स्थितिकरण करने में आपको सफलता मिल सकती है।

चारित्र से चलायमान होने के अनेक कारण हैं। जिनमें से-

1. पारस्परिक विसंवाद-झगड़ा है।
2. गलत संगति (असंयमी की संगति)
3. स्वास्थ्य
4. सहनशीलता की कमी
5. शिथिलाचारी
6. विषमलिङ्गी की संगति

कभी पारस्परिक विसंवाद कषायावेग में स्थिति इतनी बिगड़ जाती है कि व्यक्ति पिच्छी छोड़ चलने को तैयार हो जाता है। वैसे भी गुणस्थान की अवस्थाएँ भी कषायों के आश्रित हैं। यदि प्रत्याख्यानावरण का उदय हुआ तो सकल संयम नहीं हो सकेगा, अप्रत्याख्यानावरण के उदय में देश संयम नहीं हो सकता, अनंतानुबंधी के उदय में सम्यग्दर्शन से भी जीव च्युत हो जाता है कहने का तात्पर्य है कि कषायें ही चारित्र व दर्शन दोनों से गिराती हैं अतः पारस्परिक विसंवाद की स्थिति में-प्रेम से तरीके निकाले, उलझे को सुलझाए, बढ़ती हुई ज्वालाओं को बुझाये। दो का विघटन कैसे दूर हो ऐसा प्रयास करें। समस्या को बढ़ाए नहीं। धार्मिक चिंतन देकर परिस्थिति को संभाल ले।

अपने सोच को दायरा नहीं दरिया बनाएँ। अपने साधर्मियों को संभालने सदैव तत्पर रहना चाहिए समय-2 पर समझाते रहे। आप कहते हैं-वे तो मानते ही नहीं इसलिए हमने तो कहना ही छोड़ दिया। समझाना छोड़ दिया। अरे! आप इतनी जल्दी हार मान गये आपको तो यदि 100 बार भी समझाना पड़े तो स्थितिकरण करने तत्पर रहिए। कभी न कभी तो उन्हें अवश्य समझ में आ जायेगा ऐसा धैर्य धारण करना चाहिए।

कभी-2 प्रारब्ध साधक उतना गहरे ज्ञानी नहीं होने से असंयमियों के अभिमुख हो जाते हैं और अंततः संयम से हाथ धो बैठते हैं क्योंकि जो स्वयं असंयमी है यदि आप उसकी अधिक संगति रखेगे तो क्या होगा वह आपको असंयमाभिमुख ही बना देगा। ऐसे नवीन प्रारब्ध योगियों को आध्यात्मिक चिंतन देकर असंयमी से हटाकर संयमियों की संगति का उपदेश देना चाहिए। संयम की संगति से संयम का वर्द्धन होता है स्वास्थ्य ठीक न होने से, लंबे समय तक बीमार रहने से या, अपरिहार्य रोग आदि के होने पर साधक घबरा जाते हैं और संयम से विचलित होने लगते हैं।

तब उन्हें 'संयम' की महत्वता पूर्वक चिंतन देना चाहिए-देखें ऐसे अनंतों पर्यायों को आत्मा ने ग्रहण किया व छोड़ा है जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग सुनिश्चित है आज इस शरीर का संयोग मिला है तो नियम से वियोग होना ही है जिस शरीर का साथ छोड़ना ही है उसके लिए संयम रूपी



बहुमूल्य रत्न को छोड़ना मूर्खता है क्योंकि भव-भव के संचित पुण्य के परिणाम स्वरूप संयम से दुर्लभ रत्न मिलता है। रत्न को कांच के लिए बेचना अज्ञानता है अतः हे योगी! तुम धैर्य धारण कर संयम में दृढ़ रहो।

कभी-2 सहनशीलता के अभाव में छोटे-2 कारणों से व्यक्ति चलायमान होने लगते हैं।

1. इतने अंतराय होते हैं मुझसे क्षुधा वेदना सहन नहीं होती।
2. गर्मी की भीषण तपन में गला सूखने लगता है धूप, गर्मी, प्यास की त्रास सहन नहीं होती।

तब ऐसे वचनों का प्रयोग करिये कि आपके वचन ही पानी का काम करें और उसका साहस बढ़ जाए।

आचार्य भगवन् कहते हैं मात्र चिंतन ही न दें अपितु सहयोग भी करें यदि किसी की हिम्मत न हो तो सेवा, वैयावृत्ति कर दीजिए। हम आपकी सेवा करेंगे आप क्यों घबराते हैं हम सब आपकी धर्म साधना में सहयोगी हैं।

कुछ लोगों के अंदर शिथिलाचारी प्रवृत्ति होती है प्रमाद होता है यदि प्रमाद निरंतर बढ़ता ही जाए उस पर ब्रेक न लगाया जाए तो अतिचारों का बाहुल्य अनाचार में भी परिणत हो सकता है संयम की विराधना हो सकती है इसलिए साधर्मियों को स्वावलंबी बनने हेतु भी प्रेरित करना चाहिए।

चारित्र्य से गिरने के महत्वपूर्ण हेतुओं में से एक विषमलिंगियों की संगति है। आज हम जितना भी नैतिक, धार्मिक पतन समाज में देखते हैं उसका मुख्य हेतु- Co-education है। लड़के व लड़कियों के एक साथ अध्ययन करने से हंसी मजाक प्रारंभ होते हैं व पारस्परिक मर्यादाएँ टूटती हैं। आज Computer, Mobile and Inter-net का जमाना है। इन साधनों का सम्यक् प्रयोग कम तथा Misuse अधिक होता है आज का संसार वासनाओं की पूर्ति के लिए इन सबको माध्यम बनाता है।

इसलिए प्रारब्ध योगियों को जनसंपर्क से दूर रखा जाता है। समाधितंत्र ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज कहते हैं-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्त विभ्रमः।

भवति तस्मात् संसर्ग, जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥72॥

अर्थात् संसारी लौकिक जनों की संगति से वचन स्पन्द होता है, तथा वचनों के प्रयोग से चित्त में विभ्रम पैदा होता है इसलिए योगियों को लौकिक जनों की संगति से दूर रहना चाहिए।



मोह के अनादि के संस्कारों से आत्मा शीघ्र प्रभावित हो जाती है फलतः लौकिक व विषम लिंगियों की संगति से सदा दूर रहना चाहिए। क्योंकि चारित्र से च्युत करने वाला यह प्रबल हेतु है।

जो प्रज्ञा संपन्न व धर्मवत्सल है वे अपनी युक्तियों, समझदारी व वात्सल्य से दर्शन व चारित्र से गिरते साधर्मी को पुनः उसी दर्शन व चारित्र में स्थित कर देते हैं वही वास्तविक स्थितिकरण है।

आपको भी चाहिए कि आचार्य भगवन् ने जो राह दिखायी है उस पर चलकर अपने सम्यक दर्शन का संवर्धन करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”



अनंत आनंद

स कोऽपि परमानन्दश्चिद्रूढ्यानतो भवेत् ।

तदशोऽपि न जायते त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥ 461 ॥

अर्थ : चैतन्य रूप आत्मा के ध्यान से वह कोई अद्भूत परम आनंद प्राप्त होता है जिसका एक अंश भी तीन जगत् के स्वामियों को नहीं प्राप्त हो सकता है।





प्रवचन-17

श्लोक-17

प्रीति हो गोवच्छ समान

भव्य मनीषियो! आज हम सम्यग्दर्शन के सातवें अंग वात्सल्य धर्म की ओर बढ़ रहे हैं। वात्सल्य का सामान्य अर्थ-प्रेम, स्नेह होता है। परंतु अन्य शब्द वात्सल्य की संपूर्णता का वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि वात्सल्य का अर्थ बहुत विशाल गहरा है वात्सल्य का संबंध धर्म से है। स्नेह तथा प्रेम तो किसी के भी अंदर हो सकता है परंतु वात्सल्य सम्यग्दृष्टि के ही जीवन में होता है। अन्य के नहीं, दूसरी बात यह है कि वात्सल्य धर्म, धर्मात्मा के प्रति ही होता है। सीधा अर्थ यह हुआ कि धर्मात्मा का धर्मात्मा के प्रति स्नेह संबंध ही वात्सल्य है आमतौर पर यह कह दिया जाता है कि माता का अपने बेटे के प्रति बड़ा वात्सल्य है, परंतु वह हमारी भाषा है वास्तव में वह वात्सल्य नहीं माँ का बेटे के प्रति स्नेह हो सकता है परंतु वह वात्सल्य नहीं। 'वात्सल्य धर्म' के लिए शास्त्रों में उदाहरण दिया है- “धर्मी सो गो वच्छ प्रीति सम” अर्थात् एक धर्मात्मा का दूसरे धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य भाव गाय के बछड़े पर होने वाले नैसर्गिक प्रेम की तरह होता है।

माता-पिता अपने बच्चों से प्रीति रखते हैं। उसके कारणों में 1. मोह भाव-आत्मा के अनादि के मोह के संस्कारों के वशात् माता-पिता की अपने बच्चों के प्रति प्रीति होती है। दूसरी बात है-माता-पिता का स्वार्थ-वे सोचते हैं आज हम अपने बच्चे का अच्छे से लालन-पालन करेंगे, पढ़ा लिखा कर बड़ा कर देंगे, उसे पैरों पर खड़ा कर देंगे कमाने लग जायेगा तो बुढ़ापे की लाठी बनेगा, वृद्धावस्था में हमारी सेवा करेगा। बेटे का भी माँ-बाप के प्रति स्वार्थ भाव रहता है। बेटे सोचते माँ के पास तिजोरी में सोना, चांदी धन पैसा है यदि माँ की सेवा करूँगा तो मेरे नाम कर देगी। वह धन पैसों की लालच में सेवा करता है। कभी-2 ऐसा भी देखा जाता है कि जिन माँ-बाप के पास रुपया पैसा नहीं होता बुढ़ापे में उनकी सेवा करने कोई तैयार नहीं होता। मनाना पड़ता है कि कुछ दिन के लिए आप रख लीजिए। प्रायः बेटे दिन बांट लेते हैं तीन बेटे हैं तो 1-1 महीने तीनों के यहाँ रहना पड़ता है। तथा कभी-2 स्थिति इतनी बिगड़ जाती है कि बेटे माता-पिता को रखना ही नहीं चाहते और वृद्धाश्रम पहुँचा देते हैं और माता-पिता का प्रेम, स्नेह भी स्वार्थ परक होता है जो बेटा अधिक कमाता



है नयी-2 सामग्री लाकर देता है उस पर माँ की प्रीति विशेष होती है जो ज्यादा कमाने धमाने में सक्षम नहीं होता उसके प्रति उपेक्षा भाव होता है यदि वह बीमार भी पड़ा होगा तो कोई पूछने वाला नहीं। कहने का तात्पर्य है कि संसार में जितने भी रिश्ते हैं वे स्वार्थ पर आधारित हैं। निःस्वार्थ भावनाएँ नहीं हैं। जबकि ऐसा स्वार्थ गाय का बछड़े के प्रति नहीं होता। गाय नहीं सोचती कि मेरा बछड़ा मेरे बुढ़ापे की लाठी बनेगा अथवा मेरी सेवा करेगा उसका अपने बछड़े पर नैसर्गिक प्रेम होता है। बछड़ा भी नहीं सोचता कि माँ मेरा लालन-पालन करेगी कि नहीं।

बछड़े का सहज वात्सल्य भाव गाय के प्रति होता है। इसीलिए वात्सल्य में उदाहरण स्वार्थ सहित मनुष्यों का न देकर स्वार्थ से रहित तिर्य्यच प्राणी का दिया गया है।

गाय पर बछड़े के नैसर्गिक प्रेम की तरह एक धर्मात्मा का दूसरे धर्मात्मा के प्रति होता है। धर्मात्मा का धर्मात्मा के प्रति स्वार्थ भाव नहीं होता, मात्र गुणों के प्रति प्रीति होती है मेरी भावना में कवि जुगलकिशोरजी ने उसी वात्सल्य भाव की चर्चा निम्न पंक्तियों में की हैं-

**गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके, यह मन सुख पावै।।**

वात्सल्य भाव किसके प्रति हो तो कहा गया गुणीजन अर्थात् धर्मात्मा जनों के प्रति वात्सल्य भाव होना चाहिए।

किस पर व कैसे वात्सल्य भाव रखे इसी बात को समझाते हुए गाथा 17 के माध्यम से आचार्य भगवन् कहते हैं-

**स्वयूथ्यानप्रतिसद्भाव, सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते।।17।।**

अन्वयार्थ-

स्वयूथ्यान प्रति	-	साधर्मी व सहधर्मी भाइयों के प्रति
सद्भाव, सनाथा	-	सरल उत्तम भावों से सहित होकर
अपेतकैतवा	-	छल-कपट रहित
यथायोग्यं	-	योग्यतानुसार
प्रतिपत्तिः	-	आदर-सत्कार करना, सो
वात्सल्यं	-	वात्सल्य अंग
अभिलप्यते	-	कहा जाता है।



अर्थ-साधर्मी भाईयों के प्रति उत्तम भावों से सहित होकर तथा छल-कपट से रहित होकर योग्यतानुसार आदर-सत्कार करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

भव्य मनीषियो! आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन के सातवें वात्सल्य अंग की व्याख्या कर रहे हैं। उपगूहन व स्थितिकरण जो हम पूर्व में देख चुके हैं उन दोनों की सार्थकता इस वात्सल्य अंग में छिपी है यदि मन में साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव न हो तो उपगूहन संभव नहीं, यदि हृदय में वात्सल्य नहीं तो निर्विचिकित्सा, ग्लानि को जीतना संभव नहीं है। कहने का तात्पर्य है सभी अंग रूपी मोतियों को इकट्ठा कर अपने में पिरोकर रखने वाला सूत वात्सल्य अंग है। यदि सच्चे देव के प्रति प्रीति है तो शंका का काम नहीं, जहाँ गुणों के प्रति प्रीति है वहाँ लौकिक वस्तुओं की आकांक्षा समाप्त हो जाती है तथा मूढ़ताएँ विलय को प्राप्त हो जाती हैं जिसके प्रति प्रीति है उस धर्म को अंगीकार करने वाला अपने धर्म की हँसी हो ऐसा कार्य कभी नहीं करता अर्थात् जिसने अप्रभावना बचा ली वह नियम से प्रभावना में निमित्त बनेगा।

इसीलिए वात्सल्य का सूत सभी अंगों में पिरोकर रखना अत्यंत अनिवार्य है। एक वात्सल्य अंग न हो तो सारे अंग शीघ्र ही बिखर जायेंगे क्योंकि वात्सल्य की खाद पानी जिसे नहीं मिलेगी वह वृक्ष कैसे हरा-भरा रह सकेगा। सम्यग्दर्शन का रक्षण व संवर्द्धन में नींव का पत्थर वात्सल्य अंग है।

अब प्रश्न यह है कि वात्सल्य किसके प्रति व कैसे हो ?

तो आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कहते हैं-“स्वयूथयान्” यूथ का तात्पर्य है-समूह। साधर्मी जनों का समूह स्व यूथ कहलाता है। परंतु साधर्मी की श्रेणी में कौन आ सकता है। यह चिंतनीय विषय है। कुछ लोग न पढ़ना न लिखना। यहाँ बैठे, वहाँ बैठे और रागद्वेष की चर्चा प्रारंभ अथवा गप्पे चालू हो जाती है। विकथाएँ प्रारंभ हो जाती हैं। क्या ऐसे लोग साधर्मी की श्रेणी में आयेंगे, नहीं। ऐसे लोगों के प्रति यदि हमने वात्सल्य रखा तो उनकी बुराईयाँ बढ़ती जायेगी। वात्सल्य तो धर्मात्मा के प्रति रखा जाता है आर्त-रौद्र ध्यानी के प्रति नहीं। धर्मात्मा की व्याख्या को समझना अनिवार्य है 1. जो राग-द्वेष से ग्रसित है 2. निरंतर विकथाओं में रत है। 3. निरंतर दूसरों की निंदा बुराई में लगे रहते हैं। 4. ईर्ष्या, द्वेष, विद्रोह के भाव रखें। वे धर्मात्मा नहीं हो सकते।

एक बार दो पंडित विद्वान एक साथ प्रवचन के लिए पहुँचे। समाज के लोग प्रसन्न थे कि किसी को एक धर्मात्मा नहीं मिलता हमें तो दो-दो धर्मात्मा मिल गये प्रवचन सुनने मिलेंगे समाज के लोग पहले विद्वान के पास पहुँचे और दूसरे विद्वान की प्रशंसा प्रारंभ कर दी बोले-सुना है पंडितजी बड़े पहुँचे हुए विद्वान हैं। बड़ी-2 पुस्तकें उन्होंने लिखी है बड़े-2 आलेख लिखते हैं हमारी समाज ऐसे विद्वानों को पाकर धन्य-2 हो गई है। पहले विद्वान बड़े ईर्ष्यालु थे वे बोले अरे वह तो निरा बैल है।



समाज के लोगों ने सोचा कि अब हमें दूसरे विद्वान के पास चलना चाहिए। जब दूसरे विद्वान के पास गये तो वहाँ पहले विद्वान की प्रशंसा प्रारंभ कर दी-कि वे तो बड़े ज्ञानी पहुँचे हुए प्रवचनकार हैं। दूसरे विद्वान की आंखें गुस्से में लाल हो गई और वे बोले-अरे, वह तो गधा है गधा, उसे कुछ नहीं आता मात्र डींगे हांकता है। जब भोजन का समय हुआ तो लोगों ने दोनों विद्वानों को एक साथ भोजन की थाली पर बिठाया एक थाली में भूसा तथा दूसरे में चारा था। दोनों विद्वान गुस्से में थे तो लोगों ने कहा आपने परस्पर में एक-दूसरे का जो परिचय दिया था उस अनुरूप हमने भोजन परोसा।

तो बंधुओ! जिसका मन ईर्ष्या, द्वेष से भरा है वह धर्मात्मा नहीं हो सकता। फिर वे वात्सल्य के पात्र भी नहीं हो सकते।

अब हमारे साधर्मी कौन हो सकते हैं-

1. तो जो निरंतर धर्म भावनाओं से भरे रहते हैं।
2. ईर्ष्या द्वेष से रहित सहज सरल परिणति रखते हैं।
3. निरंतर जाप, पाठ, पूजा, भक्ति में लगे रहते हैं।
4. व्यर्थ की राग-द्वेष की बातों से दूर धर्म ध्यान में लगे रहते हैं।
5. अपने साधर्मियों की सेवा, वैयावृत्ति करते हैं।

तथा ऐसे अपने साधर्मी व सहधर्मियों में प्रीति वात्सल्य भाव रखना चाहिए।

आचार्य महाराज ने दूसरा विशेषण दिया है-“प्रति सद्भाव” अपने साधर्मियों व समूह के प्रति सद्भाव/अच्छे विचार रखना जैसे कि-हम ऐसा कौन सा कार्य करें जिससे हमारा समूह उन्नति करें यदि कोई साधर्मी कोई अच्छा कार्य करता है तो उसका प्रोत्साहन करना कि हाँ आपने बहुत अच्छा किया, हमारे महाराज बड़े सेवाभावी हैं, अथवा सदा पढ़ते-लिखते रहते हैं। वृद्ध होते हुए भी तपस्या करते हैं इत्यादि। यदि किसी को प्रवचन आदि करना नहीं आता तो उसे सिखा दीजिए। आप ये-ये मेटर तैयार कर लीजिए। आप पढ़ना चाहते हैं बहुत अच्छी भावना है आप से जो न बने मैं मदद कर दूँगा इत्यादि सद्भावनाएँ कहलाती हैं। जो अपने यूथ के प्रति रखी जाती हैं। दूसरी बात है “सनाथ” सनाथ भाव बहुत बड़ी बात है। संयम की साधना करते हुए कभी-2 ऐसे अवसर भी आते हैं उपसर्ग, परीषदों से गुजरना पड़ता है, कष्टों को सहना पड़ता है ऐसे समय में कभी-2 प्रारब्ध साधक अभ्यास की कमी होने से घबरा जाते हैं वह संयम से भी कभी-2 विचलित होने लगते हैं। तब साधर्मी का कर्तव्य है कि अपने साधर्मी के प्रति सनाथ भाव रखें। यदि कोई साधक कहे कि मुझसे अब सहन नहीं हो रहा तब हम उसे वात्सल्य से संभाल ले आप चिंता न करें मैं हूँ न। मैं आपकी सेवा करूँगा, हमारे रहते आप क्यों घबराते हैं। आपका सहयोग हम करेंगे। बिना वात्सल्य के सनाथ भाव संभव नहीं।



आगम में साधकों की 10 समाचार विधियों में एक उपसंपत नाम का गुण आता है। हम आपके हैं। आप हमारे। जब कोई शिष्य किसी असाध्य रोग से ग्रसित हो जाता है तो गुरुजन समझाते हैं आप बिल्कुल मत घबराइए मैं बैठा हूँ आपके पास, आप शीघ्र ठीक हो जायेंगे। इसी उपसंपत गुण को यहाँ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्यश्री समंतभद्र महाराज ने ‘सनाथ-भाव’ कहा है। वात्सल्य भाव कैसे रखें तो “अपेतकैतवा” यानि छल-कपट से रहित होकर, मायाचारी को छोड़कर, स्वार्थ भावों को तिलांजलि देकर साधर्मि के प्रति वात्सल्य रखा जाता है। जब कभी स्वार्थ वृत्ति किसी के अंदर पनपने लगती है। तो व्यक्ति सोचता है-मैं क्यों करूँ फलाने की सेवा, मेरी भी तो कोई नहीं करता इसका तात्पर्य यह है कि आपका स्वार्थ नहीं सधा तो आप दूसरे की मदद नहीं करेंगे। जबकि जहाँ वात्सल्य होता है वहाँ स्वार्थ वृत्तियों का विलय हो जाता है प्रत्युपकार की भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं कि हमने दूसरे का उपकार किया है तो वह भी हमारा करें। अपितु कोई मेरा करें या न करें मैं अवश्य दूसरों की सेवा करूँगा अपने साधर्मि की रत्नत्रय की साधना में सहयोगी बनूँगा। यह निःस्वार्थ भाव है छलकपट रहित भाव है कभी-2 कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि इसने मेरी शिकायत की तो मैं भी इसकी शिकायत करूँगा। यहाँ आपके निःस्वार्थ भाव समाप्त हो गये आप ने शिकायत की पर द्वेष भावना से की। दूसरा व्यक्ति भी गुरु से अपने सहधर्मि की बात कहता है परंतु भावना रखता है कि इनका सुधार हो, इनका हित हो। हितैषी भावना से की शिकायत, शिकायत नहीं वह तो उपकार कर दिया। परंतु जहाँ स्वार्थ वृत्ति, छल कपट पैदा हो जाते हैं वहाँ साधक गुरु से अपने व अपने साधर्मि के दोषों को छिपाता है। यदि गुरु से अपने अपराध कहूँगा तो गुरु मेरा तिरस्कार करेंगे, मुझे डाँटेंगे और यदि साधर्मि के दोष कहूँगा तो वह मुझ पर नाराज होगा। मेरा सहयोग करना बंद कर देगा, मेरी सेवा करना बंद कर देगा, मुझसे बात करना बंद कर देगा। इन बातों की परवाह करने वाले अपने साधर्मि के प्रति कभी भी सम्यक् वात्सल्य नहीं रख सकता। अथवा यूँ कहे कि वह वात्सल्य अंग का पालन नहीं कर सकेगा क्योंकि वात्सल्य के पीछे हितैषी भावना छिपी होती है। यदि आपने साधर्मि के दोष छिपा लिये तो वह सदोष चर्या पालन कर व्रतों से प्रारंभ होने वाले समीचीन फल को प्राप्त नहीं कर सकेगा, कल्याण के स्थान पर उसका अकल्याण हो जायेगा। फिर आप अपने साधर्मि के मित्र नहीं सबसे बड़े शत्रु कहलायेंगे। इसलिए मायाचारी, छलकपट भाव से रहित होकर ही सम्यक् वात्सल्य भावों को अपनाना चाहिए।

आगे कहा वात्सल्य भाव किसके प्रति कैसा हो, तो “यथायोग्य” प्रतिपत्तिः अर्थात् वात्सल्य भाव योग्यतानुसार रखे यदि साधर्मि हमसे बड़े हैं तो पाटा-चटाई लगा दे, हाथ-पैर दबा दें। वैयावृत्ति के भी अनेक भेद हैं। 1. एक तन की 2. दूसरी मन की।



किसी को खाने-पीने की पूछ लेना, उनका ध्यान रख लेने मात्र का नाम वात्सल्य नहीं है अपितु वात्सल्य के प्रति धर्म वृद्धि व रक्षा की भावना होनी चाहिए। यदि माँ बच्चे पर हमेशा लाड़-प्यार ही उड़ेलती रहे, कभी डाँट न तो बच्चे बिगड़ जाते हैं। जिद्दी व कामचोर हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का भविष्य धूमिल ही होता है क्योंकि सुसंस्कार लाड़-प्यार के कारण उनके अंदर आ ही नहीं पाये हैं। जो माताएँ अपने बच्चों को समय-2 पर डाँटती रहती हैं, सन्मार्ग दिखाती रहती हैं माँ की डाँट रूपी चोट बच्चे के अंदर पनपती खोटों को दूर करती जाती है परिणाम यह निकलता है बच्चा भविष्य में बहुत गंभीर, धैर्यशील, सहनशील बन कर बहुत उन्नति करता है क्योंकि उसका जीवन सुसंस्कारों से सज्जित हो जाता है। माँ जो बच्चे के उज्ज्वल भविष्य में निमित्त बनी है वही सच्चा वात्सल्य है। तथा जो लाड़-प्यार भविष्य बिगाड़ दे वह वात्सल्य संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता।

एक टीचर यदि बच्चों को डाँटना बंद कर दे तो बच्चे प्रमादी हो जायेगे, पढ़ेंगे, लिखेंगे नहीं और परीक्षा परिणाम बिगड़ जायेगा। परंतु जो टीचर सख्ती रखता है डंडे की मार का डर दिखा-दिखा कर सबक याद करा देता है वह भविष्य को उज्ज्वल बनाने में हेतु बनता है। कभी ऐसा हो सकता है कि किसी साधर्मी का स्वास्थ्य बहुत खराब है तब तन की सेवा महत्वशाली है। तथा कभी ऐसा होता है कि सहनशीलता आदि के अभाव में कभी-2 मन विचलित होने लगता है तब मन की वैय्यावृत्ति कीजिए। आप अच्छा-2 चिंतन अपने साधर्मी को सुना दीजिए। देखो महाराज! पूर्व में बड़े-2 महापुरुषों ने कैसा-2 कष्ट सहा है। परंतु वे कभी अपने संयम से विचलित नहीं हुए फिर हम पर क्या कष्ट आया। यह तो पानी की बूंद की तरह है। अतः धैर्य धारण कीजिए, देखो अंजना के पास तो जंगल में कोई सहयोगी भी नहीं था यहाँ तो हम लोग इतने सारे लोग हैं आप बिल्कुल मत घबराइए। यह मानसिक सेवा है। पात्र के अनुसार आवश्यकता के अनुसार, यथायोग्य रीति से वात्सल्य भाव रखना चाहिए।

तथा जो जिन गुणों से समृद्ध है उसका उसी पदानुसार-योग्यतानुसार आदर सत्कार होना चाहिए। ऐसा न हो कि धन-वैभव आदि बाह्य दृष्टि से अधिक पात्रता वाले व्यक्ति तो कम आदर सत्कार प्राप्त करें तथा कम पात्रता वाला व्यक्ति अधिक आदर-सत्कार को प्राप्त हो। ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि पैसा आदि बाह्य कारण महत्वशाली नहीं अपितु व्यक्ति की पात्रता महत्वशाली है। बच्चों का परिणाम प्रोजेक्ट आता है।

बस ठीक इसी प्रकार सच्चा धर्मात्मा अपना कर्तव्य देखता है स्वार्थ नहीं। सम्मान स्वार्थ का नहीं अच्छाई का होता है। कुछ लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अपने से बड़े साधर्मियों की जी हुजूरी, चापलूसी करने में लग जाते हैं वह भी कोई वात्सल्य नहीं। क्योंकि जी हुजूरी करने में कर्तव्याकर्तव्य, हिताहित, योग्यायोग्य का विचार नहीं रहता अपितु मात्र स्वार्थ वृत्ति होती है। इसीलिए

आचार्य भगवन् को कहना पड़ा-‘प्रतिपतिर्यथायोग्य’ अपने साधर्मियों का सम्मान यथायोग्य ही होना चाहिए। स्वार्थवृत्ति, छलकपट, चापलूसी आदि भावनाएँ नहीं होना चाहिए। यथायोग्य पात्रानुसार किया गया सत्कार ही “वात्सल्य-अभिलष्यते: वात्सल्य भाव। वात्सल्य अंग कहलाता है।

वात्सल्य का उद्भव, आत्मा से होता है वात्सल्य अंतरात्मा का धर्म है। वात्सल्य भाव कहीं बाहर से नहीं आता। वह तो अंतरात्मा में ही जन्मता है। वात्सल्य के पीछे साधर्मी के प्रति हित की, उसके धर्म वृद्धि तथा धर्म रक्षा की भावना होती है।

इसीलिए वात्सल्य एक धर्म कहा गया है ऐसे ‘वात्सल्य-धर्म’ से आप अपनी आत्मा को भिगाकर आत्महित के पथानुगामी बनें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”



निजात्मा की आराधना कर

अतुल सुखनिधानं ज्ञान विज्ञान बीजं, विलयगत कलङ्क शान्त विश्वप्रचारम् ।
गलित सकलशङ्क विश्वरूपं विशालं, भज विगत विकार स्वात्मनात्मानमेव ।।

अर्थ : जो अनुपम सुख का भण्डार है, ज्ञान-विज्ञान का बीज है, समस्त कलङ्कों से रहित है, जिसमें समस्त प्रचार शांत है, जो सब शङ्काओं भयों अथवा संदेहों से रहित है, विश्वरूप है तथा निर्विकार है, ऐसे आत्मा की ही तू निजात्मा के द्वारा आराधना कर।





प्रवचन-18

श्लोक-18

आत्म प्रभावना से धर्म प्रभावना

भव्य मनीषियो! सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में 'धर्म प्रभावना' यह अंतिम अंग है। सोलहकारण भावना में मार्गप्रभावना नामक 15वीं भावना में भी इसी की चर्चा की गई है। तात्पर्य यह है कि प्रभावना इतनी महत्वशाली है कि जो तीर्थंकर प्रकृति के भी बंध में निमित्त बनती है। प्रारंभिक 4 अंग तो मात्र सम्यग्दर्शन में अतिचार पैदा कर रहे थे परंतु शेष 4 अंगों का पालन यदि नहीं किया जाए तो सम्यग्दर्शन समूल ही नष्ट हो जायेगा। यदि आपके जीवन में प्रभावना अंग नष्ट हो गया तो समझो रत्नत्रय का मूल रत्न ही चला गया इसलिए इन अंगों के पालन में दृढ़ चित्त होना चाहिए और किसी भी अंग में दृढ़ होने के पूर्व उसकी समूल जानकारी होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि प्रभावना किसे कहते हैं-तो जिनधर्म की महिमा का प्रकाश सर्व जगत में फैलाना ही प्रभावना है-प्रभावना मुख्य रूप से दो प्रकार से होती है। 1. आत्म प्रभावना 2. धर्म प्रभावना।

आत्म प्रभावना-आत्म प्रभावना का तात्पर्य है कि हमारी आत्मा धर्म से भींगी होनी चाहिए, धर्म से प्रभावित होना चाहिए। क्योंकि यदि हमारी आत्मा ही धर्म से प्रभावित नहीं होगी तो हम दूसरों को धर्म से क्या प्रभावित कर पायेंगे। तथा आत्मा धर्म से प्रभावित हो इसका तात्पर्य यह है कि धर्म मात्र क्रियाकाण्ड तक ही हमारे जीवन में सीमित न रह जाये। अपितु अंतरात्मा में उतर जाये। चूंकि प्रतिक्रमण का समय हो गया है इसलिए हम क्रिया की पूर्ति के लिए समय पर उपस्थित हो गये और प्रतिक्रमण का वाचन कर लिया यह तो बाह्य क्रिया हुई परंतु आपकी आत्मा प्रतिक्रमण के समय धर्म से कितनी भींगी निंदा, गर्हा रूप परिणाम कितने कैसे हुए अर्थात् आपने यदि भाव प्रतिक्रमण किया है तो वह मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत होगा अन्यथा “यस्मात्क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः” कोरी भाव शून्य की गई क्रिया कर्मक्षय रूप समीचीन फल को प्रदान नहीं कर सकती। जब हम भाव सहित कोई भी क्रिया करते हैं तो प्रमाद भाव स्वयं भाग जाता है।

माना आप सामायिक कर रहे हैं और आपकी यदि भाव सहित सामायिक चल रही है तो प्रथम तो आत्मतत्त्व विषयक चिंतन धाराएँ प्रवाहमान रहेगी और आपको नींद नहीं आ सकती और यदि कदाचित् आ भी गई तो झटका लगते ही आप तुरंत सावधान हो जायेंगे, निंदा गर्हा, आलोचना के



भाव जाग्रत होंगे। कि हे भगवन्! न जाने मेरे कौन से अशुभ कर्म उदय में आये जो मेरे ध्यान में विघ्न पैदा हुआ अब मैं प्रयत्न/प्रयास करूँगा कि मेरी क्रियाएँ व्यवस्थित ढंग से हो।

आप की आत्मा धर्म से भींगी है इसलिए सुधार विषयक चिंतन उत्पन्न हो रहा है। सच्चा धर्मात्मा धर्म व धर्म के फल को पाकर आनंदित, आल्हादित हो जाता है। क्योंकि उसकी आत्मा धर्म से भींगी है। कभी सामायिक विशेष अच्छी हो, अच्छा-2 चिंतन उत्पन्न हो तो मन आनंदित हो जाता है। आज मैंने बहुत अच्छा किया, आज इतनी पूजन कर ली, आज इतना विषय याद कर लिया, इतना लेखन कर लिया, इतना स्वाध्याय कर लिया इत्यादि धर्म क्रियाएँ की तो मन में अपार आनंद व हर्ष हो गया। आचार्य ब्रह्मदेवसूरि वृहद् द्रव्य संग्रह ग्रंथ में लिखते हैं- “धम्मो धम्म फलम्मि य हर्षो भावो य होई संवेगो”। अर्थात् धर्म व धर्म के फल में हर्ष भाव का होना संवेग है। तथा संवेग सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों में से एक गुण है। जो बतला रहा है कि आपकी आत्मा धर्म से भींगी है। आपकी आत्मा धर्म से प्रभावित है। सामायिक को सम्यग्दृष्टि जीव बोझ नहीं मानता अपितु अपने आप को सामायिक में आल्हादित व आनंदित महसूस करता है और ऐसे धर्मात्मा ही धर्म की सच्चे अर्थों में प्रभावना कर सकते हैं।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रंथ में श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज कहते हैं-

**आत्म प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सतत मेव।
दानतपो जिनपूजा विधातिशयैश्च जिनधर्मः।।३०।।**

अर्थात् रत्नत्रय के तेज से सदैव आत्मा को प्रभावित करते रहना चाहिए। क्योंकि जो आत्मा रत्नत्रय धर्म से प्रभावित है। जिसके अंदर में रत्नत्रय धर्म उतर चुका है जिसकी आत्मा रत्नत्रयमय हो चुकी है वही सच्चे अर्थों में धर्म प्रभावना का पात्र है और जिसकी आत्मा स्वयं रत्नत्रय से प्रभावित नहीं है वह येनकेन प्रकारेण, यद्वा-तद्वा प्रकार से क्रियाकाण्ड तो कर लेता है परंतु अंतरात्मा में धर्म नहीं उतर पाता। सामायिक की परंतु टिक गये, सो गये, जैसे-तैसे झोंके लेते-2 48 मिनट पूरे कर देने का नाम सामायिक नहीं। अपितु सम्यक् प्रकारेण आत्मा का लेखन जिसमें किया जाता है वह सामायिक है। अर्थात् जिसके माध्यम से आप अपनी आत्मा के नजदीक पहुँचते हैं उसका नाम सामायिक है। प्रतिक्रमण किया परंतु उसमें आनंद नहीं बोझ समझकर पढ़ लिया अथवा कोई पढ़ रहा है तो अब हमें क्यों पढ़ना हम सुन ही लेते हैं और फिर अब सुने कौन टिककर सो ही जाते हैं जहाँ ऐसे प्रमाद भावों को स्थान मिल रहा है वहाँ से सच्चा धर्म कोसों दूर है। ऐसे साधक तो मात्र द्रव्य लिंग में ही अटकते हैं क्योंकि उनकी आत्मा अभी धर्म से प्रभावित नहीं हुई है। जब आत्मा धर्म से प्रभावित हो जाती है तो कहना नहीं पड़ता कि आप पाठ पढ़िये, स्तुति स्तोत्र पढ़िये, ऊँचे स्वर में पढ़िये क्योंकि जहाँ श्रद्धा है वहाँ नियम से भक्ति होती है तथा जहाँ भक्ति है वहाँ स्तुति नियम से होती है और जहाँ स्तुति का भाव है वहाँ स्वर वचन वर्गणा स्वयं ही निकलने लगती है। मन, वचनों को गति प्रदान कर देता



है। भगवान को देख भक्त चुप बैठ ही नहीं सकता वह तो भक्ति में अधीर/वाचाल हो जाता है और परमात्मा की स्तुतियाँ कंठ से स्वयं निःसृत होने लगती है। यही भक्ति कह देती है आत्मा धर्म से प्रभावित है और जहाँ प्रमाद पर प्रमाद हो रहा है अब कौन प्रतिक्रमण पड़े, मुझे तो नींद आती है, स्तुति पढ़ने में माथा दुःखता है समझ लीजिए आत्मा में अभी धर्म का प्रवेश नहीं हुआ, आत्मा धर्म से भींगी नहीं है और जब आप अपनी आत्मा को ही धर्म से प्रभावित नहीं कर पाये तो दूसरे की आत्मा को क्या कर पायेंगे। क्योंकि आत्मा का रत्नत्रय के तेज से प्रभावित होना यह प्रथम प्रभावना का अंग है। जब हमारी आत्मा धर्म से भींगी है तो व्यक्ति स्वयं तो अपनी क्रियाएँ हर्षित मन से करेगा ही साथ ही दूसरों को भी प्रेरित कर सकेगा कि आप भी ऐसा कीजिए।

दूसरा नं. बाह्य प्रभावना जिसे हम धर्म प्रभावना कहते हैं उसका आता है दान, तप, जिनपूजा, विद्या का अतिशय और भी अनेक प्रकार से धर्म प्रभावना की जा सकती है।

कोई साधक आवश्यक नहीं कि बड़े-2 प्रवचन करके या पूजन विधान करके ही धर्म प्रभावना कर सकता क्योंकि बड़ी-2 आयोजनाएँ व प्रवचन कभी-2 लोकैषणा के स्थान भी बन जाते हैं फिर व्यक्ति अपने समीचीन लक्ष्य को भूलकर मात्र बाह्य प्रभावना को ही धर्म समझने लगता है। बाह्य पौद्गलिक पदार्थों तक ही सीमित होकर अपनी आत्मा को भूल जाता है। सबकी गिनती में स्वयं को गिनना भूल जाता है।

एक बार की बात है सात अंधे भाई(व्यक्ति) मेला घूमने के लिए गये। मेला नदी के उस पार जाकर गांव में लगा था। उन्होंने एक-2 कर गिनती की और नाव में बैठ गये, बड़े आनंद से मेला घूमा और खुशी-2 वापस लौटने लगे, लौटने के पूर्व नाव में बैठना था और नाव में बैठने के लिए एक-2 की गिनती प्रारंभ की। बड़े भाई ने गिनना प्रारंभ किया एक,दो,तीन,चार,पांच,छह और सोच में पड़ गया आये थे हम 7 और रह गये 6। हो सकता है ठीक से न गिना हो पुनः गिनती की 1,2,3,4,5,6 बार-बार गिना परंतु 6 ही गिनने में आये। बड़ा भाई उदास चित्त हो रोने लगा। नाविक ने पूछा-भाई क्यों रोते हो बड़ा भाई बोला-हम 7 भाई मेला घूमने गये थे पर 7 में से 6 ही बचे। 1 मेले में खो गया बस इसीलिए रो रहा हूँ कि माँ को जाकर क्या जबाब दूँगा। नाविक ने कहा एक बार पुनः तो गिन लो। गिनती पुनः गिनी गई 1,2,3,4,5,6 अभी भी 6 ही थे। बड़े भाई का दुःख बढ़ गया और वह जोरों से रोने लगा। तब नाविक ने कहा-अरे भाई! रोना छोड़ो ये तो कहो कि तुमने अपनी गिनती की क्या। बड़ा भाई बोला- हाँ 6 तो मेरे भाई और सांतवा मैं। मैं अपने आप को गिनना ही भूल गया। भूल सुधरते ही खुश हो गया और आनंदित हो अपने घर चला गया।

बंधुओ! अधिकांशतः प्राणी जगत की दशा ऐसी ही है वह सबको गिनता है परंतु स्वयं को भूल जाता है बाह्य पौद्गलिक अवस्थाओं में इतना भूल जाता है कि स्वयं की खबर ही नहीं, स्वरूप पर दृष्टि ही नहीं, आत्मा का कुछ विचार ही नहीं। इसलिए बाह्य प्रभावना करना उसका ही सार्थक



है। जिसने अपना लक्ष्य विस्मृत न किया हो। सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य सब क्रियाकाण्ड करता हुआ भी 'जल ते भिन्न कमल' की तरह संसार के कार्यों में लिप्त नहीं होता। इसीलिए बाह्य प्रभावना यदि अंतरंग प्रभावना के साथ है तो वह सार्थक है तथा उसका प्रभाव भी अचिंत्य ही होता है। सच्चे साधक तो बिना कुछ कहे ही संपूर्ण मोक्षमार्ग का निरूपण कर सबसे बड़ी धर्म भावना में हेतु बनते हैं-सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज कहते हैं-

“अवाग्विसर्गा वपुषा निरूपयन्तं” अर्थात् वे मुनिजन मुख से कुछ बोले बिना मात्र शरीर से मोक्षमार्ग का निरूपण कर देते हैं साधुओं की परिचर्या ही प्रभावना का बहुत बड़ा अंग बनती है।

यदि एक समूह के सारे साधु एक साथ चलते हैं तो उनका एक साथ चलना, एक साथ स्तुति पाठ बोलना, एक साथ प्रतिक्रमण, सामायिक, स्वाध्याय आदि करना, एक साथ विहार करना एक साथ आहार में उठना इत्यादि सब सामूहिक क्रियायें प्रभावना का बहुत बड़ा अंग बनती हैं। यदि एक समूह में 10 साधक हैं और वे एक साथ न रहकर कोई पूर्व जावे, कोई पश्चिम तो प्रभावना के स्थान पर अप्रभावना का हेतु बनता है कोई कहीं बैठा, कोई कहीं। आने वाला दर्शनार्थी भी जब साधु वृंद को एक साथ देखता है तो कह उठता है कि पंचम काल में भी चतुर्थ कालीन समवशरण के जैसा दृश्य प्रतीत हो रहा है और यदि साधु तितरे-वितरे हैं कोई कहीं, कोई कहीं है तो श्रावक उतना प्रभावित न होकर परेशान और हो जाता है। इसलिए साधुओं की हर क्रिया/परिचर्या ऐसी होनी चाहिए कि जो धर्म प्रभावना में निमित्त बने कहीं ऐसा न हो कि आपकी परिचर्या प्रभावना की जगह अप्रभावना का स्थान बन जाये। जो साधु आहारों में ईशारा करते हैं, हँ, हाँ करते हैं, रात्रि में मौन नहीं रहते, व्यवस्थित परिचर्या नहीं रखते वे प्रभावना के स्थान पर धर्म की अप्रभावना में हेतु बन जाते हैं।

यदि आपकी क्रियाएँ ही व्यवस्थित नहीं तो दूसरा व्यक्ति आपसे क्या शिक्षा लेकर जायेगा, उल्टा वह यही कहेगा ये तो आराम से पड़े-पड़े सोते रहते हैं। इनसे अच्छे तो हम घर में ही हैं। क्या हुआ, आपकी चर्या धर्म की अप्रभावना में हेतु बनी दूसरे की श्रद्धा का स्तर आपकी चर्या से गिर गया। अरे! आपकी चर्या तो इतनी सुव्यवस्थित होना चाहिए थी कि किसी की श्रद्धा और बढ़ जाए। जब कभी त्यागी वृंद आपस में मिलकर एक साथ पूजन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय करते हैं तो लोगों का श्रद्धान धर्म के प्रति बढ़ जाता है कि कितना सुव्यवस्थित व शांत जीवन है आनंद ही आनंद है। परंतु यदि आप क्रियाओं में प्रमाद करते हैं समय पर, कोई क्रिया नहीं करते तो आप प्रभावना नहीं अपितु अप्रभावना में हेतु बन रहे हैं। इसलिए प्रत्येक साधक को सदैव इस बात का चिंतन करते रहना चाहिए कि मुझसे प्रभावना विशेष हो सके या न हो सके परंतु अप्रभावना कभी न हो। जिसने धर्म की अप्रभावना से बचने का प्रयत्न किया है वह नियम से प्रभावना का हेतु बना है। आचार्य भगवन् प्रभावना जीवन में कैसे आये इस बात को समझाते हुए कह रहे हैं-



अज्ञानतिमिरव्याप्ति, मपाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासनमाहात्म्य, प्रकाशः स्यात्प्रभावना ।।18।।

अन्वयार्थ-

अज्ञानतिमिर व्याप्तिं	-	अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को
यथायथं	-	समुचित उपायों से
अपाकृत्य	-	दूर करके
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः	-	जैन धर्म का माहात्म्य प्रकट करना सो
प्रभावना स्यात्	-	प्रभावना अंग कहलाता है ।

अर्थ-अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को समुचित उपायों से दूर करके अथवा अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को दूर कर पूर्वापर विरोध रहित ऐसे जिनशासन, जैन धर्म का माहात्म्य प्रकट करना, सो प्रभावना अंग है ।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र महाराज जिनशासन की महिमा के प्रकाश की बात कर रहे हैं तो जिनशासन यानि जिनेन्द्र प्रणीत आगम जिसमें अनेकांत, स्याद्वाद मूलक तत्त्वज्ञान, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों तथा कर्मों के क्षय से मोक्ष प्राप्ति का संपूर्ण विधान है। ऐसे जिन शासन की महिमा को लोगों तक पहुंचाने के लिए आवश्यक है 'अज्ञानतिमिर व्याप्ति मपाकृत्य यथायथं' आज लोक में अज्ञान रूपी तिमिर सर्वत्र व्याप्त है कोई मूढ़ताओं में जी रहा है कोई अंधविश्वास में तथा कोई ऐसा भी है जो संशय, विमोह व अनध्यवसाय का शिकार बना हुआ है। मिथ्यात्व व अज्ञान ने मनुष्य की मति पर पर्दा डाल रखा है। जहाँ अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ हो वहाँ समीचीन ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए अज्ञान रूपी तिमिर को दूर करने के लिए सर्वप्रथम सातिशय ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। सातिशय ज्ञान प्रकाश के द्वारा ही लोक हृदयों में व्याप्त अज्ञानान्धकार को समुचित रूप से दूर कर जिनशासन के माहात्म्य को हृदयांकित किया जा सकता है।

अब वह समीचीन प्रचार प्रसार कैसे हो, जिससे जिनधर्म की प्रभावना हो सके तो

1. वाचनालयों व पाठशालाओं का निर्माण किया जा सकता है जिनके माध्यम से जैन धर्म की प्रारंभिक शिक्षा से लेकर आगे तक की उच्च स्तरीय शिक्षा दी जा सकती है।
2. समय-समय पर गोष्ठियाँ आयोजित की जा सकती हैं जिनके माध्यम से ज्ञान का विशेष मंथन होता है और विषय विश्लेषण होता है बहुत से प्रश्नों का निरसन होता है।
3. विशेष विषयों पर धर्मोपदेश/प्रवचन के माध्यम से शिक्षा का प्रचार प्रसार किया जा सकता है।
4. अज्ञान के निरसन व जिनधर्म की प्रभावना हेतु किन्हीं विशेष अवसरों पर जुलूस, पंच कल्याणक महोत्सव, विधान, रथोत्सव आदि कार्यक्रम किये जा सकते हैं



5. विशेष तप, जप, अनुष्ठान, उपवास आदि भी धर्म प्रभावना में हेतु बनते हैं।

जैनों का धर्म मुख्य रूप से त्याग व तपस्या के नाम से ही संपूर्ण विश्व में विख्यात है क्योंकि जैसी त्याग तपस्या जिनधर्म में है वैसी अन्यत्र देखने नहीं मिलती। जब किसी अन्य मतावलंबी को हम यह कहते हैं कि हमारे जिनधर्म में संत एक बार ही भोजन करते हैं उनमें भी जीव, बाल आदि अशुद्धि के आ जाने पर वही हाथ छोड़ देते हैं फिर 24 घंटे बाद ही पुनः आहार को उठते हैं।

केशलौंच अर्थात् अपने हाथों से अपने केशों का लुंचन करते हैं। रात्रि में मौन रहते हैं। सदा पैदल ही चलते हैं गर्मी-ठण्डी-बरसात में, नग्न रहते हैं वस्त्रों का त्याग रहता है जूते चप्पल नहीं पहनते चाहे कांटे चुभे या कंकर। तो सुनने वाले दांतों दले अंगुलियाँ दबाते हैं कि धन्य है जैन धर्म की त्याग तपस्या। हमारे पास समय-2 पर विदेश से विदेशी आते रहते हैं। वे बड़े जिज्ञासु होते हैं जब हम उन्हें अपनी परिचर्या से अवगत कराते हैं तो वे आश्चर्य करते To Much Imaging अर्थात् बड़ी चमत्कारिक चर्या है। इसीलिए कहा जाता है दिगंबर जैन संत चलते फिरते तीर्थ हैं। उनकी परिचर्या ही उपदेश दे देती है यदि वे एक शब्द भी मुख से न भी बोले तो भी उनकी चर्या मात्र ही सब कुछ कह देती है और अन्य मतों के साधु भी हम लोगों के पास आते हैं चर्या देखते हैं तो नतमस्तक हो जाते हैं।

जब हम लोग तमिलनाडू के मेलचित्तमूर में चातुर्मास कर रहे थे तब हमारे पास अन्य धर्मानुयायी साधु शिवराम जी आया करते थे उनके लगभग 5000 अनुयायी थे। वे हमारी चर्या से बहुत प्रभावित थे समय-2 पर चर्चा होती रहती थी वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने रात्रि भोजन का भी त्याग कर दिया। सदा दिगंबर संतों की कठोर परिचर्या देख नतमस्तक रहते थे।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे भी बने वैसे यथायोग्य रीति से “जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना” जिन शासन की महिमा को प्रकाशित करना ही प्रभावना अंग कहलाता है।

अतः आप सब भी इस अंग को समीचीन रूप से पालन करने हेतु अप्रभावना के संपूर्ण हेतुओं से बचने का प्रयत्न करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार सभी धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होकर अपने सम्यग्दर्शन को पुष्ट कर अनंत संसार का क्षय करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नमिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-19

श्लोक-19, 20

जगतपूज्य बनायें अंग

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् जो हमारे जैन धर्म के प्रकाण्ड धुरन्धर विद्वान् आचार्य हुए हैं उन ने 11 से 18 तक के 8 श्लोकों के माध्यम से सम्यग्दर्शन के 8 अंगों का सुंदर विश्लेषण किया। जो मानव इन अष्टांगों से संपन्न शुद्ध निर्मल सम्यक्त्व को धारण करता है वह उसकी निर्मलता व प्रकर्षता को प्राप्त होता हुआ जगतपूज्य बन जाता है लोक में प्रसिद्धि को पा लेता है। पूज्य आचार्य भगवान् एक-एक अंग में प्रसिद्ध हुए व्यक्तियों का नामोल्लेख करते हुए कहते हैं-

तावदञ्जन चौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
 उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥19॥
 ततो जिनेन्द्र भक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः ।
 विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥20॥

अन्वयार्थ-

तावत् अङ्गे	-	पहले निःशंकित अंग में
अञ्जनचौरः	-	अंजन चोर और
ततः अनन्तमतिः	-	दूसरे निःकाक्षित अंग में अनन्तमती
स्मृता	-	स्मरण की गई है।
तृतीये	-	तृतीय निर्विचिकित्सा अंग में
उद्दायनः	-	उद्दायन नाम का राजा
अपि	-	और
तुरीये	-	चौथे अमूढदृष्टि अंग में



रेवती मता	-	रेवती रानी मानी गई है।
ततः अन्यः	-	पाँचवे उपगूहन अंग में
जिनेन्द्र भक्तः	-	जिनेन्द्र भक्त नाम का सेठ
ततः परः	-	तथा छठवे स्थितिकरण अंग में
वारिषेणः	-	वारिषेण नामक श्रेणिक राजा का पुत्र
च	-	और
शेषयोः	-	शेष के वात्सल्य और प्रभावना अंग में
विष्णुः च वज्रनामा-		विष्णुकुमार मुनि और वज्रकुमार मुनि
लक्ष्यतां गतौ	-	प्रसिद्धि को प्राप्त हुए है।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन के पहले निःशंकित अंग में अंजनचोर, दूसरे निःकांक्षित अंग में अनंतमती, तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन राजा, चौथे अमूढदृष्टि अंग में रेवती रानी, पाँचवे उपगूहन अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठवें स्थितिकरण अंग में वारिषेण राजपुत्र और शेष के वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार मुनि व प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए है।

अंजन चोर की कथा

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्म के प्रभाव से अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के देव हुए। और एक दूसरे के धर्म की परीक्षा करने के लिए पृथिवी लोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषि को तप से विचलित किया। मगध देश के राजगृह नगर में जिनदत्त नाम का सेठ उपवास का नियम लेकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में कायोत्सर्ग में स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देव ने विद्युत्प्रभ से कहा कि हमारे मुनि दूर रहें, इस गृहस्थ को ही तुम ध्यान से विचलित करो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देव ने उस पर अनेक प्रकार उपसर्ग किये, फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातः काल अपनी माया को समेटकर विद्युत्प्रभ ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, दूसरे के लिए पंचनमस्कार मंत्र की अर्चना और आराधना की विधि से सिद्ध होगी। जिनदत्त के यहाँ सोमदत्त नाम का एक ब्रह्मचारी वटु रहता था, जो जिनदत्त के लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठ ने पूछा कि आप प्रातःकाल उठकर कहाँ जाते हैं। सेठ ने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना भक्ति करने के लिए जाता हूँ। 'मुझे इस प्रकार के आकाशगामिनी विद्या का लाभ हुआ है' सेठ के ऐसा कहने पर सोमदत्त वटु ने कहा कि मुझे भी यह विद्या देओ, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूँगा। तदनन्तर सेठ ने उसके लिए विद्या सिद्ध करने की विधि बतलाई।



सोमदत्त वटु ने कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्री को श्मशान में वटवृक्ष की पूर्व दिशा वाली शाखा पर एक सौ आठ रस्सियों का एक मूँज का सींका बाँधा, उसके नीचे सब प्रकार के पैने शस्त्र ऊपर की ओर मुख कर रखे। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि देकर सींके के बीच प्रविष्ट हो उसने वेला-दो दिन उपवास का नियम लिया। फिर पंचमनमस्कार मंत्र का उच्चारण कर छुरी से सींके की एक-एक रस्सी को काटने के लिये तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रों के समूह को देखकर वह डर गया तथा विचार करने लगा कि यदि सेठ के वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शंकित चित होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय राजगृही नगरी में एक अंजन सुन्दरी नाम की वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनकप्रभ राजा की कनक रानी का हार देखा। रात्रि को जब अंजन चोर उस वेश्या के यहाँ गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनकरानी का हार दे सकते हो तो मेरे भर्ता बन सकते हो, अन्यथा नहीं। तदनन्तर अंजन चोर रात्रि में हार चुराकर आ रहा था कि हार के प्रकाश से वह जान लिया गया। अंगरक्षकों और कोटपाल ने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्ष के नीचे सोमदत्त वटुक को देखकर उसने उससे सब समाचार पूछा तथा उससे मंत्र लेकर सींके पर चढ़ गया। उसने निःशंकित होकर उस विधि से एक ही बार में सींके की सब रस्सियाँ काट दी। ज्यों ही वह शस्त्रों के ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई। सिद्ध हुई विद्या ने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो। अंजन चोर ने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठ के पास ले चलो। उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरु के चैत्यालय में स्थित था। विद्या ने अंजन चोर को ले जाकर सेठ के आगे खड़ा कर दिया। अपना पिछला वृत्तान्त कहकर अंजन चोर ने सेठ से कहा कि आपके उपदेश से मुझे जिस प्रकार यह विद्या प्राप्त हुई है उसी प्रकार परलोक की सिद्धि के लिये भी आप मुझे उपदेश दीजिये। तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास दीक्षा लेकर उसने कैलाश पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

अनन्तमती की कथा

अंग देश की चंपानगरी में राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। प्रियदत्त नाम का सेठ था, उसकी स्त्री का नाम अंगवती था और दोनों को अनन्तमती नाम की पुत्री थी। एक बार नन्दीश्वर-अष्टाह्निक पर्व की अष्टमी के दिन सेठ ने धर्मकीर्ति आचार्य के पादमूल में आठ दिन तक का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठ ने क्रीडावश अनन्तमती को भी ब्रह्मचर्य व्रत लिवा दिया।

अन्य समय जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया तब उसने कहा कि पिताजी! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, इसलिये विवाह से क्या प्रयोजन है। सेठ ने कहा-मैंने तो तुझे



क्रीडावश दिलाया था। अनन्तमती ने कहा कि व्रतिरूप धर्म के विषय में क्रीडा क्या वस्तु है? सेठ ने कहा-पुत्री! नन्दीश्वर पर्व के आठ दिन के लिये तुझे ब्रह्मचर्य व्रति दिलाया था, न कि सदा के लिये। अनन्तमती न कहा पिताजी! भट्टारक महाराज ने तो वैसा नहीं कहा था। इन जन्म में मेरा विवाह त्याग है। ऐसा कहकर वह समस्त कलाओं के विज्ञान की शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार जब वह पूर्ण यौवनवती हो गई तब चैत्र मास में अपने घर के उद्यान में झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित किन्नरपुर नगर में रहने वाला कुण्डलमण्डित नामक विद्याधरों का राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्री के साथ आकाश में जा रहा था। उसने उस अनन्तमती का देखा। देखते ही वह विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहने से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचार कर वह अपनी स्त्री को तो घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर विलाप करती हुई अनन्तमती को हर ले गया। जब वह आकाश में जा रहा था तब उसने अपनी स्त्री सुकेशी को वापिस आती देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमती को महाअटवी में छोड़ दिया। वहाँ उसे रोती देख कर भीम नामक भीलों का राजा अपनी वसति में ले गया और 'मैं तुम्हें प्रधान रानी का पद देता हूँ तुम मुझे चाहो' ऐसा कहकर रात्रि के समय उसके न चाहने पर भी उपभोग करने लिए उद्यत हुआ। व्रत के माहात्म्य से वन देवता ने उस भीलों के राजा की अच्छी पिटाई की। 'यह को देवी है' ऐसा समझकर भीलों का राजा डर गया और उसने वह अनन्तमती बहुत से वनिजारों के साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख वनिजारे के लिये दे दी। प्रमुख वनिजारे ने लोभ दिखाकर विवाह करने की इच्छा की, परन्तु अनन्तमती ने उसे स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर वह वनिजारा उसे लाकर अयोध्या की कामसेना नाम की वेश्या को सौंप गया। कामसेना ने उसे वेश्या बनाना चाहा पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्या ने सिंहराज नामक राजा के लिये वह अनन्तमती दिखलाई और वह राजा रात्रि में उसे बलपूर्वक सेवन करने के लिये उद्यत हुआ, परन्तु उसक व्रत के माहात्म्य से नगर देवता ने राजा के ऊपर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घर से निकाल दिया।

खेद के कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नाम की आर्यिका ने 'यह श्राविका है' ऐसा मान कर बड़े सम्मान के साथ उसे अपने पास रख लिया। तदनन्तर अनन्तमती का शोक भुलाने के लिये प्रियदत्त सेठ बहुत से लोगों के साथ वन्दना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया, और अपने साले जिनदत्त सेठ के घर संध्या के समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रि के समय पुत्री हरण का समाचार कहा। प्रातःकाल होने पर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना भक्ति करने के लिये गये। इधर जिनदत्त सेठ की स्त्री ने अत्यन्त गौरवशाली पाहुने के निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घर में चौक पूरने के लिये आर्यिका की श्राविका को बुलवा लिया। वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिका में चली गई। वन्दना



भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापिस आये तब चौक देखकर उन्हें अनन्तमती का स्मरण हो आया, उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद् वचनों से अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे मुझे दिखलाओ। तदनन्तर वह श्राविका बुलाई गई। पिता और पुत्री का मेल होने पर जिनदत्त सेठ ने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमती ने कहा कि पिताजी! अब मुझे तप दिला दो, मैंने एक ही भव में संसार की विचित्रता देख ली है। तदनन्तर कमलश्री आर्यिका के पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तप किया। अन्त में संन्यासपूर्वक मरण कर उसकी आत्मा सहस्रार स्वर्ग में देव हुई।

उद्दायन राजा की कथा

एक बार अपनी सभा में सम्यग्दर्शन के गुणों का वर्णन करते हुए सौधर्मेन्द्र ने वत्स देश के रौरकपुर नगर के राजा उद्दायन महाराज के निर्विचिकित्सित गुण की बहुत प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिये एक वासव नाम का देव आया। उसने विक्रिया से एक ऐसे मुनि का रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्ठ से गलित हो रहा था। उस मुनि ने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्दायन के हाथ से दिया हुआ समस्त आहार और जल माया से ग्रहण किया। पश्चात् अत्यन्त दुर्गन्धित वमन कर दिया। दुर्गन्ध के भय से परिवार के सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्दायन अपनी रानी प्रभावती के साथ मुनि की परिचर्या करता रहा। मुनि ने उन दोनों के ऊपर वमन कर दिया। 'हाय, हाय मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है' इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजा ने मुनि का प्रक्षालन किया। अन्त में देव अपनी माया समेटकर असली रूप में प्रकट हुआ और पहले का सब समाचार कहकर तथा राजा की प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्दायन महाराज वर्धमान स्वामी के पादमूल में तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तप के प्रभाव से ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई।

रेवती रानी की कथा

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी सम्बन्धी मेघकूट नगर का राजा चन्द्रप्रभ अपने चन्द्रशेखर पुत्र के लिये राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना-भक्ति के लिये कुछ विद्याओं को धारण करता हुआ दक्षिण मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्य के समीप क्षुल्लक हो गया। एक समय वह क्षुल्लक, वन्दना-भक्ति के लिये उत्तर मथुरा की ओर जाने लगा। जाते समय उसने गुप्ताचार्य से पूछा कि क्या किसी से कुछ कहना है। भगवान गुप्ताचार्य ने कहा कि सुव्रत मुनि को वन्दना और वरुणराज की महारानी रेवती के लिये आशीर्वाद कहने योग्य है। क्षुल्लक ने तीन बार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा। तदनन्तर क्षुल्लक ने कहा कि वहाँ ग्यारह अंक के धारक भव्यसेनाचार्य तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं। उनका आप नाम भी नहीं लेते हैं। उसमें कुछ कारण अवश्य होगा ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा



गया वहाँ जाकर उसने सुव्रत मुनि के लिये भट्टारक की वन्दना कहीं। सुव्रत मुनि ने परम वात्सल्य भाव दिखलाया। उसे देखकर वह भव्यसेन की वसतिका में गया। क्षुल्लक के वहाँ पहुँचने पर भव्यसेन ने उससे संभाषण भी नहीं किया। भव्यसेन, शौच के लिये बाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डलु लेकर उनके साथ बाह्य भूमि में गया और विक्रिया से उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया जो कि हरे-भरे कोमल तृणों के अंकुरों से आच्छादित था। उस मार्ग को देखकर क्षुल्लक ने कहा भी कि 'आगम में ये सब जीव कहे गये हैं।' भव्यसेन आगम पर अरुचि-अश्रद्धा दिखाते हुए तृणों पर चले गये। क्षुल्लक ने विक्रिया से कमण्डलु का पानी सुखा दिया। जब शुद्धि का समय आया तो कमण्डलु में पानी नहीं है तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती है यह देख वे आश्चर्य में पड़ गये। तदनन्तर उन्होंने स्वच्छ सरोवर में उत्तम मिट्टी से शुद्धि की। इन सब क्रियाओं से उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लक ने भव्यसेन का अभव्यसेन नाम रख दिया।

तदनन्तर दूसरे दिन पूर्व दिशा में पद्मसासन पर स्थित चार मुखों से सहित, यज्ञोपवीत आदि से युक्त तथा देव और दानवों से वन्दित ब्रह्मा का रूप दिखाया। राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहाँ गये परन्तु रेवतीरानी लोगों से प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि यह ब्रह्मा नाम का देव कौन हैं? इसी प्रकार दक्षिण दिशा में गरुड़ के ऊपर आरुढ़, चार भुजाओं से सहित, तथा गदा, शंख आदि के धारक नारायण का रूप दिखाया। पश्चिम दिशा में बैल पर आरुढ़ तथा अर्धचन्द्र, जटाजूट, पार्वती और गणों से सहित शंकर का रूप दिखाया। उत्तर दिशा में समवशरण के मध्य में आठ प्रातिहार्यों से सहित, सूर, नर, विद्याधर और मुनियों के समूह से वन्द्यमान, पर्यंकासन से स्थित तीर्थंकर देव का रूप दिखाया। वहाँ सब लोग गये, परन्तु रेवती रानी लोगों के द्वारा प्रेरणा की जाने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि नारायण नौ ही होते हैं। रुद ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस होते हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है और वे सब हो चुके हैं तथा यह तो कोई मायावी है।

दूसरे दिन चर्या के समय उसने एक ऐसे क्षुल्लक का रूप बनाया, जिसका शरीर बीमारी से क्षीण हो गया था। वह रेवती रानी के घर के समीपवर्ती मार्ग में मायामयी मूर्च्छा से पड़ रहा। रेवती रानी के जब यह समाचार सुना तब वह भक्तिपूर्वक उठाकर ले गई, उसका उपचार किया और पथ्य कराने के लिए उद्यत हुई। उस क्षुल्लक ने सब आहार कर दुर्गन्ध से युक्त वमन कर दिया। रानी ने वमन को दूर कर कहा कि हाय, मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार दिया। रेवती रानी के उक्त वचन सुनकर क्षुल्लक ने संतोष से सब माया को संकोच कर उसे गुप्ताचार्य को परोक्ष वन्दना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगों के बीच उसकी अमूढ़दृष्टिता की खूब प्रशंसा की। यह सब कर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्र के लिये राज्य देकर तथा तप ग्रहण कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ तथा रेवती रानी भी तप कर ब्रह्म स्वर्ग में देव हुई।



जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा

सौराष्ट्र देश के पाटलिपुत्र नगर में राजा यशोधर रहता था। उसकी रानी का नाम सुसीमा था। उन दोनों के सुवीर नामक का पुत्र था। सुवीर सप्तव्यसनों से अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी सेवा करते थे। उसने कानों कान सुना कि पूर्व गौड़ की ताम्रलिप्त नगरी में जिनेन्द्रभक्त सेठ के सतखण्डा महल के ऊपर अनेक रक्षकों से सहित श्रीपार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा के ऊपर छत्रत्रय लगा है उस पर एक विशेष प्रकार का अमूल्य वैडूर्यमणि संलग्न है। लोभवश उस सुवीर ने अपने पुरुषों से पूछा कि कोई उस मणि को लाने के लिये समर्थ है? सूय नामक चोर ने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है मैं इन्द्र के मुकुट का मणि भी ला सकता हूं। इतना कहकर वह कपट से क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक कायक्लेश से ग्राम तथा नगरों में क्षोभ करते हुए क्रम से ताम्रलिप्त नगरी पहुंच गया। प्रशंसा से क्षोभ को प्राप्त हुए जिनेन्द्रभक्त सेठ ने जब सुना तब वह जाकर दर्शन कर, वन्दना कर तथा वार्तालाप कर उस क्षुल्लक को अपने घर ले आया। उसने पार्श्वनाथ देव के उसे दर्शन कराये और माया से न चाहते हुए भी उसे मणि का रक्षक बनाकर रख लिया।

एक दिन क्षुल्लक से पूछकर सेठ समुद्र यात्रा के लिये चला और नगर से बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घर के लोगों को सामान ले जाने में व्यग्र जानकर आधी रात के समय उस मणि को लेकर चलता बना। मणि के तेज से मार्ग में कोतवालों ने उसे देख लिया और पकड़ने के लिये पीछा किया। कोतवालों से बचकर भागने में असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठ की ही शरण में जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। कोतवालों का कल-कल शब्द सुनकर तथा पूर्वापर विचार कर सेठ ने जान लिया ही यह चोर है परन्तु धर्म का उपहास बचाने के लिये उसने कहा कि यह मेरे कहने से ही रत्न लाया है, आप लोगों ने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वी को चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठ के वचन को प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठ ने उसे रात्रि के समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टि को भी असमर्थ और अज्ञानीजनों से आये हुए धर्म के दोष का आच्छादन करना चाहिए।

वारिषेण की कथा

मगध देश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानी का नाम चेलिनी था। उन दोनों के वारिषेण नाम का पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एक बार वह उपवास धारण कर चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में कायोत्सर्ग से खड़ा था। उसी दिन बगीचे में गई हुई मगध सुन्दरी नामक वेश्या ने श्रीकीर्ति सेठानी के द्वारा पहिना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हार को देखकर 'इस आभूषण के बिना मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है' ऐसा विचार कर वह शय्या पर पड़ रही। उस वेश्या में आसक्त विद्युच्चोर जब रात्रि के समय उसके घर आया तब उसे शय्या पर पड़ी देख बोला कि प्रिये,



इस तरह क्यों पड़ी हो? वेश्या ने कहा कि 'यदि श्रीकीर्ति सेठानी का हार मुझे देते हो तो मैं जीवित रहूंगी और तुम मेरे पति होओगे, अन्यथा नहीं।' वेश्या के यह वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चोर आधी रात के समय श्रीकीर्ति सेठानी के घर गया। अपनी चतुराई से हार चुराकर बाहर निकल आया। हार के प्रकाश से 'यह चोर है' ऐसा जानकर गृह के रक्षकों तथा कोतवालों ने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागने में असमर्थ हो गया तब वारिषेण कुमार के आगे उस हार को डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवाल ने उस हार को वारिषेण के आगे पड़ा देखकर राजा श्रेणिक से कह दिया राजन्! वारिषेण चोर है। यह सुनकर राजा ने कहा कि इस मूर्ख का मस्तक छेदकर लाओ। चाण्डाल ने वारिषेण का मस्तक काटने के लिये जो तलवार चलाई वह उसके गले में फूलों की माला बन गई। उस अतिशय को सुनकर राजा श्रेणिक ने जाकर वारिषेण से क्षमा कराई। विद्युच्चोर ने अभयदान पाकर राजा से जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेण को घर ले जाने के लिये उद्यत हुआ। परन्तु वारिषेण ने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्र में भोजन करूंगा अथार्त् दिगम्बर मुनि बनूंगा। तदनन्तर वह सूरसेन गुरु के समीप मुनि हो गया।

एक समय वह मुनि राजगृह के समीपवर्ती पलाशकूट ग्राम में चर्या के लिये प्रविष्ट हुए। वहां राजा श्रेणिक के अग्निभूत मंत्री के पुत्र पुष्पडाल ने उन्हें पड़ागाहा। चर्या कराने के बाद वह अपनी सोमिल्ला नामक स्त्री से पूछकर स्वामी का पुत्र तथा बाल्यकाल का मित्र होने के कारण कुछ दूर तक भेजने के लिए वारिषेण के साथ चला गया। अपने लौटने के अभिप्राय से वह क्षीरवृक्ष आदि को दिखाता तथा बार-बार मुनि को वन्दना करता था। परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्म का विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजा कर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करने पर भी वह सोमिल्ला स्त्री को नहीं भूलता था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थयात्रा कर भगवान् वर्धमान स्वामी के समवशरण में पहुंचे। वहां वर्धमान स्वामी और पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला एक गीत देवों के द्वारा गया जा रहा था, उसे पुष्पडाल ने सुना। गीत का भाव यह था कि जब पति प्रवास को जाता है तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली-कुचैली रहती है परन्तु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित रह सकती है।

पुष्पडाल ने यह गीत अपने तथा सोमिल्ला के सम्बन्ध में लगा लिया इसलिए वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितिकरण करने के लिये उसे अपने नगर ले गये। चेलिनी ने उन दोनों मुनियों को देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्र्य से विचलित होकर आ रहा है? परीक्षा करने के लिये उसने दो आसन दिये-एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेण ने वीतराग आसन पर बैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे। महारानी चेलिनी ने आभूषणों से



सजी हुई उसकी बत्तीस स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दी। तदनन्तर वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा कि ये स्त्रियाँ और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो। यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुआ। परमार्थ से तप करने लगा।

विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा श्रीमती नामली महारानी राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रहलाद और नमुचि ये चार मंत्री थे। वहाँ एक समय शास्त्रों के आधार, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियों से सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यान में ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने समस्त संघ को मना कर दिया कि राजादिक के आने पर किसी के साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जायेगा।

राजा अपने धवलगृह पर बैठा था, वहाँ से उसने पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए नागरिकों को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं, यह यात्रा का समय तो है नहीं। मंत्रियों ने कहा कि नगर के बाहर उद्यान में बहुत से नग्न साधु आये हैं वहीं ये लोग जा रहे हैं। राजा ने कहा कि हम भी उन्हें देखने के लिये चलते हैं। ऐसा कहकर राजा मंत्रियों सहित वहाँ गया। एक-एक कर समस्त मुनियों की वन्दना राजा ने की, परन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया। 'दिव्य अनुष्ठान के कारण ये साधु अत्यन्त निःस्पृह हैं, ऐसा विचार कर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखने वाले मन्त्रियों ने यह कहकर उन मुनियों का उपहास किया कि ये बैल है, कुछ भी नहीं जानते हैं मूर्ख हैं, इसलिये छल से मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए मंत्री राजा के साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्चा कर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखा। देखकर कहा कि यह तरुण बैल पेट भरकर आ रहा है।' यह सुनकर उन मुनि ने राजा के मंत्रियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया। वापिस आकर मुनि ने यह समाचार अकम्पनाचार्य से कहा। अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने समस्त संघ को मरवा दिया। यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर तुम रात्रि को अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है। तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात में समस्त संघ को मारने के लिये जा रहे थे कि कायोत्सर्ग से खड़े हुए उन मुनि को देखकर विचार किया कि जिसने हम लोगों का पराभव किया है वही मारने के योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मंत्रियों ने मुनि को मारने के लिए एक साथ नगर देवता ने आकर उन सबको उसी अवस्था में कील दिया। प्रातःकाल सब लोगों ने उन मंत्रियों को उसी प्रकार कीलित देखा। मंत्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंश परम्परा से चले आ रहे हैं यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण आदि कराकर निकाल दिया।



तदनन्तर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था, उनके दो पुत्र थे- पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म, पद्म नामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ श्रुतसागरचन्द्र नामक आचार्य के पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक आकर पद्म राजा के मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुर के दुर्ग में राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्ग के बल से राजा पद्म के देश में उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़ने की चिन्ता में दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलि ने कहा कि देव! दुर्बलता का क्या कारण है। राजा ने उसे दुर्बलता का कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहां गया और अपनी बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग को तोड़कर तथा सिंहबल को लेकर वापिस आ गया। उसने राजा पद्म को यह कहकर सिंहबल को सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्म ने संतुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वान्छित वर मांगो। बलि ने कहा कि जब मांगूंगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि उसी हस्तिनापुर में आये। उनके आते ही नगर में हलचल मच गई। बलि आदि मंत्रियों ने उन्हें पहिचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भय से उन्होंने उन मुनियों को मारने के लिए राजा पद्म से अपना पहले का वर मांगा कि हम लोगों को सात दिन का राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिन का राज्य देकर अन्तःपुर चला गया। इधर बलि ने आतापनगिरि पर कायोत्सर्ग में खड़े हुए मुनियों को बाड़ी से वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरू किया। झूठे सकौरै, बकरा आदि जीवों का कलेवर तथा धूम आदि के द्वारा मुनियों को मारने के लिये बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकार का सन्यास लेकर स्थिर हो गये।

तदनन्तर मिथिला नगरी में आधी रात के समय बाहिर निकले हुए श्रुतसागरचन्द्र आचार्य ने आकाश में कांपते हुए नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर कहा कि महामुनियों के ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि कहाँ किन पर महान् उपसर्ग हो रहा है? उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर। 'उपसर्ग कैसे नष्ट हो सकता है।' ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर कहा कि धरणिभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धि के धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं, वे उपसर्ग को नष्ट कर सकते हैं। उस क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहा। मुझे विक्रियाऋद्धि है क्या? ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेदकर दूर तक चला गया। तदनन्तर विक्रिया का निर्णय कर उन्होंने हस्तिनापुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनियों पर उपसर्ग क्यों कराया? आपके कुल में ऐसा कार्य किसी न नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले इसे वर दे दिया था।



तदनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेदपाठ करना शुरू किया। बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? बौने ब्राह्मण ने कहा कि तीन डग भूमि देओ।

‘पगले ब्राह्मण! देने को बहुत है और कुछ माँग’ इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही माँगता रहा। तदनन्तर हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दी गई तब उसने एक पैर मेरु पर रक्खा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा और तीसरे पैर के द्वारा देवविमानों आदि में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रक्खा तथा बलि को बाँधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों राजा पद्म के भय से विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के चरणों में संलग्न हुए-चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगे। वे मंत्री श्रावक बन गये।

यज्ञकुमार मुनि की कथा

हस्तिनापुर में बल नामक राजा रहता था। उसके पुरोहित का नाम गरुड़ था। गरुड़ के एक सोमदत्त नाम का पुत्र था। उसने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर अहिच्छत्रपुर में रहने वाले अपने मामा सुभूति के पास जाकर कहा कि मामाजी! मुझे दुर्मुख राजा के दर्शन करा दो। परन्तु गर्व से भरे हुए सुभूति ने उसे राजा के दर्शन नहीं कराये। तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभा में चला गया। वहाँ उसने राजा के दर्शन कर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रों की निपुणता को प्रकट कर मंत्रीपद प्राप्त कर लिया। उसे वैसा देख सुभूति मामा ने अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री विवाहने के लिये दे दी।

एक समय वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकाल में आम्रफल खाने का दोहला हुआ। तदनन्तर बाग-बगीचों में आम्रफलों को खोजते हुए सोमदत्त ने देखा कि जिस आम्रवृक्ष के नीचे सुमित्राचार्य ने योग ग्रहण किया है वह वृक्ष नानाफलों से फला हुआ है। उसने उस वृक्ष से फल लेकर आदमी के हाथ घर भेज दिये और स्वयं धर्म श्रवण कर संसार से विरक्त हो गया तथा तप धारण कर आगम का अध्ययन करने लगा। जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योग से स्थित हो गया।

इधर यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। पति के मुनि होने का समाचार सुनकर वह अपने भाई के पास चली गई। वहाँ से वह अपने भाइयों के साथ नाभिगिरि पर्वत पर चली गई। वहाँ आतापन योग में स्थित सोमदत्त मुनि को देखकर अत्यधिक क्रोध के कारण उसने वह बालक उसके पैरों के ऊपर रख दिया और गालियाँ देकर स्वयं घर चली गई।

उसी समय अमरावती नगरी का रहने वाला दिवाकर देव नाम का विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाई के द्वारा राज्य से निकाल दिया गया था, अपनी स्त्री के साथ मुनि की वन्दना



करने के लिए आया था। वह उस बालक को लेकर, अपनी स्त्री को सौंपकर तथा उसका वज्रकुमार नाम रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनक नगर में विमल वाहन नामक अपने मामा के समीप समस्त विद्याओं में पारगामी होकर क्रम-क्रम से तरुण हो गया।

तदनन्तर गरुड़वेग आर अंगवती की पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वत पर बड़े श्रम से प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायु से कम्पित बेरी का एक पैना कांटा उसकी आँख में जा लगा। उसकी पीड़ा से चित्त चञ्चल हो जाने से विद्या उसे सिद्ध नहीं हो रही थी। तदनन्तर वज्रकुमार ने उसे वैसा देख कुशलतापूर्वक वह कांटा निकाल दिया। कांटा निकल जाने से उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसाद से यह विद्या सिद्ध हुई है इसीलिये आप ही मेरे भर्ता हैं। ऐसा कहकर उसने वज्रकुमार को विवाह लिया।

एक दिन वज्रकुमार ने दिवाकर देव विद्याधर से कहा कि तात! मैं किसका पुत्र हूँ सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादि में प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर दिवाकरदेव ने पहले का सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिता के दर्शन करने के लिये भाइयों के साथ मथुरा नगरी की दक्षिण गुहा में गया। वहाँ दिवाकरदेव ने वन्दना कर वज्रकुमार के पिता सोमदत्त को सब समाचार कह दिया। सब भाइयों को बड़े कष्ट से विदा कर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीच मथुरा में एक दूसरी कथा घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्म की प्रभावना में अत्यन्त लीन थी। वह प्रतिवर्ष आष्विणिक पर्व में तीन बार जिनेन्द्र देव की रथयात्रा कराती थी। उसी नगरी में एक सागरदत्त सेठ रहता था। उसकी सेठानी का नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनों के एक दरिद्रा नाम की पुत्री हुई। सागरदत्त के मर जाने पर एक दिन दरिद्रा दूसरे के घर में फँके हुए भात के सीथ खा रही थी। उसी समय चर्या के लिये प्रविष्ट हुए दो मुनियों ने उसे वैसा करते देखा। तदनन्तर छोटे मुनि ने बड़े मुनि से कहा कि हाय, बेचारी बड़े कष्ट से जीवन बिता रही है। यह सुनकर बड़े मुनि ने कहा कि यह इसी नगरी में राजा की प्रिय पट्टरानी होगी। भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए एक बौद्ध साधु ने मुनिराज के वचन सुनकर विचार किया कि मुनि का कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिये वह उसे अपने विहार में ले गया और अच्छे आहार से उसका पालन-पोषण करने लगा।

एक दिन भरी जवानी में वह चैत्रमास के समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विहावस्था को प्राप्त हो गया। तदनन्तर मंत्रियों ने उसके लिये बौद्ध साधु से याचना की। उसने कहा यदि राजा हमारे धर्म को ग्रहण करें तो मैं इसे दे दूँगा। राजा ने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पट्टरानी बन गई।



फाल्गुन मास की नन्दीश्वर यात्रा में उर्विला ने रथयात्रा की तैयारी की। उसे देख, उस पट्टरानी ने राजा से कहा कि देव! मेरा बुद्ध भगवान् का रथ इस नगर में पहले घूमे। राजा ने कह दिया कि ऐसा ही होगा। तदनन्तर उर्विला ने कहा कि मेरा रथ पहले घूमता है तो मेरी आहार में प्रवृत्ति होगी। अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिय गुहा में सोमदत्त आचार्य के पास गई। उसी समय वज्रकुमार मुनि की वन्दना-भक्ति के लिये दिवाकरदेव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनि ने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगों की प्रतिज्ञा कर आरूढ़ उर्विला की रथयात्रा कराना चाहिये। तदनन्तर उन्होंने बुद्ध दासी का रथ तोड़कर विभूति के साथ उर्विला की रथयात्रा कराई। उस अतिशय को देखकर प्रतिबोध को प्राप्त हुई बुद्धमासी तथा अन्य लोग जैनधर्म में लीन हो गये।

कहने का तात्पर्य हमें भी इन अजंनचोरादि की तरह अपनी आत्मा को निर्मल निशांकित आदि अंगों से सहित सम्यग्दर्शन से सुसज्जित कर आत्म कल्याण के मार्ग को, धर्म के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 वासुपूज्य भगवान की जय”



किसका धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है ?

सुखे-दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।

चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिन्तनम् ॥463॥ (सु.स.)

अर्थ : सुख में, दुख में, महारोग में, क्षुधा आदि के उपद्रव में और चतुर्विध उपसर्ग में मैं चैतन्यरूप आत्मा का चिन्तन करता हूँ ॥





प्रवचन-20
श्लोक-20

सम्यग्दर्शन की पूर्णता

भव्य मनीषियो! न्याय महातपोमार्तण्ड, प्रज्ञा श्रमण परम पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज ने अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ के श्लोक-11 से श्लोक-20 तक के माध्यम से सम्यग्दर्शन के 8 अंगों का विशद वर्णन उनके प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम बतलाए। अब पूज्य आचार्य भगवन् आगे अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन की महिमा बतला रहे हैं वे कह रहे हैं-

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्म सन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् ।।21।।

अन्वयार्थ-

यथा	-	जिस प्रकार
अक्षर न्यूनः	-	अक्षर रहित (मंत्र)
मंत्रः	-	मंत्र
विषवेदनाम्	-	विष की वेदना को
हि	-	निश्चय से
न निहन्ति	-	नष्ट नहीं करता है।
तथा	-	उसी प्रकार
अङ्गहीनं	-	अङ्ग रहित
दर्शनं	-	सम्यग्दर्शन भी
जन्म सन्ततिं	-	संसार की परंपरा को
छेत्तुं	-	छेदने के लिए
अलं न	-	समर्थ नहीं है।



अर्थ-जिस प्रकार एक भी वर्ण या मात्रा से न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं करता ठीक उसी प्रकार आठों अंगों में से एक भी अंग से रहित सम्यग्दर्शन जन्म मरण रूप संसार की परंपरा का नाश करने में समर्थ नहीं होता है।

भव्य मनीषियो! आचार्य भगवन् बहुत सुंदर बात कह रहे हैं-‘नाडूगहीनमलं छेतुं दर्शनं जन्म सन्ततिम्’ जिस प्रकार हमारे शरीर में आठ अंग होते हैं-दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उर स्थल और मस्तक। यदि इन आठ अंगों में से एक भी अंग कम हो या ज्यादा हो तो वह व्यक्ति हीनांग या अधिकांग कहलाता है। तथा ऐसे व्यक्ति जिन पूजा, दान, अभिषेक व जिनदीक्षा का अधिकारी नहीं हो पाता। अर्थात् वह उक्त धार्मिक अनुष्ठानों में भाग नहीं ले सकता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी निःशंकित, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग होते हैं। इन आठ अंगों के होने पर ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और अष्टांग सम्यग्दर्शन ही संसार की संतति के छेदने रूप अपने कार्य में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य शंकाशील रहता है तब तक वह किसी काम में आगे नहीं बढ़ता परंतु शंका के दूर होते ही उसका पैर आगे बढ़ने लगता है। दो पैरों में सबसे पहला दाहिना पैर आगे बढ़ता है इसलिए निःशंकित अंग को मनुष्य के दाहिने पैर की उपमा दी जाती है। मनुष्य का बाया पैर किसी आकांक्षा के बिना ही दाहिने पैर के पीछे ही चल देता है। इसलिए निःकाक्षित अंग के लिए बांये पैर की उपमा दी जाती है। शरीर के मल-मूत्रादि पदार्थों को साफ करने के लिए मनुष्य का बाया हाथ किसी ग्लानि के बिना आगे आता है इसलिए निर्विचिकित्सा अंग के लिए बांये हाथ की उपमा दी जाती है। शरीर के किसी अंग पर कोई आपत्ति आती है तो उसके निवारणार्थ मनुष्य का दाहिना हाथ सबसे पहले उस अंग की सहायता करता है। इसलिए स्थितिकरण अंग के लिए दाहिने हाथ की उपमा दी जाती है। छोटे कार्यों से बचने के लिए मनुष्य की पीठ सहायक होती है अर्थात् छोटे कार्यों की ओर पीठ देने से मनुष्य पाप से बच जाता है। इसलिए छोटे कार्यों से मानसिक, वाचनिक व शारीरिक असहयोग कराने वाले अमूढदृष्टि अंग के लिए पीठ की उपमा दी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने नितम्ब को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है। उसे प्रकट नहीं करता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव किसी के दोषों को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है। उसे वह प्रकट नहीं करता इसलिए उपगूहन अंग के लिए नितम्ब की उपमा दी जाती है। मनुष्य का जिससे स्नेह होता है वह उसे अपने उर स्थल (छाती) से लगाता है। इसलिए वात्सल्य अंग के लिए उरःस्थल की उपमा दी जाती है और जिस प्रकार मनुष्य अपना सिर उठा कर अर्थात् मुख दिखा कर लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। उसी प्रकार प्रभावना अंग के द्वारा सम्यग्दृष्टि मनुष्य दूसरों को समीचीन धर्म की ओर आकर्षित करता है इसलिए प्रभावना अंग के लिए



सिर/मस्तक की उपमा दी जाती है। अपना-अपना कार्य करने के लिए जिस प्रकार मनुष्यों के आठों अंग आवश्यक हैं उसी प्रकार अपना-अपना कार्य करने के लिए सम्यग्दर्शन के आठों अंग आवश्यक है। वैसे तो निःशक्ति आदि आठों अंग निज और पर की अपेक्षा जब विचार करते हैं तो निःशक्ति, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सा व अमूढदृष्टि इन चार अंगों का स्व से संबंध अधिक जान पड़ता है और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चार अंगों का संबंध पर से अर्थात् समष्टि/समाज या साधर्मियों से होता है। व्यक्तिगत स्वकीय उन्नति के लिए प्रारंभिक चार अंगों का होना अत्यन्त आवश्यक है और समष्टि/समाज संबंधी उन्नति के लिए उपगूहन आदि चार अंगों का होना अत्यंत आवश्यक है। जो धार्मिक होकर भी एक दूसरे के दोषों को देखता है, किसी की सहायता नहीं करता, किसी के सुख-दुःख में सम्मिलित होकर आत्मीयता प्रकट नहीं करता तथा दूसरों को गिरता देख उसे उठाने का प्रयत्न नहीं करता व धार्मिक अनुष्ठानों में अनुत्साह रखता है उसके आठों अंग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। तथा इसके विपरीत जो गुणग्राहक दृष्टि रखता हुआ धार्मिक जन के दोषों को ढकता है, विपत्ति पड़ने पर एक-दूसरे का सहयोग करता है, गिरते को उठाता है। सबके प्रति आत्मीय भाव रखता है व धार्मिक कार्यों में उत्साह से भाग लेता है वह अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाकर संसार संतति का उच्छेद करता है।

यद्यपि अंतिम चार समष्टि साधर्मियों के उपकारार्थ कहे हैं तथापि पर में ही निज हित छिपा होने से ये स्वोपकारार्थ भी हैं। क्योंकि दूसरे के दोषों को छिपाकर या उसका स्थितिकरण करके या उसके प्रति वात्सल्य भाव रखकर या धार्मिक कार्यों में उत्साह रखकर हम दूसरे के उपकार के साथ-2 अपने आत्मधर्म की वृद्धि भी करते हैं। इसलिए अंतिम चार अंग स्वपरोपकारी हैं।

इन अंगों की अनिवार्यता को दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए आचार्य भगवन् कह रहे हैं—“न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्”। जिस प्रकार यदि किसी मनुष्य को सर्प काट ले और उसकी वेदना उसके समस्त शरीर में फैल जाये तो उस विष वेदना को दूर करने के लिए मंत्रवादी मंत्र का प्रयोग करता है। परंतु यदि मंत्र बोलते समय एकाद अक्षर कम रह जाये तो ऐसे मंत्र से विष की वेदना दूर नहीं हो सकती। विष की वेदना को दूर करने में पूर्ण मंत्र ही समर्थ होता है।

अपूर्ण मंत्र न ही विषवेदना को ही दूर कर पाता है न अन्य कार्यों की सिद्धि। जैसे श्रुत की चिंता होने पर जब धरषेणाचार्य ने श्री अर्हद्बलि आचार्य के दो योग्य शिष्यों को बुलवाया था। तथा उनकी योग्यता के परीक्षण हेतु दोनों शिष्यों को मंत्र साधना के निमित्त एक-एक मंत्र प्रदान किया। दोनों शिष्यों ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर मंत्र सिद्धि प्रारंभ कर दी। मंत्र साधना के बल से दोनों



शिष्यों ने दो देवों की सिद्धि की परंतु एक देव हीनांग यानि एक आँख रहित तथा दूसरा देव अधिकांग यानि उसके दो दाँत बाहर निकले थे। शिष्य आगम के पारखी थे वे जानते थे कि देव तो सर्वांग सुंदर होते हैं तथा ऐसे हीनांग व अधिकांग देवों की उत्पत्ति हमें संकेत दे रही है कि मंत्र में कुछ कमी है दोनों ने मंत्रों का आलोड़न किया तो पाया कि एक मंत्र में 1 अक्षर कम है तथा दूसरे में 1 ज्यादा है उन अक्षरों को व्यवस्थित कर पुनः मंत्र सिद्धि में वे जुट गये। अबकी बार सर्वांग सुंदर देव प्रकट हुए।

कहने का तात्पर्य है कि यदि मंत्र अक्षर न्यून हो या अधिक अक्षर वाला वह ठीक-ठीक लक्ष्य की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं होता। जब लौकिक मंत्रों की यह दशा है तो अंग रहित सम्यग्दर्शन मुक्ति में निमित्त कैसे बन सकता है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं—जैसे अक्षर न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मिथ्यात्व रूपी विष से संसार में आत्मा पतित हो रही है उसके पतन को बचाने में अष्टांग सम्यग्दर्शन मंत्र रूप औषधि ही समर्थ है।

आचार्य भगवन् ने यहाँ मिथ्यात्व को विष माना है अतः विष का ही उदाहरण दिया है। जिस प्रकार सर्पादि का विष चढ़ने पर जीव मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो जाता है तथापि न्यूनाधिक अक्षर रहित मंत्रोपचार से उसकी रक्षा की जा सकती है। ठीक इसी प्रकार अनंत संसार में परिभ्रमण का कारण जीव को कर्म रूपी सर्पों से डसा गया मिथ्यात्व रूपी विष चढ़ा हुआ है और वह मिथ्यात्व रूपी विष ही संसार में परिभ्रमण करा रहा है। योगसार ग्रंथ में आचार्यश्री योगीन्दु देव भी यही बात कह रहे हैं—

मिच्छा दंसण मोहियउ परू अप्पाण मुणेई।

सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ।।७।।

जो मिथ्यात्व से मोहित जीव परमात्मा को नहीं समझता, उसे जिनभगवान ने बहिरात्मा कहा है, वह जीव पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करता है और पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण आत्मा गुणों के विनाश से होती है तथा आत्म गुणों का विधातक एक मिथ्यात्व ही है। जिस प्रकार जब सर्प डंसता है और तुरंत ही विष को विभिन्न उपायों से निकाल दिया जाए तो विष संपूर्ण शरीर में नहीं फैल पाता। उचित औषधी के उपचार से व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। परंतु यदि Care नहीं की गई, असावधानता रखी गई तो विष धीरे-धीरे संपूर्ण शरीर में फैल जाता है और जब Blood के साथ मिल जाता है तो फिर उससे बच पाना लगभग असंभव होता है और अंततः व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। ठीक उसी प्रकार जिसे कर्म रूपी सर्पों ने डसा है ऐसे जीव को मिथ्यात्व का विष चढ़ जाता है यदि ठीक समय पर उसका उपचार न किया जाए तो वह विष पूरी आत्मा में चढ़ जाता है तथा फिर वह आत्मा पुनः



पुनः संसार में परिभ्रमण करती है। इसलिए जैसे बने वैसे सम्यक् पुरुषार्थ के बल से मिथ्यात्व का निरसन कर अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन रूप औषधी का प्रयोग करना चाहिए वही मिथ्यात्व रूपी विष से तुम्हारी रक्षा करेगी। आचार्यश्री योगीन्दु देव योगसार ग्रंथ कहते हैं-

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण सुद्धि।

सो परिहार विसुद्धिं मुणि लहु पावहि सव सिद्धि।।102।।

मिथ्यात्व आदि के परिहार से जो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है, उसे परिहार विशुद्धि समझना चाहिए तथा उसी से जीव शीघ्र ही मोक्षसिद्धि को प्राप्त करता है।

अर्थात् आठों अंगों से संपन्न जिसका सम्यक्त्व विशुद्धि को प्राप्त हो रहा है वही सम्यक्त्व परमौषधी है जो संपूर्ण कर्मों का निर्मूलन कर आत्मा को अपने परम ध्येय मोक्ष सुख को प्रदान कराती है।

इसलिए आठों अंगों सहित निर्मल सम्यक्त्व को धारण कर हे आत्मन्! तो आत्महित पथानुगामी बन जा यही तत्वदेशना का सार है।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की जय”



शुद्ध चिद्रूप ही उत्तम ध्येय

शुद्धचिद्रूप सदृशं ध्येयं, नैव कदाचन।

उत्तम क्वापि कस्यापि, भूतमस्ति भविष्यति।।469।।

अर्थ : किसी के लिए कहीं भी कभी भी शुद्ध चिद्रूप के समान उत्तम ध्येय न है, न था और न होगा।





प्रवचन-21

श्लोक-22

लोकान्धानुकरण त्यागें

भव्य मनीषियो! इस त्रिजगत रूप संसार में अनादि काल से यह जीवात्मा निरंतर परिभ्रमण करता आ रहा है उस परिभ्रमण का मुख्य हेतु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व कर्म के उदय में जीव समीचीन मार्ग पर श्रद्धा, सम्यक् तत्व का ज्ञान व सम्यक् आचरण नहीं कर पाता। आचार्य भगवन् कुंदकुंद देव अपने रयणसार ग्रंथ में कहते हैं-

**तणुकुट्ठी कुलभंगं, कुणदि जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणादि सुगुणभंगं गदिभंगं मिच्छमेव हो कट्ठं ।।48।।**

जैसे-शरीर का कोढ़ी (अपने रक्त संबंध से) अपने कुल का विनाश कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी अपनी आत्मा के दान आदि सद्गुणों और सद्गति का विनाश करता है। अहो! संसार में मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है।

यदि आत्मा कष्टों से बचकर सन्मार्गगामी बनती है तभी उसका कल्याण संभव है। इसीलिए गुरुजन सदैव सम्यक्त्व को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं क्योंकि सम्यक्त्व ही संपूर्ण पापों से निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। आचार्य भगवन् कुंदकुंद देव रयणसार जी ग्रंथ में सम्यक्त्व की महिमा बतलाते हुए कहते हैं-

**मिहिंरो महंधयारं, मरूदो मेहं महावणं दाहो ।
वज्जो गिरिंजहा, विणसिज्जदि सम्मं तहा कम्भं ।।159।।**

अर्थात् जैसे सूर्य गहन अंधकार को, वायु मेघ को, अग्नि विशाल वन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्मों को नष्ट कर देता है।

उस सम्यग्दर्शन को धारण करना जितना दुर्लभ है उसका रक्षण व संवर्धन करना तो महादुर्लभ है सम्यग्दर्शन के संरक्षण व संवर्धन के लिए अनिवार्य है कि हम विरोधी कारणों से बचे। गिराने वाले हेतुओं से बचें। सम्यग्दर्शन को मलिन बनाने वाले मलदोष-25 हैं। जिनमें से 8 शंकादि दोषों से बचने



के लिए हमने 8 अंगों का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त किया। अब आचार्य भगवन् श्लोक 22,23 व 24 के माध्यम से तीन मूढ़ताओं का विवेचन कर रहे हैं ताकि आप इन मूढ़ताओं से बचकर अपने सम्यक्त्व को निर्मल कर सकें। आचार्य भगवन् लोकमूढ़ता के स्वरूप को कहते हैं-

**आपगासागरस्नान, मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते ।।22।।**

अन्वयार्थ-

आपगा सागरस्नानं	-	धर्म समझकर नदी और समुद्र में
सिकताश्मनाम्	-	बालू व पत्थरों का
उच्चयः	-	ढेर लगाना
गिरिपातः	-	पर्वत से गिरना
च	-	और
अग्निपातः	-	अग्नि में कूदना
लोकमूढ	-	लोकमूढ़ता
निगद्यते	-	कही जाती है।

अर्थ-धर्म बुद्धि से नदियों व समुद्रों में स्नान करना, बालू रेत का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, अग्नि से जलना आदि लोकमूढ़ता है।

भव्य मनीषियो! धर्म समझकर अथवा लौकिक जनों के मूढ़तापूर्ण दृष्टिकोण का गतानुगतिक रूप से अंधानुकरण करते हुए अथवा कल्याण का साधन समझकर जो भी लौकिक कार्य किया जाता है। वह सभी लोकमूढ़ता कहलाती है। प्रायः मनुष्य की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह अपने पूर्ववर्तियों का अनुकरण करता है किसी से पूछे कि भाई आप यह क्रिया क्यों करते हैं तो उत्तर मिलता है हमारी कुल परंपरा है या हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते थे और निरंतर अंधानुकरण होता ही जाता है व्यक्ति अपने विवेक से यह निर्णय नहीं ले पाता कि हमारी क्रिया विवेक परक समीचीन है कि नहीं, इसमें हमारा हित छिपा है या अहित।

पहला विशेषण आचार्य भगवन् ने देते हुए कहा हैं आपगा स्नान-प्रायः बहुत सारे दर्शनों की ऐसी मान्यता है कि नदी में स्नान करने से पाप धुल जाते हैं। उनकी मान्यता है-गंगा नदी शिवजी के जटाग्र से निकली है। उसे देवी मानते हैं और पूजन करते हैं। जो उस गंगा में एक बार स्नान कर लेता है। उसके जीवन भर में किये सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति परम शुद्ध हो जाता है।



परंतु उनकी यह मान्यता नितान्त मूर्खता परक है क्योंकि यदि गंगा नदी में नहाने से पाप धुलते है तो सबसे पहले पाप उन जल जंतुओं मछली, मेढ़कों, के धुलने चाहिए जो उन नदियों में जीवन भर रहते है। परंतु पाप धुलना तो दूर रहा वरन् मछुआरे उन जल जंतुओं को अपने जाल में फंसाकर मार डालते है। अब इसे आप क्या कहेंगे? उन जंतुओं के इसी भव के इतने पाप भी जब नहीं धुल पाये कि उनके प्राणों की रक्षा हो जाए तो परभव की क्या कहें। जो दिन रात गंगा में डूबे रहते है। जब उन्हें सारे जीवन भर में मुक्ति नहीं मिली तो आपको एक बार स्नान करने से कैसे मिल सकती है।

सागर स्नान- कुछ लोग समुद्र में स्नान करने से आत्मा पवित्र हो जाती है कर्म धुल जाते है। उन लोगों के प्रति यह तर्क है जिस नदी व समुद्र में स्नान कर शरीर भी पूर्ण रूपेण शुद्ध नहीं हो पाता।

यहाँ स्नान किया वहाँ पुनः शरीर से दुर्गंध आने लगती है जब शरीर ही समुद्र में स्नान कर शुद्ध नहीं हो पाता फिर आत्मा कैसे शुद्ध हो पायेगी। **सिकता उच्चयः** - बालू का ढेर लगाना यह भी लोक मूढ़ता है।

एक बार की घटना है। एक दादा जी थे वे अपने व्यापार हेतु जिस रास्ते से गुजरते थे उस रास्ते में बहुत सी बालू पड़ी थी परिणाम स्वरूप यातायात में परेशानी होती थी अतः दादाजी ने बालू को किनारे लगाना प्रारंभ किया परंतु बालू अधिक थी इसलिए दादाजी ने लोगों में भ्रांति फैला दी कि जो बालू को किनारे पर ढेर लगायेगा वह शीघ्र वैकुण्ठ जायेगा लोगों ने अंधानुकरण किया और बालू का ढेर लगाना प्रारंभ कर दिया और रूढ़ि प्रारंभ हो गई। **सिकताश्मनाम् उच्चयः** - पत्थरों का ढेर लगाना। लोग पत्थरों का ढेर लगाकर उससे स्वर्ग मिलेगा ऐसी भावना रखते है यह भी लोकमूढ़ता कहलाती है। **गिरिपातः** - कुछ लोग पहाड़ से कूदने पर देवी-देवता प्रसन्न हो जायेगे ऐसा मानते है। इसके विषय में एक कथानक है-

भगवान नेमिनाथ के समय में एक ब्राह्मण परिवार था, उस परिवार की ब्राह्मणी धार्मिक थी। प्राचीन काल में ब्राह्मण वर्ग भी जैन धर्मानुयोगी थे। एक दिन ब्राह्मणी के मन में विचार आया कि मैं नवधा भक्ति कर मुनिराज का पड़गाहन करूँ परंतु ब्राह्मण धार्मिक नहीं था। एक दिन जब ब्राह्मण किसी कार्य से बाहर गया तो मौका देख ब्राह्मणी ने चौका लगा लिया। योगायोग पुण्योदय से उसके घर के सामने मुनिराज आते दिखे, ब्राह्मणी गद्गद् हो गई उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा उसने नवधा भक्ति से पड़गाहन प्रारंभ किया हे स्वामिन्! नमोस्तु-३ अत्र-अत्र-अत्र, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार जल शुद्ध है। महाराज ब्राह्मणी की नवधा भक्ति देख पड़ गये। ब्राह्मणी ने खुशी-खुशी नवधा भक्ति से महाराज को आहार कराया। आहारोपरांत मुनिराज चले गये। योगायोग तभी ब्राह्मण लौट कर आ गया एवं आते ही जब घर में जूठन पड़ी देखी तो उस विषय में



पूछा सच-सच बताओं क्या बात है। वह ब्राह्मणी सरल हृदय थी अतः बोली आज हमारे घर में मुनिराज का आहार हुआ है। जैसे ही ब्राह्मण ने सुना वह आग-बबूला हो गया कि तूने इतना अन्न बर्बाद कर दिया और गुस्से में आकर अपनी पत्नि को खूब पीटा, पत्नि लहुलुहान हो गयी और डर के कारण बच्चों को लेकर जंगल में चली गई। यहाँ ब्राह्मण गुस्से में महाराज की खोज में निकला, अचानक गाँव में आग लग गई सभी घर जल गये मात्र ब्राह्मण का घर बचा, क्योंकि उसके यहाँ मूनिराज का आहार हुआ था तभी योगायोग उसे महाराज मिल गये, सौम्य मुद्रा धारी महाराज की छवि निहार ब्राह्मण का गुस्सा शांत हो गया, महाराज की वाणी ने जलती अग्नि में जल का काम किया। ब्राह्मण को जब आहार दान की महिमा ज्ञात हुई तो वह बड़ा दुःखी हुआ मेरी पत्नि ने तो इतना पुण्य का काम किया और मैंने उसे पीटा वह पश्चाताप की अग्नि में जलने लगा। चूँकि उसकी पत्नि घर छोड़कर चली गई थी अतः वह उसे खोजने जंगल की ओर चला उसे दूर से आता देख ब्राह्मण का क्रोध अभी शांत नहीं हुआ अतः वह मुझे मारने आया है। पिटने के डर से वह पर्वत से कूद कर नीचे गिर गई। चूँकि उसके परिणाम संक्लेशित थे परंतु आहार दान देने के पुण्य प्रताप से वह मरकर स्वर्ग में व्यंतरी देवी अंबिका हुई और उसी पहाड़ पर आकर पहले वाला ब्राह्मणी का रूप बनाकर बैठ जाती है तथा बच्चों को प्यार करने लगती है। जब ब्राह्मण अपनी पत्नि को खोजता हुआ वहाँ आता है तो देवी को ही अपनी पत्नि समझता है और क्षमा याचना करता हुआ दुःख प्रकट करता है और घर वापस चलने का आग्रह करता है तब वह कहती है कि नहीं अब मैं आपके साथ घर नहीं जा सकती, बच्चों को ले जाइए। ब्राह्मण सोचता पत्नि नाराज है इसलिए ऐसा बोल रही है वह पुनः-2 क्षमा याचना करता है और घर ले जाने हेतु जैसे ही उसका हाथ पकड़ता है वह गायब हो जाती है। वह स्त्री जहाँ से कूदी थी वहाँ आज भी वह अंबिका देवी के नाम से पूजी जाती है। तब से लोगों की ऐसी धारणा बन गई कि पवित्र तीर्थों के पर्वतों से गिरकर मरने से स्वर्ग मिलता है तभी से यह लोकमूढ़ता प्रचलन में आ गई।

अग्निपातः - कुछ लोग अग्नि में कूद कर मरने को धर्म मानते हैं। पहले सती प्रथा का प्रचलन था। जैसे ही किसी सधवा का पति मरता था वह स्त्री अपने पति को चिता के साथ ही अग्नि में कूद जाती थी और ऐसा करने का कारण पति के साथ मरने वाली स्वर्ग पाती है और इस प्रकार की लोक मूढ़ता प्रारंभ हो गई। 'च' शब्द से अन्य मान्यताओं का भी ग्रहण हो जाता है।

जैसे पहले के समय में लोग वर्षी (पितरदान) मनाते थे। अर्थात् जब लोगों के परिवार में कोई पूर्वज का/बुर्जुओं का मरण हो जाता था तो पितरदान किया जाता था अर्थात् एक थाली में भोजन की सामग्री लगाकर रख दी जाती थी। तथा जो लोग वर्षी मनाते हैं वे मरणदिवस के दिन प्रति वर्ष अपने पितरों को भोजन रखते हैं।



अब आप थोड़ा विचार कीजिए-कि जो मरण के एक, दो व तीन समय में अगली पर्याय में जन्म ले चुका है क्या वहाँ से वह आत्मा अब आपका भोजन ग्रहण करने आयेगी। यह तो संभव ही नहीं है। फिर पितर शांति के लिए अन्न आदि रखना मूढ़ता है क्योंकि यदि आपके पितर यदि भवनवासी या व्यंतर देव पर्याय में भी गये होंगे तो भी देव आपके भोजन नहीं करते क्योंकि उनका अमृत आहार होता है। कुछ लोग-कौवों को भोजन कराते है तथा पिण्डदान की संज्ञा देते है। यह सब लोक प्रचलित मूढ़ताएँ ही है। पहले के समय में जब लोगों को चेचक/माता निकलती थी तो उसे देवी का प्रकोप समझा जाता था, लोग माता को जल डारने जाते थे ताकि देवी हमसे प्रसन्न हो जाएं और हमें स्वस्थ कर दें। परंतु बाद में चिकन पाक्स व Small पाक्स के टीके की खोज हुई, तब ज्ञात हुआ कि यह किन्हीं bacterias का प्रकोप है न कि देवी का। Anti bacteria के निर्माण से रोग का इलाज संभव हुआ। तथा फैली हुई रूढ़ि दूर हुई।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह हैं कि हम अज्ञानतावशात् जिन कुरीतियों को अभी तक पालते रहे है या पाल रहे है उन कुरीतियों को, अंधविश्वासों को दूर करें। पूज्य आचार्य भगवन् ने लोक में प्रचलित मान्यताओं को रूढ़ि कहा है मूढ़ता कहा है उन मूढ़ताओं को रत्नकरण्डक श्रावकाचार के माध्यम से जानकर आप छोड़ने का प्रयत्न करें।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री आदिनाथ भगवान की जय”



आत्म ध्यान अभ्युदय होता है

वर्धन्ते च यथा मेघात्, पूर्वजाता महीरूहाः ।

तथा चिद्रवसद्रध्यानाद्, पूर्वजाता महीरूहाः ॥ 469 ॥

अर्थ : जिस प्रकार पहले उत्पन्न हुए वृक्ष मेघवर्षा से वृद्धि को प्राप्त होते है उसी प्रकार चैतन्य रूप आत्मा का ध्यान करने से अभ्युदय को देने वाला धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है।



प्रवचन-22
 श्लोक-23

देव मूढ़ता त्यागो

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र महाराज कह रहे हैं कि जीवन में बहुत से लोग रुढ़ियों व अंधविश्वासों से चकित/प्रभावित होकर डर, लोभ, लालच के वश असत्य परंपराओं का निर्वाह करने लगते हैं, देखादेखी व्यक्ति मूढ़ताओं को वंशानुगत मानकर भी उनका अनुसरण करते है परंतु यदि सत्यान्वेषण किया जाए तो उन परंपराओं में कुछ भी तथ्य नहीं होता । आचार्य भगवन् कहते है मूढ़ता वह कृत्य है जिससे धर्म का फल प्राप्त नहीं होता अतः उसे त्यागना ही उचित है । लोकमूढ़ता व देवमूढ़ता निकटवर्ती है परंतु एक में लोक परंपरा प्रधान है व दूसरे में सच्चे देव के प्रति हमारी अज्ञानता । पूर्व गाथा के माध्यम से हमने लोक मूढ़ता को समझा अब आचार्य भगवन् आगे देवमूढ़ता का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं-

वरोपलिप्सयाशावान् राग-द्वेष मलीमसाः ।
 देवतायदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥23॥

अन्वयार्थ-

आशावान्	-	इस लोक संबंधी फल की इच्छा करने वाला
वरोपलिप्सया	-	(जो पुरुष) वर पाने की इच्छा से
रागद्वेष मलीमसाः-		राग-द्वेष रूपी मैल से मलीन
देवताः	-	देवताओं की
यत्	-	जो
उपासीत	-	उपासना करता है
तत्	-	वह
देवतामूढं	-	देवमूढ़ता
उच्यते	-	कही जाती है ।



अर्थ-आशातृष्णा के वशीभूत होकर वांछित फल की प्राप्ति की अभिलाषा से राग-द्वेष से मलीन, काम-क्रोध, मद-मोह तथा भयादि दोषों से दूषित देवताओं की (देवताभासों) जो देवबुद्धि से उपासना करना है उसे देवमूढ़ता कहते हैं।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् यहाँ सच्चे देव व अन्य देवों में अंतर दिखा रहे हैं- सामान्य रूप से लोकोपचार में देवों को चार भागों में बांट दिया जाता है- 1. देव 2. अदेव 3. कुदेव 4. देवाधिदेव

(1) देव- देवगति नामकर्म के उदय से जिनका चतुर्निकाय के देवों में जन्म होता है वे देव कहलाते हैं, ये चार प्रकार के होते हैं- 1. कल्पवासी 2. भवनवासी 3. व्यन्तर 4. ज्योतिषी।

(2) अदेव- पीपल, वृक्ष, घट्टी, डेली आदि को अदेव संज्ञा है। अर्थात् जो देव तो नहीं है परंतु अज्ञानतावशात् देव की कल्पना कर ली है।

(3) कुदेव- राग-द्वेष से युक्त भेरी, भवानी, शीतला तथा और भी अन्य देवी-देवता जो काम-क्रोध, मोह-माया से युक्त हैं वे सब कुदेव कहलाते हैं।

(4) देवाधिदेव- वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, काम-क्रोध, मान-माया, लोभ, भय, आशा-तृष्णा आदि विभाव परिणामों से रहित निर्दोषी आत्मा देवाधिदेव अरहन्त हैं।

इस प्रकार चारों में अंतर है परंतु अज्ञानतावश हम कहते हैं कि सभी समान हैं-समान आकार, वेषभूषा आदि की अपेक्षा अंतर है। मात्र सभी धर्मों की पद्धतियाँ अलग-2 हैं। तो आचार्य भगवन् कहते हैं किसी भी कीमत पर अदेव, कुदेवों की देवाधिदेव से तुलना संभव नहीं। भले ही आपकी मान्यता कुछ भी हो।

पंडित मक्खन लालजी अपने सवैया में कहते हैं- गाय और आक का दूध बाहर से समान है परंतु गाय का दूध पौष्टिक होता है। जबकि अकौआ का दूध प्राण नाशक। हंस व बगुला बाहर से समान है परंतु गुण भिन्न-2 है। कांच व रत्न समान दिखते हैं परंतु रत्न बहुमूल्य होता है। कोयल व कौवा समान दिखते हैं परंतु दोनों में जमीन व आसमान का अंतर है। जो सामान्य देवी देवताओं को देवाधिदेव के तुल्य मानता है उसके आचार्य सोमदेव महाराज कहते हैं-

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।

समं पूजा विधानेषु पश्यन् दूरं ब्रजेदधः ॥

तीनों जगत् को देखने के लिए नेत्र स्वरूप अरहंत देव को तथा व्यन्तरादि देवों को जो पूजा/विधान में समान देखता है वह बहुत दूर नीचे जाता है अर्थात् नरक का पात्र होता है।



जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हैं वे ही सच्चे देव है। परंतु चतुर्निकाय के जो देव है वे देवगति के देव है। परंतु वे देव अरिहंत, सिद्ध परमात्मा नहीं है। यदि गहराई से देखे तो देवों के दो भेद हैं-सम्यग्दृष्टि देव व मिथ्यादृष्टि देव। वे मिथ्यादृष्टि देव भी अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने आते है। तिलोय पण्णत्ति में कहा गया है कि स्वर्ग के विमानों में स्थित अकृत्रिम चैत्यालय में सम्यग्दृष्टि परमात्मा को पूजता है और मिथ्यादृष्टि देव कुलदेवता मानकर देवाधिदेव को पूजते है।

सम्यग्दृष्टि देव सम्यग्दर्शन रूप रत्न से युक्त होता है ये देव पंचकल्याणक आदि में भी जाते है। वे धर्म एवं धर्मात्मा की सेवा में व रक्षा में सदैव तत्पर रहते हैं। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा व अन्य विधान आदि विशेष कार्यों में उन देवों का आह्वानन किया जाता है परंतु यह सम्यग्दर्शन का ही एक अंग है। उन देवों का आह्वानन मिथ्यात्व नहीं है। यशस्तिलक चंपू में कहा है-

**ताः शासनाधिरक्षार्ध कल्पिताः परमागमे ।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ।।241।।**

सम्यग्दृष्टि देवों को परमागम में शासन की रक्षकर्त्ता माना जाता है। इसीलिए पूजा, विधान में इन्हें शेषाक्षत अथवा यज्ञांश के द्वारा आमंत्रित किया जाता है।

परंतु जो व्यक्ति इन देवी-देवताओं को देवाधिदेव मानकर पूजता है वह मिथ्यादृष्टि है यद्यपि यह तो अनादि का मिथ्यात्व का उदय है कि व्यक्ति देव व परमात्मा में अंतर नहीं समझता और इनको एक ही मान लेता है, जहाँ इच्छाओं की पूर्ति हुई कि वहीं, उसी देवता को सबसे बड़ा मान लेता है। रोग आदि का निवारण हो गया तो इनसे बड़ा देवता नहीं। व्यक्ति कुदेवों के चक्कर में पड़कर जिन मंदिर आना भी छोड़ देता है। जितना वीतरागी प्रभु को नहीं पूजते उतना अन्य लिंगी को पूजते हैं। व्यक्ति, कुछ मिलेगा, बिगड़े काम बन जायेंगे इत्यादि लालच में फंसकर मंगलवार आदि हनुमानजी का या देवियों के व्रत करते है। तथा तर्क देते है कि हमारे भगवान तो वीतरागी होते है कुछ देते नहीं है फिर उनके पास जाने से क्या फायदा इसलिए भगवान के पास जाना छोड़ दिया।

अरे! यदि आपकी अवधारणा ऐसी है कि वीतरागी परमात्मा क्या देंगे तो आपका श्रद्धाान जिनेन्द्र देव के प्रति सच्चा नहीं। कुछ व्यक्तियों का जीवन तो संशय में ही पूरा हो जाता है ये देव सच्चे है कि वो। इनके पास जाऊँ या उनके पास। तथा कुछ लोगों की अवधारणा रहती है कि सभी देव समान चाहे भवानी, भैरवी के पास जाओ, चाहे पीर/पैगंबर के पास। सभी भगवान है तो वे लोग विनय मिथ्यात्व की कोटि में है। तथा कुछ लोग मिथ्यात्व, सम्यक्त्व की मिश्र रूप अवस्था में होते है।

आचार्य समंतभद्र महाराज ऐसे धर्मात्माओं के प्रति कहते है-कि तुम जहाँ भी कदम बढ़ाओ



पर सत्य को परखने का प्रयास करो यदि तुम (कुदेवों को) 'वरोपलिप्सयाशावान् राग-द्वेष मलीमसाः देवता' वर प्राप्ति की आशा से राग-द्वेष से मलीन देवी-देवताओं की 'यत् उपासीत' यदि उपासना करते हो। ये भवानी-दुर्गा की पूजा करूँगा तो प्रसन्न होकर वरदान/धन संपदा देगी ऐसा सोचकर यदि उन्हें पूजते है तो वह "देवतामूढमुच्यते" देव मूढ़ता कहलाती है। यदि आप रागी-द्वेषी देवी-देवताओं के कारण समीचीन धर्म से दूर हो तो शायद आपको अभी कर्म पर विश्वास नहीं। यदि देवगति के देवों को सर्व समर्थ मान ले तो सिद्धान्त का लोप हो जायेगा क्योंकि ये देव भी अपने से अधिक वैभवशाली देवों को देखकर दुःखी होते है और दुःख रूप परिणाम संक्लेश स्थानों को बढ़ाता है। तथा संक्लेश स्थान ही स्थिति/अनुभाग को बढ़ाते है यदि वे देव सर्व समर्थ होते तो पहले उन्हें अपने कर्मों को परिवर्तित करना चाहिए। जो अपने दुःख ही नहीं मिटा पाया वह आपके दुःख को कैसे दूर कर सकेगा। सुख व दुःख हमें कोई दूसरा नहीं देता है अपितु हमारे कर्मों के साता/असाता के विपाक होने पर सुख व दुःख की प्राप्ति होती है। जब हमारे कर्मों का विपाक उग्र होता है तो देवता प्रसन्न होते हुए भी हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते। आदिनाथ भगवन् प्रथम तीर्थेश जिनकी सेवा देव-देवियाँ दिन रात लगे रहते थे, गर्भ से आने के भी 6 माह पूर्व से ही जो तीर्थकर के गृह के आंगन में रत्न वृष्टि करते थे। मुनिदीक्षा हो जाने पर भी जिन्होंने स्वामी को नहीं छोड़ा, अहर्निश सेवा में तत्पर रहते थे परंतु जब कर्म का तीव्र उदय आया तब अहर्निश 6 माह तक परिभ्रमण किया परंतु कहीं आहार की विधि नहीं बन पायी। देवता चाहते तो सब कुछ कर सकते थे। परंतु उस समय देव भी नहीं आये। जब पार्श्व प्रभु पर घनघोर उपसर्ग कमठ द्वारा 8 दिन तक हुआ तब न धरणेन्द्र को प्रभु याद आये न पद्मावती को। 8 दिन के बाद उन्हें प्रभु का स्मरण आया। तीव्रोदय में कोई सहायी नहीं होता। कर्म के तीव्र उदय को तो भोगना ही पड़ता है। द्रोपदी के चीर हरण के समय उसने बहुत परमात्मा का स्मरण किया देवों का आना था तो दुःशासन के चीर को स्पर्श करने के पूर्व ही आ जाते परंतु कर्म के तीव्र उदय में देवता भी काम नहीं आते। कर्म के तीव्रोदय में तो दूसरा तो दूर कभी-2 स्वयं का विवेक विचार भी काम नहीं करता। आचार्य भगवन् अमितगति महाराज अपने सामायिक पाठ में बड़ी सुंदर बात कहते हैं-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।। 30 ।।

अर्थात् जीव ने जो कर्म पूर्व में स्वयं किये है उसके शुभाशुभ फल को जीव स्वयं पाता है यदि दूसरा व्यक्ति हमारे किये कर्म के फल को भोगने लग जायेगा तो स्वयं की करनी निरर्थक हो जायेगी।

फिर तो पापी भी पाप करते-करते ही तर जायेगा। यदि देवी-देवता सुख देने लग जायेगे तो



स्वयं के शुभाशुभ कर्म की क्या विशेषता रहेगी फिर तो इस सिद्धान्त का भी लोप हो जायेगा कि भगवान की पूजा से सुख-शांति की प्राप्ति होती है। कुछ लोग जो कर्म पर विश्वास नहीं रखते वे कहते हैं जो भगवान चाहेंगे वही होगा हमारे करने से कुछ नहीं होता। तुलसीदासजी की भी पहले यही अवधारणा थी वे कहते थे-‘होय वही जो राम रुचि राखा’ परंतु फिर विचारों में परिवर्तन आया और उन्हें कहना ही पड़ा-कर्म प्रधान विश्व कर राखा, जो जस करई सो तस फल चाखा। अर्थात् यह संपूर्ण विश्व कर्म प्रधान है, यहाँ जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। यदि तुम अच्छा कर्म करोगे तो अच्छा फल पाओगे, बुरा कर्म करोगे तो बुरा ही फल पाओगे जैसा-बीज बोओगे वैसा ही फल भी मिलेगा।

बंधुओ! कभी बबूल के बीज से आम का वृक्ष नहीं हुआ। बबूल का बीज बबूल के वृक्ष के रूप में ही फलीभूत होता है। तथा आम के बीज से आम का वृक्ष उसी के फल फूल उत्पन्न होते हैं। देवता भी इस अटल सत्य को पलट नहीं सकते वरना कर्म सिद्धान्त का लोप हो जायेगा। रामचंद्रजी इतने बड़े राजा थे फिर भी 14 वर्ष का वनवास मिला, कृष्ण का जेल में जन्म हुआ, श्रीकृष्ण की मृत्यु जरत्कुमार द्वारा हुई। भरत चक्रवर्ती जो 14 रत्न व 9 निधियों के स्वामी थे 32000 मुकुटबद्ध राजा जिनकी सेवा में रहते थे उन्हें भी बाहुबली के द्वारा युद्ध में पराभव प्राप्त हुआ। यह सब कर्म के विपाक का ही फल था। जब पाप कर्म का उदय होता है तो कोई रक्षक नहीं कहा भी जाता हैं-

**मित्र अरि हो जाए जगत में, अशुभ कर्म के आने से।
रवि से जले जल से गले, कमल अलग हो जाने से।।**

जो जलज, जल में सदा रहता है वह भी स्थान के छूट जाने पर जल के द्वारा ही गला दिया जाता है। जिस सूर्य की किरणें अभी तक उसे विकसित कर रही थी स्थान से छूटते ही वे ही आज उसे जला रही हैं। यह सब कर्मों का ही खेल है। जो कैकई राम को प्राणों से ज्यादा चाहती थी वही उसे वनवास का मुख दिखा देती है। जो राम, सीता के बिना तड़प रहे थे वे ही कर्म के उदय आने पर लोकापवाद के भय से भयंकर अटवी में सीता को अकेली छोड़वा देते हैं। जब कर्म का उदय आता है तो मित्र भी शत्रु हो जाते हैं अपने भी पराये हो जाते हैं। देव सुख-दुःख में साथी नहीं हैं अपितु मंदोदय में एक हेतु अवश्य बन जाते हैं जो कि साधारण जनमानस भी बन सकते हैं। जो व्यक्ति कर्म सिद्धान्त पर अटल श्रद्धान रखता है वह अशुभ कर्म के उदय में आने पर विचलित नहीं होता, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर ही अटल श्रद्धान रखता है। परंतु जो कर्म के उदय आने पर या वर पाने की इच्छा से रागी-द्वेषी देवताओं की शरण में चला जाता है वह देव मूढ़ता है। हमें अपनी श्रद्धा को सच्चे परमात्मा के प्रति दृढ़ करते हुए ऐसी मूढ़ताओं का त्याग करना चाहिए। कुछ लोग जिनशासन देवी



व देवताओं को परमात्मा की तरह पूजते हैं उन्हें ही भगवान मान लेते हैं अथवा भगवान से भी बढ़कर मान लेते हैं-उनका कहना है भगवान तो वीतरागी है रक्षा तो देवी देवता करते हैं अतः पहले उन्हें ही पूजना चाहिए तो वह भी देवी मूढ़ता में ही गर्हित हो जायेगा। लोग परमात्मा को भूल सेवक को पूजने लगते हैं।

यहाँ तक तो उचित है कि आप यथा योग्य आदर सत्कार कर दे, ससम्मान अपने विधान पूजन में उनका आह्वानन कर ले, अर्घ्य समर्पित कर दें। क्योंकि कलेक्टर से संपर्क साधना है तो पहले उसके P.A. (Personal Assistant) से भी संपर्क साधना पड़ता है और लौकिकता में भी जब मेहमान घर आते हैं तो यथेष्ट सम्मान किया जाता है हम अपने कार्यक्रम की निर्विघ्न समाप्ति हेतु उन्हें बुला रहे हैं तो ससम्मान तो बुलाना ही पड़ेगा। अतः अर्घ्य समर्पित किया जा सकता है परंतु वह अर्घ्य अष्ट कर्मों के नाश हेतु नहीं चढ़ाया जाता मात्र सम्मान की दृष्टि से समर्पित किया जाता है। यदि कर्म क्षय की भावना से चढ़ा रहे हो तो सोचो जो स्वयं आठों कर्मों से सहित है क्या वह आपको कर्म रहित कर पायेगा। नहीं! यह तो तीन काल में संभव नहीं है।

चूंकि जिन शासन रक्षा कर्त्री देवी देवता नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः सम्मान के पात्र तो हैं ही। कोई-2 लोग उन शासन देवी-देवताओं को मंदिर जी से ही बाहर करवा देते हैं। अथवा भगवान के परिकर से अलग कर देते हैं। तथा जो उन देवी-देवताओं का सम्मान करें उसे मिथ्यादृष्टि घोषित कर देते हैं यह सर्वथा अनुचित कार्य है। अधिकांशतः जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ मिलेगी उनमें जिन शासन देवी देवताओं की मूर्ति आसपास खुदी रहती है वे भगवान के वैभव का प्रदर्शन हैं। क्योंकि समवशरण में तो सभी रहते हैं। इसलिए उन्हें अलग नहीं करवाना चाहिए। क्योंकि छः आयतनों में जिन देव का जो सेवक व भक्त है वह भी आयतन है और आयतनों का सेवन करने वाला मिथ्यादृष्टि नहीं अपितु सम्यग्दृष्टि ही है।

जो हमारी मान्यता के अनुरूप बात करें वह सम्यग्दृष्टि और जो हमारी मान्यता अनुसार न चले वह मिथ्यादृष्टि इस प्रकार मनमाना वचनालाप करने वाले दूसरों का कुछ कर सके न कर सके परंतु स्वयं आगम का लोप करने से अपना परिचय दे देते हैं। क्योंकि आगम में जिन शासन देवी देवताओं को आयतन ही कहा गया है।

जो जिस सम्मान का पात्र है उसका यथेष्ट सम्मान करें अति कहीं न करे। दोनों ही मार्गों में Balance बनाकर चले क्योंकि यदि जिन शासन देवी-देवताओं की अवहेलना कर दी तो आयतनों का तिरस्कार हो जायेगा और यदि उन्हें ही परमात्मा मान लिया अति सम्मान करने लगे और भगवान

तो एक किनारे कर दें तो भी गाड़ी लाईन से बाहर है। दोनों ही अवस्थाएँ सम्यक्त्व से च्युत कराने वाली है अतः दोनों में अपना संतुलन बनाएँ रखे तो आपका सम्यक्त्व निर्दोष हो जाएगा।

कर्म सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ कर जो उस पर अटल श्रद्धा रखता है वह बड़ी से बड़ी विपत्ति के आने पर भी डिगता नहीं है और लोभ, लालच, भय, रोग, शोक, विपत्ति कैसी भी परिस्थिति के उपस्थित होने पर राग-द्वेष से मलीन देवी-देवताओं की शरण में नहीं जाता। देव मूढ़ता रूपी मल दोष से रहित हो अपने सम्यग्दर्शन को निर्दोष व विशुद्ध बनाता है।

आप भी उसी कर्म सिद्धान्त के यर्थाथ श्रद्धान के बल से देव मूढ़ता से बचें। तथा अपने सम्यक्त्व को निर्मल करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 वासुपूज्य भगवान की जय”



आत्म ध्यान से धर्मोत्पत्ति

यथा वलाहके वृष्टे जायन्ते हरिताङ्कुरा।

तथा मुक्ति प्रदोधर्मः शुद्धः॥ 469॥

अर्थ : जिस प्रकार पहले उत्पन्न हुए वृक्ष मेघवर्षा से वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार चैतन्य रूप आत्मा का ध्यान करने से अभ्युदय को देने वाला धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है।





प्रवचन-23

श्लोक-24

पाखण्डी को जानो तुम

भव्य मनीषियो! सम्यग्दर्शन वह दुर्लभ रत्न है जो अथक पुरुषार्थ के बल से उपार्जित किया जाता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है यदि प्राप्त हो भी जाए तो फिर उसका रक्षण व संवर्धन उत्तरोत्तर दुर्लभ से भी दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले 25 मल दोषों में 3 मूढ़ताएँ भी होती हैं। जिनमें से हमने पूर्व श्लोक 22 व 23 के माध्यम से लोक व देव मूढ़ता को समझा अब आचार्य भगवन् पाखण्डी मूढ़ता का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं-

सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसारावर्तवर्तिनाम् ।

पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥24॥

अन्वयार्थ-

सग्रन्थारम्भहिंसानां	-	परिग्रह आरंभ व हिंसा से सहित
संसारावर्तवर्तिनाम्	-	संसार चक्र में रहने वाले
पाखण्डिनां	-	पाखण्डी साधु व तपस्वियों का
पुरस्कारः	-	पूजा, भक्ति, आदर, सम्मान करना, सो
पाखण्डिमोहनम्	-	गुरुमूढ़ता
ज्ञेयं	-	जानना चाहिए।

अर्थ-परिग्रह, आरंभ व हिंसा से सहित, संसार चक्र में फंसे हुए पाखण्डी/साधुओं का पूजा-भक्ति, आदर-सम्मान करना गुरुमूढ़ता कहलाती है।

बंधुओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग में गुरु की उपयोगिता इसलिए होती है क्योंकि वे सच्चे देव के द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्ग पर स्वयं चलकर उसका क्रियान्वयन करते हुए दूसरे जीवों को मोक्षमार्ग में अग्रसर करते हैं परंतु जो गुरु मोक्षमार्ग के पथिक न बन कर संसार के ही पथिक बन रहे हैं-और सग्रन्थारम्भहिंसानां सग्रन्थ यानि परिग्रह से जो सहित



है। परिग्रह 24 प्रकार का होता है। 10 प्रकार का बहिरंग व 14 प्रकार का अंतरंग परिग्रह।

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य व भाण्ड ये 10 प्रकार का बहिरंग परिग्रह। हास्यादि 9 कषायें, क्रोधादि 4 कषायें व मिथ्यात्व ये 14 प्रकार का अंतरंग परिग्रह है। इन चौदह प्रकार के अंतरंग व 10 प्रकार के बहिरंग 24 प्रकार के परिग्रहों से युक्त है स्त्री, वाहन, जमीन, जायदाद रखते हैं। तथा 'आरंभ' यानि नौकरी, खेती, व्यापार आदि कार्यों में संलग्न है बड़े-2 मठों का संचालन करते हैं पैसों की लेन-देन करते हैं। तथा 'हिंसाना' हिंसा के कार्यों में रत हैं। हिंसा भी दो प्रकार की होती है 1. द्रव्य हिंसा 2. भाव हिंसा त्रस और स्थावर जीवों की विराधना करना द्रव्य हिंसा है तथा राग-द्वेष, क्रोध-मान, माया-लोभ आदि भाव हिंसा है। तथा आरंभी, उद्योगी, विरोधी व संकल्पी हिंसा के भेद से 4 भेद भी हिंसा के हैं। जो गुरु इन सभी प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त हैं वे किसी भी प्रकार से गुरु हो ही नहीं सकते क्योंकि पूर्व गाथा 10 में आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने सच्चे गुरु का स्वरूप बतलाते हुए कहा था कि जो विषयों की आशा के वश से अतीत है। तथा संपूर्ण परिग्रह व आरंभ से रहित है वे ही सच्चे गुरु हैं।

जो कुलिंगी साधु पंचाग्नि तप आदि कार्यों में प्रवृत्त हैं, देवी को बलि आदि हिंसा कार्य करते हैं। भूत-भभूत लपेट कर कोड़े चाबुकों से काय-क्लेश करते हैं अग्नि आदि जलाकर बैठ जाते हैं। वे पाखण्डी नहीं अपितु पाखण्डी भाष हैं। मिथ्यादर्शन से युक्त ये उन्मार्गगामी साधु "संसारवर्तवर्तिनाम्" संसार चक्र में निरंतर परिभ्रमण करने रहते हैं। इन साधुओं को 'उपलनाव' की संज्ञा दी जाती है। जैसे पत्थर की नाव समुद्र में डाली जाये तो स्वयं डूबेगी तथा उसमें बैठने वाला भी नियम से डूबता ही है। ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि साधु जो आरंभ, परिग्रह व हिंसा आदि कर्मों में प्रवृत्त होने से न तो वे स्वयं संसार से तिर पाते हैं तथापि उनका अनुगमन करने वाला भी भव सागर में गोते लगाता है।

मिथ्यात्व-भव भ्रमण का सबसे बड़ा हेतु है। अनंत संसार में परिभ्रमण कराने का प्रबल कारण है। मिथ्यादृष्टि जीव की सबसे बड़ी पहचान यही है कि वह अपनी आत्मा को नहीं जानता पर द्रव्यों पर ही दृष्टि रहती है स्वरूप से वेखबर होता है अथवा शरीर व आत्मा को एक ही मान लेता है। रयणसार ग्रंथ जी में आचार्यश्री कुंदकुंद देव कहते हैं-

मिच्छामदि मद मोहासवमतो बोल्लदे जदा भुल्लो ।

तेण ण जाणदि अप्पा, अप्पाणं सम्मभावाणं ।।51।।

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर भूलक्कड़ के समान प्रलाप करता है, इसलिए वह आत्मा को व आत्मा के साम्यभावों को नहीं जानता है।

जब मोहभाव से आत्मा आच्छादित हो जाती है तो उसकी दशा एक शराबी की तरह हो जाती



है। जैसे शराब के नशे में शराबी को कुछ नहीं दिखता वह कभी पत्नि को पत्नि कभी पत्नि को माता कहता है। कभी रास्ते में पड़ा रहता है। उसे कुछ होशोहवास नहीं होता, मदिरा पी उन्मत्त पागलों की तरह चेष्टा करता है।

हम लोग जब क्षुल्लक अवस्था में थे उस समय हमारा विहार मुक्तागिरिजी की ओर हो रहा था तब हमारे साथ एक क्षुल्लकजी रविसागरजी भी थे। चूंकि रविसागरजी स्थूल काय एवं वृद्ध थे इसलिए जल्दी नहीं चल पा रहे थे और शाम होने वाली थी तभी गुलाब चंद जी अपनी गाड़ी लेकर आ गये और बोले महाराज आप तो क्षुल्लक है अतः गाड़ी में बैठ जाइए। मैंने कहा-मैं तो नहीं बैठूँगा, हाँ ये वृद्ध क्षुल्लक जी बैठ जायेंगे तो मैं गति से चलकर समय पर पहुँच जाऊँगा। रविसागरजी तो गाड़ी में बैठकर चले गये मैं गति से चलता जा रहा था तभी पीछे से एक व्यक्ति दौड़ा चला आ रहा था हे शांति सागर ठहरो! मुझे दर्शन करना है मैंने सोचा होगा कोई भक्त। उसे शांतिसागरजी का ही नाम याद होगा। मैं थोड़ा रुक गया जैसे ही रुका उसने मेरे पैर पकड़ लिये चूंकि मुझे शीघ्र पहुँचना था इसलिए मैंने चरण छुड़ाकर आगे जाना चाहा परंतु वह पैर छोड़ने तैयार नहीं था बोला पहले मुझे अपना जैसा बनाओ तभी छोड़ूँगा, मैंने युक्ति निकाली और कहा तुम पैर छोड़कर खड़े होओगे तभी तो अपने जैसा बनाऊँगा। उसने जैसे ही पैर छोड़े मैं तेजी से आगे बढ़ दिया परंतु फिर भी उसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा मैं आगे-2 वह मेरे पीछे-2 चला आ रहा था और अबकी बार तो उसने तेजी से आगे बढ़कर मेरा दुपट्टा पकड़ लिया, मैंने भी एक ओर से जोर से अपना दुपट्टा पकड़ा हुआ था यहाँ से वह खींच रहा था वहाँ से वह और मैं आगे बढ़ता जा रहा था तभी वहाँ से एक गाय निकली। मैंने उस गाय को बीच में कर दिया और तेजी से दुपट्टा झटक लिया और आगे बढ़ा, मैं बहुत रफतार से चल रहा था परंतु वह पुनः दौड़ कर आ गया और मेरा दुपट्टा छीन कर भाग गया अब मैं क्या करता बिना दुपट्टे के ही आगे बढ़ दिया मैं गति से आगे बढ़ता जा रहा था तभी मेरे मुकाम पर न पहुँचने से गुलाबचंदजी मुझे देखने गाड़ी लेकर आ रहे थे। मुझे देखते ही बोले-अरे! क्षुल्लकजी आप ऐलक कब बन गये। मैंने कहा-मैं तो विपत्ति में फंसा हूँ आप को मजाक सूझ रहा है। मैंने गुलाबचंदजी को आप बीती सब सुना दी कि रास्ते में एक शराबी से पाला पड़ गया था।

बंधुओ! शराबी व्यक्ति कब क्या कहें और कब क्या करें कोई भरोसा नहीं। ठीक मोही जीव भी मोह में पड़कर कभी माता-पिता तो कभी भाई-बहन आदि कुटुम्बियों को ये मेरे हैं मैं इनका हूँ इत्यादि नाना कल्पनाओं में जीता है तथा यह आत्मा अनादि से नाना पर्यायों को धारण कर संसार परिभ्रमण कर रही है वह इस सत्य को भूल जाता है और मोह की मदिरा पी मतवाला/बांवल होकर रुदन मचाता है कि हाय! हाय! मेरे माता-पिता छोड़ गये, पत्नि छोड़ कर चल बसी। अब मैं कैसे जीऊँगा। कभी अभिमान करता है कि मेरे जैसा धनवान, ज्ञानवान, शूरवीर कोई दूसरा नहीं मेरे जैसा



रूपवान कोई नहीं इत्यादि। मिथ्यादृष्टि जीव मद व मोह की मदिरा पी इतना मतवाला हो जाता है कि आत्म स्वरूप को ही भूल जाता है जिसे आत्म स्वरूप का ही भान नहीं ऐसा व्यक्ति भूत-भभूत धारी, चोटी त्रिशूल आदि धारण कर पाखण्डी बन जाए तो क्या उसे गुरु कह सकते हैं। नहीं वह कभी भी गुरु नहीं हो सकता। यद्यपि पाखण्डी शब्द का अर्थ गुरु या साधु होता है। परंतु लौकिकता में जो ढोंगी, बनावटी साधु है उन्हें भी पाखण्डी कह दिया जाता है। परंतु यदि हम पाखण्डी की व्युत्पत्ति देखे तो “पापं खण्डयतीति पाखण्डी” जो पापों को खण्ड-2 कर दें वह पाखण्डी कहलाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो पापों को नष्ट करें वही सच्चा गुरु है।

जो लौकिक भूत-भभूत धारी साधु दिखते हैं वे तो आरंभ, परिग्रह, हिंसादि दुनियाँ के गोरखधंधे में फंसे रहते हैं। इसलिए निरंतर पाप का उपार्जन करते हैं। वे पापों का संग्रह कर स्वयं संसार में परिभ्रमण करते हैं तथा उनका जो अनुसरण करते हैं उनके बताये पथ पर चलते हैं वे भी संसार समुद्र में डूब जाते हैं। ऐसे ‘पाषण्डिनां पुरस्कारो’ साधुओं का जो पूजा, भक्ति आदर सत्कार किया जाता है उन्हें गुरु समझ कर दानादि दिया जाता है सिर झुकाकर नमस्कार आदि किया जाता है वह सब “पाषण्डिमोहनम् ज्ञेयं” पाखण्डी मूढ़ता जाननी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसी पाखण्डी विषयक मूढ़ता अपने जीवन में रखता है वह अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। मलीन बनाता है।

इसके विपरीत जो आरंभ, परिग्रह व विषयों की आशा से रहित सच्चे निर्ग्रंथ साधुओं की पूजा/अर्चना उपासना की जाती है। वह संसार के उच्छेद का कारण बनती है। क्योंकि जो स्वयं पापों को चकनाचूर करने में लगे हैं व्रत, नियम, संयम के द्वारा जो पापों को खंडित कर रहे हैं वे लकड़ी की नाव की तरह “तारन तरन जिहाज” अर्थात् भव से पार उतारने वाली नौका की तरह होते हैं जो स्वयं तिरते हैं तथा अपनी शरण में आने वाले शरणागत को भी तारते हैं। ऐसे सच्चे निर्ग्रंथों के स्वरूप को समझ उनकी ही शरण गहे तथा पाखण्डी मूढ़ता का त्याग कर आप आत्म हित में प्रवृत्त हो।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर स्वामी की जय”





प्रवचन-24
श्लोक-25

यदि हो भव सागर से तरना : मद को तुम कभी न करना

भव्य मनीषियो! सम्यग्दर्शन से च्युत कराने वाले हेतुओं में प्रधान हेतु कषाय होती है। जब अनंतानुबंधी क्रोधादि चार कषायों में से किसी एक का उदय आ जाता है तो जीव अपने सम्यग्दर्शन से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों में पतित हो जाता है और चारों कषायों में मनुष्य पर्याय में प्रधानता मान कषाय की होती है। मान का उदय अतिशीघ्रता से हो जाता है इसलिए सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले हेतुओं में 8 प्रकार के मद आते हैं पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में उन्हीं 8 मदों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।25।।

अन्वयार्थ-

ज्ञानं	-	विद्या-कला
पूजां	-	आदर-सत्कार, प्रतिष्ठा
कुलं	-	कुल
जातिं	-	जाति
बलं	-	बल
ऋद्धिं	-	धन-संपदा
तपः	-	तपश्चरण
वपुः	-	शरीर
एतान् अष्टौ आश्रित्य	-	इन आठों का आश्रय करके
मानित्वं	-	जो गर्व करना है



तत्	-	उसको
गतस्मयाः	-	मद रहित गणधरादिक आचार्य
स्मयं	-	मद
आहुः	-	कहते हैं।

भावार्थ-विद्या-कला, रूप ज्ञान मद, आदर-सत्कार आदि पूजा मद, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर को आश्रय करके मद के आठ भेद, मद रहित गणधराचार्यों ने कहे हैं।

भव्य मनीषियो! यहाँ परम पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज कह रहे हैं कि जहाँ अभिमान में आकर व्यक्ति अपने आप में बड़प्पन का अनुभव करते हुए दूसरों को तुच्छ समझना स्मय या मद कहलाता है। वह मद आठ प्रकार का है-‘ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बल ऋद्धिं तपो वपुः’ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप व शरीर मद।

1. पहला मद ज्ञान मद है-आज के समय में व्यक्ति यदि चार अक्षर भी सीख लेता है तो अपने आपको बहुत बड़ा विद्वान समझने लगता है और ज्ञानाभिमान में आकर दूसरों का तिरस्कार करता है इंद्रभूति गौतम को भी अपने ज्ञान का मिथ्याभिमान था कि मैं ही सबसे बड़ा ज्ञानी हूँ मुझसे बड़ा ज्ञानी दूसरा नहीं सभी वेदों में पारंगत हूँ। परंतु जब इंद्र वृद्ध का रूप धारण कर अपना प्रश्न पूछता है तब वह सोच में पड़ जाता 7 तत्व, 9 पदार्थ, पंचास्तिकाय कौन से है मैं नहीं जानता। परंतु अभिमान के कारण वह यही बोलता है कि इसका उत्तर जानता हूँ परंतु तुम्हारे गुरु को ही बताऊँगा। चलो कहा है तुम्हारे गुरु का आश्रम और जैसे ही इंद्रभूति गौतम समवशरण में पहुँचते हैं। मानस्तंभ को देखते ही मान का गालन हो जाता है और महावीर भगवान की स्तुतियाँ प्रारंभ हो जाती हैं कि हे भगवन्! मैं अज्ञान भाव में जी रहा था, आज मालूम पड़ा विश्व में सर्वपदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा होने से आप ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानवान हैं केवलज्ञानी हैं। मैं तो तुच्छ अज्ञानी आपके चरणों का दास हूँ। गौतम को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है मिथ्यात्व का गलन हो जाता है।

बंधुओ! सम्यग्दृष्टि जीव सत्य को समझता है। वह निश्चय रखता है कि यह क्षायोपशमिक ज्ञान आदि वस्तुएँ मेरे स्वाधीन नहीं हैं किंतु कर्माधीन हैं। कब कैसा कर्म का उदय आ जाए। आज क्षमोपशम विशेष है कल कर्म का आवरण पड़ जाए इसलिए वह अभिमान नहीं करता। क्षायिक भाव एक बार प्रकट हो जाए तो फिर छूटता नहीं इसलिए आत्मा की निज संपत्ति है जबकि क्षायोपशमिक भाव कर्माधीन होने से पराधीन। कब चल दें भरोसा नहीं।

जिस प्रकार आपकी अपनी स्वयं की कार हो, मोटर गाड़ी हो तो आप अभिमान करते हैं परंतु यदि पड़ोसी की कार में बैठने का कभी अवसर आ भी जाए तो भी आपको कभी अभिमान नहीं जगता क्योंकि आपके मन में यह बात जमी हुई है कि फलानी वस्तु आपकी अपनी नहीं है।



ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी सिद्धान्त, व्याकरण, न्याय, छंद, अलंकार, गणित, निमित्त, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र, भू-गर्भ, शिल्प कला, व्योम विद्या, पदार्थ विज्ञान, चित्रकला बहुरूपीणी विद्या आदि अनेक विषयों का ज्ञान भी प्राप्त कर ले तो भी वह अभिमान नहीं करता क्योंकि वह समय से परिचित होता है ये सारा ज्ञान पड़ोसी की कार की तरह है कब कर्म पलट जाए भरोसा नहीं इसलिए आत्मतत्त्व का श्रद्धानी होता हुआ अभिमान से रहित होता है।

दूसरा - पूजा मद-लोक में प्राप्त पूजा-प्रतिष्ठा, आदर सम्मान, यशकीर्ति अथवा राजा-मंत्री, सेठ-साहूकार आदि रूप पदों का घमण्ड करना पूजा मद है।

प्रायः लौकिकता में देखा ही जाता है कि व्यक्ति कि पदौन्नति होते देर नहीं होती और अभिमान सर चढ़ जाता है।

एक सेठ जी थे। बहुत धन संपदा थी। बहुत सा समाज में मान सम्मान/प्रतिष्ठा थी। सब लोग सेठजी के आगे झुकते थे। सेठजी के अभिमान का कोई पार नहीं था। सेठजी की बहुत बड़ी दुकान थी। एक दिन एक गाँव का ग्रामीण जो कि बहुत बीमार था इलाज के लिए शहर आया परंतु तभी बारिश जोरों से होने लगी, सेठजी की दुकान बहुत बड़ी थी जिसमें काफी स्थान था, उस ग्रामीण से सोचा ठण्ड बहुत लग रही है क्यों न इसी दुकान में कुछ देर के लिए ठहर जाऊँ। ऐसा सोच वह वही एक कोने में बैठ जाता है जब थोड़ी देर में सेठजी आते हैं तो उसे वहाँ बैठा देख नौकरों से पूछते हैं यह कौन है- नौकर बतला देते हैं किसी गाँव का गरीब है बीमार है इसलिए बारिश की वजह से यहाँ रुक गया, सेठ अपने पैसों के प्रतिष्ठा पूजा के अभिमान में चूर थे। अतः उस गरीब को दुकान से बाहर निकलवा देते हैं। वह बहुत दुःखी होता है और जैसे तैसे बड़े कष्टों के साथ अपने गाँव पहुँच जाता है। गाँव के समीप ही घनघोर जंगल था उसी जंगल के पास ही वह रहता था।

इधर सेठजी अपने मद में चूर थे कि अचानक व्यापार आदि के कार्यवशात् उन्हें दूसरे देश जाना था। गाड़ी वगैरह तैयार करली और सेठजी चल दिये रात्रि का समय था और रास्ते में ही अचानक सेठजी की गाड़ी खराब हो गई। तभी घनघोर वारिश प्रारंभ हो गई। बीचोबीच जंगल में सेठजी बिल्कुल रात्रि में अकेले थे। तथा वह एरिया खूंखार जंगली जानवरों से युक्त था। शेर चीता की आवाजे भी सुनायी दे रही थी। अब डर के मारे सेठजी का हाल बुरा था परंतु करें क्या? तभी कुछ दूरी पर उन्हें एक दीपक टिमटिमाता दिखता है। सेठजी सोचते हैं अवश्य वहाँ कोई रहता होगा चलकर देखना चाहिए क्योंकि रात्रि तो कहीं न कहीं गुजारना ही पड़ेगी, घनघोर जंगल में निःसहाय रुकना उचित नहीं। सेठजी जैसे-तैसे हिम्मत बनाते हैं और प्रकाश की ओर चल पड़ते हैं कुछ आगे बढ़ते हैं तो उन्हें एक झोपड़ी दिखाई देती है वे सोचते हैं आज रात्रि इसी में बिताऊँ तो अच्छा होगा। सेठजी दरवाजा खटखटाते हैं। अंदर उस झोपड़ी में एक गरीब ग्रामीण व उसकी पत्नि सोये थे पत्नि



खटखट की आवाज सुन उठ जाती है व थोड़ा सहम भी जाती है कि इतनी रात में कौन हो सकता है वह दरवाजा नहीं खोलती। परंतु जब सेठ जी अनेक बार दरवाजा पीटते हैं तो ग्रामीण की नींद भी खुल जाती है वह अपनी पत्नि से दरवाजा खोलने के लिए कहता है। पत्नि मना कर देती है इतना जंगली स्थान है इतनी रात हो गई दरवाजा नहीं खोल सकती। वह ग्रामीण कहता है देखों बाहर बारिश हो रही है हो सकता है कोई यात्री वारिश में फंस गया हो बेचारा घनघोर जंगल में अकेला कहा जायेगा। खोल दो दरवाजा ग्रामीण के बार-बार आग्रह करने पर पत्नि दरवाजा खोल देती है और जैसे ही दरवाजा खोलती है सेठजी आप बीती सुना देते हैं पत्नि उन्हें आश्रय प्रदान कर देती है जैसे ही सेठजी अंदर प्रवेश करते हैं तो स्थान कम होने की वजह से तीनों बैठ जाते हैं। सेठजी को ग्रामीण का चेहरा कुछ पहचाना सा लग रहा था परंतु संकोचवशात् सेठजी मौन ही थे। कुछ देर में पुनः कोई दरवाजा खटखटाता है पत्नि कहती है कि स्थान इतना कम है हम बैठ भी नहीं पायेगे। ग्रामीण कहता है कोई बात नहीं हम खड़े रहेगे परंतु सोचो इतनी बारिश में कोई बाहर भींगता रहेगा तो वह बीमार पड़ जायेगा वह ग्रामीण दरवाजा खोल देता है अब उस छोटे से स्थान में 2 से 4 हो जाते हैं थोड़ी देर में पुनः कोई दरवाजा खटखटाता है अब पत्नि का पारा चढ़ जाता है वह बड़बड़ाने लगती है। परंतु ग्रामीण पुनः समझाता है देखो भागवान! 1-2 घंटे की रात्रि ही तो शेष है 1 दिन हम नहीं सोयेंगे तो क्या फर्क पड़ता है सोचो दूसरा व्यक्ति वारिश में बीमार पड़ जाए या मर जाये तो उसकी तो जान जायेगी। पत्नि दरवाजा खोल देती है अब 2 से 5 हो गये। सभी खड़े थे। सेठजी संपूर्ण दृश्य को अपनी आंखों से देख रहे थे उनके दिमाग में वह दृश्य घूम गया जबकि एक ग्रामीण को अपने घर से धक्के मार कर निकलवा दिया था तब भी वारिश हो रही थी तथा ग्रामीण बीमार था। उस ग्रामीण का चेहरा भी कुछ पहचाना लग रहा था। सेठजी पूछ लेते हैं भाई तुम्हारा चेहरा कुछ देखा सा लग रहा है वह ग्रामीण कहता है हाँ-2 सेठजी मैं वही हूँ जिसे आपने अपनी दुकान से बाहर निकलवा दिया था। उस ग्रामीण के मुख से ऐसे शब्द सुन सेठ अवाक् रह जाते हैं तथा बड़े शर्मिन्दित होते हैं तथा मन ही मन सोचते हैं कि यह गरीब होकर भी इतना अमीर है और मैं अमीर होकर भी गरीब हूँ। सेठजी उससे बार-2 अपनी गलती की क्षमा मांगते हैं व लज्जित होते हैं।

बंधुओ! पूजा प्रतिष्ठा, यश-वैभव मिलने पर कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिए क्योंकि जो अभिमान करता है उसे नियम से नीचा देखना पड़ता है।

तीसरा कुल मद-पिता के वंश को कुल कहते हैं। मेरे पिता बड़े घराने के आदमी हैं उनके दादा परदादाओं के राजे रजवाड़े थे, लोक में बड़े ऊँचे कहलाते हैं अथवा मेरे दादा करोड़पति थे उनकी बराबरी करने वाला पूरे गांव में कोई दूसरा नहीं था। इत्यादि प्रकार से पितृ कुल का अहंकार करना कुल मद है।



चतुर्थ जाति मद- माता के कुल को जाति कहते हैं मेरी माता का कुल बहुत ऊँचा है मेरे नाना, मामा का बड़ा नाम है इत्यादि प्रकार से अभिमान करना अथवा मैं क्षत्रिय कुलोत्पन्न हूँ, ब्राह्मण हूँ सबसे ऊँची जात वाला हूँ। इस प्रकार का अभिमान करना जाति मद है।

पंचम बल मद- अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्य का घमण्ड करना बल मद है। जब व्यक्ति को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शारीरिक बल की प्राप्ति होती है तो वह उस बल का दुरुपयोग करता है। अपने से कमजोर लोगों को सताता है। परंतु ध्यान रखिये यदि आप अपनी शक्ति का दुरुपयोग करेंगे तो प्रकृति आपका बल छीन लेगी। यह शाश्वत सिद्धान्त है कि मानी नियम से गिरता ही है। बल मद के भी अनेक भेद हैं-

मनोबल, वचनबल, कायबल, धन बल, जनबल, सैन्यबल, अस्त्र-शस्त्र बल, मित्रबल आदि।

इनमें से किसी भी प्रकार के बल की प्राप्ति होने पर अभिमान नहीं करना चाहिए। क्योंकि बल भी कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करता है और क्षयोपशम तो घटता-बढ़ता रहता है इसलिए उसका अभिमान क्या करना।

छठ ऋद्धि मद-अणिमादिक ऋद्धि अथवा लौकिक विभूति और पुत्र-पौत्रादिक सम्पत्ति प्राप्त करके घमण्ड करना ऋद्धिमद है।

हमारे यहाँ इतनी फ़ेक्ट्री है, मिलें है, इतने मकान है। फलाने के पास तो स्वयं की एक टूटी झोपड़ी भी नहीं है यह ऋद्धि मद है।

जिसका ज्ञान समीचीन होता है वह तो यही सोचता है कि आखिर ये पौद्गलिक पदार्थ कब तक रहेंगे जब तक मेरी आयु है तब तक। अपने-2 समय पर सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं इन अशाश्वत पदार्थों का क्या अभिमान करना ऐसा सोच वह ऋद्धि का अभिमान नहीं करता।

तप मद-अनशनादि तपश्चर्या तथा योग साधना करके गर्व करना तपमद है। मैं तो इतने उपवास करता हूँ। मासोपवासी हूँ। अन्य साधक तो खाते रहते हैं एक उपवास भी नहीं करते। मैंने इतने नीरस किये हैं इतने रसों का त्याग किया है। इत्यादि अपने तप के अभिमान में आकर दूसरों का तिरस्कार करना तप मद है।

जो ज्ञानी होते हैं वे यही विचारते हैं। हमारे तीर्थंकरों ने, पूर्ववर्ती साधकों ने कितनी-2 बड़ी-2 तपस्याएँ की हैं तब जाकर उनके कर्म क्षय हो पाये हैं। मेरी तपस्या तो सागर के समक्ष बूंद बराबर भी नहीं है जो ऐसा समीचीन चिंतन करते हैं ऐसे लोग ही 'तप-मद' से बच पाते हैं।

शरीर मद या रूप मद-सुंदर, शोभावान, रूपवान शरीर को प्राप्त कर घमण्ड करना शरीर या रूप मद कहलाता है। व्यक्ति सौंदर्यता के अभिमान में आकर धर्म के प्रति भी नम्रीभूत नहीं हो पाता।



मंदिर आकर भी बैठकर नमस्कार नहीं करते अन्यथा हमारे कपड़े गंदे हो जायेंगे हम खराब दिखेंगे। आप किसे देख रहे हैं सोचिए? आप पुद्गल को निहार रहे हैं और जो पुद्गल को निहारता रहता है उसे निरंतर पुद्गलों की ही प्राप्ति होती है। जिसका लक्ष्य ही आत्मा की ओर नहीं है उसे तीन काल में भी आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। रूप का अभिमान भी बहुत घातक है। रानी लक्ष्मीवती ने रूप के अभिमान में आकर मुनिराज का तिरस्कार किया था परिणाम स्वरूप उसी भव में उसे गलित कुष्ठ हुआ और नगर से निकाल दिया गया और आगे चलकर कूकरी, सूकरी, डूगरी आदि नाना अशुभ पर्यायों में जाना पड़ा। इसीलिए कभी भी रूप के अभिमान में आकर दूसरों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

जो ज्ञानी होते हैं वे शरीर को नहीं आत्मा को/गुणों को देखते हैं जबकि अज्ञानी की दृष्टि शरीर पर होती है। राजा भोज की सभा में जब अष्टावक्र पधारे तो उनके टेढ़े-मेढ़े शरीर को देख सभाषदों ने हंसी की। तब ज्ञानी अष्टावक्र ने अपने दो शब्दों में कहा-कि लगता है कि आज मैं चमारों की सभा में आ गया हूँ। क्योंकि आपकी दृष्टि मेरे गुणों पर न होकर इस अष्टावक्र शरीर/चमड़े पर है। सारी सभा लज्जित होकर सिर झुका लेती है।

बंधुओ! अष्टावक्र के ये शब्द उन लोगों के लिए तीखी चोट हैं जो निरंतर शरीर को ही सजाने धजाने में लगे रहते हैं।

आचार्य तो कहते हैं कि यदि तुम यूँही देह को संजाते रहोगे तो वह तुम्हारा पीछा कभी नहीं छोड़ेगी। निरंतर नये-2 शरीर मिलते ही रहेंगे और तुम अनंत संसारी बन जाओगे। यदि तुम्हें संसार का भय है, कर्म क्षय की भावना है मुक्ति की चाहत है तो हे भव्य! तुम मदों का त्याग कर दो। तभी तुम्हें शाश्वत आलय सिद्ध शिला की प्राप्ति हो सकेगी। उपर्युक्त आठ प्रकार के मदों का “अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः” इन आठ मदों का आश्रय करके जो गर्व करता है उसको मद रहित गणधरादिक देव मद कहते हैं।

यहाँ बहुत सुंदर बात आचार्य भगवन् समंतभद्र कह रहे हैं। इन आठ मदों का वर्णन मैं नहीं कर रहा अपितु मद रहित गणधरादि देव ने कहे हैं। इसमें पूज्य आचार्य भगवन् की लघुता तथा जो बात कही जा रही है उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

आप सब इन मदों को अच्छी तरह से जानकर अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने हेतु अवश्य त्याग करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”



प्रवचन-25

श्लोक-26

निज आत्मधर्म प्रकटा लो

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज कहते हैं कि आपका सम्यग्दर्शन तभी पूर्ण होगा जबकि सच्चे देव, शास्त्र व गुरु के प्रति 3 मूढ़ता, 8 मद रहित व 8 अंगों से सहित श्रद्धान हो। सम्यग्दर्शन की निर्मलता हेतु मदों का त्याग अत्यंत आवश्यक है। जब तक मदों का त्याग नहीं होगा तब तक सच्ची श्रद्धा/विनय हमारे अंदर नहीं आ सकती। अभिमान हमारी ऋजुता/कोमलता को समाप्त कर देता है और जहाँ कोमलता न हो, विनय व लघुता न हो वहाँ धर्म कैसे हो सकता है। प्रायः भगवान का आसन कमल का ही बनाया जाता है क्योंकि कमल अत्यंत कोमल होता है। जो यह दर्शाता है कि कोमलता में ही परमात्मा का वास होता है। कमलासन तो मात्र उपलक्षण है वास्तविकता व सिद्धान्त तो यह है कि जब आपका हृदय कमल, कठोरता का त्याग कर कमल की तरह कोमल हो जायेगा तब परमात्मा का तुम्हारे हृदय में वास हो पायेगा। जहाँ कोमलता नहीं वहाँ परमात्मा नहीं आते। तथा रत्नत्रय रूप निधि भी कोमल हृदय में ही ठहरती है। यदि आपका हृदय कोमलता से भरा है तभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो सकता है।

जब अभिमान चूर-2 हो जाता है तभी व्यक्ति झुक पाता है और जो झुकता है वह भरता है। कलश जल की सतह से भी नीचे झुकता है और झुकता है तभी भर पाता है यदि हमारा हृदय पूज्यों के प्रति झुकेगा नहीं तो धर्म से कैसे भरेगा। अभिमानी को सम्यग्दर्शन का पात्र नहीं कहा, क्योंकि अभिमानी के द्वारा धर्म व धर्मात्मा की विनय नहीं हो सकती। इसी बात को बतलाते हुए आचार्य भगवन् अभिमान का फल कहते हैं-

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥26॥

अन्वयार्थ-

यः

-

जो



गर्विताशयः	-	गर्व से युक्त आशय वाला पुरुष
स्मयेन	-	अपने घमण्ड से
अन्यान्	-	दूसरे
धर्मस्थान	-	धर्मात्मा पुरुषों को
अत्येति	-	अपमानित करता है
सः	-	वह पुरुष वास्तव में
आत्मीयं धर्म	-	अपने धर्म को ही
अत्येति	-	अपमानित करता है
यतः	-	क्योंकि
धार्मिकैः विना	-	धार्मिक पुरुषों के बिना
धर्मः न	-	धर्म नहीं ठहर सकता।

भावार्थ-जो गर्वितचित्त हुआ घमण्ड में आकर कुल-जाति आदि विषयक किसी भी मद के वशीभूत होकर सम्यग्दर्शन से युक्त दूसरे धर्मात्मा पुरुषों का तिरस्कार करता है। वह अपने ही आत्मधर्म की अवहेलना करता है। क्योंकि धार्मिक पुरुषों के बिना धर्म नहीं ठहरता।

भव्य बंधुओ! “गर्विताशयः” परम पूज्य आचार्य भगवन् बहुत गहरी बात कह रहे हैं। “गर्विताशयः” जिसका चित्त गर्व से घमण्ड से मलीन है। वह गर्वित चित्त कहलाता है। अभिमान आत्मा की वैभाविक परिणित है तथा आत्मा में से जब मार्दव गुण पलायन कर जाता है तब अभिमान का प्रादुर्भाव हो जाता है। प्रायः आत्मा के अनादि के संस्कार ऐसे हैं कि मन बुराईयों के ओर आसानी से चला जाता है। फिर मनुष्य गति में मान कषाय का बाहुल्य पाया जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल आदि जो 8 प्रकार के गर्व कहे हैं। उनमें से कोई भी गर्व किसी भी बाह्य निमित्त को पाकर उत्पन्न हो जाता है। कभी-2 ऐसा होता है कि किसी के पास जब धन संपदा बढ़ जाती है तो व्यक्ति गर्व में चकनाचूर होकर किसी को कुछ नहीं समझता, यदि कोई धर्मात्मा पुरुष गरीब है तो वह उसकी दरिद्रता को देख उसकी हंसी उड़ाता है कि देखो तो पहनने को ढंग के कपड़े तक नहीं इसके पास, कैसी द्रव्य चढ़ाता है इत्यादि प्रकार से धर्मात्मा का उपहास करता है यही बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं-‘यः स्मयेन अन्यान् धर्मस्थान् अत्येति’ जो अपने घमण्ड से दूसरे धर्मात्मा पुरुषों का अपमान करता है। ‘सः आत्मीयं धर्म अत्येति’ वह अपने आत्मीय धर्म को ही अपमानित करता है। अब प्रश्न धर्म मिलता कहाँ है तो धर्म किसी नदी, समुद्र, जंगल, वन, उपवन, पुष्पवाटिका, गिरि, दुर्ग, मंदिर, मस्जिद में नहीं मिलता। मंदिर, गुरुद्वारा में भी धर्म नहीं मिल सकता क्योंकि धर्म कोई वस्तु नहीं जो कहीं भी मिल जाए अपितु धर्म तो एक गुण है और गुण, गुणी के पास ही मिल सकते हैं क्योंकि गुण व गुणी में



तादात्म्य संबंध होता है। गुणी से गुण कभी पृथक् नहीं होता, गुण सदैव गुणी के ही आश्रय से रहता है यह जिनशासन का एक अटल सिद्धान्त है। धर्म यानि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र यह आत्मा का गुण है और आत्मा गुणी है परम पूज्य आचार्यश्री नेमीचंद्र सिद्धान्ति देव अपने द्रव्य संग्रह ग्रंथ में कहते हैं-

रणत्तयं ण वट्ठइ, अप्पाणं मुइत्तु अण्ण दवियम्हि।

तम्हा तत्तिय मइओ, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।। 40।।

रत्नत्रय धर्म, आत्मा में ही होता है क्योंकि आचार्य भगवन् कहते हैं-“न धर्मो धार्मिकैर्विना” कि धर्म, धर्मात्मा को छोड़कर नहीं पाया जाता। हम धर्म की खोज बाह्य पदार्थों में करते हैं परंतु बाह्य वस्तुएँ धर्म प्राप्ति में निमित्त भले हो पर उनमें धर्म नहीं पाया जाता मृग की नाभि में कस्तूरी पायी जाती है। कस्तूरी एक सुगंधित पदार्थ है। जिसकी सुगंध से व्याकुल होकर मृग यहाँ-वहाँ भटकता है कि शायद मुझे वह सुगंध बाहर कहीं मिलेगी। परंतु वह उसी की नाभि में पायी जाती है। उसी प्रकार धर्म को हम मंदिरों में, मस्जिदों में खोजते हैं परंतु वास्तव में वह धर्म तो हमारी ही आत्मा में पाया जाता है। जिनवर का दर्श निज को पाने का साधन है स्वयं को देखने के लिए दर्पण की तरह है जिस प्रकार दर्पण में हम अपना ही प्रतिबिंब देखते हैं कहते हैं कि दर्पण देख रहे हैं सोचिए आप दर्पण को देख रहे हैं या दर्पण में अपने आप को यदि गहराई से देखे तो हम दर्पण को निमित्त बनाकर अपने आप का ही प्रतिबिंब देख रहे हैं। ठीक उसी प्रकार कोई ज्ञानी धर्मात्मा जब भगवान के दर्शन करता है तो सोचता है कि हे प्रभु! आप धन्य है आपने संसार से मुक्त होने के लिए प्रबल व सम्यक् पुरुषार्थ किया व मुक्ति पा ली एवं धिक्कार है मुझे कि अभी भी संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। भगवान की जैसी आत्मा है वैसे मैं भी एक आत्मा हूँ। अंतर इतना ही है उन्होंने अपने गुणों को प्रकट कर लिया और वे हमारे गुण अभी कर्मों से आच्छादित हैं। भगवान को देखकर हमें जो अपनी आत्मा का स्मरण हो रहा है बस वही धर्म है अंतरंग स्वभाव की प्राप्ति हेतु प्रयास करना ही धर्म है।

और जिस आत्मा में धर्म निवास करता है। वह आत्मा धर्म से समन्वित होने से धर्मात्मा कहलाती है। तथा जिसमें धर्म न हो वह अधर्मात्मा है। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें एक साथ नहीं पायी जा सकती वैसे ही एक ही आत्मा में धर्म व अधर्म दोनों एक साथ नहीं हो सकते। जिस समय आपकी आत्मा धर्म से समन्वित है तभी धर्मात्मा कहलायेगी। ऐसे धर्मात्मा पुरुष ही गुणीजन कहलाते हैं क्योंकि धर्म का दूसरा नाम गुण है। कहा जाता है-

‘गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे’ गुणी जनों को देख उसी के हृदय में प्रेम उमड़ सकता है जो गुणानुरागी हो। यदि गुणों में अनुराग नहीं तो गुणी के प्रति अनुराग होना भी



संभव नहीं है। जिसे गुणों के प्रति अनुराग नहीं उसे गुण भी बुरे लगते हैं। चोर को कभी सिपाही अच्छा नहीं लगता। असत्य को सत्य, दुर्गुणी को गुण अच्छे नहीं लगते। बहुत से लोग महाराजों के पास नहीं आते, क्यों? क्योंकि नियमों से डर लगता है महाराज के पास जायेंगे तो बीड़ी, तंबाकू, रात्रि भोजन आदि का त्याग करायेगे। जब धर्म से स्नेह नहीं होता तो व्यक्ति धर्मात्मा के पास आने का साहस नहीं कर पाता। किंतु जब जीवन में धर्म की कीमत होने लगती है तो अधर्म दूर भाग जाता है जैसे कि प्रकाश को देख अंधकार दूर भाग जाता है। उसी प्रकार आप धर्मात्मा के पास जायेंगे, गुरुओं के पास जायेगे तो आपके अवगुण अवश्य दूर हो जायेगे और आप भी धर्मात्मा बन जायेगे।

कभी-2 धन आदि के मद में आकर व्यक्ति कार्य, अकार्य को भूल जाता है। हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है तथा धर्मात्माजनों का तिरस्कार करने से नहीं चूकता मान बहुत बड़ा अवगुण है जो प्राणी को पतन के गर्त में गिराता है। सम्यग्दर्शन से च्युत करने वाली कषाय ही होती है। यदि आपने अभिमान में चूर होकर दूसरों धर्मात्माओं का अपमान किया तो नियम से आपके आत्मीय धर्म सम्यग्दर्शन का नाश हो जायेगा।

अतः बंधुओ! आप सम्यग्ज्ञान का आश्रय ग्रहण कीजिए। जीवन में विनयगुण को अपना लीजिए। 6 अंतरंग तपों में एक विनय तप होता है। जो अपने जीवन को विनय व लघुता से भर लेता है वह कभी दूसरे धर्मात्मा जनों का अनादर या तिरस्कार नहीं करता। अपितु गुणीजनों के प्रति प्रीति भाव धारण करता है यदि आपको मानव जीवन मिला है तो अपने दोषों को छान लीजिए। तिर्यच, नारकी व देव तो कर्म क्षय करने में समर्थ नहीं होते। मात्र मनुष्य गति में ही जीव संयम धारण कर प्रबल पुरुषार्थ के बल से कर्म क्षय कर सकता है। मनुष्य आयु का काल भी स्वल्प है अतः सावधान हो जाइए कहीं ये नरभव यूँ ही न चला जाए।

यह मानव अज्ञानता वशात् भव के भव यूँ ही गंवा देता है। निज आत्म धर्म की ओर दृष्टि ही नहीं डाल पाता। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि आप अपने आत्म धर्म की ओर दृष्टि डालो जो अपनी आत्मा को देखता है अभिमान आदि दोष उससे कोसो दूर चले जाते हैं व विनय रूप आत्मधर्म प्रकट होता है। आप सभी उसी निजधर्म की ओर प्रयाण कर अपने मानव जीवन को सफल बनाएँ।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मुनिसुव्रत नाथ भगवान की जय”





प्रवचन-26

श्लोक-27

धनदास नहीं धर्मदास बनो

भव्य मनीषियो! गाथा 26 के माध्यम से परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन के रक्षण हेतु अभिमान न करने का उपदेश दिया अब आचार्य भगवन् पाप व पुण्य की महिमा बता रहे हैं-नित नये-नये चिंतन रूपी मोतियों के द्वारा हमें आगम के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान करा रहे हैं। कहते हैं-

यदि पाप निरोधोऽन्य, संपदा किं प्रयोजनम् ।

अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य, संपदा किं प्रयोजनम् ।।27।।

अन्वयार्थ-

यदि	-	यदि
पाप निरोधः	-	पाप का निरोध हो चुका है
(तर्हि)	-	फिर
अन्य संपदा	-	अन्य संपत्तियों से
किं	-	क्या
प्रयोजनम्	-	प्रयोजन है ।
अथ	-	और यदि
पाप आस्रवःअस्ति-	-	पाप का आस्रव जारी है
तर्हि	-	तो फिर
अन्य संपदा	-	अन्य संपत्ति से
किं	-	क्या
प्रयोजनम्	-	प्रयोजन है ।

भावार्थ-यदि पाप (मिथ्यात्व) का निरोध हो गया है तो अन्य विभूति से क्या प्रयोजन? यदि पाप (मिथ्यात्व) का आस्रव हो रहा है तब भी उस विभूति से क्या फायदा, कुछ भी नहीं ।



भव्य मनीषियो! जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं। 1. Head 2. Tale वैसे ही जीवन की गाड़ी इन्हीं दो पहलुओं से होकर गुजरती है। जीवन में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं और उन उतार-चढ़ावों के कारण जीवन के Graph में Cusue बनते जाते हैं। उस उतार-चढ़ाव का नाम पुण्य-पाप है। सदाकाल एक ही कर्म उदय में नहीं रहता है एक के बाद दूसरा। पुण्य के बाद पाप, पाप के बाद पुण्य यह रहट चलती ही रहती है।

जब पाप कर्म का उदय आता है। सारी अनुकूलताएँ-प्रतिकूलता में बदल जाती है। सुख-दुःख में बदल जाता है हाथ का सोना भी पाप कर्म के उदय में मिट्टी में बदल जाता है। व्यक्ति जिस काम में हाथ डालता है उसी में घाटा लग जाता है, सर्वत्र हानि ही हानि उठानी पड़ती है। दुःखों का सामना करना पड़ता है। जबकि पुण्य कर्म के उदय में स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है पुण्यात्मा के सभी मित्र बन जाते हैं वह मिट्टी को भी हाथ लगाता है तो वह सोने में बदल जाती है। पुण्यात्मा जिस भी कार्य में हाथ लगाता है सफल हो जाता है जहाँ भी जाता है पग-पग पर सम्मान पाता है।

एक बार की घटना है-एक सेठजी थे बहुत बड़े करोड़पति सेठ थे। धन संपदा की नदियाँ उनके यहाँ बहती थी, किसी बात की कोई कमी नहीं थी। बस यदि कोई कमी थी तो यही थी कि सेठजी धर्म कर्म बिल्कुल नहीं करते थे। न तो कभी मंदिर जाते थे न गुरुओं के पास। यदि मंदिर के नाम पर कोई चंदा/चिट्ठा लेने आता तो सेठजी बहाना बना देते हैं। धर्म के नाम पर 1 रुपये का भी दान नहीं करते थे। अपने शान-शौकत में लाखों खर्चते थे। एक बार सेठजी के नगर में एक बड़े मुनिराज का चातुर्मास हुआ, निरंतर मुनिश्री के श्रीमुख से धर्म गंगा बह रही थी। सारे नगर में खुशीहाली छाई थी। बच्चा-2 उत्साहित था। परंतु सेठजी को अपने व्यापार से कहां फुर्सत मिलने वाली थी। जब लगभग चातुर्मास समापन की ओर था तब एक दिन सेठजी दौड़े-2 आये मुनिराज के चरणों में नमोस्तु किया, आंखों में आंसू थे। महाराज ने कहा चार महिने में आज पहली बार आपकी सूरत देख रहे हैं कहाँ थे आप अभी तक, सेठजी बड़े लज्जित थे, अपना मुख/चेहरा ऊपर नहीं उठा पा रहे थे। महाराज ने पूछा-सेठजी क्या हुआ? सेठजी ने महाराज के चरण पकड़ लिये, महाराज रक्षा कीजिए। मैं तो बर्बाद हो गया, लुट गया। आखिर हुआ क्या मिलों में आग लग गई, मेरे घर में छापा पड़ गया। अब आप ही मुझे इस से उबारिये मुनिराज ने कहा-सेठजी अब आप की रक्षा कौन करे। रक्षा तो दान से, धर्म से होती है। आपने धर्म कर्म किया ही नहीं। जब सेठजी ने समाज से मदद की बात की तो लोगों ने भी कह दिया कि हम लोग चंदा लेने जाते थे तो सेठजी ने हमारी मदद नहीं की तो अब हम उनकी कैसे करे, एक भी व्यक्ति सेठजी की मदद के लिए आगे नहीं आया।

महाराज ने सेठजी से कहा-देख लिया आपने धर्म धारण नहीं किया, उसका परिणाम पाप के उदय में आज कोई सहयोगी नहीं, जब तक पुण्य का उदय था तब तक आपकी चल गई। अब पापोदय



में कोई सहारा नहीं। सेठजी की आँखे आँसुओं से भींगी थी। वे बोले-महाराज मैं शर्मिन्दित हूँ, क्षमा चाहता हूँ, परन्तु अब आप मुझे उपाय बतलाइए क्या करूँ महाराज बोले-वीतरागी प्रभु की शरण को धारण कर लीजिए। सच्चे जिन धर्म की शरण में आ जाइए।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि यह धन, वैभव/संपदा कब तक? जब तक सत्ता में पुण्य है। पुण्य के समाप्त होते ही ये सब आकाश की बिजली की तरह क्षण भर में विलय को प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य भगवन् इसी बात को समझाते हुए कह रहे हैं कि-“यदि पाप निरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनम्” यदि आपने पाप का निरोध कर दिया है। तो संपत्ति को क्या इकट्ठा करना वह तो स्वतः तुम्हारे द्वारे बिन बुलाए चली आयेगी और भगाने से भी दूर नहीं होगी। जैसे-भीषण गर्मी की तपन से बड़े-2 जलाशय नदी, तालाब व कुयें भी सूख जाते हैं परन्तु ऐसी भीषण गर्मी में भी कभी भी वृक्ष पर लगे नारियल का पानी नहीं सूखता। जब भी वृक्ष से तोड़ोगे पानी से भरा मिलेगा। यही बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं भो चेतन आत्माओं! पैसा-पैसा क्यों करते हो। पैसा कब तक? तो कवि कहता है- “ Money-money-money, money is a Sweet honey but without life no Money no honey.”

व्यक्ति पैसा-पैसा करता है परन्तु वह पैसा कब तक रहेगा अधिक से अधिक तब तक, जब तक कि तुम्हारा जीवन है। जीवन के न रहने पर पैसे की कुछ कीमत नहीं है। यदि तुमने सच्चे देव-शास्त्र गुरु की शरण प्राप्त कर ली है, मिथ्यात्व का गालन कर दिया है। तो बाह्य संपदा से क्या प्रयोजन? वह तो पुण्य प्रताप से बिना परिश्रम के यूँ ही मिल जायेगी।

तीर्थकर प्रभु जब जन्म लेते हैं तो जन्म के 6 माह पूर्व से ही लक्ष्मी उनके आंगन में डेरा डाल देती है। जन्म होते ही जन्माभिषेक आदि महोत्सवों से लेकर तीर्थकर बालक के भोजन, वस्त्र सभी का देवोपनीत इंतजाम होता है। लक्ष्मी अपने स्वामी को एक पल के लिए भी नहीं छोड़ती, बड़े होते ही राजवैभव के रूप में विस्तृत हो जाती है। जब तीर्थकरों को वैराग्य होता है तो लक्ष्मी दुःखी होती है कि मेरे स्वामी सर्वस्व त्याग कर मुझे छोड़ चले जायेंगे तो मैं क्या करूँगी, मैं तो अपने स्वामी के बिना एक पल भी नहीं रह सकती। तीर्थकर लक्ष्मी को पीठ दिखा चल देते हैं वन की ओर वस्त्राभूषणों का परित्याग कर पंचमुष्ठी लोंच कर पाँच महाव्रतों को धारण कर आत्म ध्यान में निमग्न हो जाते हैं, लक्ष्मी रोती बिलखती स्वामी के पास चली जाती है जैसे ही तीर्थकरों का आहार किसी पुण्यात्मा के घर में होता है वह अपनी कसर निकाल लेती है और पंचाश्चर्य के रूप में रत्न बनकर बरस पड़ती है और अपने स्वामी की सेवा का अवसर प्राप्त कर सौभाग्य मनाती है। तीर्थकर आत्म ध्यान में निमग्न



होकर मोहनीयादि कर्मों को नष्ट करना प्रारंभ कर देते हैं और शुक्ल ध्यान के बल से चार घातिया कर्मों का हनन कर देते हैं। तब भी लक्ष्मी अपने स्वामी का पीछा नहीं छोड़ती और समवशरण के वैभव के रूप में फैल कर स्वामी को चारों ओर से घेर लेती है। वीतरागी प्रभु सिंहासन से चार अंगुल अधर रहकर अपनी विरक्ति का परिचय दे ही देते हैं पश्चात् अंतिम शुक्ल ध्यान के बल से वे अशेष कर्मों का (अघातिया) क्षय कर परम सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं तब भी मुक्ति वधु के रूप में लक्ष्मी उनकी सहचरणी बनी रहती है। मुक्ति लक्ष्मी को स्वामी प्राप्त हुए ऐसा कहा जाता है।

सोचिए! तीर्थकर छोड़ते गये, छोड़ते गये। कर्म रहित अवस्था में भी लक्ष्मी ने पीछा नहीं छोड़ा और एक आप है कि लक्ष्मी आप के पास आना भी न चाहे तो आप जबरदस्ती उसके पीछे पड़े रहते हैं।

आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज प्रकाण्ड विद्वान्, धुरंधर आचार्य हुए हैं वे बड़े सुंदर शब्दों में आपको समझा रहे हैं हे भोले मानव! तू क्यों संपदा के पीछे पड़ा हुआ है। पीछे ही पड़ना है तो परमात्मा का पीछा करो, धर्म को धारण करो। धर्म धारण करोगे तो पाप का निरोध होगा पुण्य की प्राप्ति होगी और जिसकी सत्ता में पुण्य होता है उसे लक्ष्मी के चक्कर नहीं लगाने पड़ते लक्ष्मी स्वयं पुण्यात्मा के चक्कर काटती है। पाप का निरोध हो गया है तो अब बिन मांगे ही मोती मिलेंगे। दूसरी बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं-“अथ पापाम्नवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनम्” यदि हे भव्य! तुम्हारा पाप का आस्रव जारी है तो फिर अन्य संपत्ति से क्या प्रयोजन है।

हे भव्य! यदि तुमने मिथ्यात्व का नाश नहीं किया सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण को प्राप्त नहीं किया तो पापाम्नव निरंतर जारी ही रहेगा। क्योंकि पाप का निरोध सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर प्रारंभ होता है। यदि तुम्हारे मिथ्यात्व का सेवन जारी है तो अहर्निश पाप ही बंधेगा, सन्मार्ग को तुमने प्राप्त नहीं किया, सदाचरण को धारण नहीं किया, अभक्ष्यों का त्याग नहीं किया, रात्रि भोजन त्याग नहीं किया तो निरंतर पापाम्नव जारी रहेगा और जब जीवन में पाप की बहुलता हो जाती है तो ऐसे व्यक्ति के पास लक्ष्मी पल भर भी ठहरना पसंद नहीं करती आप सोना भी हाथ में लोते तो मिट्टी में बदल जायेगी। अकृत पुण्य की कथा से हम भली भाँति परिचित हैं। अकृत पुण्य के पूर्वोपार्जित पाप कर्म का तीव्रोदय चल रहा था उस समय वह जो भी कार्य करता उसे घाटा लग जाता है। कोई दूसरा सहायता भी कर दें तो हाथ में पैसा पल भर भी नहीं ठहरता था।

पाप कर्म का उदय है तो आप कितना भी पुरुषार्थ कर लो/परीश्रम कर लो परंतु आप लक्ष्मी को प्राप्त नहीं कर पाओगे वह तो आपसे कोसों दूर होती जायेगी।

एक सेठजी अरबपति, खरबपति थे 16 दीनार के स्वामी थे। पहले के समय में जो जितने दीनार का स्वामी हो उसके घर के ऊपर उतने झंडे फहराते थे। सेठजी की छत पर भी 16 झंडे गड़े



थे। अनेकों मिले, बड़े-2 व्यापार, अटूट धन संपदा थी। सेठजी बड़े प्रसन्न थे उनके घर कुटुम्ब/परिवार धन धान्य सब कुछ था। आनंद के साथ जीवन व्यतीत हो रहा था तभी अचानक एक दिन सेठजी को स्वप्न आया कि मेरा मन ऐसा हो रहा है कि फटे पुराने कपड़े पहनूँ, निम्न किस्म का Lower Quality का भाकरी/छाछ का भोजन करूँ। सेठजी की बहु विद्वान थी। सेठजी उस पर बहुत विश्वास करते थे। अतः बोले बेटा! आजकल मुझे ऐसा-2 दोहला हो रहा है। बहु विद्वान थी सब समझ गई। बोली पिताजी! सावधान हो जाइए विपत्ति का समय आ गया है। आप कुछ समय के लिए अपने कारोबार की बागडोर मेरे हाथ में सौंप दीजिए। ससुरजी को बहु की दक्षता, कुशलता पर पूरा भरोसा था अतः बहु को सब कुछ सौंप देते हैं। बहु समझदार थी बड़े-2 विधानों/पंचकल्याणकों में लाखों की संपदा दान कर देती है कहीं गरीबों को किमिच्छिक दान की घोषणा कर देती है दीन दुःखियों की सहायता के लिए करोड़ों रुपये दान देती है कहीं धर्मशाला, हॉस्पिटल आदि बनवाती है। ऐसे करने से सेठजी की 1-1 करके 8 झंडे गिर जाते हैं। सेठजी अब पहले जैसे अमीर नहीं रहे। धनसंपदा घटते-2 गरीब हो गये। कोई होता तो कहता कि कैसी बहु है दान कर करके मुझे कंगाल करने पर तुली है परंतु सेठजी तो विश्वास रखते थे कि मेरी बहु जो कर रही है सब अच्छा कर रही है एक दिन सेठजी को पुनरपि दोहला हुआ कि मैं नये-2 वस्त्र पहनूँ, काजू किशमिश की खीर खाऊँ। वे बहु को उक्त दोहला सुनाते हैं बहु कहती है पिताजी! अब विपत्ति के दिन टल गये। अब कारोबार आप संभालिये। सेठजी अपनी युक्ति से पुनः धनोपार्जन करते हैं और पुनः 16 दीनार के स्वामी बन जाते हैं।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि जब पाप कर्म का उदय आता है तो संपदा ठहरती नहीं तो हाय पैसा! हाय पैसा! करने से क्या लाभ। जितना पैसे की माला फेरते हो यदि तुम उतनी प्रभु नाम की माला फेर लोगे तो सत्ता में पाप का निरोध व पुण्य का अर्जन होगा फलतः दुःख/दारिद्र्य का नाश होगा।

अंततः इस श्लोक का सारभूत तत्व यही निकला कि हमें धन की नहीं धर्म की उपासना करनी चाहिए जो धर्म की उपासना करता है धन तो स्वयं चलकर धर्मात्मा के पास पहुँच जाता है। इसलिए धनदास नहीं धर्मदास बनिये। यदि आप धर्मदास बन गये तो धन आपका दास बन जायेगा।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नमिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-27

श्लोक-28

सम्यग्दर्शन सम रत्न न दूजा

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समन्तभद्र महाराज ने पूर्व गाथा में पुण्य की महिमा बतलायी है और मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को पुण्य कहा है। सत्य है बिना सम्यग्दर्शन के पापों का निरोध होना संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन की महिमा अपरंपार है जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक दुःख ही दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। सुभाषितकारों ने कहा भी हैं-

तावद्भीमो भवाम्भोधिस्तावज्जन्म परम्परा ।

तावद् दुःखानि यावन्त सतां सम्यक्त्व संभवः ।।

सत्पुरुषों को जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तभी तक उनका संसार सागर भयंकर रहता है, तभी तक उनकी जन्म सन्तति चलती है और तभी तक उन्हें अनेक दुःख प्राप्त होते रहते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही प्राणियों का अनंत संसार घटकर चुल्लु भर रह जाता है कोड़ा-कोड़ी प्रमाण कर्म की स्थितियाँ घटकर अंतः कोड़ा-कोड़ी प्रमाण रह जाती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में जन्म-मरण रूप संसार निरंतर वृद्धिगत होता जाता है प्राणी का जन्म-मरण होता ही रहता है नाना नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती ही रहती है और प्राणी निरंतर दुःखी ही बना रहता है। उसके दुःखों का क्षय नहीं हो पाता। यदि प्राणी क्षण भर के लिए भी सम्यग्दर्शन धारण कर ले तो अनंत संसार घटकर उपार्ध पुद्गल परावर्तन मात्र शेष रह जाता है। अर्थात् इस उपार्ध पुद्गल परावर्तन के भीतर-भीतर वह नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् शीघ्र ही उसके दुःखों का अंत हो जाता है इस सम्यग्दर्शन का पात्र कौन है तो आचार्य कहते हैं कि संज्ञी, पंचेन्द्रिय, भव्य पर्याप्तक चारों गतियों में से किसी भी गति का हो। वह सम्यग्दर्शन के लिए पात्र कहा गया है। तथा सम्यग्दर्शन की महिमा गाते हुए तो यह भी कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं यही बात बतलाते हुए आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी कहते हैं-

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवादेवं विदुर्भस्म, गूढाङ्गारान्तरौजसम् ।।28।।



अन्वयार्थ-

देवा:	-	जिनेन्द्र देव, गणधरदेव
सम्यग्दर्शनसम्पन्नं	-	सम्यग्दर्शन सहित
मातङ्ग देहजम् अपि	-	चाण्डाल के पुत्र को भी
भस्मगूढाङ्गारान्त	-	भस्म से ढके हुए अंगार के भीतरी
रौजसम्	-	प्रकाश के समान
देवं	-	देव (आदरणीय)
विदुः	-	कहते हैं।

अर्थ-भस्म से ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान होने से जिनेन्द्र देव सम्यग्दृष्टि चाण्डाल के पुत्र को भी देव/आदरणीय कहते हैं।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् बहुत गहरी बात कह रहे हैं-‘सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातंग देहजम्’ चाण्डाल का पुत्र भी यानि नीच कुलोत्पन्न जिसकी न तो कुल शुद्धि है, न जाति शुद्धि है। लौकिकता में कुल व जाति का विशेष महत्व होता है किसी भी शुभ कार्य को करने के लिए कुल व जाति की शुद्धि अनिवार्य होती है। चाण्डाल सबसे निम्न जाति मानी जाती है। यदि कोई चाण्डाल को छू जाए तो स्नान करना पड़ता है। आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन की महिमा बतला रहे हैं। कि यदि चाण्डाल का पुत्र भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तो वह भी ‘देवं विदुः’ देव अर्थात् आदरणीय कहा जाता है। क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो चुका है वह वर्तमान में भले ही नीच कुल का हो, म्लेच्छ हो यहाँ तक कि पशु भी हो तो भी वह श्रेष्ठ है इसका मुख्य कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि नियम से संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, उच्चकुल, धन, ऐश्वर्य संपन्न कुलों में ही अगली पर्याय में उत्पन्न होता है तथा सम्यग्दर्शन के ही प्रभाव से वह सातिशय इंद्र पद पावेगा अतः किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ धर्मात्मा पुरुष या तिर्यच तिरस्कार के योग्य नहीं है। जिन शासन में धर्म पूज्य है। जाति, कुल-ऐश्वर्य नहीं।

हम सब उन सर्प युगल से अच्छी तरह से परिचित हैं जिन्हें स्वयं 23 वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ने अपने श्री मुख से पंचनमस्कार मंत्र सुनाया था और पंचनमस्कार श्रवण कर वे धरणेन्द्र व पद्मावती हुए थे। तथा सिंह की पर्याय में जब महावीर का जीव घनघोर वन में अपने शिकार की तलाश में विचरण कर रहा था तब वह अपने क्रूर पंजों के द्वारा एक मृग पर झपटता है। तभी आकाश मार्ग से दो चारण ऋद्धि धारी मुनिराज उतरते हैं और सिंह को संबोधन देते हैं हे वनराज! हे अहिंसा के अवतारी! यह तुम क्या कर रहे हो, तुम्हारे द्वारा तो भविष्य में अहिंसा धर्म का व्यापक प्रचार/प्रसार



होने वाला है धर्म का शंखनाद होने वाला है यह कृत्य तुम्हें शोभा नहीं देता। जैसे ही मुनिराजों की सौम्य छवि पर वह सिंह दृष्टिपात करता है तो क्रूरता को भूलकर एकटक दृष्टि से अपलक मुनिराजों को निहारता है। मिथ्यात्व की बेड़िया तड़-तड़ कर टूटने लगती है और अंतरात्मा में सम्यग्दर्शन का प्रकाश भर जाता है। अपने कृत्य पर पश्चाताप होता है और आंखों से अश्रुओं की निर्झरणी बहने लगती है। सिंह बहुत कुछ कहना चाहता था परंतु मौन ही था मुनिराज के उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त होकर वह हिंसा का त्याग कर देता है किसी भी प्राणी को नहीं सताता, मांस का त्याग कर सल्लेखना धारण कर लेता है। तथा सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मरकर स्वर्ग में देव पर्याय को प्राप्त कर लेता है। सोचिए! सम्यग्दर्शन की इतनी बड़ी महिमा है कि एक तिर्यच भी देव पर्याय में पहुँच सकता है फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

यमपाल चाण्डाल की कथा से आप भली भाँति परिचित ही है वह एक चाण्डाल था और चाण्डाल का तो कार्य ही हिंसा करने का होता है। परंतु यमपाल चाण्डाल के किन्हीं मुनिमहाराज से मात्र इतना ही नियम लिया था कि चतुर्दशी के दिन किसी जीव को फांसी पर नहीं चढ़ाऊँगा। नियम जब भी लिया जाता है तो उसकी परीक्षा अवश्य होती है। यमपाल चाण्डाल के सामने भी ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो जाता है। परंतु प्राणों की परवाह न करते हुए व्रत में अड़िग रहता है राजा कुपित होकर उसे नदी में फिकवा देते हैं परंतु स्वर्ग के देव उसे सिंहासन पर उठा लेते हैं एक चाण्डाल भी देवों के द्वारा पूजनीय हो गया यह सम्यग्दर्शन की ही महिमा है।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जिस प्रकार “भस्म गूढ़ाङ्गारान्त रौजसम्” भस्म से यदि अंगारा आच्छादित भी हो तो भी वह प्रकाशमान होता है। छोटा सा अंगारा राख से दबा होने पर भले ही हमें अंगारे जैसा न दिखाई पड़े परंतु यदि कपास के ढेर पर एक अंगारा भी पहुँच जाए तो वह अंगारा इतनी शक्ति रखता है कि कपास के ढेर के ढेर को भी जला कर राख कर सकता है। उसके अंदर बहुत बड़ी शक्ति छिपी रहती है। ठीक वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भले ही चाण्डाल आदि निम्न पर्याय में ही क्यों न हो परंतु देव तुल्य आदर- सत्कार को प्राप्त होता है क्योंकि उसके अंदर सम्यक्त्व रूप दीपक जल रहा है। इसीलिए किसी सुभाषितकार ने अपने सुभाषित में कहा हैं-

सम्यक्त्व रत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रं।

सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः, सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभः।।(सु.स.)

सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्व से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं, सम्यक्त्व से बढ़कर कोई दूसरा भाई नहीं है, सम्यक्त्व से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है। संसार में बहुत से रत्न होते हैं-हीरा, पन्ना, पुखराज, नीलम, लहसुनिया। जिन्हें हम बहु कीमती मानते हैं। उन सभी कीमती



रत्नों के बीच वेशकीमती रत्न यदि कोई है तो वह सम्यग्दर्शन रूप रत्न है। बाह्य पौद्गलिक रत्न तो एक समय सीमा तक ही आपके साथ रहते हैं पुण्य क्षीण होते ही वे पलायन कर जाते हैं। परंतु सम्यग्दर्शन रूप रत्न भव-भव में साथ रहता है। बाह्य पौद्गलिक रत्न क्षणिक व सीमित सुख देते हैं। परंतु सम्यग्दर्शन रूप रत्न असीम आत्मिक आनंद देता है। सच्चा सुख सम्यग्दर्शन ही प्रदान कर सकता है।

दूसरी बात “सम्यक्त्वमित्रान्न न परं हि मित्रं” सम्यग्दर्शन के समान कोई दूसरा मित्र भी नहीं है। लौकिक मित्र तो अधिक से अधिक इस भव साथ निभा देगे। वह भी कर्मों के परतंत्र ही है। यदि सत्ता में पुण्य नहीं है तो मित्र भी साथ नहीं निभा पाते परंतु सम्यग्दर्शन वह सच्चा मित्र है जो विपत्ति में रक्षक बनकर सामने खड़ा हो जाता है। जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र को सन्मार्ग दिखाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन अपने अधिष्ठाता को विपरीत परिस्थितियों में भी समीचीन चिंतन देता है कि तुम इस मार्ग पर चलो, ऐसा करो, वैसा मत करो।

तीसरी बात है-“सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः” सम्यग्दर्शन के समान कोई दूसरा भाई नहीं है। जैसे भाई विपत्ति में सहायता करता है, भाई अपने भाई की रक्षा के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देता है। परंतु आज का समय विचित्र है भाई का स्नेह भी भाई के प्रति न होकर पैसे के प्रति होता है। परंतु सम्यग्दर्शन एक ऐसा भाई है जो विपत्ति में रक्षा करता है किसी भी प्रकार से आत्मा को पतित नहीं होने देता। हर परिस्थिति में उसे संभाल लेता है। चौथी बात सम्यग्दर्शन के बारे में सुभाषितकारों ने कही है-“सम्यक्त्व लाभान्न परोहि लाभः” सम्यक्त्व से बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं है। किसी की लॉटरी खुल जाए तो उसकी खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहता। उसे लगता है कि दुनियाँ का सबसे बड़ा लाभ उसे ही हो गया है। यदि किसी को मार्ग चलते हुए रत्नों की पोटली मिल जाए तो वह सोचता है कि मुझे बहुत कुछ मिल गया परंतु ये छोटे-मोटे लाभ हैं। परंतु जब जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। तो आत्मोत्थान का प्रारंभ हो जाता है आत्मा को वह लाभ हो जाता है जो उसकी मुक्ति में नियामक हेतु है।

यही बात आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं कि जिस प्रकार भस्म से ढ़का हुआ अंगारा ऊपर से राख सहित है, परन्तु उसके भीतर दैदीप्यमान तेज छिपा रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि चाण्डाल पुत्र ऊपर से भले ही नीच जाति वाला हो, परंतु उसके अंतरंग में सम्यग्दर्शन रूपी तेज प्रकाशमान है अतः मोक्षमार्ग में उसे देव कहा गया है।

यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह कि कितने ही महानुभाव इस श्लोक का अवतरण इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में दिया करते हैं कि जाति या कुल कोई चीज नहीं है क्योंकि समंतभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन से सहित चाण्डाल को भी देव कहा है उन लोगों को



“भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्” इस विशेषण पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। जिस प्रकार अंगार की भीतरी तेज भस्म से आच्छादित है वैसे ही चाण्डाल कुलोत्पन्न सम्यग्दृष्टि जीव का भीतरी तेज नीचकुल से आच्छादित है अतः वह सम्यग्दर्शन के कारण आदर का पात्र तो है परंतु उसे उतना ही आदर का पात्र कहा है जितना कि चरणानुयोग में स्वीकृत है बाकि बाह्य मर्यादाएँ तो बनाकर रखी ही जाती है। क्योंकि नीचकुलोत्पन्न सम्यग्दर्शन व देशव्रत तक तो ग्रहण कर सकता है परंतु महाव्रतों के धारण करने में कुल शुद्धि अनिवार्य है उच्च कुलोत्पन्न ही महाव्रत धारण कर सकता है। इसलिए जाति/कुल का अपना अलग स्थान है।

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि कुल जाति, ऐश्वर्य आदि की संपन्नता अहंकार का कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनकी प्रतिष्ठा सम्यग्दर्शनादि गुणों से ही होती है। इनके बिना उच्चकुल तथा ऐश्वर्य आदि की प्रतिष्ठा नहीं है और इनके प्रकट होने पर नीचकुल तथा ऐश्वर्य आदि की भी प्रतिष्ठा यथायोग्य होने लगती है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा को जानकर हमें उस बहुमूल्य रत्न को पाने का प्रयत्न व प्रयास करना चाहिए। इस मानव देह की सार्थकता सम्यग्दर्शन धारण करने से ही है। अतः आप अपने जीवन में सम्यग्दर्शन को धारण कर अपनी इस मानव देह को सार्थक करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की जय”



गुरु ऋण

एकमेवाक्षरं यस्तुगुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् ।

पृथिव्यां नास्ति तदद्रव्यं, यद्दत्त्वाचानृणी भवेत् ।।338।।

अर्थ : जो गुरु, शिष्य को एक अक्षर भी बतलाता है, पढ़ाता है, पृथिवी में वह पदार्थ नहीं है जो उसे देकर ऋण रहित हो सके।





प्रवचन-28

श्लोक-29

धर्म और अधर्म का फल

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् ने पूर्व गाथा में सम्यग्दर्शन की महिमा बतलायी है कि सम्यग्दर्शन का धारी यदि चाण्डाल भी क्यों न हो तो भी वह देव तुल्य है। अभी तक आचार्य भगवन् ने मात्र धर्म का फल बतलाया परंतु आगे धर्म व अधर्म का युगपत् फल बतलाते हुए कहते हैं-

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्बिषात् ।

कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ।।29।।

अन्वयार्थ-	धर्मकिल्बिषात्	-	धर्म और पाप से
	श्वापि	-	कुत्ता भी
	देवः	-	देव और
	देवः अपि श्वा	-	देव भी कुत्ता
	जायते	-	हो जाता है
	धर्मात्	-	धर्म के प्रभाव से
	शरीरिणाम्	-	संसारी जीवों के
	अन्या कापि नाम सम्पत्	-	अपूर्व एवं अद्वितीय ऐश्वर्य
	भवेत्	-	प्राप्त होता है।

अर्थ-धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है। हे भव्य प्राणियों! धर्म के प्रभाव से कोई एक अद्वितीय ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भव्य बंधुओ-यहाँ आचार्य भगवन् धर्म की व्याख्या करने के साथ-2 उसके विरोधी अधर्म का फल भी बतला रहे हैं क्योंकि पंडित दौलतरामजी ने भी कहा हैं-“बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये” अर्थात् जानकारी के अभाव में दोषों का त्याग व गुणों का ग्रहण नहीं हो सकता। जब तक बच्चे को अग्नि का ज्ञान नहीं होता तब तक वह उसे पकड़ने के लिए दौड़ता है। रोकने पर भी



नहीं मानता परंतु जब वह एक बार भी अग्नि से जल जाता है तो सतर्क सावधान हो जाता है कि इसको छूने से बड़ा कष्ट होता है। फिर तो वह मात्र अग्नि का नाम सुनकर भी घबरा जाता है। यही बात यहाँ कही जा रही है कि हे भव्य! धर्म को धारण करने के पूर्व तुम धर्म व अधर्म दोनों के स्वरूप तथा उसके फल को अच्छी तरह समझ लो तभी आप धर्म को ग्रहण व अधर्म को विवेक पूर्ण ढंग से त्याग कर सकोगे। धर्म का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यों ने कहा हैं-कि 'रयणत्तयं हि धम्मो' अर्थात् रत्नत्रय ही धर्म है। वैसे तो धर्म की अपेक्षाकृत अनेकानेक परिभाषाएँ हैं-हिंसा रहिये धम्मो, वत्थु सहावो धम्मो, चारित्तं खलु धम्मो इत्यादि। परंतु प्रकरण की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन को ही धर्म संज्ञा दी है। अर्थात् सच्चे वीतरागी देव में देवबुद्धि, निर्ग्रन्थ गुरुओं में गुरु बुद्धि व अरिहंत देव द्वारा प्रतिपादित आगम में शास्त्र बुद्धि तथा तत्त्वों का सच्चा श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन ही धर्म है। अथवा पुण्य रूप शुभ क्रियाओं को धर्म कहते हैं।

तथा जो धर्म से ठीक विपरीत है अर्थात् कुदेव में देव बुद्धि, सग्रन्थ में गुरु बुद्धि, रागी-द्वेषी द्वारा बनाये गये शास्त्रों में आगम बुद्धि व तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना, यही अधर्म है, पाप है। अथवा पाप रूप अशुभ क्रियाओं को अधर्म कहते हैं। जो जीव धर्म को धारण करता है वह धर्म के प्रभाव से महान अभ्युदय को प्राप्त होता है क्योंकि धर्म उस कामधेनु की तरह है जो संपूर्ण इच्छित सामग्रियों को प्रदान करता है आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं-“धर्मेण श्वः अपि देवः जायते” धर्म के फल से कुत्ता भी देव हो जाता है।

क्षत्रचूडामणी ग्रंथ में जीवन्धर चरित्र का वर्णन है उसमें एक कुत्ते की घटना का उल्लेख मिलता है एक बार एक स्थान पर महार्चना चल रही थी तभी वहाँ एक कुत्ता आया और पूजन की द्रव्य को मुंह मार गया। लोगों ने देखा तो कुत्ते को खूब पीटा, इतना पीटा कि बेचारा अधमरा सा हो गया, तभी वहाँ से जीवन्धर कुमार निकले वे भी पूजन के निमित्त शुद्ध वस्त्र पहन कर मंदिर जी की ओर जा रहे थे। उन्होंने जब कुत्ते को मरणासन्न अवस्था में देखा तो उनका अंतर्मन द्रवीभूत हो गया और तुरंत कुत्ते के समीप पहुँच गये तथा मरते हुए उस कुत्ते को जोर-जोर से पंचनमस्कार मंत्र सुनाया, णमोकार मंत्र के प्रभाव से मरकर वह कुत्ता स्वर्ग का देव “सुदर्शन-यक्ष” हो गया।

बंधुओ! धर्म की महिमा अपरंपार है सुभाषित कारों ने कहा भी हैं-

वरं मुहूर्त मेकं च धर्मयुक्तस्य जीवनम्।

तद्धीनस्य वृथा वर्ष कोटाकोटी विशेषतः॥ (सु.स.)

अर्थात्-धर्म सहित मनुष्य का एक मुहूर्त का जीवन अच्छा है और धर्म रहित मनुष्य का करोड़ों वर्ष का जीवन भी व्यर्थ है।

धर्म रूपी कील का सहारा यदि किसी ने क्षण भर के लिए भी प्राप्त कर लिया है तो वह भवसागर के तीर को पा लेगा और यदि किसी को करोड़ों वर्ष की आयु भी प्राप्त हो जाए परंतु जीवन



धर्म से रहित हो तो अनंतों भव भी धर्म के अभाव में दुःख भोगते हुए निकलते हैं। क्योंकि मिथ्यात्व जीव को अनंत संसारी बना देता है। जबकि सम्यग्दर्शन रूप धर्म प्राणी के अनंत भवों को सीमित कर देता है।

एक बार की बात है एक धर्मात्मा पद्मरुचि नाम के सेठ थे। वे सम्यग्दर्शन से सहित परम जिनेन्द्र भक्त थे। सदा भगवान की भक्ति में तत्पर रहते थे। सदा जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय में निरत रहते थे। धर्मात्मा होने से चहुँ ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। एक बार वे मार्ग में चलते हुए कार्यवशात् देशान्तर को गमन कर रहे थे। गमन करते हुए रास्ते में उन्हें एक मरणासन्न बैल दिखाई दिया जो अपने जीवन की अंतिम श्वासे ले रहा था। सेठ ने जब उसे ऐसी अवस्था में देखा तो उनका मन दया से द्रवीभूत हो गया वे आगे गमन का विचार स्थगित कर वही रुक गये और बैल को पंचनमस्कार मंत्र सुनाया, अणुव्रत ग्रहण कराये। बैल भी पुण्यात्मा था उसने रुचि पूर्वक सेठ के मुख से पंचनमस्कार मंत्र सुना क्योंकि बैल आदि तिर्यच प्राणी भी संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं। नमोकार मंत्र को श्रवण कर उस बैल ने सम्यग्दर्शन ग्रहण किया साथ ही अणुव्रत धारण किये और अंत में नमोकार सुनते-2 ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये सेठ तो बैल को मृत जान आगे बढ़ दिये। यहाँ बैल का जीव मरकर स्वर्ग में जाकर देव हुआ। भवान्तर में वही बैल का जीव सुग्रीव तथा पद्मरुचि सेठ का जीव रामचंद्र बना। अपने पूर्व भव के उपकार को चुकाने हेतु ही सुग्रीव लंका पति के विरोध में रामचंद्रजी की सेना में सम्मिलित हो गये तथा रामचंद्रजी की ओर से उन्होंने युद्ध किया।

बंधुओ! सोचिए बैल ने न तो जीवन भर भगवान की पूजा की, न अभिषेक किया, न ही कोई धर्म कार्य किया क्योंकि वह तो मूक तिर्यच प्राणी था। मात्र क्षण भर के लिए ही उसने सेठ की कृपा से धर्मश्रवण किया और क्षणभर के लिए धारण किये धर्म ने उसे स्वर्ग का देव बना दिया। तथा एक वे भी लोग होते हैं जो जन्म तो लेते हैं परंतु सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के स्वरूप को भी नहीं जानते सारा का सारा जीवन विषय-कषायों में गंवा देते हैं लौकिक, पौद्गलिक परद्रव्यों में ही उलझे रहते हैं ऐसे लोग लाखों वर्षों जीकर भी अपना हित नहीं कर पाते। बहुत आरंभ व बहुत परिग्रह संचय करने में लगे रहते हैं। तथा अंत का परिणाम नरक आदि कुगतियों में उन्हें जाना पड़ता है। इसीलिए कहा गया कि एक क्षण भी यदि धर्म साधना करने का अवसर मिले तो भी चूकना नहीं चाहिए। कहा गया है-

**एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से भी आध।
जो साधुसंगति करें, कटे कोटि अपराध।।**

एक घड़ी 24 मिनट की होती है। तथा 24 का आधा 12 मिनट तथा आधी से भी आध यानि 12 का आधा 6 मिनट। यानि यदि 6 मिनट के लिए भी धर्मात्मा की संगति करने का अवसर मिले तो चूकना नहीं चाहिए। क्योंकि क्षण भर के लिए की गई साधु संगति भी हमारे करोड़ों वर्ष में संचित किये गये पाप कर्मों को धो देती है।

तथा जो सुख व शांति की संवेदनाएँ हमें साधु संगति से होती हैं वे संवेदनाएँ राग-द्वेष से



भरे संसार में हो पाना दुर्लभ है। क्योंकि जहाँ धर्म है वहाँ सुख है, जहाँ धर्म है वहाँ शांति है। तथा जहाँ धर्म नहीं वहाँ सुख-शांति की चाहना करना कोरी कल्पना है आचार्य भगवन् कह रहे हैं- “किल्बिषात् देवः श्वा जायते” अर्थात् पाप यानि अधर्म के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है। देवगति के देवों का जब मरण समय निकट होता है तो 6 माह पूर्व से ही उनके गले में पड़ी माला मुरझाने लगती है। उसे देखकर वे देव समझ जाते कि मृत्यु समय निकट है जो मिथ्यादृष्टि देव होते हैं वे दिन-रात क्रीड़ा करने में व्यस्त रहते हैं जब माला मुरझाती है तो वे सोचते कि यहाँ हमें इतना सुख है अब हमारे ये सुख दूर हो जायेंगे मनुष्य आदि गतियों में जन्म की असह्य वेदना सहना पड़ेगी, माँ के गर्भ में 9 मास तक सिकुड़े-2 रहना पड़ेगा, गंदगी में पड़े-2 समय काटना पड़ेगा। इस प्रकार वे देव बहुत संक्लेशित होते हैं और संक्लेश रूप परिणामों से मरण कर वे तिर्यच गति में एकेन्द्रियों में वृक्ष आदि पर्यायों में या पंचेन्द्रियों में कुत्ता, बिल्ली आदि तिर्यच की पर्यायों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व रूप अधर्म का सेवन करने वाला नाना कुयोनियों में भ्रमण करता है, दुर्गति का पात्र होता है।

जबकि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा धर्म का सेवन करता हुआ नाना प्रकार के सुखों को प्राप्त करता है। चक्रवर्ती का सुख, विद्याधर, बड़े-2 राजा महाराजा का सुख सब धर्म का फल है यहाँ तक कि तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी धर्म का ही माहात्म्य है। इसलिए आचार्य भगवन् कह रहे हैं- “कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्” अर्थात् धर्म के प्रभाव से संसारी जीवों के अपूर्व एवं अद्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है। कहा भी गया है-

नाडकुरः स्याद् बिना बीजाद् बिना वृष्टिर्न वारिदात् ।

छत्रादिनापि न छाया विना धर्मान्न सम्पदः ॥ (सु.स.)

जिस प्रकार बिना बीज के अंकुर नहीं होता, बिना मेघ के वृष्टि नहीं होती, बिना छत्र के छाया नहीं होती उसी प्रकार बिना धर्म के संपदाएँ नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में प्राणियों के पास जितना सुख, वैभव, संपदा है उसे धर्म का ही फल जानना चाहिए।

बिना धर्म के कुछ भी प्राप्त नहीं होता यहाँ कहा गया है- “पुण्यफला अरहंता” पुण्य का उत्कृष्ट फल अरहंत पद की प्राप्ति है तथा उत्कृष्ट पुण्य जिससे अरहंतपद की प्राप्ति होती है वह भी धर्म से ही आता है। अतः संसार के प्रत्येक प्राणी को प्रयत्न पूर्वक धर्म को धारण करना चाहिए तथा जैसे बने वैसे अधर्म का त्याग करना चाहिए। यही आचार्य भगवन् का इस श्लोक को देने के प्रति अभिप्राय निहित है। आप सब अपने जीवन में धर्म धारण कर अपने आत्महित में प्रवृत्त हो।

इसी भावना के साथ-

“श्री1008 पार्श्वनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-29
श्लोक-30

सम्यग्दृष्टि श्रद्धा में अटल रहता है

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र ने पूर्व श्लोक के माध्यम से धर्म व अधर्म का फल बताया। अब उस धर्म को धारण करने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपनी श्रद्धा को कैसे मजबूत रखता है, अपने सम्यग्दर्शन में किस प्रकार दृढ़ रहता है इस बात का विशेष विश्लेषण आचार्य भगवन् श्लोक 30 के माध्यम से करते हुए कहते हैं-

भयाशास्नेह लोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्युः शुद्ध दृष्टयः ॥३०॥

अन्वयार्थ-

शुद्ध दृष्टयः	-	शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव
भयाशा स्नेह	-	भय, आशा, स्नेह
लोभात् च	-	व लोभ से भी
कुदेवागमलिङ्गनाम्	-	कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरुओं को
प्रणामं	-	नमस्कार
च	-	और
विनयं	-	विनय
एव	-	भी
न कुर्युः	-	नहीं करे।

अर्थ- शुद्ध सम्यग्दृष्टि भय से, आशा से, स्नेह से, लोभ से, कुदेव, कुशास्त्र और कुलिङ्गियों को न तो नमस्कार करें न ही उनकी विनय करे।

भव्य बंधुओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र ने निःशंकित अंग का वर्णन करते हुए सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा को तलवार की धार पर चढ़े पानी की तरह अकंप बतलाया था। वह निशंकित सम्यग्दृष्टि अपनी श्रद्धा में इतना मजबूत होता है कि हजारों तूफानी हवाओं में भी वह निष्कंप बना रहता है। आचार्य भगवन् अनेक विशेषण दे रहे हैं उनमें से पहला है-‘भय’ भय कर्म के उदय से होने



वाले आत्म के परिणाम को भय कहते हैं। भय कर्म चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है।

भय सात प्रकार के होते हैं।

1. इहलोक भय, 2. परलोक भय, 3. वेदनाभय, 4. मरण भय, 5. आकस्मिक भय, 6. अरक्षा भय, 7. अगुप्ति भय।

इहलोक भय-इस लोक में राजा आदि कोई हमसे बलिष्ठ व्यक्ति द्वारा मुझे कष्ट होगा।

परलोक भय-मर कर परलोक में किस गति में जाऊँगा, तिर्यच न हो जाऊँ इत्यादि।

वेदना भय-शारीरिक कष्ट, दुःख परेशानी न आ जाए। बीमार न पड़ जाऊँ।

मरण भय-मैं मर न जाऊँ, किसी के द्वारा मारा न जाऊँ।

आकस्मिक भय-भूकंप, बिजली आदि का प्रकोप न हो जाए।

अरक्षा भय-कोई अन्य राजा, सैना मुझ पर आक्रमण न कर दे, पशु-पक्षी आक्रमण न कर दे।

अगुप्ति भय-मेरा रहस्य दूसरों के समक्ष प्रकट न हो जाए।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा व शरीर का भेद विज्ञान होता है। वह इस सत्य को भली भाँति जानता है। आत्मा नित्य, ध्रुव, टंकोत्कीर्ण, चैतन्य, एक अखण्ड चैतन्य पिण्ड रूप है। शरीर की मृत्यु होने पर 10 प्राणों का वियोग होने पर आत्मा का मरण नहीं होता। आत्मा तो अजर, अमर अविनाशी है वह तो निर्भय होता है और यही विचारता है।

न मे मृत्युः कुतो भीति र्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।29।।

-(आ.पूज्यपाद महा/इष्टोपदेश)

मेरी मृत्यु नहीं होती तो भय कैसा, न मैं बाल हूँ, न युवा हूँ ये सब पुद्गल की पर्याय है। सम्यग्दृष्टि को न इस लोक का भय है न परलोक का। वह यही सोचता है कि कर्मोदयानुसार जो पर्याय मिलना होगी वही मिलेगी। वह न तो इस लोक में भय करता है न परलोक का। वेदना व मरण का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। भूकंप, बिजली आदि सब प्राकृतिक प्रकोप है जो समय-समय पर होते रहते हैं उनको होने पर सम्यग्दृष्टि भय को प्राप्त नहीं होता इसलिए वह आकस्मिक भय से भी रहित होता है। शत्रु के द्वारा आक्रमण किये जाने का भी भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता जिसने आत्मा के संपूर्ण रहस्य को समझ लिया है वह अगुप्ति/अरक्षा भय से भी रहित होता है।

सम्यग्दृष्टि को अपना धर्म प्रिय होता है धर्म के लिए यदि प्राणों को न्यौछावर करने का भी अवसर आ जाये तो भी वह कभी पीछे नहीं रहता। प्राण देकर भी धर्म की रक्षा करता है।



श्री पंडित टोडरमल जी की अनोखी विद्वता से कुछ लोग जला करते थे, क्योंकि महाराज जयपुर के यहाँ उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। अतः कुछ विद्वेशी पंडितों ने षड्यंत्र रचकर अपने धर्म अपमान का इनके ऊपर अपराध धोप दिया। महाराज जयपुर ने भी सांप्रदायिकता वश इन्हें हाथी के पैर के नीचे दबा देने का मृत्यु दंड सुना दिया। निर्दोष पंडित जी को मदोन्मत्त हाथी के सामने बैठा दिया गया। जब महावत हाथी को बढ़ाना चाहता था, तब हाथी बार-2 पैर तो उठा लेता था किंतु उनके ऊपर पैर नहीं रख रहा था। महावत की मार से हाथी लहुलुहान हो चिंघाड़ रहा था। यह देखकर पंडित टोडरमल जी ने हाथी से कहा-हे गजराज! यह क्या कर रहे हो? क्या न्याय तुम्हारे हाथ में है? तुम तो अपने कर्तव्य का पालन करो। इतना सुनकर हाथी ने पैर उनके पेट पर रख दिया और पंडित टोडरमल जी के प्राण पखेरू उड़ गये।

सम्यग्दृष्टि प्राण त्याग देता है। परंतु धर्म को नहीं छोड़ता। वह किसी भी प्रकार के भय के वशीभूत होकर अपने निज धर्म को नहीं छोड़ता। दूसरा विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-‘आशा-। तृष्णा या इच्छा को आशा कहते हैं। यह मोहनीय कर्म की “लोभ” कषाय के निमित्त से उत्पन्न होती है। यह आशा भी प्राणी को भव-भव में भटकाती है। कहा जाता है-“तृष्णा की खाई खूब भरी वह रिक्त रही वह रिक्त रही” ‘आशा’ के कारण, कुछ पाने की लालच में, तृष्णा के वशीभूत होकर भी व्यक्ति कभी-2 अपनी श्रद्धा से चलायमान हो जाता है। व्यक्ति कहते हुए पाये जाते हैं देवी की पूजा करेंगे तो वरदान देगी। दूसरों की बनावटी बातों में फंसकर व्यक्ति आशा का दास बनकर कुदेवों को पूजने तत्पर हो जाता है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव का यह अकाट्य श्रद्धान होता है। कि यदि हमारे पुण्य कर्म का उदय चल रहा है तो हमें बिन मांगे ही सब कुछ मिलेगा और यदि पाप कर्म का उदय चल रहा है तो यदि हमें कोई कुछ देना भी चाहेगा तो भी नहीं दे पायेगा। वीतरागी प्रभु की चरण अर्चना से हमें बिन मांगे ही सब कुछ मिल जाता है स्वयंभू स्तोत्र में आचार्य समंतभद्र महाराज कहते हैं-‘अपुण्यपापं पर पुण्य हेतु’

हे भगवन्! आप पुण्य पाप दोनों से रहित है। परंतु आप हमारे लिए पुण्य का हेतु है क्योंकि आपकी भक्ति से अपूर्व ही पुण्य का संचय होता है।

इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव आशा के वशीभूत होकर भी कभी कुदेवों की अर्चना नहीं करता। तीसरा विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-स्नेह स्नेह यानि लौकिक प्रेम यह मोह का ही रूपान्तर है अथवा अप्रशस्त राग को भी स्नेह कहते हैं-लौकिक जनों में जो मोह/प्रीति या अनुराग है वह अप्रशस्त राग है यही स्नेह है। कभी-2 किसी स्थान से गुजर गये, स्वास्थ्य खराब हो गया लोग कह देते हैं देवी का प्रकोप हो गया, ऊपरी बाधा हो गई। अब यदि आप कुदेवों को प्रशन्न नहीं करेंगे तो आपका बच्चा स्वस्थ नहीं हो सकता और अच्छे-2 धर्मानुरागी श्रद्धा से चलायमान होकर कुदेवों

के यहाँ माथा टेके व सिर टेके देखे जाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अपने सिर को बाजारू नारियल बना लेता है जहाँ चाहे वहाँ चढ़ा दिया। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा अटल होती है। वह यद्यपि मिथ्यादृष्टि का भी अनादर नहीं करता। तथापि उसका मस्तक मात्र सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति ही झुकता है। वह विचारता है कि यदि हमारी किसी देव से पूर्व भव की शत्रुता है। तो वह सतायेगा ही और यदि हमारी किसी से शत्रुता नहीं है तो कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड़ेगा। हम सच्चे वीतरागी प्रभु की अर्चना सच्चे मन से करते हैं तो भूत प्रेत/व्यंतर बांधाएँ सब कुछ दूर हो जाती है अतः अपने कुटुम्बियों के मोह में फंसकर अगला विशेषण “लोभात्” “लोभ” है। लोभ यानि लालच।

व्यक्ति लोभ, लालच में फंसकर भी कभी-2 अपनी श्रद्धा से चलायमान हो जाते हैं। कहा जाता है-“लोभ पाप का बाप बखाना” पाप का बाप लोभ कहा गया है। संपूर्ण पापों की जड़ लोभ। लालच है लोभ में पड़कर व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से शून्य हो जाता है। कई पंडितों के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जीवन भर सिद्धान्त ग्रंथ पढ़े, सिद्धान्त वाचनाएँ की और पैसों की लालच में फंसकर जानते हुए भी आगम विरुद्ध लेखनी चला दी। जब कभी ऐसे उदाहरणों पर दृष्टिपात करते हैं तो आश्चर्य होता है कि इतना ज्ञानार्जन करने के बाद भी व्यक्ति धन दौलत के बोझ में फंसकर अपनी श्रद्धा से चलायमान हो जाता है। परंतु जिसकी श्रद्धा अकंप होती है वह दरिद्र रहना पसंद करता है परंतु पैसों में/धन-दौलत के खातिर अपनी श्रद्धा को नहीं बेचता। यही बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि-भयाशास्नेह लोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् यानि भय, आशा, स्नेह, लोभ/लालच में फंसकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरुओं को ‘प्रणाम’ विनयं चैव न कुर्युः’ प्रणाम नहीं करता और नमस्कार व सत्कार रूप विनय भी नहीं करता।

जो व्यक्ति भयादि के वशीभूत होकर कुदेवादिकों का यदि आदर-सत्कार, विनय, सम्मान, प्रणाम आदि करता है तो न केवल सम्यग्दर्शन मलीन होता है। अपितु समूल नष्ट भी हो जाता है। अतः शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव को किसी भी कारण से अपनी समीचीन श्रद्धा से कभी भी चलायमान नहीं होना चाहिए। यही इस श्लोक को लिखने के पीछे छिपा आचार्य भगवन् का उद्देश्य है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ही एक सार भूत वस्तु है वही भवतारिणी नौका है। आप किसी भी बाह्य रत्नों के लालच में फंसकर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को न खोये। उसका रक्षण करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”





प्रवचन-30

श्लोक-31

मोक्षमार्ग में खेवटियाँ

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य श्री समंतभद्र महाराज ने शुद्ध सम्यग्दृष्टि का स्वरूप पूर्व श्लोक में बताया कि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा कितनी अविचल व अकाट्य होती है। अब आचार्य भगवन् से कह रहे हैं मोक्षमार्ग का प्रारंभिक बिंदु सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने के उपरांत ही मोक्षमार्ग की शुरुआत संभव है। जिस व्यक्ति के जीवन में सम्यग्दर्शन ही न हो तो मोक्षमार्ग का प्रारंभ असंभव ही है। इंजन को चालू करने के पूर्व ईंधन अनिवार्य है। यदि गाड़ी में ईंधन नहीं है तो इंजन बना रहे, डिब्बे हजारों की संख्या में लगे रहे, परंतु गाड़ी एक कदम भी आगे बढ़ेगी नहीं। बिना पेट्रोल के कोई गाड़ी को चलाने की चेष्टा करे तो यह उसकी बड़ी भारी अज्ञानता ही मानी जायेगी।

एक बार की बात है एक सज्जन नये-2 स्कूटर चलाना सीख रहे थे। उनके मित्र ने एक दिन साथ बैठ कर स्कूटर चलाना सिखा दिया और कहा अब दूसरे दिन आप स्कूटर पर बैठकर स्वयं चलाकर मेरे घर तक आना। पहले दिन तो सिखाने वाला साथ था अब दूसरे दिन स्वयं को चलाना था। वे सज्जन वादे के अनुसार स्कूटर चलाने पहुँचते हैं। किक मारते हैं परंतु स्कूटर, स्ट्राट नहीं होता किक पर किक मारते जाते हैं। किक मारते-2 थक जाते हैं परंतु स्कूटर स्ट्राट नहीं होता। वे माथा पकड़ लेते हैं कुछ समझ में नहीं आता क्या करूँ, थक कर अपने मित्र को मोबाईल करते हैं। मित्र मोबाईल उठाता है और कहता है क्या बात है मित्र तुम अभी तक क्यों नहीं आये दूसरे मित्र ने कहा कैसा तो यह स्कूटर किक पर किक मार रहा हूँ पर स्ट्राट ही नहीं होती। तू जल्दी से आ जा। पहला मित्र चल देता है अपने मित्र के घर एक मेकेनिक को साथ ले जाता है। मेकेनिक सबसे पहले टैक देखता है पेट्रोल टैक तो खाली है और जोर-2 से हँसता है। दोनों मित्र कहते हैं भाई क्या बात है क्यों हँसते हो। वह मेकेनिक कहता है बिना पेट्रोल के कहीं गाड़ी चलती है क्या? पेट्रोल ही नहीं होगा तो चाहे जितनी किक मारों गाड़ी स्ट्राट नहीं हो सकती। दोनों मित्र शर्मिन्दित हुए और तुरंत पेट्रोल पंप से पेट्रोल डलवा लाये। फिर गाड़ी स्ट्राट की तुरंत स्ट्राट हो गई।



बस बंधुओ! ऐसी ही मोक्षमार्ग की गाड़ी होती है यदि सम्यग्दर्शन रूपी पेट्रोल है तो आगे बढ़ेगी अन्यथा उसकी शुरूआत ही नहीं हो पायेगी।

मूल आधार बिंदु सम्यग्दर्शन है। यानि श्रद्धा समीचीन है तो आगे की बात संभव है क्योंकि मूल आधार मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन ही है। यही बात समझाते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-

**दर्शनं ज्ञान चारित्रात् साधिमानमुपाशनुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥**

अन्वयार्थ-

ज्ञान चारित्रत्	-	ज्ञान चारित्र की अपेक्षा
दर्शनं	-	सम्यग्दर्शन
साधिमान	-	उत्कृष्टपने को
उपाशनुते	-	प्राप्त होता है
दर्शनं	-	सम्यग्दर्शन
मोक्षमार्गे	-	मोक्षमार्ग में
कर्णधारं	-	खेवटिया के समान
प्रचक्षते	-	कहा गया है।

अर्थ- सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टपना प्राप्त है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन खेवटिया के समान कहा गया है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज बहुत गहरी बात कह रहे हैं। वे सम्यग्दर्शन की महिमा प्रकट करते हुए 'दर्शनं ज्ञान चारित्रात् साधिमानमुपाशनुते' सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन मूलाधार यदि मूल न हो तो जिस प्रकार वृक्ष शाखाएँ, उपशाखाएँ, पत्ते कुछ भी नहीं होते। वृक्ष की संपूर्ण स्थिति मूल के आधार पर टिकी रहती है जड़े भूमि में जितनी गहरी जाती है, जितनी मजबूती से फैली होती है वृक्ष भी उतने लंबे समय तक टिका रहता है। यदि सम्यग्दर्शन रूपी जड़ आपकी मजबूत है तो उस जड़ के आश्रय से सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र की शाखाएँ, प्रशाखाएँ निरंतर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। सम्यग्दर्शन वह नींव का पत्थर है जिस पर सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी महल खड़े होते हैं। यदि



नींव मजबूत है। तो उस मजबूत नींव पर चाहे जितनी मंजिले खड़ी कर दी जाए तो भी वे कभी ढ़ह नहीं सकती। जब कोई इंजीनीयर किसी बिल्डिंग की प्लानिंग करता है। तो वह नींव की मजबूती पहले देखता है पहले गहरा गड्ढा खोदता है। फिर उस गड्ढे को बड़े-2 पत्थरों व लोहे से पूरा भर दिया जाता है। जब नींव ठोस व मजबूत हो जाती है। तो फिर इंजीनीयर एक के बाद एक माला बनाता जाता है। बॉम्बे में 70-80 माला तक की बिल्डिंगें होती हैं तथा विदेशों में 150 माला तक की बिल्डिंगें होती हैं। आप सोचिए! इतनी सारी मालाएँ एक नींव पर टिकी होती हैं। बस इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी नींव को जिसने मजबूत बना लिया है वह उस मजबूत नींव पर सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, त्याग, व्रत आदि की मंजिलों पर मंजिलें खड़ी करता जाता है और अंततः निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

पंडित दौलतराम जी ने तो सम्यग्दर्शन को मोक्षमहल की पहली सीढ़ी कह दिया। वे कहते हैं-

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।

सम्यक्त्वा न लहैं सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।

“दौल” समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे।।17।।

अर्थात् मोक्ष रूपी महल में प्रवेश पाने के लिए प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। जिसने सम्यग्दर्शन को पाने के लिए कदम आगे बढ़ाया है। वह एक-2 गुणस्थान को पार कर चौथे गुणस्थान तक पहुँच जाता है और अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के बल से अनंतगुणी विशुद्धि बढ़ाता जाता है और जब चार कषायों अनंतानुबंधी-क्रोध, मान, माया, लोभ व दर्शन मोह की तीन प्रकृति मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के द्वारा उपशम क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हो जाता है। इन कर्म प्रकृतियों का उपशम आदि अंतरंग परिणामों की विशुद्धि के बल से होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में 5 उपलब्धियाँ अनिवार्य हैं 1. क्षयोपशमकलब्धि 2. विशुद्धि लब्धि 3. देशना लब्धि 4. प्रायोग्य लब्धि 5. करण लब्धि। लब्धि सार ग्रंथ में आचार्य भगवन् ने पाँचों लब्धियों का स्वरूप बतलाते हुए कहा हैं-

1. क्षयोपशम लब्धि-तत्त्व विचार की शक्ति की उपलब्धि क्षयोपशम लब्धि है। कर्मों के क्षयोपशम विशेष से जीवों को यह प्राप्त होती है। जीव का भव्य होने के साथ-2 संज्ञी, पंचेन्द्रिय और पर्यात्मक होना इसी लब्धि का कार्य है। इस अवस्था में अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति (फलदान शक्ति) को प्रति समय अनंतगुणा हीन करते हुए उदीरणा के योग्य (भोगने योग्य) बना लिया जाता है।



2. **विशुद्धि लब्धि**-परिणामों में प्रति समय विशुद्धि की वृद्धि को विशुद्धि लब्धि कहते हैं। यह लब्धि पुण्य कर्मों के बंधन में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति स्वरूप है। यह कषायों की मंदताजन्य पुरुषार्थ का प्रतिफल है।

3. **देशनालब्धि**-सम्यक् उपदेश का श्रवण और मनन देशनालब्धि है। तत्त्वोपदेष्टा निर्ग्रन्थ आचार्य मुनियों का समागम और शास्त्र का अभ्यास इसी के अंतर्गत आता है।

4. **प्रायोग्य लब्धि**-परिणामों की विशुद्धि वश सन्तागत (संचित) कर्मों की स्थिति घटाकर अंतः कोड़ा कोड़ी सागर मात्र रह जाना और अशुभ कर्मों का अनुभाग बंध द्विस्थानीय होना प्रायोग्य लब्धि है। तात्पर्य यह है कि इस लब्धि को प्राप्त जीव प्रतिसमय बंधने वाली अशुभ कर्म प्रकृतियों की शक्ति को क्षीण करता जाता है। साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति अर्थात् फलदान शक्ति की अवधि को भी घटा लेता है।

ये चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को समान रूप से प्राप्त हो सकती हैं। करणलब्धि भव्य जीवों को ही होती है। इस लब्धि में प्रविष्ट साधक निश्चयतः सम्यक्त्व उपलब्ध कर लेता है। इन पांच लब्धियों से प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

5. **करण लब्धि**-परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि को करण लब्धि कहते हैं। पूर्वोक्त चार लब्धियों के द्वारा विशुद्धि को प्राप्त जीव एक अवस्था में आकर प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि ही करणलब्धि है। करणलब्धि में जीव तीन प्रकार के परिणाम करता है-

1. अधःकरण 2. अपूर्वकरण 3. अनिवृत्तिकरण

1. **अधःकरण**- अधःकरण में परिणामों की विशुद्धि प्रतिसमय अनंतगुणी होती जाती है। बढ़ती हुई इस विशुद्धि के परिणाम स्वरूप उस समय बंधने वाली अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणाहीन और शुभकर्म प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणा अधिक होकर बंधता है। कर्मों की स्थिति भी प्रतिसमय पल्लोपम के असंख्यातवें भाग हीन-हीन बंधती है।

2. **अपूर्वकरण**- इस करण में प्रतिसमय पूर्व में अनुभूत अपूर्व-अपूर्व परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस करण में आत्मा की अपूर्व विशुद्धि बढ़ती है। जिसके बल पर साधक मोहनीय का भेदन प्रारंभ कर देता है। इस करण में चार मुख्य कार्य होते हैं-

1. स्थितिकाण्डक घात 2. अनुभाग काण्डकघात 3. गुण श्रेणी निर्जरा 4. गुण संक्रमण।

1. **स्थितिकाण्डक घात**- स्थिति का अर्थ है-बद्ध कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ जुड़े रहने की



कालावधि। काण्ड का अर्थ है-अंतर्मुहूर्त में उदयावली से खिरने वाला कर्म समूह। स्थितिकाण्डक घात में अंतर्मुहूर्त में कर्म निषेकों का समूह निर्जीण होता है। तथा अपूर्वकरण में ऐसे अनेक स्थिति काण्डकघात होते हैं।

2. अनुभागकाण्डक घात- अशुभ कर्मों की फलदान शक्ति को अनंतगुणी हीन-हीन करते जाना अनुभागकाण्डक घात कहलाता है। इसमें सत्तागत अशुभकर्मों के अनुभाग स्पर्धकों (फलदान शक्ति युक्त परमाणु समूह) को अनंत भाग कर उसमें से एक अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष सर्व परमाणुओं का अंतरर्मुहूर्त में घात कर दिया जाता है। प्रत्येक अनुभाग काण्डक घात में अंतरर्मुहूर्त लगता है। अपूर्वकरण में ऐसे अनेक अनुभागकाण्डक घात होते हैं।

3. गुणश्रेणी निर्जरा-उदय क्षण से लेकर प्रति समय असंख्यात गुणे कर्म निषेकों की रचना को गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं। अपूर्वकरण में साधक अपनी आत्मशुद्धि वश प्रतिसमय गुण श्रेणी रूप असंख्यात गुणी निर्जरा करता है।

4. गुण संक्रमण-गुण संक्रमण, संक्रमण का एक भेद है। इसमें प्रतिसमय असंख्यात गुणित क्रम से अबद्ध मान अशुभ कर्म प्रकृतियों के कर्म निषेकों का उस समय बँधने वाली सजातीय प्रकृतियों में संक्रमण/परिवर्तन होता है।

3. अनिवृत्तिकरण परिणाम-जिस करण में प्रतिसमय एक समान परिणाम हो उसे अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। इस करण में सम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं। यहाँ एक समय में जीव के एक ही परिणाम होता है। इसलिए उस समय में जितने जीव होंगे, सभी के परिणाम समान ही होंगे। अनिवृत्तिकरण का काल भी अंतर्मुहूर्त ही है, परंतु वह अपूर्वकरण के काल से संख्यात गुणा हीन है। अनिवृत्तिकरण में अपूर्वकरण की समस्त क्रियाएँ होती हैं। इसका बहुभाग बीतने पर अंतरकरण होता है।

अंतरकरण-परिणामों में विशुद्धि के कारण सत्ता में स्थित मिथ्यात्व के निषेक अंतरायाम से उत्कर्षण या अपकर्षण के द्वारा अपरितन या नीचे के स्थिति में पहुँच जाते हैं। जिससे अंतरायाम से मिथ्यात्व के निषेकों का अभाव हो जाता है इसी प्रक्रिया का नाम अंतरकरण है।

अंतरकरण की समाप्ति के बाद अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकड़े मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में हो जाते हैं और उसी समय साधक को प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को पंडित दौलतराम जी

ने मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी कहा है। क्योंकि सम्यग्दर्शन होने के उपरांत ही ज्ञान व चारित्र सम्यक् पने को प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन के विषय में आचार्य भगवन् उदाहरण देते हुए कहते हैं- “दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते” अर्थात् मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन खेवटियाँ के नाव किनारे नहीं लग सकती उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग शुरू ही नहीं होता। क्योंकि सम्यग्दर्शन के होते ही इस प्राणी का अथाह संसार घटकर चुल्लु प्रमाण रह जाता है। सम्यग्दर्शन उस अंक की तरह है जिसने आगे ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप, जप के जितने भी शून्य लगाये जाए सभी कीमती हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन 1 के आगे ज्ञान का शून्य रखा 10 तो कीमत दस गुनी बढ़ गई। इसके आगे यदि चारित्र का एक शून्य और लगा दे तो 100 कीमत सौ गुनी बढ़ गयी इसके आगे जप, तप के जितने शून्य बढ़ाते जायेंगे उसकी कीमत गुणित क्रम से बढ़ती ही जायेगी और 1000, 10,000, 1,00,000 हो जायेगी। अब यदि इन जप, तप आदि के शून्यों के सामने से श्रद्धा का अंक पोछ दिया जाए तो अंक रहित शून्यों की कीमत शून्य ही है अर्थात् कुछ भी नहीं।

ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने के उपरांत ज्ञान, चारित्र, जप, तप सब सम्यक् हो जाता है तथा मुक्ति का हेतु बनता है अतः हमें सम्यग्दर्शन को पाने का प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री वासुपूज्य भगवान की जय”



आत्म तत्त्व स्तुति

शान्त पुराणपुरुषं परमार्थसारं, आनंदमेदुरमनन्त सुखं विरागम् ।
चिद्रूपमुज्झितसमस्त जगत्प्रपञ्चं, त्वां नौमि नित्यमजरंप्रसरत्प्रतापम् ॥456॥

अर्थ : जो शांत है, परमार्थ से सारभूत है, आनंद से युक्त है, अनंत सुख सम्पन्न है, राग रहित है, चैतन्य रूप है, जगत् के समस्त प्रपञ्च से मुक्त है, नित्य है, अजर है तथा जिसका प्रताप फैल रहा है, उस कुरुण दुष-अनाद्यन्त आत्म तत्त्व की मैं स्तुति करता हूँ।





प्रवचन-31

श्लोक-32

मुक्ति का बीज : सम्यग्दर्शन

भव्य मनीषियो! सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन प्रायः सभी ग्रंथों/शास्त्रों में मिलता है। सुभाषित कारों ने तो यहाँ तक कहा हैं कि-

धर्म कल्पतरोर्मूलं द्वारं मोक्ष पुरस्य च।

संसारार्थो महापोतो गुणानां स्थानमुत्तमम् ॥ 719 ॥ (सु.सं.)

यह सम्यग्दर्शन धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ है, मोक्ष रूपी नगर का द्वार है, संसार रूपी महासागर में बड़ा भारी जहाज है और गुणों का उत्तम स्थान है।

जिस प्रकार महासागर में यदि कोई व्यक्ति गिर जाए तो उसका जीवित बचकर निकल पाना अतिशय कठिन होता है। क्योंकि महासागर को भुजाओं से भी पार नहीं किया जा सकता। यदि महासागर में गिरने वाले मनुष्य को कोई बड़ी Steamer मिल जाए तो नियम से वह उस महासागर का किनारा प्राप्त कर लेगा क्योंकि Steamer बहुत Powerful होती है। बस सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्ग की ऐसी ही Powerful Steamer है। जो नियम से संसार रूपी महासागर से पार लगा देता है।

भव सागर में फंसा यह संसारी प्राणी मिथ्यात्व व मोह की भँवरों के बीच फंसा हुआ दुःख भोगता रहता है। उन दुःखों से बचने का एक मात्र उपाय सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन वह परमौषधी है जो भव रोग का जन्म/जरा/मृत्यु रूप महारोगों का नाश करती है। तथा आत्मा को परम स्वस्थ अवस्था में पहुँचा देती है। उसी सम्यग्दर्शन की महिमा को बतलाने हेतु आचार्य भगवन् कहते हैं-

विद्या वृत्तस्य संभूति, स्थितिवृद्धि फलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव ॥ 32 ॥

अन्वयार्थ-

बीजाभावे

-

बीज के अभाव में



तरोरिव	-	वृक्ष के समान
सम्यक्त्वे असति	-	सम्यग्दर्शन के नहीं होने पर
विद्यावृत्तस्य	-	सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की
संभूति	-	उत्पत्ति
वृद्धि फलोदया	-	उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा फल की प्राप्ति
न सन्ति	-	नहीं होती है।

अर्थ-जिस प्रकार बीज का अभाव होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, बढ़ना तथा फल का प्राप्त होना नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्त्व के नहीं होने पर ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा फल की प्राप्ति नहीं होती।

भव्य मनीषियो! आचार्य भगवन् मोक्ष की प्राप्ति में बीजभूत सम्यग्दर्शन की महिमा को बतला रहे हैं। जिस प्रकार वृक्ष की उत्पत्ति आदि में बीज का सद्भाव आवश्यक है उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति आदि में सम्यग्दर्शन का सद्भाव आवश्यक है। इस तरह सम्यग्दर्शन स्वयं महिमा शाली होने से श्रेष्ठ है और श्रेष्ठता के कारण उसका कर्णधारपना स्वतः सिद्ध है। सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग और नौ पूर्वों का विशाल ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है तथा पांच महाव्रतों का आचरण करना भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। ऐसा मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इस जीव ने अनंतबार प्राप्त किया है परंतु उसके द्वारा वह मोक्षरूप फल को प्राप्त नहीं कर सका। सम्यग्दर्शन मूल है। यदि मूल है तो वृक्ष का अस्तित्व है मूल के बिना वृक्ष नहीं टिक सकता। वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र आदि कुछ भी संभव नहीं।

एक किसान होता है। वह फसल प्राप्त करने के लिए सबसे पहले अपने खेत को जोतकर उसे उपजाऊ बनाता है। जितनी अच्छी तरह वह खेत को जोतता है उतना ही वह उपजाऊ बनता है और उपजाऊ खेत में बोया गया बीज संभूति प्रकट होता है वह अंकुरित होता है। धीरे-2 वह बढ़ता है, फिर लंबे समय तक स्थिर रहता है। समय पाकर उसमें फल लगता है। छोटा सा बीज किसान के द्वारा दिये खाद पानी को पाकर एक विशाल वृक्ष में बदल जाता है। यही बात पूज्य आचार्य देव कह रहे हैं-कि “बीजाभावे तरोरिव” बीज के अभाव में जिस प्रकार वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि व फल कुछ भी संभव नहीं वैसे ही “विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः” न “सन्त्यसति सम्यक्त्वे” विद्या का अर्थ है मति, श्रुत आदि ज्ञान तथा वृत्त का अर्थ है सामायिक आदि चारित्र। संभूति का अर्थ-प्रादुर्भाव/प्रकट होना है स्थिति का अर्थ है-पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा जानना तथा कर्म निर्जरा का हेतु होकर रहना है। वृद्धि का अर्थ है उत्पन्न होकर आगे-2 बढ़ते जाना है और फलोदय



का अर्थ है देवादि की पूजा से स्वर्ग तथा मोक्षादि की प्राप्ति होना है जिस प्रकार मूलकारण रूप बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मूल कारण भूत सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान तथा चारित्र्य की न उत्पत्ति होती है, न स्थिति होती है, न वृद्धि होती है और न ही फल की ही प्राप्ति होती है।

अब प्रश्न यह है कि आचार्य भगवन् ने सम्यग्दर्शन को ही बीजभूत क्यों कहा-जब इस चिंतन की गहराई में हम उतरते हैं तो पाते हैं कि सम्यग्दर्शन के हो जाने पर जीव 8 गुणों से संपन्न हो जाता है वे आठ गुण- 1. संवेग 2. निर्वेग 3. आस्तिक्य 4. अनुकंपा 5. आत्मनिंदा 6. आत्मगर्हा 7. उपशम 8. भक्ति।

1. संवेग-संवेग के विषय में वृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में श्री ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं- **“धम्मो धम्म फलम्भि य हर्षो भावो य होई संवेगो”**।

अर्थात्-धर्म और धर्म के फलों में हर्ष भाव का होना संवेग कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव जब भी भगवान की पूजा, अभिषेक, स्वाध्याय, जप, तप, का अवसर पाता है। तो उसके हर्ष का पार नहीं रहता। दर्शन पाठ में कवि भगवान से प्रार्थना करता हैं कि- **“भो उर हरष ऐसो भयो, मनु रंक चिंतामणी लह्यो”**।

हे वीतराग भगवन्! आपकी छवि लखकर आज मेरा मन ऐसा हर्षित है, इतना प्रसन्न है जैसे दरिद्र को चिंतामणी रत्न पाकर हर्ष होता है। यह आल्हाद रूप परिणाम ही संवेग भाव है।

2. निर्वेग-संसार, शरीर और विषय-भोगों से विरक्ति का नाम निर्वेग है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार के कार्यों को करता हुआ भी संसार से विरक्त रहता है। छहढ़ाला में पंडित दौलतराम जी कहते हैं-

गेही पै गृह में न रचे ज्यों, जल तैं भिन्न कमल हैं।

नगर नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल हैं।।

सम्यग्दृष्टि जीव की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि गृहस्थी में रहता हुआ भी उसमें रचता पचता नहीं है। उससे सदा विरक्त रहता है। सम्यग्दृष्टि की स्थिति को पंडितजी ने तीन उदाहरणों से समझाया है-1. जिस प्रकार कमल जल में रहता है फिर भी जल से लिप्त नहीं होता, यदि वह जल से लिप्त हो जाए तो सड़ जायेगा इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव संसार समुद्र में रहता हुआ भी उसमें रचता पचता नहीं इसलिए कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि संसार में रहता है परंतु संसार उसके अंदर नहीं रहता है।

2. दूसरी बात है-एक वेश्या होती है जिसका प्रेम किसी व्यक्ति विशेष से नहीं अपितु पैसों



से होता है। ठीक सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है जो संसार के सारे रिश्ते-नातों का निर्वाह करता है परंतु उनमें रचता नहीं है।

एक बार की घटना है-एक दम्पति जो कि बड़े धार्मिक थे, सुख से जीवन यापन कर रहे थे नित्य जिनेन्द्र अभिषेक, पूजन, स्वाध्याय में रत रहते थे। उनका वैराग्य भी बहुत अच्छा था परंतु गृहस्थी में रहते हुए अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते थे। उनके दो पुत्र थे, जो स्कूल में पढ़ते थे बड़े होनहार बच्चे थे। पति-पत्नि दोनों संध्या काल में स्वाध्याय करते थे और सम्यग्दृष्टि के स्वरूप का वर्णन निकला-कि सम्यग्दृष्टि अपने माता-पिता, पुत्रों का पालन कर्तव्य दृष्टि से करता है परंतु उनमें मोह, राग नहीं रखता। दोनों दम्पतियों का वैराग्य दृढ़ था। परंतु समय एक सा नहीं रहता बदलता रहता है। अचानक एक दिन उनके बड़े बेटे का स्वास्थ्य खराब हो गया बहुत बड़े-2 वैद्यों व डॉक्टरों को दिखाया गया परंतु कुछ लाभ नहीं। बेटा कई दिनों तक हॉस्पिटल में भर्ती रहा। माँ उस समय घर पर थी। तथा पिता बेटे के पास हॉस्पिटल में, अचानक बेटे ने दम तोड़ दिया। पिता को बेटे की मृत्यु का दुःख तो हुआ परंतु यह सोचकर मन को दिलासा दे दी कि जिस जीव का संयोग संबंध जिसके साथ जब तक रहता है तभी तक वह पास रहता है और जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी नियम से होगा ही। अतः अपने-अपने समय पर सबको जाना ही होता है। जो आया है वह जायेगा भी। अतः परिणामों को व्यर्थ संक्लेशित क्यों करूँ। संक्लेश से तो कर्म बंध ही होगा। मन को दिलासा दिलाकर पिता घर आ गया परंतु पत्नि से कुछ कहने की वे हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे किसी माँ का प्राण प्यारा बेटा चला जाए तो ऐसे पहाड़ से दुःख को क्या वह सह सकेगी पति ने बहुत कोशिश की परंतु कहां कैसे? पत्नि ने पति की चिंतित मुद्रा को देख भाप लिया कि शायद बेटा चल बसा क्योंकि डॉक्टरों ने जवाब पहले ही दे दिया था पत्नि का सम्यग्दर्शन गाढ़ था अतः बोली क्या बात है आप उदास क्यों है? पति के मुख से एक शब्द भी न निकल पाया तब पत्नि बोली यात्री चला गया क्या? दोनों एक दूसरे के मुख को निहार रहे थे। पत्नि बोली-चलो अंतिम कर्तव्य का निर्वाह करना है। पति, पत्नि की सहजता को देख आश्चर्य चकित था कि धन्य है इस माँ का मजबूत हृदय जिसके अंतस में ममता का लेश नहीं अपितु समता का सागर हिलोरे ले रहा है।

बंधुओ! सम्यग्दृष्टि वस्तु तत्व का ज्ञाता होता है इसलिए सभी दुःखों और संकटों को समता से सह लेता है। वह संसार, शरीर व भोगों में आसक्त न होकर इनसे सदा विरक्त रहता है क्योंकि उसने सत्य के दर्शन कर लिये हैं।

(3) आस्तिक्य - सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक्य विचारधारा वाला होता है वह आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म आदि में विश्वास रखता है।



(4) **अनुकंपा** - सम्यग्दृष्टि जीव सभी प्राणियों के प्रति दया रूप परिणाम रखता है। कोई दीन-दुःखी दिखे तो उसका मन द्रवित हो जाता है। आप भी प्राणियों के प्रति दया रखते हैं इसलिए फूल बुहारी रखते हैं, परंतु चींटियों को घर के बाहर या तो रोड़ पर झाड़ देते हैं जहाँ वाहनों के नीचे आकर वे मर जाती है या पानी में गिरकर खत्म हो जाती है। सोचिए ! क्या यह आपकी सम्यक् दया है। यह आपकी वास्तविक दया नहीं। जहाँ विवेक का आश्रय लेकर जीवों पर दया की जाती है वही सम्यक् दया है और सम्यग्दृष्टि जीव उसी सम्यक् दया का ही आश्रय लेता है।

(5) **आत्म निंदा** - सम्यग्दृष्टि जीव की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह प्रथम तो दोषों से बचने का पूर्ण प्रयास करता है। कदाचित् कोई दोष लग जाए तो आत्म निंदा करता है हे भगवन् ! धिक्कार है मुझे अहो मुझसे ऐसा अपराध हो गया, आज मैंने अपने आवश्यक में प्रमाद किया है, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि क्रियाओं में मन दुष्प्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान, काय दुष्प्रणिधान, पाठ भूल जाना आदि दोष लग गये हैं हे भगवन् ! वे मेरे संपूर्ण दोष मिथ्या होंगे, मैं आगे से पूर्ण सतर्क रहूँगा ताकि ऐसे दोषों की पुनरावृत्ति न हो सके। वह निरंतर भगवान के समक्ष या आत्म साक्षी पूर्वक स्व दोषों की निंदा करता है-

पापिष्ठेन दुरात्मना जड़धिया माया विना लोभिना ।

रागद्वेष मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम् ।।

त्रैलोक्याधिपते ! जिनेन्द्र ! भवतः श्रीपाद मूलेऽधुना ।

निंदापूर्वमहं जहामि सततं वर्तिषुः सत्पथे ।। 2 ।।

हे त्रैलोक्याधिपति जिनेन्द्र देव ! मैं पापी हूँ, दुरात्मा हूँ, जड़बुद्धि हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ मैंने राग, द्वेष से मलीन मन के द्वारा जो दुष्कर्म किये हो उन दुष्कर्मों की आपके चरणों में सतत् निंदा करता हूँ। आप मुझे सत्पथ दिखलावे। सम्यग्दृष्टि जीव का मन दोषों के प्रति आत्मग्लानि से भरा होता है। इसलिए वह सतत् आत्मनिंदा करता रहता है।

(6) **आत्मगर्हा** - पापों का प्रक्षालन पूर्ण रूपेण तभी होता है जबकि पापों का प्रकटीकरण गुरु साक्षी पूर्वक किया जाए। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट कर आत्मगर्हा रूप परिणाम रखता है।

(7) **प्रशम भाव / उपशम** - यद्यपि कर्मोदय वशात् कषायों से प्रभावित कोई भी हो सकता है। कषायावेग आ सकता है परंतु सम्यग्दृष्टि जीव अपनी कषायों को नियंत्रित भी करता है तथा कषाय बांधकर भी नहीं रखता। कदाचित् विभाव रूप परिणत हो भी जाए तो तुरंत संभलता है और स्वभाव में आ जाता है।



(8) भक्ति - सम्यग्दृष्टि जीव अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों को व्यर्थ नहीं गवाता अपितु प्रतिक्षण अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु आदि पूज्यजनों की पूजा, स्तुति, विनय आदि करता है।

इन आठ गुणों से सम्यग्दृष्टि सहित होता है। ये प्रशम, संवेग आदि भाव आत्मा की निर्मलता के प्रतीक हैं। जब आत्मा में इतनी निर्मलता प्रकट हो जाती है तभी धारण किया गया ज्ञान व चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त होता है। सम्यक्चारित्र को धारण करने पर भी आत्मानुभूति होती है परंतु वह सम्यक्चारित्र आत्मा में तभी प्रकट होता है जबकि आत्मा परिणामों को निर्मल कर सम्यग्दर्शन को प्रकट कर लेती है।

इसीलिए आचार्य भगवन् ने सम्यग्दर्शन को बीजभूत कहा है। बीज ही न हो तो वृक्ष कहाँ से होगा। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन यदि न हो तो सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि कुछ भी संभव नहीं यहाँ तक कि बिना सम्यग्दर्शन के मुक्ति भी संभव नहीं है। अतः मुक्ति का बीज सम्यग्दर्शन है उस मुक्ति के बीज को उचित पुरुषार्थ के बल से जैसे बने अवश्य धारण कर, मुक्ति को प्राप्त करें।

इसी भावना के साथ -

“1008 श्री महावीर भगवान की जय”

सम्यग्दर्शन अद्वितीय कुंजी

तिर्यङ्नरककयोद्वारि दृढः सम्यक्त्वमर्गलः ।

देवमानव निर्माण सुखद्वारैककुञ्जिका ॥ 23 ॥ (शु.शो.)

अर्थ : यह सम्यक्त्व तिर्यच और नरकगति के दरवाजे पर लगा हुआ अत्यन्त मजबूत आगल है एवं देव, मनुष्य और मोक्ष सम्बन्धी सुखों का द्वार खोलने की अद्वितीय कुंजी है।



प्रवचन-32
श्लोक-33

निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ

भव्य मनीषियो! अभी तक आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन की महिमा को गा रहे थे कि सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं हो पाता। आज पूज्य आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाधक तत्वों की बात कर रहे हैं उन बाधक तत्वों में मुख्य मोहनीय कर्म होता है। जिसके मुख्य रूप से दो भेद होते हैं- 1. दर्शन मोह 2. चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोह के तीन भेद हैं-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति। शेष 25 प्रकृतियाँ चारित्र मोहनीय की होती हैं।

मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर तत्वों का समीचीन श्रद्धान प्रकट नहीं हो पाता जीव मिथ्यामार्गी बन जाता है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान नहीं कर पाता तथा मोह व अज्ञान की निद्रा में सोकर स्वरूप से विमुख रहता है। पर द्रव्यों तक ही प्रायः उसकी दौड़ रहती है और मिथ्यात्व से ग्रसित उसका ज्ञान स्वभाव की उपलब्धि नहीं होने देता परम पूज्य आचार्य पूज्यपाद महाराज अपने इष्टोपदेश ग्रंथ में कहते हैं-

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान्पदार्थानां, यथा मदन कोद्रवैः॥१॥

मोह से आच्छादित ज्ञान, स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। जिस प्रकार नशीली कोदों को खा लेने से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है।

लौकिकता में हम यह साक्षात् अनुभव करते हैं कि जो व्यक्ति नशे में होता है। या जिसके अंदर मादकता छापी रहती है वह अपने घर परिवार के सदस्यों को भी नहीं पहचान पाता। शराबी को ही देख लीजिए यहाँ-वहाँ नाली में पड़ा रहता है। सड़क पर पड़ा रहता है परंतु उसे कुछ भी होश नहीं रहता कि मैं क्या हूँ।

एक बार की बात है मैं विहारोपरांत छत पर विश्रांति (सामायिक के उपरांत) कर रहा था। तभी नीचे से कुछ आवाजें आ रही थी 'हर-हर गंगे', 'हर-हर गंगे'। मैंने लोगों से पूछा- ये आवाज

कैसी? तो लोगों ने बतलाया-कुछ नहीं महाराज! एक शराबी गटर में पड़ा है। आश्चर्य था कि पड़ा तो गटर में है और गंगा नदी को याद कर रहा है।

बस मोह में फंसे संसारी प्राणी की भी यही दशा होती है मोह की गटर में पड़ा हुआ स्वर्ग गंगा के सपने संजोता है। परंतु ध्यान रखना कि जो ज्ञान मोह से आच्छादित होता है वह विभाव रूप ही परिणमन करता है। उससे किसी भी प्रकार से स्वभाव की उपलब्धि संभव नहीं है। इसलिए मोह किसी भी परिस्थिति में हेय ही है, त्याज्य ही है। अतः उसे छोड़ना ही श्रेयस्कर है। आगे आचार्यश्री समंतभद्र महाराज कहते हैं-

**गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥**

अन्वयार्थ -	निर्मोहः	-	मोह रहित
	गृहस्थः	-	गृहस्थ
	मोक्षमार्गस्थः	-	मोक्षमार्ग में स्थित है किंतु
	मोहवान्	-	मोह सहित
	अनगारः	-	मुनि
	नैव	-	मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है
	(अतः)	-	(इसलिए)
	मोहिनो मुनेः	-	मिथ्यादृष्टि मुनि से
	गृही	-	गृहस्थ
	श्रेयान्	-	श्रेष्ठ है।

अर्थ - निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, किंतु मिथ्यादृष्टि साधु मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इसलिए मिथ्यादृष्टि साधु से सम्यग्दृष्टि (निर्मोही) गृहस्थ श्रेष्ठ है।

भव्य मनीषियो ! आचार्य भगवन् यहाँ “मोहनीय कर्म” की प्रधानता से अपनी बात कह रहे हैं कि पर वस्तु को अपना मानना और अपने आप को भूल जाना मोह है। और पर का तात्पर्य है निज टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक स्वरूपी एक, चैतन्य, अखंड आत्म तत्व को छोड़कर जितने भी अन्य चेतन व अचेतन पदार्थ है। वे सभी परद्रव्य कहलाते हैं और मोह का काम स्व को भुलाकर, पर में रमाना है। आठों कर्मों में सबसे दुर्लभ मोहनीय कर्म को जीतना है जिसने मोह को जीत लिया तो शेष 7 कर्मों को जीतना अब उतना कठिन नहीं है क्योंकि मोह की मजबूत जंजीरों में यह आतमराम अनादि से जकड़ा हुआ है। इसीलिए जब कोई साधक गृहस्थ अवस्था का त्याग कर संघ में प्रवेश लेता है। तो गुरुजन परीक्षा लेते हैं कि तुमने मोह को कितना जीता है। क्योंकि मोह को जीते बिना मोक्ष मार्ग भी सफल नहीं हो पाता है! पंडित दौलतराम जी ने मोही को बहिरात्मा कहा है वे कहते हैं-



“देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है”

अर्थात्- जो शरीर व आत्मा को एक माने अर्थात् शरीर व आत्मा का भेदविज्ञान अभी प्रकट नहीं हुआ है। वह बहिरातमा है ! जिसने शरीर व आत्मा को एक ही मान रखा है वह प्रायः शरीर में होने वाले कष्टों को दुःख का हेतु मानता है तथा शरीर के सुख को वास्तविक सुख मान लेता है। एक बार जब हम लोग क्षुल्लक अवस्था में थे तो एक सज्जन हमारे पास आ गये।

और आकर बोले - महाराज ! आपकी उम्र तो अभी बहुत छोटी है। इतनी छोटी उम्र में आपने यह मार्ग क्यों चुन लिया। आपके तो अभी खाने-पीने के दिन है, खेलने कूदने के दिन है। आप मेरे साथ चलिए, मेरे कोई संतान नहीं सारी जायदाद आपके नाम कर दूँगा। मैंने कहा- मेरे खेलने-कूदने के दिन है, खाने-पीने के दिन है तो दीक्षा आप ले लीजिए क्योंकि आपकी तो उम्र काफी हो चुकी है और रही जमीन जायदाद की बात तो वह तो मैं छोड़कर आया हूँ और रही मेरी बात तो अब तो मैं अपने गुरु का हो चुका हूँ अतः मेरे विषय में बात आप गुरुवर से कर लीजिए। वे सज्जन सब समझ गये और ठीक-ठीक महाराज में सब समझ गया।

बंधुओ ! यह मोह की भाषा होती है। मोही को शरीर व आत्मा एक ही नजर आती है। जबकि भेद-विज्ञानी शरीर व आत्मा को पृथक-पृथक मानता है। इसलिए शरीर के बड़े भारी कष्टों को भी सहजता से सहन कर लेता है। सोचिए ! तीन-तीन दिन तक लगातार श्यालनी भक्षण कर रही है परंतु फिर भी वे अपनी समता में लीन है। क्या इतना कष्ट बिना भेद विज्ञान के सहन किया जा सकता है। संभव नहीं है।

पार्श्वनाथ महामुनिराज पर लगातार 7 दिनों तक ओले-शोले, पत्थर-पानी की वर्षा होती रही फिर भी वे आत्म ध्यान में ही लीन रहे और भेद विज्ञान के बल से ही संपूर्ण घातिया कर्मों का क्षय कर उन्होंने केवल ज्ञान को प्रकट कर लिया। यदि वे भेद विज्ञान का आश्रय न लेते तो समता नहीं रख पाते उन्हें अपने प्रतिकारों पर क्रोध भाव भी उत्पन्न हो सकता था कि मैंने तो तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा फिर तू मुझे क्यों परेशान करता है। परंतु विषमता लाने से क्या उन्हें केवल ज्ञान हो जाता, संभव नहीं था।

आप देखते हैं कि संत/साधुजन घास फूस की तरह अपने सिर के सारे बालों को उखाड़ फेंकते हैं और यदि आपका एक बाल भी खींच दिया जाए तो आप चीख उठते हैं। गुस्सा करने लग जाते हैं कि तूने मेरे सिर के बाल कैसे खींचे। और यहाँ संतों के पूरे बाल उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं फिर भी वे किंचित भी दुख प्रकट नहीं करते अपितु प्रसन्न होते हैं क्योंकि उनके 28 मूलगुणों में से एक विशेष गुण केशलौच नाम का भी होता है। यदि संतों को वैराग्य न हो, भेद-विज्ञान न हो तो बाल खींचना संभव ही नहीं हो पायेगा।



एक बार की बात है एक सेठ जी थे और व्यापार हेतु उन्हें विदेश जाना पड़ा वे यात्रा की पूरी तैयारी कर चल पड़े परंतु रास्ते में ही अष्टाह्निका पर्व पड़ गया चूंकि सेठ जी धार्मिक थे अतः उनका यह नियम था कि अष्टाह्निका पर्व में दिगंबर मुनिराजों का पड़गाहन कर, नवधा भक्ति पूर्वक उन्हें आहार दान देकर ही अन्न जल ग्रहण करूंगा। परंतु विदेश में कहाँ तो मंदिर, कहाँ संत। अब क्या करें, रास्ते में जंगल आदि होते हैं वहाँ कोई समाज भी नहीं। सेठ जी के साथ उनका एक नौकर ही साथ था। सेठ जी को एक युक्ति सूझती है। वे अपने नौकर से कहते हैं देख तू इतनी मेहनत करता है फिर भी अधिक कमाई नहीं कर पाता। यदि तू चाहे तो तुझे मैं मालामाल बना सकता हूँ। नौकर माल की बात सुन बड़ा प्रसन्न हो गया, बोला सेठ जी उपाय तुरंत बताइए, सेठ जी ने कहा - तुम्हें आठ दिन के लिए मुनि बनना होगा, नौकर ने पूछा-उसके लिए क्या करना होगा, सेठ जी बोले- आठ दिन के लिए वस्त्रों का त्याग करना होगा, आहार में तुम्हें लड्डू, पेड़ा, पयी-पकवान मिलेंगे, पकवानों की बात सुन खुशी का पार नहीं था। सेठ जी ने कहा बस एक दिन केशलौंच करना होगा।

कहा जाता है -

**मूढ़ मुढ़ाए तीन गुण, मन की मिट गई आबा।
खाने को लड्डू मिलेंगे और लोग कहेंगे बाबा।।**

नौकर ने सोचा ठीक है जहाँ पकवान खाने मिलेंगे, माल मिलेगा और सेवा होगी, भक्ति होगी, वहाँ एक कष्ट सह लूंगा। वह नौकर अष्टाह्निका पर्व के प्रथम दिन ही महाराज बन गया वस्त्रों का त्याग कर दिया, आभूषण तो थे ही नहीं। अतः वस्त्र त्याग हाथ में एक पिछी और कमण्डल ले लिया। अब बारी थी केशलौंच की स्वयं करना आता नहीं। सेठ जी ने कहा तुम चुपचाप हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाओ केशलौंच में कर दूंगा। महाराज तो बैठ गये और यहाँ केशलौंच प्रारम्भ। जैसे ही एक बाल सिर का उखाड़ा महाराज चीख उठे क्योंकि कोई वैराग्य या भेद विज्ञान तो था नहीं सेठ जी ने एक नोटों की गड्डी निकाली और महाराज को दिखाकर कहा देखो यदि आवाज मुख से निकाली तो यह नहीं मिलेगी। पैसों के लालच में तकलीफ होने पर भी बैठे-बैठे केशलौंच शुरू हो गया, मुखमंडल पर काली बदरियाँ छाई थी कब बारिश हो जाए मालूम नहीं दर्द के कारण महाराज की स्थिति देखने लायक थी कभी यहाँ सिर घुमाते तो कभी वहाँ, जैसे ही चीखते तो नोटों की गड्डी से मुख बंद कर दिया जाता। जैसे-तैसे केशलौंच पूरा हो गया, सेठ जी ने कहा आज उपवास करना होगा। जीवन में कभी उपवास किया हो तो जाने। परंतु पैसों के लालच में वह भी मंजूर कर लिया गया, गर्मी के दिन थे प्यास के मारे महाराज का गला सूखा जा रहा था परंतु सेठ जी ने कहा मैं पानी लगाये देता हूँ परंतु आज कुछ नहीं खाना क्योंकि यदि आज भूख-प्यास सहन नहीं की तो कल पई पकवान भी नहीं मिलेंगे और नोटों की गड्डी भी और जो कष्ट अभी तक सह लिया वह भी पानी में जाएगा। महाराज ने कहा- ठीक है आज नहीं कल ही पारणा करूंगा। दूसरे दिन तो उठने की हिम्मत ही नहीं थी परंतु



सेठ जी ने महाराज को सुबह 4 बजे से उठा दिया और कहा - चलो सामायिक करो। यहाँ तो हिलने तक की हिम्मत नहीं और सेठ कहता है सामायिक करो। परंतु यदि न करूँ तो कुछ न मिलेगा। बस सामायिक प्रारंभ, सामायिक स्वाध्याय आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर कुछ देर में आहार की बेला हो गई सेठ जी ने प्रासुक जल कमण्डल में भर दिया और कहा महाराज शुद्धि कर लीजिए। जैसे-तैसे शुद्धि हुई और मुद्रा लेकर महाराज आहार को चल दिये। सेठ जी ने नवधा भक्ति पूर्वक पड़गाहन किया, और चौके में ले गये, उच्चासन दिया और महाराज का पाद-प्रक्षालन, पूजन किया। महाराज की दृष्टि तो पई पकवानों पर लगी थी। मुद्रिका खोली और अंजुली लगाकर महाराज खड़े हो गये ज्यादा अनुभव तो था नहीं अतः जैसे ही थाली दिखाई गई तो पकवानों को लेना प्रारंभ कर दिया हलवा, कचौरी, जलेबी पुड़ी सब कुछ भरपेट खाया परंतु पानी लेने के लिए कुछ स्थान शेष नहीं रहा अतः थोड़ा ही पानी लेकर महाराज बैठ गये। परंतु अधिक मात्रा में पकवान लेने से तथा पानी की कमी हो जाने से महाराज तो छटपटा गये, प्यास के मारे गला सूख गया अतः उन्हें रात भर नींद नहीं आयी दूसरे दिन उन्होंने आहार में पानी-पानी ही लिया, अन्न न पहुँचने से शरीर में शक्ति नहीं बची। जैसे-तैसे रो धोकर आठ दिन पूरे हुए सेठ जी का अतिथि संविभाग व्रत पूरा हो गया और महाराज का नियम भी वे तुरंत असली वेश में आये मालटाल लिया और बोले-सेठ अब कभी ऐसे काम न करवाना।

बंधुओ ! जब सच्चा भेद विज्ञान नहीं होता तो शरीर और आत्मा में एकत्व बुद्धि बनी रहती है फिर शरीर के कष्टों को सहना संभव नहीं होता और भेद-विज्ञान के अभाव में की गई साधना सम्यक् फल को भी प्रदान नहीं कर पाती इसीलिए आचार्य भगवन् कह रहे हैं। ‘गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्’

अर्थात् यदि कोई गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ भी मोह से रहित है तो वह मोक्षमार्ग में स्थित है परंतु मोह से सहित यदि मुनि भी है तो भी वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है।

क्योंकि मोह के साथ होने पर कर्म क्षय संभव ही नहीं है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन को घातने वाले मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण सम्यग्दर्शन रूप परिणत है वह तो मोक्षमार्ग में स्थित है परंतु जो दर्शनमोह से सहित होने के कारण मिथ्यात्व रूप परिणत हो रहा है ऐसा मुनि भी मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है।

मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन को घातने वाली हैं। जब तक इनका उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं हो जाता तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा एक गृहस्थ है। जिसके उपर्युक्त सातों प्रकृतियों के उपशमादि से सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है और इससे विपरीत एक ऐसा मुनि है जिसके उपर्युक्त सात प्रकृतियों का उपशमादि नहीं हुआ है। अर्थात् उदय चल रहा है। परंतु इन सात प्रकृतियों तथा साथ

में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्जवलन कषाय नामक चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का मंदतर उदय होने से जिसने महाव्रत धारण कर लिए है। तथा चरणानुयोग में बताए हुए मुनियों के 28 मूलगुणों का भी जो निर्दोष पालन करता है। यदि करणानुयोग की पद्धति से इन दोनों की तुलना की जाए तो उपर्युक्त मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ मालूम होता है। क्योंकि उसके 91 प्रकृतियों का संवर हो गया है परंतु मुनि के बंधयोग्य अभी सारी प्रकृतियों का बंध जारी है। ऐसा गृहस्थ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है जबकि दर्शन मोह से सहित मुनि प्रथम गुणस्थानवर्ती है अतः गृहस्थ तो गुणश्रेणी निर्जरा का पात्र हो जाता है। परंतु मुनि के कर्म निर्जरा का अंश भी नहीं है। अतः आचार्य महाराज कह रहे हैं “अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः” अर्थात् मोही मुनि से निर्मोही श्रावक श्रेष्ठ है। परंतु यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ दर्शन मोह की अपेक्षा से मुनि से गृहस्थ को श्रेष्ठ कहा है न कि सर्वथा। तथाकथित लोग बिना अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के जिस किसी मुनि को मिथ्यादृष्टि बतला स्वयं श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं। वे श्रावक पहले यह सोच ले कि उनके पास सम्यग्दर्शन को मापने का क्या कोई थर्मामीटर है या वे सर्वज्ञ हैं। आज न तो अवधिज्ञानी है न मनःपर्ययज्ञानी। अतः ईर्ष्या, द्वेष वशात् अपने अभीष्ट को सिद्ध करने हेतु मुनियों की अविनय, अवहेलना उचित नहीं क्योंकि यह आगम वाक्य ही है कि आज भी पंचम काल में सच्चे भावलिंगी साधु पाये जाते हैं।

अतः गृहस्थ का कर्तव्य तो मात्र पिच्छी/कमण्डल धारियों की सेवा भक्ति करना ही है। न कि उनकी परीक्षा। क्योंकि परीक्षा करने का काम गुरुजनों का है न कि गृहस्थों का। हाँ यदि आप को किसी के अंदर कुछ कमी नजर आती है तो आप गुरु से अवश्य कह सकते हैं क्योंकि गुरु दूरदृष्टा होते हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के अनुसार शिष्यों से पंचाचार पालन करवाते हैं। परंतु आप तो श्रद्धा, भक्ति के साथ संतों की सेवा, आहार दान देकर पुण्य का उपार्जन करें।

आचार्य भगवन् द्वारा दिया गया यह श्लोक संतों को सावधान करता है कि संतों यदि लेश मात्र भी मोह आपके अंदर है तो आप उसका परित्याग कर मोक्षमार्ग में स्थित हो जाइए तभी आप कर्मों का निर्जरा व संवर करते हुए उनका क्षय कर सकेंगे।

इसी भावना के साथ-

“1008 श्री महावीर भगवान की जय”





प्रवचन-33

श्लोक-34

सम्यग्दर्शन सा मित्र नहीं : नहीं अरि मिथ्यात्व समान

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् ने इस प्रथम अधिकार का प्रणयन सम्यग्दर्शन की प्रधानता से किया तथा सम्यग्दर्शन की महिमा बतलायी है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है-देव, शास्त्र, गुरु के प्रति हमारी श्रद्धा समीचीन, सच्चा विश्वास होना जब हमारी श्रद्धा समीचीन होती है, विश्वास पक्का होता है। तो बड़े से बड़ा कार्य भी सहजता में हो जाता है। आचार्य मानतुंग महाराज की भक्ति इतिहास में अमर हो गई क्योंकि उनकी श्रद्धा अकाट्य थी और जब श्रद्धा अकाट्य होती है तो सहज मात्रा में चमत्कार हो जाते हैं। कवि कालीदास की ईर्ष्या ने मुनि मानतुंग पर कहर बरसा दिया। राजा भोज की सभा में मुनि मानतुंग को बुलवाया गया परंतु दिगंबर संत किसी की आज्ञा में नहीं चलते, अपितु सारा संसार उनकी आज्ञानुसारी होता है। जब मानतुंग मुनि महाराज राजाज्ञा का पालन नहीं करते तो राजा कुपित होकर उन्हें 48 तालों के अंदर बंद करवा देता है। आचार्य भगवन् की श्रद्धा श्री वीतरागी जिनेन्द्र प्रभु के प्रति अकाट्य थी। अतः वे घनघोर संकट में आदि प्रभु का स्मरण करते हैं। स्तुतियाँ प्रारंभ हो जाती हैं। अंतरंग में निर्मलता, विशुद्धि स्थान बढ़ जाते हैं और पुण्य वर्गणाँ खिचती चली आती हैं और तड़-तड़ कर एक-2 ताले टूटते जाते हैं। कहीं-2 ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि जैसे-2 एक-2 काव्य रचना होती है वैसे-2 एक-एक जंजीर टूटती जाता है और 46 वें काव्य आपाद कण्ठ.....के बोलते ही सारे ताले तड़-तड़ कर टूट जाते हैं और मानतुंगाचार्य जेल से बाहर खड़े दिखाई देते हैं। जब राजा भोज को इस चमत्कारिक घटना का ज्ञान होता है। वे दौड़े-2 आते हैं और पूज्य आचार्य भगवन् के चरणों में पड़कर क्षमा याचना करते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि जहाँ सच्ची श्रद्धा है वहाँ चमत्कार सहज मात्रा में हो जाते हैं। जहाँ श्रद्धा समीचीन है वहाँ भक्ति का भी जन्म होता है और सच्चे मन से की गई भक्ति भव से पार लगा देती है। बिना श्रद्धा के की गई भक्ति मोक्षमार्ग में प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि श्रद्धा यदि समीचीन है तो बड़े-2 चमत्कार स्वतः हो जाते हैं। श्रद्धा के सम्यक् होने पर ही ज्ञान, चारित्र आदि भी सम्यक् पने को प्राप्त हो पाते हैं अतः सम्यग्दर्शन सर्वश्रेष्ठ है। इसी बात को समझाते हुए आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज से कहते हैं-

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व, समं नान्यत्तनूभृताम् ।।३४।।

अन्वयार्थ-

त्रैकाल्ये	-	तीनों काल में और
त्रिजगत् अपि	-	तीनों जगत में भी
तनुभृताम्	-	संसारी जीवों का
सम्यक्त्व समं	-	सम्यक्त्व के समान
अन्यत्	-	दूसरा
किञ्चित् अपि	-	कुछ भी
श्रेयः न	-	कल्याणकारी नहीं है
च	-	और
मिथ्यात्व समं	-	मिथ्यात्व के समान
अन्यत्	-	दूसरा
किञ्चित् अपि	-	कुछ भी
अश्रेयः न	-	अकल्याणकारी नहीं है ।

अर्थ-शरीर धारियों को सम्यक्त्व के समान तीनों काल में और तीनों लोकों में अन्य कोई भी सुखकारक नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीनों काल व तीनों लोकों में अन्य कोई भी दुःख देने वाला नहीं है ।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं-‘त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि’ अर्थात् तीनों कालों में तीन काल-भूतकाल, भविष्यकाल, व वर्तमान काल होते हैं तथा तीन जगत् उर्ध्वलोक, मध्यलोक, और अधोलोक में ‘न सम्यक्त्व समं किञ्चित् श्रेयः’ सम्यग्दर्शन के समान कुछ भी कल्याणकारी नहीं है ।

इस दुस्तर संसार समुद्र में सम्यग्दर्शन से बढ़कर जीवों का कोई दूसरा मित्र नहीं है तथा मिथ्यात्व से बढ़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है । कहा जाता है कि सच्चा मित्र वह है जो-

- (1) हमारे हित का चिंतन करता है ।
- (2) उचित समय पर उचित सलाह देता है ।
- (3) विपत्ति में सहायता हेतु तत्पर खड़ा रहता है ।
- (4) आत्महित का पथानुगामी बना देता है ।



बस सम्यग्दर्शन भी हमारा ऐसा ही इष्ट मित्र है जो सदैव आत्मा का हित ही करता है। सम्यग्दृष्टि का सदैव आत्म कल्याण होता है तथा वह दूसरों को भी कल्याण का ही रास्ता दिखाता है। जिस जीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है उसकी दृष्टि समीचीन हो जाती है। उसके प्रत्येक विषय पर विचार करने का नजरिया Positive हो जाता है। वह जब भी सोचता है सकारात्मक ही सोचता है और जब जीव किन्हीं विपत्तियों से ग्रस्त हो जाता है। तो सम्यग्दर्शन श्रद्धान रूप परिणाम को अविचल बनाये रखता है कि कुछ भी हो जाए वीतराग प्रभु ही हमारे सच्चे प्रभु है, निर्गुण गुरु ही हमारे सच्चे गुरु है तथा वीतराग प्रभु की वाणी ही सच्ची जिनवाणी है। मित्र की तरह पग-पग पर संभालने का काम सम्यग्दर्शन करता है। उचित अवसर पर मति को समीचीन दिशा प्रदान करता है।

सम्यग्दृष्टि पर जब भी विपत्तियाँ आती है। अथवा वह किन्हीं परिस्थितियों के बीच फँस जाता है। तो उसके पास स्थित प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकंपा, निर्वेग, आत्मनिंदा, आत्मगर्हा, भक्ति ये आठ गुण ढाल बनकर रक्षा करते हैं। सम्यग्दृष्टि सप्तभयों से रहित होता है अतः कैसी भी परिस्थिति में वह घबराता नहीं है। अथवा उसकी निर्भीकता के कारण विपत्तियाँ स्वयं उसके आगे माथा टेक लेती है।

सम्यग्दृष्टि की इतनी आत्म विशुद्धि निर्मलता होती है जिसके बल से बड़े-बड़े काम भी सहज हो जाते हैं। भरत चक्रवर्ती के विषय में “भरतैश वैभव” में रत्नाकर कवि ने बहुत सुंदर चित्रण किया है वे कहते हैं कि “भरत चक्रवर्ती” जब दिग्विजय को निकले थे तो बड़े-2 समुद्रों को पार करने के पूर्व शत्रु से युद्ध करने के पूर्व पहले कुछ क्षणों के लिए आत्म ध्यान करते थे। उसके उपरांत वे जो भी कार्य करते थे उसमें निश्चित रूप से ही उन्हें सफलता मिलती थी।

सम्यग्दृष्टि जीव की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार के कुछ भी कार्य करें परंतु अपनी आत्मा को वह कभी नहीं भूलता उसका आत्म श्रद्धान रूप परिणाम सदैव बना रहता है। एक बार “भरत चक्रवर्ती” भोजन के लिए बैठता है। तो सारी रानियाँ भी क्रम-क्रम से भरत महाराज के चारों ओर बैठ जाती है। भरत महाराज की पटरानी सुभद्रा महाराज के सन्मुख बैठती है। पतिदेव की सेवा में हजारों व्यंजन तैयार करवाती है। खीर थाल में परोसी जाती है। परंतु “भरत महाराज” तो नेत्रों को उन्मीलित किये बैठे हैं। सुभद्रा सोचती है यद्यपि यह खीर गरम है। इसलिए महाराज नेत्र बंद किये बैठे हैं वह सारी सामग्रियों को सुव्यवस्थित रखती है तब तक काफी देर हो जाती है। सुभद्रा टकटकी लगाकर महाराज के मुख मंडल को निहारती है कि अब स्वामी अपने नेत्र खोलेंगे और हमारी भोज्य सामग्री को निहारेंगे सारी रानियाँ महाराज की इंतजारी में थी तभी “भरत-महाराज” अपने उन्मीलित नेत्रों को खोलते हैं चेहरे पर सौम्यता व प्रसन्नता झलक रही थी। सुभद्रा कहती है महाराज भोजन प्रारंभ करने के पूर्व आपको यह बतलाना होगा कि आखिर भोजन



के समय आपको कौनसी चिंता लग गई जो कि आंखें बंद कर विचार रहे थे। “भरत-महाराज” सुभद्रा का चेहरा देखते हैं और मुस्कुरा देते हैं। कहते हैं हे सुभद्रे! इस शरीर को तो मैंने अनादिकाल से खूब खिलाया है परंतु इसे तृप्ति नहीं हो पायी। तृष्णा की खाई को कितना भी भरो वह तृप्त नहीं हो पाती। इसलिए आज मैं पुद्गल को खिलाने के पूर्व आत्मा को भोग लगा रहा था। आत्मा को ज्ञानामृत रूपी भोजन करा रहा था। अपने चैतन्यानुविधायी परमहंस को निहार रहा था। सोच रहा था कि हे आत्मन्! तू तो अनशन स्वभावी है। अशन की आवश्यकता तो विभाव रूप परिणत पुद्गल सहित आत्मा को पड़ती है परंतु यह स्वभाव दशा नहीं है। स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा मात्र अपने स्वचतुष्टय में रहती है उसी में प्रवृत्ति करती है। परंतु वैभाविक परिणतियाँ आत्मा को स्वभाव से च्युत कर पर द्रव्यानुमुखी बना देती हैं।

सुभद्रा कहती है हे स्वामिन्! आप ऐसे ही उपदेश सुनाते रहेंगे या हम 96000 रानियों को भूल ही जायेंगे। भरत अंदर से कुछ बाहर की ओर आते हैं और अपनी रानियों के साथ भोजन ग्रहण करते हैं।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि भोजन तो हम भी करते हैं परंतु 24 घंटे में 5 मिनट के लिए भी आत्मचिंतन नहीं करते, हमारी दृष्टि हर क्षण बहिर्मुखी ही रहती है। हमारी दौड़ सुबह से शाम तक मात्र पौद्गलिक पदार्थों की ओर ही होती है। जबकि शुद्ध सम्यग्दृष्टि उठते-बैठते प्रत्येक कार्य को करते हुए भी आत्मा को नहीं भूलता। भोजन तो भरत भी करते थे परंतु अपने स्वभाव को नहीं भूलते थे। कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? यह सम्यग्दर्शन की ही महिमा है कि वह आत्मा को बाह्य पदार्थों से खींचकर स्वभाव में लाता है और आत्मा को हित मार्ग का पथानुगामी बना देता है।

इसीलिए आचार्य महाराज को कहना पड़ा कि तीनों कालों में व तीनों जगत में सम्यग्दर्शन के समान कुछ नहीं। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त आत्मा में निरंतर आत्म विशुद्धि की वृद्धि होती है जिससे आत्मा सर्वश्रेष्ठ सुख का अनुभव करता है। सम्यग्दृष्टि कितने व कैसे सुख का अनुभव करता है तो पंडित दौलतरामजी अपने छहदाला ग्रंथ में कहते हैं-

यों चिन्त्य निज में धिर भये,

तिन अकथ जो आनंद लह्यो ।

सो इंद्र नाग नरेन्द्र वा,

अहमिन्द्र के नाही कह्यो ।।

सम्यग्दृष्टि जब अपने आत्म स्वरूप का चिंतन करता हुआ उसी में रम जाता है, अपनी आत्मा में ही लीन हो जाता है तो वह एक ऐसे आनंद का अनुभव करता है। जो “अकथ” अर्थात् कहा नहीं जा सकता, अकथनीय होता है। उस आनंदानुभूति का तो वर्णन ही संभव नहीं है। वह आनंद कितना



व कैसा है तो कहते हैं-स्वर्ग के इंद्र को, पाताल के नागेन्द्र को तथा ग्रैवेयक के अहमिन्द्रों के सुख को मिला दिया जाए तो वह एक सम्यग्दृष्टि के सुख की बराबरी नहीं कर सकता। अर्थात् इंद्र, नागेन्द्र व अहमिन्द्र को भी सुख नहीं है। जो एक सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के प्रभाव से हो जाता है। कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन के अस्तित्व काल में नारकी जीव के जो आत्मीय आनंद होता है। वह मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्र को भी दुर्लभ है।

सोचिए नरकों में कितना दुःख है कितनी वेदना है, जबकि स्वर्गों के सुख का पार नहीं फिर भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव में अथाह दुःखों व संकटों में गिरा जीव भी सुख का अनुभव करता है। जब इस सुख के कारण को जानने हेतु हम गहराई में उतरते हैं तो पाते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के उपरांत जो आत्म श्रद्धान रूप परिणाम उत्पन्न होता है। वह इंद्रिय विषयों से विरक्ति उत्पन्न करता है और वह विरक्ति भाव ही सुख का हेतु बन जाता है। इष्टोपदेश ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं-

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्व मुत्तमम् ।

तथा-तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।।37।।

अर्थात् जैसे-2 आत्म संवित्ति बढ़ती जाती है वैसे-2 सुलभ इंद्रियों के विषय भी रूचते नहीं हैं। इंद्रियों के विषय तभी तक अच्छे लगते हैं जब तक कि मिथ्यात्व का राजपाट चलता है मिथ्यात्व की सत्ता विराजमान रहती है। मिथ्यात्व इंद्रियों के विषयों के प्रति अत्यासक्ति पैदा करता है। क्योंकि उसकी श्रद्धा में इंद्रिय विषय ही जमे हैं शरीर को सुख देने वाली सामग्रियों को पाकर मिथ्यादृष्टि जीव प्रसन्न होता है। आहा आज तो 56 प्रकार का भोजन मिल गया आनंद आ गया। मिथ्यादृष्टि निरंतर विषयानन्द में डूबा रहता है और उसे ही आत्मा का आनंद मानता है जबकि सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर विषयों के प्रति आसक्ति भाव को छोड़कर स्वरूप की ओर आने का प्रयत्न करता है। आचार्य महाराज ने दूसरे श्लोक में कहा हैं-

यथा-यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्व मुत्तमम् ।।38।।

अर्थात् जैसे-2 इंद्रियों के सुलभ विषय हमें रूचते नहीं हैं वैसे-2 आत्म संवित्ति बढ़ती जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रियों के विषयों के प्रति विरक्ति भाव रखता है। इसलिए उसकी आत्म संवित्ति बढ़ती जाती है।

जबकि मिथ्यादृष्टि जीव को तो आत्मा की सुद ही नहीं है। यही कारण है कि विषयों में रचपच कर स्वभाव को भूला मिथ्यादृष्टि अनंत संसारी होता है इसीलिए आचार्य समंतभद्र



देव कहते हैं “मिथ्यात्व समं अश्रेयः न अन्यत् तनूभृताम्” इस संसार में शरीरधारियों का मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई अकल्याणकारी/शत्रु नहीं है।

वस्तुतः मिथ्यात्व ही अनादि काल से इस जीव का सबसे बड़ा शत्रु बना हुआ है और जीव को चौरासी लाख योनियों में अनादि से परिभ्रमण कराकर दुःख प्रदान कर रहा है।

जिस प्रकार शत्रु अपने प्रतिपक्षी का-

- (1) सदैव अहित करने में तत्पर रहता है।
- (2) मौका पाते ही आक्रमण कर देता है।
- (3) विद्वेष रखता है।

ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व आत्मा के अहित में तत्पर रहता है। जब चाहे तब आत्मा को विपत्तिग्रस्त बनाकर नरकादि कुगतियों में ले जाकर पटक देता है। आत्मा से परम द्वेष रखता है। सदैव मोह और अज्ञानता के बाण छोड़कर आत्मा को छलनी-2 कर देता है अर्थात् आत्मा को स्वरूप से विमुख कर देता है। जबकि सम्यग्दर्शन आत्मा के अनंत संसार को घटाकर अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र कर देता है। इसलिए इस संसार में मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा शत्रु व सम्यग्दर्शन के समान कोई दूसरा मित्र नहीं है।

इसीलिए आप सभी सम्यग्दर्शन रूपी मित्र से मित्रता करें तथा मिथ्यात्व को दूर से ही परित्याग कर दें तभी आपका आत्मा हित पथानुगामी बन सकेगा।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-34

श्लोक-35

सम्यग्दृष्टि कहाँ नहीं जाता

भव्य मनीषियो ! प्रायः संपूर्ण प्राणी जगत आज हमें दुःखी दिखाई देता है। कोई दरिद्र है, कोई भिखारी, किसी के हाथ-पैर नहीं, किसी की आंखें नहीं। प्रायः संसार के प्राणी दुःखी है कोई भी सुखी नजर नहीं आता, जब इन दुःख के कारणों पर हम दृष्टिपात करते हैं, तो एक मात्र इस प्राणी की परद्रव्यों के प्रति ममत्व बुद्धि है। पर द्रव्यों के प्रति आत्म बुद्धि ही दुःख का प्रबल हेतु है। जब स्वरूप को भूलकर प्राणी पर द्रव्यों को अपना मान लेता है तो उसके अंदर अहमेदं व ममेदं के भाव जाग्रत हो जाते हैं। अहमेदं अर्थात् अहम् इदं यानि मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ। प्राणी अहंकार की भूमिका में पहुँच जाता है। सोचता है कि मेरे समान कोई दूजा नहीं वह कभी ज्ञान का, तो कभी शारीरिक बल का, कभी पूजा का, कभी कुल का तो कभी जाति का किसी न किसी वस्तु के प्रति अहं भाव बना ही रहता है। अहमेदं के साथ ममेदं अर्थात् 'मम इदं' यानि यह मेरा है वह मेरा है ! ये स्त्री, पुत्र मित्रादि मेरे हैं, मैं इनका हूँ। ऐसे मोह रूप परिणामों में जकड़ा यह प्राणी कर्मों की पराधीनता वश इष्ट वस्तु के वियोग होने पर हाय-हाय करता है। अत्यंत दुखी होता है। आचार्य भगवन् कहते हैं पर पदार्थों के प्रति आपका ममत्व भाव मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में होता है। मिथ्यादृष्टि के अंदर आत्म तत्व के प्रति श्रद्धान का अभाव होता है वह तो शरीर को ही आत्मा समझता है। समयसार ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद देव ने मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है-

**अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्त मिस्सं वा ।।**

अर्थात् सचित्त यानि स्त्री, पुत्री आदि व अचित्त यानि धन-दौलत, रूपया-पैसा व मिश्र यानि आभूषण सहित स्त्री आदि जितने भी अन्य परद्रव्य है उनमें ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ तथा जितने भी परद्रव्य है वे मेरे होंगे। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि का परद्रव्यों के प्रति अति मूर्च्छा भाव होता है और वही मूर्च्छा दुःख का हेतु बन जाती है।

क्योंकि यह प्रकृति का अकाट्य सिद्धान्त है कि जिन-जिन पदार्थों का संयोग होता है उनका

वियोग भी नियम से होता है। अब संयोगी पदार्थों में जिनकी अत्यसक्ति है। तो वियोग होने पर, उसके छूटने पर व्यक्ति कष्ट, दुःख, तकलीफ महसूस करता है। मोही जीव पग-पग पर दुःखों व संकटों का सामना करता है। विषयों में आसक्त मोही। मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादर्शन के प्रभाव से पापों में फंसे हुए दुर्गति का पात्र बनता है। इसके विपरीत जो मिथ्यात्व को छोड़कर सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी समीचीन आस्था जाग्रत कर लेता है। वह संयोग-वियोग में लाभ-अलाभ में, जीवन-मरण में, सुख-दुःख में साम्यभाव स्थापित कर लेता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीव 51 कर्म प्रकृतियों का संवर कर देता है। इसलिए दुःख के बहुत से कारणों का अभाव हो जाता है। आत्म श्रद्धान रूप परिणाम जाग्रत हो जाने से व आस्रव के हेतुओं के झर जाने से सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी दुर्गति में नहीं जाता। इसी बात को समझाते हुए परम पूज्य आचार्य भगवन् श्लोक 35 के माध्यम से कहते हैं -

सम्यग्दर्शन शुद्धा, नारक तिर्यङ्मनुंसक स्त्रीत्वानि ।

दुष्कुल विकृताऽल्पायु, दरिद्रतां च व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिकाः ।। 35 ।।

अन्वयार्थ -	सम्यग्दर्शन शुद्धा	- निर्मल सम्यग्दर्शन के धारी जीव
	नारकतिर्यङ्मनुंसकस्त्रीत्वानि	- नारकी, तिर्यच, नपुंसक और स्त्री पर्याय हो
	च	- और
	दुष्कुल	- नीच कुल
	विकृत	- विकल अंग
	अल्पायुः	- अल्प आयु
	दरिद्रतां	- और दरिद्रपने को
	न व्रजन्ति	- प्राप्त नहीं होते हैं।

अर्थ - जो निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हैं ऐसे जीव व्रत से रहित होने पर भी नरकगति, तिर्यचगति, नपुंसक वेद और स्त्रीपर्याय, दुष्कुल, विकलांगी, अल्पायु और दरिद्रता को नहीं प्राप्त होते हैं और न इनका बंध करते हैं।

भव्य मनीषियो ! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज बतला रहे हैं - “सम्यग्दर्शन शुद्धा” सम्यग्दर्शन शुद्धं निर्मलं येषां ते सम्यग्दर्शन शुद्धाः अर्थात् जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं निर्मल हैं और सम्यग्दर्शन से शुद्ध होने का तात्पर्य है सम्यग्दर्शन को मलीन करने वाले कारणों का अभाव हो जाता है। 25 मल दोष सम्यग्दर्शन को मलीन बनाते हैं। जो साधक इन 25 मल दोषों से रहित हो



जाता है वह निर्मल सम्यक्त्व का धारी होता है- वे 25 मल दोष - 3 मूढ़ता, 6 अनायतन, आठ मद और शंकादि आठ दोष है।

मूढ़ता - मूढ़ता का अर्थ है- धार्मिक अंधविश्वास।

आत्महित का विचार किये बिना ही अंधश्रद्धालु बनकर अज्ञानपूर्ण प्रवृत्ति करना मूढ़ता है। मूढ़ता तीन प्रकार की है - (1) लोक मूढ़ता (2) देव मूढ़ता (3) गुरुमूढ़ता।

(1) **लोक मूढ़ता** - ऐहिक फल की आकांक्षा एवं धर्म बुद्धि से नदी, सागर आदि में स्नान करना, पर्वत से कूदना, अग्नि में प्रवेश करना, पत्थरों का ढेर लगाना, पूजना आदि लोकमूढ़ता है।

(2) **देवमूढ़ता** - लौकिक फल या वरदान पाने की इच्छा से राग-द्वेष से मलीन देवी-देवताओं की पूजा करना देवमूढ़ता है। जो वीतरागी है, सर्वज्ञ है और हितोपदेशी है वे ही सच्चे देव है। इसके अतिरिक्त पत्थरों आदि में देवी-देवता की कल्पना करना ये सब देव-मूढ़ता में ही अंतर्निहित है।

(3) **गुरु मूढ़ता** - आरंभ, परिग्रह, हिंसा से युक्त, संसार में डुबाने वाले कार्यों में लीन साधुओं का सत्कार करना गुरु मूढ़ता है।

मद - अभिमान को मद कहते हैं अथवा क्षणिक संयोगों, व भौतिक उपलब्धियों को पाकर अभिमान में चूर हो जाना मद कहलाता है। मद के 8 भेद हैं -

(1) **ज्ञानमद** - थोड़ा ज्ञान पाकर भी अपने को बड़ा ज्ञानी मानना और ज्ञानाभिमान में आकर दूसरों की हँसी उड़ाना कि इन्हें तो इतना भी नहीं आता ये तो ऐसे ही हैं अभिमान में चूर होकर दूसरे का तिरस्कार करना ज्ञानमद कहलाता है।

(2) **पूजा/प्रतिष्ठा मद** - ख्याति, पूजा, सम्मान के मिलने पर गर्व में चूर रहना प्रतिष्ठा/पूजा मद है।

(3) **कुल मद** - अपने पितृपक्ष की उच्चता का गर्व करना कुल मद है।

(4) **जातिमद** - अपनी माता के वंश का अभिमान करना जातिमद है।

(5) **बलमद** - अपने शारीरिक बल के आगे सभी को निर्बल समझना तथा अपनी शक्ति का अभिमान करना बलमद है।

(6) **ऋद्धि/ऐश्वर्य मद** - तपोजनित ऋद्धि अथवा धन, वैभव और ऐश्वर्य को पाकर गर्व करना ऐश्वर्य मद है।



(7) **तापमद** - अपने आपको सबसे बड़ा तपस्वी मानकर अपनी तपस्या के अभिमान में चूर रहना कि मैं तो महिने-महिने के उपवास कर लेता हूँ ये तो रोज आहार करते हैं यह तपमद है।

(8) **रूपमद** - सुंदर आंगोपांग से युक्त शरीर को पाकर अपने रूप के अभिमान में चूर रहना रूप मद कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इन 8 मदों से रहित होता है। वह इन समस्त उपलब्धियों को क्षणिक संयोग मानता है वह यह विचार करता है कि कर्मों के निमित्त से प्राप्त संसार के समस्त संयोग क्षण-क्षयी है। अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य, आदि का मद करना अर्थहीन ही रत्नत्रय रूप धर्म ही स्वाधीन है, शाश्वत है, पवित्र, निर्मल और कल्याण स्वरूप है। संसार के अन्य समस्त पदार्थ पर हैं और आत्मोत्थान में बाधक है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव यदि अपने अन्य साधर्मियों के साथ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति आदि में से किसी एक का भी आश्रय लेकर तिरस्कार का भाव रखता है तो वह स्वयं का 'स्मय' मद नामक दोष कहलाता है इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने सम्यक्त्व से भी गिर सकता है अतः सम्यग्दर्शन की विशुद्धि बनाये रखने हेतु सम्यग्दृष्टि जीव इन मदों से सदैव दूर रहता है। यद्यपि यहाँ यह बात विशेष रूप से समझने योग्य है कि ज्ञान, पूजा आदि हेय नहीं है अपितु इनके प्रति किया गया मद हेय है।

अनायतन - आयतन शब्द का अर्थ घर, आवास, आश्रय अथवा आधार है। यहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकरण होने से आयतन का अर्थ धर्म का आधार है तथा आयतनों से विपरीत अधर्म या मिथ्यात्व के आश्रय स्थान को अनायतन कहते हैं।

अनायतन के 6 भेद हैं - कुरुर, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के आराधक ये कहाँ मिथ्यात्व के पोषक होने से हमारे चित्त की मलिनता और संसार के अभिवर्धक हैं। भय, आशा, स्नेह अथवा प्रलोभन वश इनकी पूजा आराधना करना और भक्ति व प्रशंसा करना सम्यग्दर्शन के 6 अनायतन दोष है।

सम्यग्दर्शन के 8 दोष - सम्यग्दर्शन को विशुद्ध/सुदृढ़ बनाने वाले 8 अंगों के विपरीत 8 शंकादि दोष होते हैं।

(1) **शंका** - वीतराग जिनोपदिष्ट तत्वों के प्रति अश्रद्धा होना/संशंकित रहना, शंका नाम का पहला दोष है।

(2) **कांक्षा** - धर्म करते हुए उससे भोगोपभोग व ऐहिक सुखों की अपेक्षा रखना कांक्षा दोष है।

(3) **विचिकित्सा** - 'रत्नत्रय धर्म' के प्रति अनादर रखते हुए धर्मात्मा जनों के मलिन शरीर को देखकर उसे घृणा करना विचिकित्सा है।



(4) मूढदृष्टि - सत्य और असत्य मार्ग के विचार एवं विवेक से रहित होकर उन्मार्ग एवं उन्मार्गियों के प्रति सुझाव रखना।

(5) अनुपगूहन - धर्मात्माओं के दोषों को उजागर कर धर्म मार्ग की निंदा करना।

(6) अस्थितिकरण - किसी कारण वश धर्म से स्वलित होते हुए व्यक्ति को धर्म मार्ग में स्थित करने का प्रयास न करना।

(7) अवात्सल्य - साधर्मी जनों से प्रेम नहीं करना, उनसे मात्सर्य और विद्वेष रखना।

(8) अप्रभावना - अपने छोटे आचरण और प्रवृत्तियों से धर्म-मार्ग को कलंकित करना, धर्म-मार्ग के प्रचार-प्रसार में सहभागी न बनना।

इस प्रकार ये 25 मल दोष हैं जिनसे सम्यग्दृष्टि जीव सदैव बचता है। तथा 25 दोषों से रहित होने पर ही उसका सम्यग्दर्शन निर्मल, विशुद्ध होता है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन से जो शुद्ध है अर्थात् जिससे आत्म विशुद्धि को दृष्टिगत कर लिया है ऐसा प्राणी, साधक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से “नारक तिर्यङ् नपुंसक स्त्रीत्वानि, दुष्कुल विकृताऽल्पायु दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः” नारकी, तिर्यच, नपुंसक, स्त्री पर्याय में जन्म नहीं लेता है इसके अतिरिक्त दुष्कुल, विकलांग, अल्पायु व दरिद्री भी नहीं होता।

यद्यपि यह संपूर्ण कथन अबद्धायुष्क की अपेक्षा ही है। बद्धायुष्क की अपेक्षा स्थिति में अंतर है - ऐसा नियम है कि आयुर्कर्म का बंध हो जाने पर वह टूटता नहीं है। इसलिए जिस जीव को सम्यग्दर्शन होने के पहले नरकायु का बंध हो चुका है उसे नरक तो अवश्य जाना पड़ता है परंतु वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता और राजा श्रेणिक के विषय में तो ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन्होंने सातवें नरक की आयु बांधी थी परंतु सम्यग्दर्शन के प्रभाव से घटकर पहले नरक की मात्र 84000 वर्ष की ही आयु शेष रह गई। सागरों पर्यंत की आयु हजार वर्षों में बदल गई। नरक में नपुंसक वेद के अतिरिक्त दूसरा वेद होता नहीं है, इसलिए प्रथम नरक तक उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीव को नपुंसक वेद में भी उत्पन्न होना पड़ता है। जिस जीव को सम्यग्दर्शन होने के पूर्व तिर्यच अथवा मनुष्यायु का बंध हो चुका है। उसे तिर्यच और मनुष्यों में अवश्य उत्पन्न होना पड़ता है परंतु वह जीव नियम से भोगभूमि का ही तिर्यच या मनुष्य होगा। कर्मभूमि का नहीं और भोगभूमि की आयुपूर्ण कर वह नियम से देवगति में ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिस जीव के सम्यग्दर्शन होने के पहले देवायु का बंध हो गया है वह देवों में उत्पन्न होता है परंतु वैमानिक वासियों में ही जन्म लेता है भवनत्रिकों में नहीं। वैसे तो सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीपर्याय में उत्पन्न नहीं होता परंतु यदि उसे सम्यग्दर्शन के पूर्व स्त्रीवेद का बंध पड़ गया है तो वह पुरुषवेद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तिर्यचों और मनुष्यों



में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों में पूर्वबद्ध नपुंसक वेद भी पुरुषवेद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य व तिर्यच के सम्यग्दर्शन के काल में यदि आयु का बंध होता है तो नियम से वैमानिक दोवों की आयु का ही बंध होता है और नारकी तथा देवों के सम्यग्दर्शन के काल में यदि आयुबंध होता है। तो नियम से कर्मभूमि के मनुष्य की ही आयु का बंध होता है अन्य आयु का नहीं। गुणस्थानों के अनुसार नरकायु का बंध पहले गुणस्थान तक, तिर्यच आयु का दूसरे गुणस्थान तक, मनुष्यायु का चौथे गुणस्थान तक और देवायु का सातवें गुणस्थान तक ही बंध होता है। तीसरे गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध नहीं होता। और चौथे गुणस्थान तक जो मनुष्यायु का बंध बताया है वह देव और नारकियों की अपेक्षा है। क्योंकि तिर्यच व मनुष्य के मनुष्यायु का बंध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव नीच कुल, विकलांगता, अंतमुहूर्त की क्षुद्र आयु तथा दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता। यह अव्रत सम्यग्दृष्टि की महिमा है। व्रत सहित सम्यग्दृष्टि जीव नियम से ऋद्धिधारी वैमानिक देव ही होता है। श्री गोम्मटसार कर्मकाण्ड जी में कहा है-

**चत्तारि वि खेत्राई आउगबंधेण होदि सम्पत्तं ।
अणवद महत्वदाइ ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ।।**

आचार्यश्री नेमीचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती महाराज कह रहे हैं कि अणुव्रत तथा महाव्रत धारी देव आयु को छोड़कर अन्य आयु का बंध नहीं करता। अर्थात् यदि किसी जीव ने देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बंध कर लिया है तो उस पर्याय में वह न तो अणुव्रती बन सकता है न महाव्रती। कितने ही शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि नरकायु के बंधक के तो अणुव्रतादिक धारण करने के भाव ही नहीं होते जैसे-श्रीकृष्ण, लक्ष्मण, रावण आदि। परंतु सम्यग्दर्शन के लिए ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों आयु का बंध होने पर भी हो सकता है।

ऐसा पवित्र, निर्मल सम्यग्दर्शन जो हमारी दुर्गतियों से रक्षा करता है। अशुभ पर्याय में जाने से बचाता है उसे प्रयत्न पूर्वक अवश्य धारण करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”



प्रवचन-35

श्लोक-36

सम्यग्दर्शन देता-सब कुछ

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी इस “सम्यग्दर्शन अधिकार” नामक प्रथम अधिकार के माध्यम से सम्यग्दर्शन की महिमा का गान करते जा रहे हैं कि ‘सम्यग्दर्शन’ ऐसी विशिष्ट वस्तु है। जिसकी चाहे जितनी भी महिमा गायी जाये वह कम है। क्योंकि यह एक ऐसा चिंतामणी रत्न है जिसके आगे सब कुछ फीका है चिंतामणी रत्न तो चिंतित वस्तु ही प्रदान करता है। कोई व्यक्ति कल्पवृक्ष के समक्ष जाये तो वह भी कल्पित वस्तु ही प्रदान करता है अकल्पित नहीं। कामधेनु के पास जाये तो उससे भी याचना करनी पड़ती है कि मुझे अमुक सामग्री की आवश्यकता है। परंतु सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को पा लेने के बाद- “बिन जाँचे बिन चिंतए धर्म सकल सुख देन” अर्थात् बिना याचना व बिना चिंतन किये ही धर्म से हमें संपूर्ण सुखों की प्राप्ति हो जाती है।

आज दुनियाँ बाह्य/लौकिक सुखों की दिवानी है। हमें कुछ भी न करना पड़े बस हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे और सब काम हो जाए एक प्राचीन समय वह भी था जबकि महिलाएँ दो-दो, तीन-तीन पात्र जल से भरे सिर पर रखकर 2-2, 4-4 कि. मी. लेकर जाती थी। आज विज्ञान ने आपकी सुविधाओं का ध्यान रखते हुए टुल्लु पंप का अविष्कार कर दिया। मशीन चालू करते ही पानी आ जाता है। एक समय वह भी था जब कि एक देश से देशान्तर गमन करने हेतु पीठ पर कलेवा कस व्यक्ति पग विहार करते थे धीरे-2 हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट की सवारी का प्रयोग होने लगा और समय बदला तो वाहनों साईकिल आदि का प्रयोग शुरू हुआ और धीरे-2 स्कूटर, बस, मोटर, कार और अब तो हवाई जहाज का प्रयोग होने लगा है। विज्ञान ने आपकी सुख-सुविधाओं का इतना ध्यान रखा कि सारे कष्टों से बचा लिया परंतु इतनी सुख संपन्नता पाने के बाद भी आप किसी भी सज्जन के पास 4 पल बैठकर देखिए तो दुःखों की बड़ी लिस्ट दिखा देगा, सुख सुविधाओं का विकास हुआ परंतु दुःख के लेवल में कमी नहीं आयी आज व्यक्ति के पास टी.वी., फ्रिज, मोटरकार सब कुछ है परंतु सुख नहीं है। वह सच्चा सुख मिलता कहाँ है? तो आचार्य भगवन् कह रहे हैं-सच्चे शाश्वत सुख को यदि तुम पाना चाहते हो तो धर्म करो, सम्यग्दर्शन को धारण करो क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु की यथार्थता को जान लेता है। वस्तु स्वरूप को जान लेता है अतः विपरीतता व कष्टों में अपने आत्म तत्त्व को विस्मृत नहीं करता, समता और संतोष धारण कर लेता है। इसलिए सुखी रहता है। सप्त भयों से रहित निर्भय होता है और इहलोक व परलोक में परमसुखी होता है।



सम्यग्दृष्टि के ऐसे अपूर्व सुख का कारण क्या है? तो बड़ी सीधी सी बात है जो वस्तु जहाँ है उसकी खोज वहाँ ही होना चाहिए, जो वस्तु जहाँ नहीं वहाँ खोजेगे तो खोजेंते ही रह जाओंगे परंतु हाथ कुछ नहीं लगेगा। आज का संसारी प्राणी तो मृग मरीचिका में फंसा-फंसा अपने प्राण तक खो देता है परंतु सुख का लेश भी प्राप्त नहीं हो पाता।

तपती हुई रेत को दूर से देखने वाला प्यासा मनुष्य पानी समझ कर पूरी शक्ति का प्रयोग कर उसी की ओर भागता है। भागते-2 पसीना-2 हो जाता है। परंतु जब पास जाकर देखता है तो पहाड़ खोदने पर चुहियाँ निकलने बराबर भी उपलब्धि नहीं हो पाती क्योंकि उसे चमकती रेत में पानी का भ्रम हो गया था। प्यास बुझाने की आस में प्यास, तो चलते-2 और बढ़ गई। इस संसारी प्राणी की भी दशा ठीक ऐसी ही है। सुख की खोज में दिन-रात एक कर दिया, परद्रव्यों की ओर खूब दौड़ लगायी, ये पा लूं, वह मिल जाए बस सुखी हो जाऊँगा। एक कार घर में आ जाए तो फिर कहना ही क्या है। कार भी आ गई परंतु कभी टायर खराब तो कभी ब्रेक, कभी गाड़ी में पेट्रोल नहीं तो कभी कुछ ओर खराब। खराबियों को सुधारते-2 व्यक्ति का सिर चकरा गया परंतु जिसका बिगड़ने का ही स्वभाव है वह सुधर कैसे सकता है। चले थे सुख पाने मिल गया दुःख। एक कार का सुख मिला परंतु हजारों दुःख उस कार के साथ फ्री मिले।

इस प्रकार संसारी प्राणी का दुःख का लेवल बढ़ता ही जाता है क्योंकि उसकी दौड़ विपरीत दिशा में चल रही है। जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ सुख को खोजा जा रहा है। आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज यही बात कह रहे हैं कि यदि तुम वास्तविक सुख को पाना चाहते हो तो दिशा को परिवर्तित करो, उन्मार्ग से पहले सन्मार्ग पर तो आ जाओ तब कहीं मंजिल मिलेगी। रास्ता सही है तो मंजिल जरूर ही मिलेगी भले ही चाल चींटी की तरह हो, या कछुये की तरह हो और रास्ता ही यदि सही नहीं हो तो खरगोश की तरह कितनी भी दौड़े लगाओं पर मंजिल नहीं मिल सकेगी।

यदि आपने मोक्षमहल पाने का लक्ष्य बनाया तो उसकी प्रथम सीढ़ी पर अपने पग मजबूती से जमा लीजिए और वह प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन ही है। यदि आपने प्रथम सोपान पर पग रखकर आगे बढ़ना प्रारंभ किया है तो नियम से अंतिम सोपान भी आपको अवश्य मिलेगा। जिससे हमें पारमार्थिक, अविनाशी, अचिन्त्य सुख मिलता है उस सम्यग्दर्शन से यदि बाह्य लौकिक सुख मिल जाये तो आश्चर्य ही क्या है? जब फसल मिल गई है तो घास फूस तो मिलना ही मिलना है उसके पाने के लिए किसी श्रम विशेष की आवश्यकता नहीं। पूज्य आचार्य भगवन् इसी बात को आगे कह रहे हैं-

अोजस्तेजो विद्या वीर्य्यशोवृद्धि विजय विभव सनाथाः ।

महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।।36 ।।



अन्वयार्थ-

दर्शनपूता:	-	सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव
ओजः तेजः विद्या	-	ओज, कांति, प्रताप, विद्या
वीर्य यशः वृद्धि	-	पराक्रम, कीर्ति, कुलवृद्धि
विजय विभव सनाथा	-	विजय, और संपत्ति के स्वामी
महाकुला	-	व श्रेष्ठ कुल वाले
महार्थाः	-	महान् पुरुषार्थों के साधक तथा
मानवतिलकाः	-	मनुष्यों में शिरोमणी
भवन्ति	-	होते हैं।

अर्थ-सम्यग्दर्शन से पवित्र, शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव पुरुषों में शिरोमणि (मानव तिलक) होते हैं। जो उत्साह से, प्रताप से, बुद्धि, शक्ति, कीर्ति से, उन्नति, जय-विजय और वैभव व ऐश्वर्य से संपन्न होते हैं। लोक पूज्य उत्तम कुल में जन्म लेते हैं। तथा त्रिवर्ग की साधना करते हुए मोक्ष प्राप्त करने के लिए समर्थ हो जाते हैं।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं-कि 'दर्शनपूताः' 'दर्शनेन पूताः पवित्रिताः अथवा दर्शनं पूतं येषां ते' इस समयानुसार जिनका सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल है। ऐसे जीव दर्शनपूत कहलाते हैं।

जब कोई बालक जन्म लेकर संसार में आता है तथा कोई महान कार्य करता है तो जगत में सुपूत के नाम से जाना जाता है सारी दुनियाँ उसके माता-पिता की प्रशंसा करती है। किन्हीं गुरु का कोई शिष्य होनहार निकल जाए तो दुनियाँ गुरु के गुणगान करती है कि धन्य है वे माता-पिता और वे गुरु जिनका यह पुत्र या शिष्य है।

बंधुओ! ठीक उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन रूपी निर्मल गुण को धारण कर सुपूत बन जाते हैं। वे जग में क्या नहीं पाते सब कुछ पाते हैं आचार्य भगवन् यहाँ अनेक विशेषण देते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा को गा रहे हैं वे कहते हैं- "ओजस्तेजो विद्या" 'ओज' का अर्थ उत्साह है। सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक धार्मिक कार्य में सदा उत्साह रहता है। खुश मन से प्रसन्नता पूर्वक श्रीमज्जिनेन्द्र पूजन, विधान, अर्चना में भाग लेता है, अभिषेक करता है, स्वाध्याय, ध्यान, तप या कोई भी त्याग करे उस समस्त धार्मिक क्रिया को उत्साह पूर्वक करता है और उत्साह पूर्वक जो भी कार्य किया जाता है वह नियम से सफलीभूत होता है। तथा हमारे उत्साह से औरों के मन में भी उत्साह का संचरण हो जाता है कि अब हम ऐसी प्रभु भक्ति करेंगे यह ओज उसके अंदर सम्यग्दर्शन से उत्पन्न निर्मल परिणति के कारण ही आता है। दूसरा विशेषण दिया 'तेज' तेज का तात्पर्य है प्रताप अथवा कांति। सम्यग्दृष्टि



जीव के अंदर सम्यग्दर्शन का प्रताप होता है। बंधुओ! जब भी हम कोई अच्छा कार्य करते हैं चाहे वह परोपकार का कार्य हो या स्वोपकार का। कार्य पूर्ण होने पर एक आल्हाद व प्रसन्नता अवश्य होती है कि मैंने यह कार्य बहुत अच्छा किया उदाहरण के तौर पर यदि रास्ते चलते किसी वृद्ध को यदि हम रास्ता पार करा देते हैं तो मन प्रसन्न हो जाता है कि आज मैंने वृद्ध सेवा का कार्य किया है। कभी-2 साधु-संतों, मुनिराजों को आहार दान देते हैं, उनकी सेवा, भक्ति करते हैं तो हमारा मन एक अनुपम सुख का अनुभव करता है, परिणाम शांत हो जाते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब पर पदार्थों की झूठी दुनियाँ से परे निज आत्मतत्त्व के प्रति श्रद्धान रखता हुआ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय या साधु परमेष्ठी की भक्ति में लीन होता है तो उसके अंदर अत्यंत आल्हाद, प्रसन्नता पूर्ण परिणाम होते हैं उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता है। भरत चक्रवर्ती के विषय में उल्लेख मिलता है कि जब भरत चक्रवर्ती को दान हेतु सत्पात्र नहीं मिलते थे तो उसका मुख म्लान हो जाता था। कांति फीकी पड़ जाती थी। एक बार भरत चक्रवर्ती द्वारा प्रेक्षण को खड़े हुए थे परंतु कोई पात्र नहीं मिला, पलकें बिछाए रहे परंतु कोई मुनिराज आहार मुद्रा को लिए आते न दिखे। चक्रवर्ती जो कि षट्खंडाधिपति था, 96000 रानियाँ तथा 32000 मुकुट बद्ध राजा जिनकी सेवा में तत्पर रहते थे उन्हें उदास देख मंत्री ने पूछा हे महाभाग! हे स्वामी! आपकी उदासीनता का क्या कारण है। हमारे रहते आपकी यह उदासी हमें इष्ट नहीं है। भरतचक्रवर्ती कहते हैं हे मंत्री! आज मेरे दोनों हाथ शोभा को प्राप्त नहीं हो रहे हैं मंत्री कहता है स्वामी! इतने सुंदर-2 आभूषण आपने धारण किये हुए हैं आपका कंचन सा सुंदर वदन है फिर आपको ऐसा प्रतीत क्यों हो रहा है? यदि आभूषण पुराने हो तो नये ला देता हूँ। भंडारगृह में किसी बात की कमी नहीं। चक्रवर्ती कहते हैं मंत्री! तुम्हें मालूम नहीं है कि हाथों की शोभा किससे होती है? मंत्री कहता है स्वामी! आप ही कहे किससे होती है? भरत चक्रवर्ती कहते हैं-सत्पात्रों को आहार दान देकर ही ये हाथ शोभा पाते हैं चर्चा-वार्ता चल ही रही थी कि तभी सामने से आते मुनि युगल पर चक्रवर्ती की दृष्टि पड़ती है उनके आनंद का पार नहीं रहता शरीर अत्यंत क्रांति व प्रताप से युक्त हो जाता है कि अहा! जिनका मैं इंतजार कर रहा था वे मेरे मन मंदिर के देवता मेरे ओर ही चले आ रहे हैं। जैसे-2 दूरियाँ कम हो रही थी चक्रवर्ती की कांति, देह की शोभा बढ़ती ही जा रही थी। चक्रवर्ती का रोम-रोम पुलकित था और वचनों में हे स्वामिन्! नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु अत्र-अत्र-अत्र, तिष्ठ-तिष्ठ-तिष्ठ मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है। इस प्रकार नवधा भक्ति से चक्रवर्ती पड़गाहन करता है और निर्विघ्न आहार चर्या संपन्न कराता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जो अंतरंग में निर्मलता उत्पन्न होती है वही निर्मलता व्यक्ति के प्रताप व कांति में हेतु बनती है। तीसरा विशेषण देते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं कि 'विद्या' सम्यग्दृष्टि जीव विद्या से संपन्न होता है। स्वाभाविक अथवा जिसका हरण न किया जा सके ऐसी बुद्धि को विद्या कहते हैं। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है जिसके प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीव नाना कलाओं से संपन्न हो जाता है।



“वीर्य यशोवृद्धि विजय विभव सनाथाः” वीर्य-विशिष्ट शक्ति सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कभी निर्बल नहीं होता वह सम्यग्दर्शन के प्रभाव से अतुल्य बल प्राप्त करता है। यश-विशिष्ट प्रकार ख्याति को यश कहते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनी निर्मल आत्म परिणति के द्वारा यशस्वी हो जाता है उसकी ख्याति, कीर्ति सदैव फैलती जाती है। वृद्धि-स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि की प्राप्ति को वृद्धि कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शन के प्रमुख से धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाती है उसकी पुण्य वर्गणाओं का ऐसा प्रभाव होता है स्त्री-पुत्र-पौत्र भरापूरा कुटुम्ब-परिवार होता है। विजय-दूसरे के तिरस्कार से अपने गुणों का उत्कर्ष करना विजय है। सम्यग्दृष्टि जीव की सर्वत्र विजय होती है। कोई भी विपत्तियाँ उस पर हावी नहीं हो पाती। प्रद्युम्न पर भी अनेक संकट आये परंतु सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव था कि हरण हो जाने पर भी 16 वर्ष के बाद 16 लाभ लेकर अपनी माता के पास वापस लौटे थे। सम्यग्दृष्टि जीव सदैव विजय पाता है। विभव सनाथा-धन-धान्यादि पदार्थों की प्राप्ति होना वैभव है। सम्यग्दृष्टि जीव वैभवशाली होता है। महाकुला-सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उत्तम कुल, लोकमान्य उच्च कुल में जन्म लेता है। महार्था-धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थों से सम्यग्दृष्टि जीव सहित होता है।

इन सब यश, कीर्ति से प्राप्त करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव श्रेष्ठ मनुष्य होता है जिस प्रकार मनुष्य के ललाट की शोभा उसके तिलक से होती है वैसे ही श्रेष्ठ मनुष्यों में सम्यग्दृष्टि जीव तिलक स्वरूप शोभा से युक्त होता है। इसीलिए आचार्य महाराज ने ‘मानव तिलका’ शब्द का प्रयोग किया है।

बंधुओ! आचार्य भगवन् ने सम्यग्दृष्टि जीव की इतनी सारी विशेषताएँ बतला दी। ये सब महिमा बाह्य लौकिक जगत की अपेक्षा से हैं जबकि सम्यग्दर्शन तो नियम से शाश्वत सुख मोक्ष को भी प्रदान करा देता है। यदि आप भी उस उत्तम सुख को पाना चाहते हैं तो प्रयत्न पूर्वक अपने प्रबल पुरुषार्थ के बल से सम्यग्दर्शन को अवश्य प्राप्त करना चाहिए। तभी मानव देह की सार्थकता है। आप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मुनिसुव्रत नाथ भगवान की जय”





प्रवचन-36
श्लोक-37

सम्यग्दर्शन की महिमा अथाह

भव्य मनीषियो! क्रमिक रूप से परम पूज्य आचार्य भगवन् पूज्यपाद महाराज सम्यग्दृष्टि की विशेषताओं को बतलाते जा रहे हैं। इस दुःखद पंचम काल में दुःखों से उबारकर सच्चे सुख में पहुँचाने वाला उत्तम भ्राता यदि कोई है तो वह सम्यग्दर्शन ही है। जिस प्रकार हम लौकिकता में देखते हैं कि एक बहिन अपने भाई की कलाई पर रक्षासूत्र बाँधती है और रक्षा के बंधन से बंध जाती है। भाई भी उसे जीवन भर संरक्षण देने का आश्वासन देता है बहिन जब-जब किसी विपत्ति में होती है तो अपने भाई का स्मरण करती है और भाई भी अपनी बहिन की रक्षा हेतु तत्पर ही खड़ा रहता है। आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को एक सच्चे व अच्छे भाई की उपमा दी है। जब-जब प्राणी दुःखों व संकटों से ग्रस्त होता है किसी विपत्ति में फँस जाता है। तो सम्यग्दर्शन रूप धर्म उसकी सहायतार्थ खड़ा रहता है। समय-समय पर जीव को समीचीन चिंतन प्रदान कर दिशा प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन की महिमा आगम में इतनी है जिसका पार पाना ही संभव नहीं है। पूज्य आचार्य भगवन् श्लोक 37 के माध्यम आगे इसी बात को कह रहे हैं-

अष्टगुणपुष्टितुष्टादृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।

अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

अन्वयार्थ-

दृष्टिविशिष्टाः	-	सम्यग्दृष्टि जीव
जिनेन्द्रभक्ताः	-	जिनेन्द्र देव के भक्त
स्वर्गे	-	स्वर्ग में
अष्टगुणपुष्टितुष्टाः	-	अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से संतुष्ट दिव्य शरीर से पुष्ट व
प्रकृष्टशोभाजुष्टाः	-	अतिशय शोभा से युक्त होकर
अमराप्सरसां	-	देव व देवांगनाओं की



परिषदि	-	सभा में
चिरं	-	चिरकाल तक
रमन्ते	-	आनंद करते हैं।

भावार्थ-जिनेन्द्र देव की भक्ति, सेवा व पूजन करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में देवों व देवांगनाओं की सभा में अणिमा आदि आठ दिव्य शक्तियों से तथा अपने शरीर के दिव्य संगठन से पुष्ट होते हुए सदा प्रसन्नता का अनुभव करते हुए और अतिशय शोभा संपन्न होते हुए स्वर्ग में बहुत काल तक आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते हैं।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् विभिन्न विशेषणों से सहित सम्यग्दृष्टि की शोभा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं-“दृष्टि विशिष्टाः” जिनकी दृष्टि अब कोई सामान्य दृष्टि नहीं अपितु विशेष हो चुकी है वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं और दृष्टि विशेष का तात्पर्य है कि दृष्टि समीचीन, सकारात्मकता की ओर ढल चुकी है। सम्यग्दृष्टि जीव सदैव सकारात्मक विचारधारा रखता है।

एक बार की बात है- एक संत महात्मा का प्रवास किसी ऐसे स्थान पर हुआ जहाँ पर लोगों में धार्मिकता का अभाव था और जहाँ धार्मिकता का अभाव होता है। वहाँ से शिष्टता, सभ्यता, सदाचार, प्रेम, वात्सल्य, भाईचारा, कर्तव्यनिष्ठा आदि अच्छे गुण पलायन कर जाते हैं। मात्र लड़ाई-झगड़ा, द्वेष, ईर्ष्या व वैमनस्यता ही छायी रहती है। सदाचार व सद्बिवेक का वहाँ वास नहीं होता। बस ऐसी ही स्थिति उस गांव की थी जहाँ महात्मा जी आकर ठहरे थे। पहले तो महात्मा जी जहाँ रहते थे वहाँ उनका लोग बड़ा आदर सम्मान करते थे, पूजन व स्वागत करते थे। परंतु विहार करते हुए संत जी जहाँ ठहरे वहाँ धार्मिकता का अभाव होने से न कोई पूछने वाला था, न बोलने वाला, और यदाकदा कोई वहाँ से गुजरता भी तो संत की वेशभूषा देख उसे दरिद्र समझ उसकी हंसी करता हुआ चला जाता। संत, महात्मा जी बड़े गम्भीर और सकारात्मक चिंतन करने वाले संत थे-वे विचारते-कि कभी दूध, मलाई तो कभी पानी। कभी सुख तो कभी दुःख, कभी सम्मानों की फूलमाला तो कभी अपमान का विष प्याला। यह वैचित्र्य तो संसार में दिखता ही है दिन सभी एक जैसे नहीं होते, समय-समय पर बदलते रहते हैं।

कुछ उद्दण्डी बच्चे प्रतिदिन संत महात्मा के पास आते और उन्हें बहुत सताते थे। कभी शरीर के ऊपर धूलि फेंकते तो कभी पत्थर तो कभी-2 अपशब्दों की वर्षा कर चले जाते। उद्दण्डी बच्चों में स्वभाव से उद्दण्डता होती है और उसी में उन्हें आनंद आता है। संत जिस कुटी में रहते थे उसी से लगा एक खेत था, खेत में एक किसान काम करता था, दिन-रात परिश्रम में लगा रहता था वह कुछ सद्बिचारों वाला था संत के प्रति हो रहे सबके दुर्व्यवहार को देखता तो मन ही मन बड़ा दुःखी



होता था परंतु कुछ कर नहीं सकता था क्योंकि वह जानता था कि इन उद्दण्डी बालकों को रोकूँगा तो मुझे ही परेशान कर डालेंगे। एक दिन किसान ने सोचा कि मैं कुछ कर तो नहीं सकता परंतु इन महात्मा की क्षेम-कुशल पूछ इन्हें आगे किसी धार्मिक स्थल पर पहुँचाने का कार्य अवश्य कर दूँगा।

जैसे ही किसान संत के पास पहुँचा बोला-बाबा प्रणाम! संत के कानों में कई दिनों के बाद ये शब्द सुनने को मिले तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, संत ने अचरज भरी निगाहों से सामने देखा कि असभ्यों की बस्ती में ये भलामानुष कहाँ से आ गया। संत ने उसे आशीर्वाद दिया और पूछा-क्यों भाई कैसे आये? इस बस्ती में तुम्हारे जैसा पहला मनुष्य देखा। किसान तो सब कुछ समझ गया, बोला-बाबा! बहुत दिनों से आपसे कुछ कहना चाहता था इसलिए आज हिम्मत जुटा कर आया हूँ। पहले तो मुझे यह बताए कि आप इस अधार्मिक जंगली लोगों की बस्ती में क्यों ठहरे? संत मुस्कुरा दिये-बोले, हमारा ऐसा नियम है कि एक स्थान पर अधिक दिन नहीं ठहरते, पानी की तरह योगी सदा बहते रहते हैं। किसान बोला- वह ठीक है ये जंगली लोगों की बस्ती है कोई धार्मिकता नहीं अतः लोग सम्मान करने की बजाय आपका अपमान करते हैं, भला-बुरा कहते हैं अतः आप किसी धार्मिक स्थान पर प्रस्थान कर दीजिए मैं आपको वहाँ तक छोड़ कर आऊँगा। संत महात्मा जोर-जोर से हँसने लगे, किसान को बड़ा आश्चर्य हुआ वह बोला-मैं तो सोच रहा था कि आप दुःखी होंगे तो आपको सान्त्वना देकर कुछ दिलासा दे दूँगा परंतु आप तो हँस रहे हैं इसमें क्या रहस्य है ? संत बोले-हँस इसलिए रहा हूँ कि तुम बड़े भोले हो-क्योंकि सुख व दुख जीवन के दो पहलू हैं। क्या कभी सिक्का देखा? किसान बोला- हाँ। उसमें कितने पहलू होते हैं-दो। हेड व टेल। बस जीवन की गाड़ी भी इन दो पहियों के बीच चलती है। दूसरी बात इन जंगली लोगों के निमित्त से मुझे परिपह, उपसर्ग सहने का, अपनी समता को परखने का एक सुअवसर मिल रहा है। साथ ही पूर्व भव का कर्जा भी चुकता जा रहा है। किसान ने कहा-वह कैसे? संत ने कहा-अनुकूलता में, सम्मान में तो समता बनी ही रहेगी परंतु जो अपमान व सम्मान को समभाव से देख लेता है उसे अपमान में कष्ट व सम्मान में सुख प्रतीत नहीं होता और पूर्व भवों में हो सकता है मैंने इन्हें भी सताया होगा तभी आज ये मुझे सता रहे हैं। इसलिए समता रूपी धन से इनका लिया हुआ कर्ज चुका रहा हूँ। मैं तो ऋण-मुक्त हो रहा हूँ और तुम हो कि प्रस्थान की बात कर रहे हो।

संत व किसान के इस वार्तालाप को वे जंगली लोग भी सुन रहे थे। वे तो सोचते थे कि हमारे सताने से ये यहाँ से चले जायेंगे अथवा हम पर कुपित होंगे परंतु ये तो सहज भाव से सब कुछ सहने वाले व सकारात्मक सोच रखने वाले महात्मा हैं।

जंगली लोगों को मन ही मन पश्चाताप होता है और वे आँखों में आँसू भरकर संत जी के पास आते हैं और अपनी करनी पर पछतावा व्यक्त करते हुए क्षमा मांगते हैं संत महात्मा उन्हें



आशीर्वाद देकर संतुष्ट करते हैं साथ ही धर्म का उपदेश देते हैं अच्छे-2 संस्कार देते हैं और एक दिन वह बंजारों की बस्ती धर्म-नगरी बन जाती है। अपने जीवन में आये इस परिवर्तन से वे ग्रामवासी बड़े प्रसन्न होते हैं।

बंधुओ! जहाँ हमारा सोच सकारात्मक होता है। वहाँ शांति छा जाती है। सर्वत्र खुशियाँ छा जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सोच को सकारात्मक बना हर परिस्थिति में साम्य स्थापित कर लेता है। इसीलिए आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जिसकी दृष्टि, विशिष्ट हो चुकी है ऐसा “जिनेन्द्र भक्ताः” जिनेन्द्र देव का सच्चा भक्त ‘स्वर्ग’ यानि स्वर्ग में “अष्टगुणपुष्टि तुष्टा” अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से संतुष्ट व दिव्य शरीर से युक्त होता है। वे अणिमा आदि आठ ऋद्धियाँ-देवों से नियम से ही पायी जाती हैं-

1. **अणिमा**-जिसके प्रभाव से बड़े से बड़ा शरीर भी अणुरूप किया जा सकता है वह अणिमा ऋद्धि है।

2. **महिमा**-जिसके प्रभाव से छोटे से छोटा अणुरूप शरीर भी मेरूप्रमाण बड़ा किया जा सके वह महिमा ऋद्धि है।

3. **लघिमा**-जिस गुण के प्रभाव से मेरू जैसे भारी शरीर को भी वायु से भी अधिक हल्का अथवा इतना अधिक हल्का किया जा सके कि वह मकड़ी के जाले के तंतुओं पर भी निर्बाध रूप से गति कर सके वह लघिमा ऋद्धि है।

4. **प्राकाम्य**-जिसके प्रभाव से जल में गमन, पृथ्वी पर गमन की तरह तथा पृथ्वी पर जल की तरह गमन किया जा सके वह प्राकाम्य ऋद्धि है।

5. **प्राप्ति**-दूरस्थ मेरू पर्वत आदि के शिखरों को, चंद्र व सूर्य के बिंबों को हाथ की अंगुलियों से स्पर्श किया जा सके वह प्राप्ति ऋद्धि है।

6. **ईशित्व**-जिसके प्रभाव से सर्व संसारी, ग्राम नगरवासियों में अपनी प्रभुता स्थापित हो वह ईशित्व ऋद्धि है।

7. **वशित्व**-जिसके प्रभाव से सर्व संसारी जीवों को वश में किया जा सके वह वशित्व ऋद्धि है।

8. **कामरूपित्व**-जिसके प्रभाव से विक्रिया द्वारा अनेक प्रकार के इच्छित रूप एक साथ धारण किये जा सके वह कामरूपित्व गुण है।

इन आठ ऋद्धियों से संपन्न तथा दिव्य शरीर को धारण करने वाले देवों में जन्म सम्यग्दर्शन



का ही माहात्म्य है। देवों का शरीर रस, रूधिर, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से रहित विक्रिया संपन्न, दिव्य व सुंदर होता है। क्योंकि सभी देव समचतुरस्त्र संस्थान के धारी होते हैं। आचार्य भगवन् आगे कहते हैं- “प्रकृष्ट शोभा जुष्टाः” वे देव प्रकृष्ट अर्थात् अतिशय शोभा से जुष्टाः यानि युक्त होते हैं। जिनका उत्तम संस्थान हो तथा सर्वांग सुंदर शरीर हो सप्त मल धातुओं से रहित हो। वे अतिशय शोभाशाली ही होते हैं और ऐसा शोभा से युक्त होकर सम्यग्दृष्टि जीव “अमराप्सरसां परिषदि” देव व देवांगनाओं की सभा में ‘चिरं रमन्ते’ यानि चिरकाल तक/लंबे समय तक आनंद से रहते हैं। चूंकि देवों की आयु सागरों पर्यंत की होती है। इसलिए यहाँ चिरकाल का प्रयोग किया गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव मरण कर कभी भी भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता अपितु नियम से वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है जहाँ संपूर्ण भोगोपयोग की दिव्य सामग्रियाँ उसे प्राप्त होती हैं।

सम्यग्दर्शन का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है जिसके कारण यह जीव चिरकाल तक ऐहिक व पारलौकिक सुखों को प्राप्त करता हुआ अंत में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अतः प्रयत्न पूर्वक ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन की आराधना अवश्य करनी चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 शांतिनाथ भगवान की जय”



सम्यक्त्व रत्न

रयणाणं महारयणं सर्व्वं जोया उत्तमं जोय ।

रिद्धीण महारिद्धी सम्पत्तं सर्व्वसिद्धिपरं ।। 325 ।। (क.अ.)

अर्थ : सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग हैं, सब ऋषियों में महाऋद्धि है अधिक क्या सम्यक्त्व सर्व सिद्धियों का करने वाला है।





प्रवचन-37

श्लोक-38

सम्यग्दर्शन धारो-किस्मत को अपनी संवारो

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् इस अधिकार में योगियों के तीन प्रधान रत्नों में से प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन की विशद व गहन चर्चा कर रहे हैं और सम्यग्दर्शन की महिमा बतला रहे हैं। किसी सुभाषित में सुभाषितकारों ने सम्यग्दर्शन को 'माता' की उपमा देते हुए कहा है कि सम्यग्दर्शन से बढ़कर कोई दूसरी माता नहीं है। जब हम 'माँ' के स्वरूप का गहराई से चिंतन करते हैं तो पाते हैं एक सच्ची व अच्छी 'माँ' वह होती है। जो 1. बालक के कहे बिना ही उसके कष्टों का, सुख-दुःख का व आवश्यकताओं का अनुमान लगा लेती है। बच्चे को यदि पिकनिक पर जाना है तो उसे यह नहीं सोचना पड़ता कि मैं क्या-2 ले जाऊँ उसकी माँ उसका पूरा बैग लगा देती है। बेटा को क्या आवश्यकता पड़ेगी- तेल, कंधी, टिफिन, पानी की बॉटल, मंजन, ब्रुश इत्यादि सारी सामग्रियाँ स्वयं लगा देती है। 2. एक सच्ची माँ अपने बच्चे को सदाचरण की शिष्टाचार की शिक्षा देती है-यदि बच्चा गाली देता है तो डाँटती, फटकारती व समझाती है। कि देखो बेटा गाली देना बुरी बात है, गंदे बच्चे ऐसा करते हैं। यदि बच्चा लड़ता-झगड़ता है तो भी उसे सुशिक्षा देती है कि अच्छे बच्चे लड़ते नहीं हैं। 3. माँ बच्चे को सदा सुसंस्कार देती है कि ऐसे बैठना चाहिए, ऐसे उठना चाहिए, ऐसे चलना चाहिए और ऐसे बोलना चाहिए। बड़े लोगों को आप कहकर बुलाना चाहिए। कभी भी बड़ों के नाम के आगे पीछे श्री व जी का प्रयोग करना चाहिए तथा अपने से बड़ों से बहस नहीं करना चाहिए। 4. एक सच्ची माँ स्वयं कष्ट सह लेती है। परंतु अपने बच्चे को जग की सारी खुशियाँ देती है। 5. बच्चे को Physical and Mental development में माँ का विशेष योगदान होता है। 6. माँ के सुसंस्कारों में पला हुआ बालक अपने जीवन में बड़ी-2 उपलब्धियों को प्राप्त करता है।

सुभाषितकारों ने सम्यग्दर्शन को माता कहा है क्योंकि एक माँ की तरह सम्यग्दर्शन अपने धारण करने वालों को अनंत भवों की तपन, दुःख कष्टों से उबारकर सच्चा सुख प्रदान करता है। बिना कहे ही सुख की संपूर्ण साधन सामग्रियों को जुटा देता है। सम्यग्दर्शन अपने धारक को पग-पग पर संभालता है। एक समीचीन सोच पैदा करता है साहस-संबल देता है। हमें ऐसा आचरण योग्य है,



ऐसा अयोग्य/यह कृत्य है यह अकृत्य इत्यादि प्रकार की समीचीन सोच देता है। यदि कोई कषायवेश में उन्मार्ग की ओर उन्मुख होता है। तो सम्यग्दर्शन रूपी माँ तुरंत सावधान करती है कि यह योग्य नहीं है और वह तुरंत संभल जाता है। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्दृष्टि के अंदर सम्यक्त्वाचरण उत्पन्न हो जाता है। उसकी चर्चा संयम के अभाव में भी समीचीनता की ओर होती है। सदाचरण का समावेश स्वयं हो जाता है। मन, वचन व काय की प्रवृत्तियाँ सदाचरण की ओर ढली हुई होती है। बाह्य जगत के संपूर्ण कार्यों को करता हुआ भी सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा में ही जीता है सम्यग्दर्शन एक साहस व संबल उत्पन्न कराता है और कष्टों में सहिष्णु बना देता है। एक सच्ची माँ की तरह सम्यग्दर्शन जीव को जग के अथाह दुःखों व कष्टों से उबार कर उत्तम सुख में पहुँचा देता है। तथा माँ की तरह अपने धारक के समीचीन विकास में सहकारी बनता है। सम्यग्दृष्टि का सोच-विचार संकीर्णता के दायरे से ऊपर उठकर विशालता के गगन में गमन करता है। इसलिए उसकी मानसिक और बौद्धिक क्षमताएँ भी बढ़ जाती है।

विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। कि जब हमारा चिंतन/विचार समीचीन Positive होता है तो हमारे मन में Peaceful ne आ जाती है। परिणाम एकदम शांत हो जाते हैं और व्यक्ति बहुत सारी Physical diseases से बच जाता है क्योंकि Manimum diseases mental defectiobn mental tension की वजह से होते हैं जब व्यक्ति उन अपने समीचीन विचारों जिसे हम Positive thinking कहते हैं। के जो विचारों को संतुलित कर लेता है तो वह Mental Tension से बच जाता है और तनाव मुक्त होते हैं अद्भूत शांति से युक्त होता है। जिससे High blood pressure Jeeast Athack Mental depression आदि से बच जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन बौद्धिक व मानसिक विकास में सहकारी हो जाता है। 'माँ' के सुसंस्कार उपलब्धियाँ प्रदान कराते हैं। वैसे ही सम्यग्दर्शन रूपी माता सम्यग्दृष्टि जीव को Unenpected जिसके बारे में सोचा भी न हो ऐसी-2 महान् उपलब्धियाँ प्रदान कराता है। उन्हीं विशेष उपलब्धियों की चर्चा यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी श्लोक 38 में कर रहे हैं वे कहते हैं-

नव निधि सप्तद्वय, रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्तयितुं प्रभवन्ति, स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखर चरणाः ।।38।।

अन्वयार्थ-

स्पष्टदृशः - सम्यग्दृष्टि जीव

सर्वभूमिपतयः - षट्खण्ड पृथ्वी का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होकर

चक्रं वर्तयितुं - चक्ररत्न प्रवर्ताने को



प्रभवन्ति

- समर्थ होते हैं

सर्वभूमिपतयः

- कैसे हैं वे चक्रवर्ती राजा?

नवनिधि सप्तद्वय रत्नाधीशः- नवनिधि, व चौदह रत्नों के स्वामी हैं।

क्षत्रमौलि शेखर चरणाः - तथा क्षत्रिय राजाओं के मुकुटों के तुर्रे जिनके चरणों में है ऐसे होते हैं।

भावार्थ-निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव नव-निधियों तथा चौदह रत्नों के स्वामी होते हुए, चक्र को प्रवर्तित करने में समर्थ चक्रवर्ती होते हैं और उनके चरणों में राजाओं के मुकुट शेखर झुकते हैं अर्थात् मुकुट बद्ध राजा उनके चरणों में बड़ी विनय के साथ सदा प्रणाम किया करते हैं।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी सम्यग्दर्शन की महिमा बतला रहे है। वे कहते हैं-“स्पष्ट दृशः” अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव “सर्व भूमिपतयः” षट्खंड भूमि का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होता है। ये षट्खंड एक आर्यखंड व 5 म्लेच्छ खंड होते है। आर्यखंड-जहाँ पर सदाचरण होता है प्राणियों के उच्च आचार-विचार, उच्च रहन-सहन व धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती है। म्लेच्छ खंड-जहाँ धार्मिकता का अभाव होने से आचार-विचार कुछ भी शुद्ध नहीं होता वह म्लेच्छखंड है। पूरा भरत क्षेत्र इन्हीं 6 खंडों में विभक्त होता है। 5 म्लेच्छ खंड व 1 आर्य खंड। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह जीव षट्खंडों का अधिपति होकर चक्रवर्ती पद पा लेता है।

छहों पृथ्वियों का जो स्वामी है। संपूर्ण छह पृथ्वियाँ जिसकी आज्ञा से संचालित होती है जो षट्खंडों का राजा है। ऐसा चक्रवर्ती का पद सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करके “चक्रं वर्तयितुं” चक्ररत्न प्रवर्तन को “प्रभवन्ति” समर्थ होते है। चक्रवर्ती जब षट्खंड को विजित करने हेतु “विजय-यात्रा पर निकलता है तब सुदर्शन चक्र उसके साथ होता है। चक्रवर्ती की आयुध शाला में जब चक्ररत्न प्रकट होता है। तभी वह “दिग्विजय यात्रा” पर निकलता है और षट्खंडों पर अपनी विजय पताका फहराता है। चक्रवर्ती का पुण्य यद्यपि इतना प्रबल होता है कि प्रायः युद्ध की भेरी सुनते ही अथवा पूर्व संकेत मिलते ही सभी बड़े-2 राजा, महाराजा चक्रवर्ती के समक्ष आत्म समर्पण कर देते है और चक्रवर्ती की आधीनता को स्वीकार कर लेते है। यदि कोई राजा अभिमान वश युद्ध के लिए भी तत्पर हो जाता है। तो महाबल शाली चक्रवर्ती के सामने उसे नियम से हार ही मानना पड़ती है क्योंकि षट्खंडों को जीतकर कर उसका स्वामित्व स्थापित करने का चक्रवर्ती का नियोग होता है। साथ ही वह चक्रवर्ती कैसा होता है? तो पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं- “नवनिधि सप्तद्वय रत्नाधीशः” चक्रवर्ती कोई सामान्य राजा, महाराजा, मंडलेश्वर आदि नहीं अपितु इन सबका भी स्वामी है उसके नवनिधियाँ व



चौदह रत्न होते हैं। ये निधियाँ व रत्न युद्ध के समय भी काम आते हैं। ये निधियाँ व रत्न चक्रवर्ती का वैभव है। चक्रवर्ती के पास इतनी अटूट धनसंपदा होती है जिसका कोई अंत ही नहीं। वे निधियाँ व रत्न कौन से हैं ? तो आदिपुराण के पर्व 73 व पर्व 84 में जिनसेनाचार्य महाराज कहते हैं-

कालाख्यश्च महाकालो नैःसर्प्य पाण्डुकाहया ।

पद्माण वपिङ्गाब्ज सर्वरत्न पदारिकाः ।। 37 ।।

चक्रातपत्रदण्डा सिमणयश्चर्म काकिणी ।

चमू गृहपती भाश्वयोषितक्षपुरोधसः ।। 37 ।।

1. काल 2. महाकाल 3. नैसर्प्य 4. पाण्डुक 5. पद्म 6. माणव 7. पिङ्गल 8. शंख 9. सर्वरत्न । ये नौ निधियाँ चक्रवर्ती के पास होती हैं। 1. चक्र 2. छत्र 3. दण्ड 4. असि 5. मणि 6. चर्म 7. काकिणी 8. सेनापति 9. गृहपति 10. हाथी 11. घोड़ा 12. स्त्री 13. सिलावट 14. पुरोहित ये चौदह रत्न होते हैं। तथा “क्षत्रमौलिशेखर चरणाः” तथा 32000 मुकुट बद्ध राजा जिनकी सेवा में सदा हाथ जोड़े तत्पर खड़े रहे हैं। साथ ही 96000 जिनकी रानियाँ होती हैं, अठारह करोड़ घोड़े, 84 लाख हाथी, लाखों पुत्र-पुत्रियाँ व नाती-पोते होते हैं। करोड़ों नौकर-चाकर होते हैं। ऐसे चक्रवर्ती के वैभव को बखान करने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं। छहों खंड जिसकी दासता स्वीकार करते हैं। ऐसा चक्रवर्ती तुल्य महान पद एक मात्र सम्यग्दर्शन की महिमा से प्राप्त होता है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन की महिमा अपूर्व ही है। जिस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव उच्च कुल, उच्च जाति, उच्च देश में उच्च से उच्च पर्याय में जन्म लेता है। तथा जिसके प्रभाव से जीव वान व्यंतरों, भवनवासी, ज्योतिषी देवों में, नपुंसक व स्त्री पर्याय में, स्थावर, विकलत्रय, पशु आदि निम्न व खोटी पर्यायों में जाने से बच जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव की कभी दुर्गति नहीं होती। यहाँ तक कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से तो स्त्रीपर्याय तक छेदन हो जाता है। जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि स्त्री पर्याय का जीव महाव्रतों को धारण कर घोर तपश्चरण करते हैं। तथा निरंतर अपने परिणामों को विशुद्धि की ओर ले जाते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि स्त्री वेदी स्त्रीपर्याय का छेद कर निकट भविष्य में कर्मों का क्षय कर निर्वाण को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।

सीताजी के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब सीता व राम का मिलन होता है तो उनकी अग्नि परीक्षा ली जाती है। अग्नि परीक्षा में वे उत्तीर्णता पाती है। उनके सतीत्व के प्रभाव से घनघोर अग्नि की ज्वालाएँ निर्मल जल में परिणत हो जाती हैं। देवता भी धरती पर आकर उनके निर्मल सम्यग्दर्शन शीलव्रत का, सतीत्व की स्तुति करते हैं। परंतु इस घटना के उपरांत वैराग्य पथानुगामिनी बनकर सीताजी पृथ्वीमती माताजी के पास जाकर आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर पंचमहाव्रत उपचार से



धारण कर लेती है और 1-1 महिने उपवास करती हुई घोर तपस्या करती है। उनकी देह तपस्या से अत्यंत दुर्बल/कृश हो गई थी, चेहरा काला पड़ गया परंतु अंतसमय तक तपस्या में लीन रहते हुए फिर समाधि पूर्वक मरण करती है। तथा तपस्या के प्रभाव से 16 वें स्वर्ग में जाकर प्रतीन्द्र होती है। निर्मल सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट तपश्चरण व विशुद्ध परिणामों के बल से वे स्त्री पर्याय का छेदन कर देती है। तथा भविष्य में शीघ्र मुक्ति को वरेगी। बंधुओं! आचार्य भगवन् यही बात बतला रहे हैं कि जिस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्राणी चक्रवर्ती का सा वैभव पाता है यहाँ तक कि सकल कर्मों का क्षय, निर्वाण की यात्रा करता है ऐसी निर्मल सम्यक्त्व की आराधना अवश्य करना चाहिए। तथा प्रयत्न पूर्वक उसे जीवन में धारण करना चाहिए। तभी इस मानव देह को पाना सार्थक है।

इसी भावना के साथ-

“श्री1008 पार्श्वनाथ भगवान की जय”



आत्म ध्यान के बिना मोक्ष नहीं

मृत्पिण्डेन बिना घटो न च पटस्तन्तून बिना जायेत,
धातुर्नैव बिना दलं शकटः काष्ठं बिना कुत्रचित् ॥
सत्स्वन्येएवपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजबिना,
शुद्धात्म स्मरणं बिना किलमुने । मोक्षस्तथा नैव च ॥ 478 ॥

अर्थ : जिस प्रकार मृत्पिण्ड के बिना घट, तन्तुओं के बिना पट, दल खण्ड के बिना धातु, काष्ठ के बिना गाड़ी, और बीज के बिना धान्य उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार हे मुने! अन्य साधनों के रहते हुए भी शुद्धात्म स्मरण के बिना मोक्ष नहीं होता।





प्रवचन-38
श्लोक-39

सम्यग्दर्शन अपनाओं : तीर्थकर पद पा जाओं

भव्य मनीषियों! परम पूज्य आचार्यश्री समंतभद्र महाराज इस प्रथम सम्यग्दर्शन नामक अधिकार के माध्यम से सम्यग्दर्शन की स्तुति करते हुए उसकी महिमा का गान क्रमशः करते ही जा रहे हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन है ही इतना महिमावंत कि उसकी जितनी महिमा गायी जाये, स्तुति की जाए वह सब कम ही है क्योंकि सम्यग्दर्शन होने के उपरांत जीव की बहिर्मुखी दृष्टि पलायन कर जाती है और वह अंतर्मुखी हो जाता है। बहिरात्मपने को छोड़ अंतरात्मा बन जाता है। पंडित दौलतरामजी छहड़ाला में कहते हैं-“देह जीव को एक गिनै बहिरात्म तत्त्व मुधा है” बहिरात्मा देह व जीव को एक मानता है। उसकी शरीर व आत्मा में एकत्व बुद्धि होती है। शरीर के जन्म को ही वह आत्मा का जन्म व शरीर के मरण को आत्मा का मरण मानता है। तथा स्त्री पुत्रादिक का वियोग होने पर छाती पीट-2 कर रोता है। शरीर में कोई रोग हो पीड़ा हो, दुःख-दर्द हो तो हाय-हाय करता हुआ विलाप करता है और शरीर में ही आत्मबुद्धि रखता हुआ कुमरण करता है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव शरीर और आत्मा का भेद विज्ञानी होता है वह तो सोचता है। “जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्यः” जीव अलग है और पुद्गल अलग है। दोनों ही द्रव्यों की प्रकृति, स्वरूप सब अलग-2 है। कर्मों का संयोग पाकर आत्म विभाव रूप परिणमन करता है और नाना योनियों व पर्यायों में जीव का जन्म हो जाता है। अज्ञानता वश यह प्राणी उन पर्यायों में ही आत्म बुद्धि रखता हुआ पर्यायों के विनष्ट होने को ही अपना अंत समझ दुःखी होता है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव भेद विज्ञानी होता है वह तो विचारता है-

न मे मृत्यु कुतोभीति न मे व्याधि कुतो व्यथा ।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ।।29।। (इ.प.)

सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है कि जब मेरी (आत्मा की) मृत्यु कभी होती ही नहीं है। न ही उसका जन्म होता है। न ही मृत्यु। जन्म-मरण रूप परिपाटी तो कर्मों के संश्लेष से चलती है। तथा आत्मा में कभी कोई व्याधि भी नहीं हो सकती है क्योंकि आत्मा तो अरस, अरूपी है। तथा जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण पाया जाये ऐसा पुद्गल जब सप्त धातुओं से युक्त होता है तो आत्मा व पुद्गल के मिश्र रूप में व्याधियाँ उत्पन्न होती है। परंतु स्वाभाविक रूप से व्याधी आत्मा का गुणधर्म नहीं है। इसलिए



सम्यग्दृष्टि विचारता है कि जब मुझे रोग होता ही नहीं तो दुःख, पीड़ा, चिंता किस बात की। सम्यग्दृष्टि कभी वृद्धावस्था आने पर हाय-हाय नहीं करता कि हाय मैं बूढ़ा हो गया अब मेरा क्या होगा, कैसे जीवन चलेगा, न ठीक से दिखाई देता है न सुनायी पड़ता है इंद्रियाँ शिथिल पड़ चुकी है। अपितु वह तो यही सोचता है कि इंद्रियों का कमजोर व निष्क्रिय होना यही वृद्धावस्था का स्वरूप है। जब वृद्धावस्था का स्वरूप यही है तो फिर हाय-हाय क्यों करना। वह तो आत्माश्रय ग्रहण कर शांति से प्रभु नाम जपता है।

सम्यग्दृष्टि अपनी बाल व युवा पर्यायों पर कभी भी अभिमान नहीं करता क्योंकि युवावस्था में इंद्रियाँ सशक्त व सक्रिय होती है। युवावस्था में व्यक्ति बड़े से बड़ा काम कर लेता है। सुंदर रूप लावण्य पाकर भी वह मान नहीं करता क्योंकि सम्यग्दृष्टि इस सत्य से परिचित होता है कि रूप, लावण्य से युक्त यह सुंदर शरीर भी यही पड़ा रह जायेगा। वह कभी न तो अपने बल का अभिमान करता है न ही दुरुपयोग। इस प्रकार वह 8 मर्दों से भी रहित होता है क्योंकि वह इस बात का अटल श्रद्धालु होता है। कि ये बाल, युवा, वृद्ध आदि पर्यायों मेरी नहीं है अपितु ये भी पुद्गल का ही परिणमन है।

सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर अपनी आत्मा का ध्यान रखता है। इसीलिए वह अंतर्मुखी दृष्टि वाला होता हुआ अंतरात्मा कहलाता है। भरत चक्रवर्ती के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे उठते-बैठते सोते-जागते हर समय अपनी आत्मा का ही ध्यान करते थे। यहाँ तक कि जब वे किसी युद्ध के लिए जाते थे तो जाने से पूर्व कुछ क्षणों के लिए एकांत में बैठकर शांतचित्त होकर आत्मा का ध्यान करते थे। आत्मध्यान पूर्वक जो भी कार्य किया जाता है उसमें सफलता अवश्यंभावी होती है। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि जब व्यक्ति शांतचित्त होकर बैठता है तो कषायों के उपशम होने से एक अद्भूत Energy body में उत्पन्न होती है उस Energy Store करने के उपरांत Full concentratration के साथ जो भी कार्य किया जाता है उसमें सफलता नियम से मिलती है क्योंकि ध्यान से Mind and Body दोनों Relex Position में होते हैं अतः Will power and physical power दोनों ही Increase हो जाते हैं जब Internal and external both type of power बढ़ जाता है। तो प्रत्येक कार्य में सफलता मिलती है।

Jainism में हमारे जैनाचार्यों का कहना है कि जब व्यक्ति के परिणाम शांत होते हैं तो पुण्य वर्गणाएँ स्वयं खिंची चली आती हैं। उन पुण्य वर्गणाओं के प्रभाव से सारी सुख सामग्रियाँ जीव को सुलभ हो जाती हैं। जिसकी कल्पना भी न की हो ऐसा वैभव प्राप्त हो जाता है इसी बात को बतलाते हुए आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी कहते हैं-

अमरासुरनरपतिभिर्यमधर पतिभिश्च नूतपादाम्भोजः ।

दृष्ट्या सुनिश्चितार्था, वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ।।39।।



अन्वयार्थ-

सुनिश्चितार्था	-	जीवादि सप्त तत्त्व व नव पदार्थों का दृढ़ निश्चय करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव
दृष्ट्या	-	सम्यग्दर्शन के प्रभाव से
अमर-असुर नरपतिभिः	-	देवेन्द्र, धरणेन्द्र व नरेन्द्रों से व
यमधरपतिभिः च	-	गणधरों के द्वारा
नूत पादाम्भोजाः	-	नमस्कार किये गये हैं चरण कमल जिनके ऐसे
लोक शरण्याः	-	तीनों लोकों के जीवों को शरणभूत
वृष चक्रधरा	-	धर्म चक्र के धारक (तीर्थकर)
भवन्ति	-	होते हैं।

अर्थ-सप्त तत्त्व व नव पदार्थों का दृढ़ निश्चय करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से तीन लोक के जीवों को शरणभूत तथा देव, असुर, चक्रवर्ती व गणधरों के द्वारा वंदनीय हैं चरण-कमल जिनके ऐसे धर्म-चक्र के धारक तीर्थकर होते हैं।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् सम्यग्दर्शन की महिमा को निरंतर गाते जा रहे हैं। वे कहते हैं-“सुनिश्चितार्था” अर्थात् जीवादि सात तत्त्वों, नव पदार्थों व पंचास्तिकाय, 6 द्रव्य का जिन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया है। वह सम्यग्दृष्टि जीव है। जीवादि सात तत्त्व-

1. जीव 2. अजीव 3. आस्रव 4. बंध 5. संवर 6. निर्जरा 7. मोक्ष। ये सात तत्त्व हैं।

इन सात तत्त्वों में पुण्य व पाप मिला दे तो 9 पदार्थ हो जाते हैं।

जीव-जिसमें ज्ञान व दर्शन पाया जाता है। तथा जो अपने चैतन्य प्राणों के द्वारा जीता था, जीता है तथा जीयेगा वह जीव कहलाता है।

अजीव-जीव से विपरीत चेतना से जो रहित है। वह अजीव तत्त्व है।

आस्रव-कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

बंध-आत्म प्रदेशों का, कर्म प्रदेशों के साथ दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध कहलाता है।

संवर-आत्मा में आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर कहलाता है।

निर्जरा-आत्मा से कर्मों का एकदेश झरना निर्जरा है

मोक्ष-आत्मा से संपूर्ण कर्मों का पृथक् हो जाना मोक्ष है।



पुण्य-देव पूजा, गुरु सेवा आदि शुभ कार्यों में लगने से अर्थात् मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य होता है।

पाप-हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाँचों पापों में लीन रहने से जो अशुभ मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है उससे अशुभास्रव होता है। वही पापास्रव है।

सम्यग्दृष्टि जीव इन जीवादि सातों तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धानी होता है। वह जानता है यदि हम अच्छे कार्य कर रहे हैं, धार्मिक क्रियाएँ कर रहे हैं, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति कर रहे हैं। तो नियम से शुभास्रव ही होगा और वह पुण्य कर्म के बंध का ही हेतु है। यदि कदाचित् पूर्व के पाप कर्म का उदय भी आ जाता है। तो भी सम्यग्दृष्टि जीव अपनी समीचीन श्रद्धा से विचलित नहीं होता। विपत्ति आने पर भी रागी-द्वेषी देवताओं की आराधना नहीं करता उसका कर्म सिद्धान्त पर अटल श्रद्धान होता है। वह पाप कर्म का उदय आने पर साहस व धैर्य रखता है क्योंकि वह जानता है कि कर्म का यदि तीव्रोदय है तो स्थिति पूरी हुए बिना छुटकारा मिल नहीं सकता। जब सहन ही करना है तो क्यों न क्यों समता के साथ सहन करूँ क्योंकि समता से कर्मों का संवर व निर्जरा होती है। जबकि विषमता से कर्मास्रव बंध के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। वह अपनी करनी का दोष कभी दूसरों को नहीं देता क्योंकि वह जानता है कि पूर्व में जो कर्म मैंने किये हैं उनका शुभाशुभ फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। वह यही विचार करता है-

**स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज स्थिर हो छोड़ प्रभावी बुद्धि।।**

यदि कर्म मैं करूँ और उसका फल दूसरा भोगने लग जाए तो अपने द्वारा किये कर्म का फल किसे मिलेगा। कर्म सिद्धान्त में कोई बदलाहट संभव नहीं क्योंकि सिद्धान्त अकाट्य होता वह कभी बदलता नहीं। कर्म आपने किया है तो फल आपको ही भोगना पड़ेगा।

यह तो पाप कर्म के उदय की बात हुई। सम्यग्दृष्टि जीव तो पुण्योदय में भी अपना संतुलन नहीं खोता क्योंकि पुण्य कर्म भी एक कर्म है। वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है। यद्यपि पुण्य कर्म को छोड़ना नहीं पड़ता तथापि वह स्वयमेव छूट जाता है। समवशरण में विराजे तीर्थकर देव जब योग-निरोध करते हैं। तो समवशरण स्वयमेव पुण्यवर्णाओं के निर्जीण होते ही विघटित हो जाता है। इसीलिए पंडित दौलतरामजी ने अपने छहदाला ग्रंथ में कहा है-

**“पाप पुण्य फलमाहिं हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै फिर धाई।।4।।**



कि चाहे पाप कर्म का उदय हो या पुण्य कर्म का सम्यग्दृष्टि जीव दोनों में समभाव रखता है। पाप कर्म के उदय में वह कूलता (विलखता) नहीं और पुण्य कर्म के उदय में गुब्बारे की तरह फूलता नहीं क्योंकि वह इस सत्य से परिचित होता है। कि पाप व पुण्य दोनों ही पुद्गल की पर्यायें हैं जो प्रतिक्षण उपजती व विनश्वती रहती हैं।

इस प्रकार सात तत्त्वों व नौ पदार्थों का सुनिश्चय करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव 'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शन के प्रभाव से "अमर असुर नरपतिभिः" अमरपति अर्थात् उर्ध्व लोक के स्वामी सौधर्मेन्द्र आदि, असुरपति यानि अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र आदि, नरपति यानि तिर्यग् लोक के स्वामी चक्रवर्ती तथा यमधर-यानि मुनियों के स्वामी गणधर देव 'नूतपादाम्भोजाः' जिसके चरण कमलों की स्तुति किया करते हैं ऐसे 'वृषचक्रधरा' यानि तीर्थकर देव 'भवन्ति लोक शरण्याः' अर्थात् वे धर्म आदि पदार्थों का अच्छी तरह निश्चय कर चुकने के कारण तथा अनेक प्रकार के दुःख देने वाले कर्म रूपी शत्रुओं के द्वारा पीड़ित जीवों को शरण देने में निपुण होते हैं।

जो धर्म-तीर्थ की परंपरा को चलाते हैं। उन्हें तीर्थकर कहते हैं। ये तीर्थकर भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के युग में चौबीस-चौबीस होते हैं। इसी प्रकार एक विदेह में 32 उपविदेह पाये जाते हैं। तो द्वाड़ द्वीप संबंधी पाँच विदेह के 160 उपविदेह होते हैं। इनमें 1-1 तीर्थकर होते हैं अर्थात् विदेह क्षेत्र संबंधी कुल 160 तीर्थकर होते हैं तथा 5 भरत व 5 ऐरावत संबंधी 10 तीर्थकर होते हैं। इस प्रकार एक समय में अधिक से अधिक कुल 170 तीर्थकर होते हैं।

तीर्थकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति के उदय से इनके आठ प्रातिहार्यों से युक्त समवशरण की रचना होती है। उस समवशरण में स्थित होकर दिव्यध्वनि के द्वारा ये धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। तीर्थकर भगवान के देवकृत अतिशय के रूप में एक धर्मचक्र प्रकट होता है जो कि विहार काल में उनके आगे-आगे चलता है। इस तीर्थकर पद की प्राप्ति जिन सोलह कारण भावनाओं से होती है। उनमें दर्शनविशुद्धि नाम की पहली भावना सबसे प्रमुख है। अष्ट अंग रूप सम्यग्दर्शन को धारण करना 'दर्शन-विशुद्धि' भावना कहलाती है।

प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक व क्षायिक इन चारों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में केवली व श्रुतकेवली का सन्निधान (पुद्गल) होने पर चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के कर्मभूमिज मनुष्य के तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। यह उत्कृष्ट पद सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही प्राप्त होता है। अतः सतत् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, धारण, वृद्धि, में संलग्न रहते हुए आत्महित के पथ को प्रशस्त करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”



प्रवचन-39

श्लोक-40

मोक्ष सुख मिलता : सम्यग्दर्शन से ही

भव्य मनीषियो! सम्यग्दर्शन की महिमा का गान करते हुए आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज क्रम-क्रम से आगे बढ़ते जा रहे हैं। अपने नये-नये चिंतन रूपी मोती श्लोकों के माध्यम से हमें प्रदान करते जा रहे हैं कि यह संसार सागर दुःखों से भरा हुआ है। जिसमें प्राणी को सुख किंचित भी नजर नहीं आता। पंडित दौलतरामजी तो अपने छहदाला ग्रंथ का मंगलाचरण ही इस बात को लेकर कर रहे हैं कि- “जे त्रिभुवन में जीव अनंत सुख चाहे दुःख तै भयवन्त” अर्थात् ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्यलोक इस त्रिजगत् रूप संसार में जितने भी प्राणी हैं वे सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं। वे सुख की चाह में यहाँ-वहाँ भटकते हैं कि शायद सुख मंदिर में मिल जाएगा, मस्जिद में मिल जाएगा अथवा किसी दुकान पर बिकता हो तो मैं खरीद लाऊँ। परंतु हर हाल में सुखी होना चाहता हूँ। प्राणी सुख की चाह तो करता है तथा उसे पाने का पुरुषार्थ भी करता है। परंतु जो वस्तु जहाँ है ही नहीं वहाँ उसकी खोज करेंगे तो तुम्हारे हाथ क्या आयेगा? कुछ भी नहीं।

एक बार की एक घटना है। एक परिवार में दो बच्चे थे, दोनों होनहार थे परंतु नटखट थे। शैतानी करते थे। एक दिन किसी बात को लेकर दोनों में झगड़ा हो गया, गरमागर्मी बढ़ी और हाथापाई शुरू हो गई। उस लड़ाई-झगड़े में हुआ यों कि एक बच्चे की हाथ की घड़ी का सेल नीचे गिर गया, लड़ाई जब शांत हुई और हाथ की घड़ी पर दृष्टि पहुँची तो बच्चा सोचने लगा अरे! मेरी घड़ी क्यों नहीं चल रही देखा तो सेल नहीं था चूँकि दोनों बच्चे 4-5 साल के ही थे अधिक बड़े नहीं थे। अतः सेल की खोज प्रारम्भ हुई। ऊपर देखा, नीचे देखा, आजू-बाजू देखा। कमरे का सारा सामान उलट-पुलट कर डाला परंतु सेल नहीं मिला तभी वहाँ से आफिस को जाते उसके पापा निकले, बच्चे को इतना व्यस्त देखकर बोले-बेटा छोड़ू! तू क्या खोज रहा है। छोड़ू ने कहा- पापा भैया से आज थोड़ा झगड़ा हो गया और छीना-झपटी में घड़ी का सेल गिर गया बहुत खोजा परंतु मिल नहीं रहा। पापा बच्चों की नटखट व नौकझोंक से वाकिफ थे अतः बोले- बेटा! यहाँ अंधेरे में क्यों खोज रहा है उजाले में खोजना चाहिए। इतना कहकर पापा तो ऑफिस चले गये परंतु छोड़ू के दिमाग में बात बैठ गई-पापा



ने बोला है उजाले में खोजो छोटू ने दूर से ही देखा बाहर आंगन में सूर्य का प्रकाश आ रहा है उजाला ही उजाला है और वह अपनी घड़ी का सैल खोजने बाहर आंगन में चल दिया।

बहुत खोजा परंतु सैल नहीं मिल रहा था तभी मम्मी आंगन में कुछ सामग्री सुखाने आयी, देखा छोटू कुछ खोज रहा है पूछा- बेटा! क्या कर रहा है। छोटू बोला- मम्मी घड़ी का सैल खोज रहा हूँ। कब खोया तेरा सैल माँ ने पूछा! बेटा- छोटू बोला- मम्मी जब भैया के साथ अंदर कमरे में मेरी लड़ाई-भिड़ाई हो गई थी तभी गिर गया, तो तू यहाँ क्यों खोज रहा है जा अंदर ही ढूढ़ना, मिल जायेगा। परंतु मम्मी अभी-2 पप्पा बोलकर गये हैं कि छोटू उजाले में ढूढ़ो। अंदर तो अंधेरा है छोटू की मम्मी ठहाके मार-मार कर हँसने लगी-बोली बेटा! तू पूरा बुद्धू है। जो वस्तु जहाँ होती है वहाँ ही तो मिलेगी तू टॉर्च ले जाकर अंदर देखना मिल जायेगी। छोटू ने टॉर्च उठायी और खोज प्रारंभ हुई अंदर कमरे में और एकाएक छोटू की दृष्टि टेबिल के नीचे पहुँची, वहाँ उसे अपना सैलमिल गया। छोटू की खुशी का ठिकाना न था। वह मम्मी से बोला- Thanks a lot mom आप को शुक्रिया, अन्यथा मेरा सैल नहीं मिलता और घड़ी खराब हो जाती।

बंधुओ! इस छोटे से दृष्टान्त में बहुत बड़ा दृष्टांत छिपा है, बहुत बड़ी शिक्षा छिपी है वह यह कि यह संसार प्राणी सुख खोजना चाहता है, बहुत प्रयास करता है परंतु जब सफल नहीं हो पाता तो गुरु समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के उजाले में सुख को खोजो परंतु प्राणी सुख की खोज कभी मकान में करता है, कभी दुकान में, कभी स्त्री पुत्रादिक में, तो कभी धन-दौलत में सुख खोजता है। बड़े परिश्रम से सांसारिक सामग्रियों को एकत्रित कर लेता है परंतु फिर भी दुःख का लेवल कम नहीं होता वह तो ज्यों का त्यों बना रहता है। तब गुरुजन पुनः समझाते हैं-भैया! जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ खोजेगे तो तीन काल में मिलना संभव नहीं है। इन बाह्य लौकिक पदार्थों में सुख है ही नहीं, इंद्रिय जन सुख वास्तविक नहीं सुखाभास मात्र है अर्थात् हमें सुख का आभास मात्र होता है सुख मिलता नहीं। जिस प्रकार कुत्ते को यदि कहीं हड्डी पड़ी मिल जाए तो वह दांतों से चबाने की कोशिश करता है परंतु हड्डी कड़क होने से उसके मसूड़े छिल जाते हैं जिससे खून आने लगता है कुत्ता समझता है कि हड्डी में ही रक्त है अतः वह प्रसन्न होता है जबकि हड्डी में कुछ नहीं। उसी प्रकार संसार के भोले प्राणी सोचते हैं मेरे पास मोटर कार होगी, गाड़ी, बंगला होगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा परंतु सब कुछ पाकर भी व्यक्ति दुःखी के दुःखी बने रहते हैं। कहा जाता है इस संसार में-“कोई तन-दुःखी, कोई मन दुःखी, कोई धन दुःखी दीखे”। कोई शरीर से रोग बीमारियों से दुःखी है तो कोई मन से दुःखी है कि मेरे पास ये नहीं है वो नहीं है और पड़ौसी के पास सब कुछ है। मन में प्रसन्नता नहीं, कोई व्यक्ति निर्धन है, दरिद्र है। तो वह अपनी दरिद्रता से दुःखी है। संसार में सर्व सुखी कोई नजर नहीं आता।



सुख की कोरी कल्पना ही नजर आती है। आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! सच्चा सुख तो तेरी आत्मा में है अतः सुख को बाहर नहीं अपनी आत्मा में खोजों। परंतु अनादि से तुम्हारी आत्मा में जो मिथ्यात्व का अंधकार छाया है पहले उसे दूर करो, सम्यग्दर्शन रूपी दीपक के प्रकाश से पहले आत्मा को भर दो, फिर उस प्रकाश में यदि सुख खोजोगे तो अवश्य ही तुम्हें सुख मिलेगा। पूज्य आचार्य भगवन् यही बात समझाते हुए कह रहे हैं कि-

शिवमजर मरुजमक्षय, मव्याबाधं विशोक भय शंकम् ।

काष्ठागत सुख विद्या, विभवं विमलं भजन्ति दर्शन शरणाः ।। 40 ।।

अन्वयार्थ-

दर्शनशरणाः	-	सम्यग्दृष्टि जीव
अजरं:	-	वृद्धावस्था से रहित
अरुजं	-	रोग से रहित
अक्षयं	-	क्षय से रहित
अव्याबाधं	-	विशिष्ट अथवा विविध बाधाओं से रहित
विशोक भय शङ्कं-		शोक, भय और शंका से रहित
काष्ठागतसुख विद्या		सर्वोत्कृष्ट सुख और ज्ञान के
विभवं	-	वैभव से सहित तथा
विमलं	-	द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मल से रहित
शिवं	-	मोक्ष को
भजन्ति	-	प्राप्त होते हैं।

अर्थ-समस्त कर्म कालिमा से रहित जीव की जो शुद्ध परिणति है उसे मोक्ष कहते हैं। इस मोक्ष में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप परपदार्थ का संबंध सदा के लिए छूट जाता है। इसलिए उसके निमित्त से होने वाले बुढ़ापा, रोग, विविध बाधाएँ, शोक, भय, शंका आदि दुर्गुण स्वयं दूर हो जाते हैं। ज्ञान और सुख अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हो जाते हैं। यह मोक्ष अविनाशी है-प्राप्त होकर फिर नष्ट नहीं होता। इस प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहचरित सम्यग्दर्शन से ही होती है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् बहुत सुंदर बात कह रहे हैं कि ‘दर्शनशरणाः’ इस शब्द की व्युत्पत्ति देखे तो-“दर्शनं शरणं संसारापाय-परिरक्षकं येषां ते दर्शन शरणाः” सम्यग्दर्शन ही जिनके शरण है अर्थात् संसार संबंधी दुःखों से रक्षा करने वाला है अथवा “दर्शनस्य शरणं रक्षणं यत्र ते” जिसमें सम्यग्दर्शन की शरण-रक्षा होती है वे दर्शन शरण कहलाते हैं।



संसार में बहुत सी शरण होती है विपत्तिग्रस्त होने पर कोई पीर-पैगम्बर की शरण में जाता है, कोई चण्डी-मुण्डी की शरण में जाता है, कोई राजा की शरण में जाता है कोई मित्र की शरण में, तो कोई कुटुम्बियों की शरण में जाता है। व्यक्ति सोचता है इन सबकी शरण में जाने से मेरी रक्षा होगी मैं दुःखों से, परेशानियों से बच जाऊँगा। परंतु सत्य तो यह है कि जो स्वयं कर्मों की पराधीनता में जी रहे है ऐसे पीर-पैगम्बर, देवी-देवता, मित्र, कलत्र, पुत्र आदि तुम्हें कष्टों से कैसे बचा सकते है? मोह व अज्ञान में फंसा संसारी प्राणी समीचीन शरण की खोज नहीं कर पाता। यत्र-तत्र रक्षा की अपेक्षा रखता है इसलिये पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे है हे भोले मानव! तुम यहाँ-वहाँ क्यों भटकते हो, असमर्थ के पास जाओगे तो क्या वह तुम्हारी रक्षा कर सकेगा? कभी नहीं। यदि वास्तविकता में दुःखों से बचना चाहते हो, सच्चे सुख के अभिलाषी हो तो उसकी शरण गहो जो शक्ति संपन्न हो तुम्हारी रक्षा कर सके, एक मात्र सम्यग्दर्शन की शरण ही सर्वश्रेष्ठ शरण है। एक सम्यग्दर्शन की शरण में आया प्राणी संसार के अथाह दुःखों से बच जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव ‘अजर’ वृद्धावस्था से रहित अवस्था को पाता है। वृद्धावस्था के स्वरूप को हम देखे तो आंखों से दिखता नहीं, कानों से सुनायी देता नहीं, शरीर झुर्रियों से युक्त हो जाता है। शिथिल पड़ जाता है। पग व चाल अस्थिर हो जाते है व्यक्ति कहीं पग रखता है तो पैर कहीं पड़ता है। वृद्धावस्था में प्राणी को इतना कष्ट व दुःख होता जिसका वर्णन संभव नहीं। खाना चाहता है पर खा पाता नहीं, दाँत टूट जाते है, पाचन भी समाप्त हो जाता है सारी रात्रि खांस्टे-2 गुजरती है। ऐसी महाकष्टकारी वृद्धावस्था को सम्यग्दृष्टि जीव क्षय कर देता है। दूसरा विशेषण दिया “अरूज” सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शन के प्रभाव से रोग रहित अवस्था को पाता है प्रायः संसार में सभी प्राणी रोगग्रस्त ही नजर आते है किसी को हार्ट की प्रोबलम तो किसी का बी. पी. हाई किसी को कैंसर तो किसी को पेनूमोनिया। आचार्य कहते है। शरीर के अंगुल-2 प्रमाण स्थान में 96-96 रोग होते है तथा संपूर्ण शरीर में कुल 5 करोड़ 68 लाख 99 हजार 5 सौ चौरासी (5,68,99,584) रोग पाये जाते है। जिनसे यह प्राणी सतत दुःखी बना रहता है एक रोग ठीक होता नहीं कि चार नये रोग लग जाते है। सम्यग्दर्शन की महिमा से प्राणी संपूर्ण रोगों का क्षय कर रोग रहित हो जाता है अगला विशेषण है-“अक्षय” अक्षय का तात्पर्य है कि जिसका कभी क्षय न हो वह अक्षय कहलाता है। प्रायः इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी नियम से मरता है। तथा जितने भी सांसारिक सुख उसे प्राप्त होते है वे भी क्षणक्षयी होते है। क्षण में विनष्ट हो जाते है आयु भी क्षय को प्राप्त होती है विनष्ट हो जाती है। परंतु सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह जीव ऐसे अक्षय सुख को प्राप्त करता है जो कभी विनष्ट नहीं होता सदाकाल शाश्वत बना रहता है। अगला विशेषण दिया-“अव्याबाध” विशिष्ट अथवा विविध बाधाओं से रहित सुख को सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करता है। प्रायः सांसारिक जितना भी सुख है वह विविध बाधाओं से सहित होता है। लखपति, करोड़पति है। संपदा की कुछ कमी नहीं परंतु डाईबीटीज हो गया, बी.पी. हाई हो गया, डॉक्टर ने शक्कर, घी



व नमक लेने सख्त मना कर दिया। रसगुल्ले की प्लेट सामने है परंतु खा नहीं पा रहे। भोगोपभोग की सामग्रियाँ तो है परंतु भोग व उपभोग नहीं कर पा रहे हैं। सुख तो है परंतु बाधाओं से सहित है। जबकि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ऐसा अविनाशी, शाश्वत सुख मिलता है जो संपूर्ण बाधाओं से रहित होता है। “विशोक, भय, शङ्क” शोक, भय, शंका से रहित सम्यग्दृष्टि का सुख होता है। प्रायः संसारी प्राणी या तो शोकाकुलित नजर आते हैं। अथवा भयभीत रहते हैं। तथा विविध प्रकार की शंकाओं से सहित होते हैं। परंतु सम्यग्दृष्टि जीव भय, शंका, शोक से रहित होता है। “काष्ठागत सुख विद्या विभवं” सम्यग्दृष्टि जीव सर्वोत्कृष्ट सुख और ज्ञान के वैभव से सहित तथा “विमलं” द्रव्यकर्म व भावकर्म रूप मल से भी सम्यग्दृष्टि रहित होता है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अंतराय ये द्रव्यकर्म हैं। तथा राग-द्वेष, मोह आदि रूप भाव भावकर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्म रूपी मल से रहित “शिवं भजन्ति” मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

संपूर्ण कर्मों का क्षय करने का सामर्थ्य भी सम्यग्दृष्टि के अंदर ही होता है। सम्यग्दर्शन से समन्वित सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की आराधना कर सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों का क्षय कर सर्वोत्कृष्ट सुख स्वरूप मोक्ष को पाता है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन की महिमा अथाह है। सांसारिक/लौकिक ऐहिक सुखों से लेकर पारमार्थिक सुख तक सब कुछ सम्यग्दर्शन का ही उत्तम फल है। अतः प्रयत्न पूर्वक सम्यग्दर्शन की आराधना करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 अजितनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-40

श्लोक-41

सम्यग्दर्शन देता : शाश्वत सुख का आलय

भव्य आत्मपथ हितेच्छुओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी पिछले कई दिनों से सम्यग्दर्शन की चर्चा कर रहे हैं, उसकी महिमा बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन ही संपूर्ण सुखों की खान है तथा दुःखों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है आज की दुनियाँ पैसों की धन-संपदा की दीवानी है। हाय-पैसा, हाय-पैसा सुबह से शाम तथा शाम से रात्रि प्राणी को पैसों की ही चिंता है। पैसा कमाने के लिए वह दिन और रात एक करता है सिर से पैर तक पसीना बहाता है। येन-केन प्रकारेण जैसे भी हो मैं करोड़पति बन जाऊँ आज पैसे ही प्राणी के प्राण बने हुए हैं। यदि पैसा है तो ही श्वासे चल रही है।

एक बार की घटना है-एक सेठ जी थे बड़े कंजूस थे, उन्हें मात्र पैसा बटोरने की पड़ती थी। न वे दिन को दिन गिनते न रात को रात बस एक पैसा कमाने की धुन। यद्यपि उनकी अनेकों मील, कारखाने तथा बड़े-2 कारोबार थे। सेठजी की स्थिति ऐसी थी कि खाने-पीने सोने यहाँ तक कि श्वास लेने की भी फुर्सत नहीं। वे बड़े व्यस्त रहते हैं। चार मोबाईल एक कान में तो 4 दूसरे कान में लगे ही रहते थे। यद्यपि सेठजी जैन परिवार में जन्मे थे परंतु धर्म-कर्म करने की फुर्सत ही कहाँ थी। मंदिर, भगवान व गुरुओं से कोसों दूर थे। उनकी सेठानीजी धार्मिक थी और सेठजी को सदा टोकती रहती थी। कि कुछ धर्म कर्म किया करो, वही परभव में साथ जाने वाला है यह पैसा तो परभव क्या? इस भव का भी साथी नहीं है। सेठानी बहुत समझाती परंतु सेठजी के कान सेठानीजी की बातें सुनने हेतु खुले ही कहाँ थे वे तो मोबाईल से सदा ढंके ही रहते थे। कारोबार अरबों, खरबों का था। एक दिन एक घटना घट गई अचानक सेठजी की दो तीन मील में आग लग गई, मोबाईल से यह दुखद समाचार मिला दूसरा मोबाईल कान में लगाया तो कारोबार में घाटा लग गया और लाखों-करोड़ों का नुकसान हो गया। मोबाईल हाथ में लिये-2 ही सेठजी को यह समाचार सुनते ही अटैक आ गया, पैसों में ही जिनके प्राण बसते थे। उन पैसों की क्षति होते ही सेठजी की हालत गंभीर, पूरे परिवार में हलचल मच गई, अब क्या करें? डॉक्टर्स को बुलाया गया कई बड़े-2 डॉक्टर आये और कह कर चले गये बस ये



तो कुछ ही पलों के मेहमान है। सेठानीजी धन-पैसे के नष्ट होने से तो दुःखी नहीं थी परंतु सेठजी की हालत देख अवश्य दुःखी थी। वह तो धार्मिक थी अतः तुरंत मंदिर जी पहुँची, उस समय वहाँ कोई दिगंबर मुनिराज विराजमान थे। सेठानीजी ने महाराज को नमोऽस्तु किया और आप बीती सुना दी, सेठजी के स्वास्थ्य बिगड़ने का कारण भी बतला दिया। महाराज ने कहा-प्यासे का प्राण पानी है, भूखे का भोजन तथा सेठजी का प्राण पैसा है। अतः उनसे जाकर मात्र इतना कह दो तुम्हें लाखों, करोड़ों का मुनाफा व्यापार में हुआ है वे अभी ठीक हो जायेंगे। सेठानी खुश हो गई, महाराज को नमोऽस्तु कर घर आयी और सेठजी से बोली-सुनिये जी। आपका तो स्वास्थ्य ठीक नहीं है। परंतु मोबाईल पर मोबाईल आ रहे हैं कि अभी-2 व्यापार में शेयर मार्केट में आपको लाखों-करोड़ों का इजाफा हो गया है। जिनके मुख से एक शब्द निकलना भी बंद हो गया था, चेहरे की कांति फीकी पड़ गई थी वे सेठजी अपने बेड पर उछल कर बैठ गये। क्या बोली- भागवान्! करोड़ों का इजाफा। सेठानीजी मुख बनाती हुई बोली-हाँ-हाँ करोड़ों का इजाफा। सेठजी का स्वास्थ्य तो बिल्कुल ठीक हो गया लग ही नहीं रहा था कि उन्हें अटैक आया है। वे बड़े खुश हो जाते हैं। सेठानीजी कहती है- देखो जी, मैंने इतनी अच्छी खबर तुम्हें सुनायी अब तुमको मेरी बात भी मानना चाहिए। सेठजी बोले- हाँ-हाँ तूने तो मुझे नई जिंदगी दी है अतः जो बोलेंगी सो करूँगा। सेठानी बोली-तो ठीक है नहा-धोकर तैयार हो जाइए मेरे साथ कहीं चलना है। सेठजी ने सोचा मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था इसलिए कहीं घूमने ले जा रही होगी। सेठजी नहा धोकर सूट-बूट पहनकर तैयार हो गए। अपनी कार निकाली और सेठानी के साथ चल दिये, सेठानी सेठजी को मंदिर ले गई मंदिर आते ही, गाड़ी रोकी गई। मंदिर का शांत वातावरण सेठजी को अच्छा लगा वे गाड़ी से उतरते, हाथ-पैर धोये। सेठानी ने तभी द्रव्य पुंज सेठजी के हाथ में थमा दी। खुशी-2 वे अंदर गये, भगवान श्री जिनेन्द्रदेव का दर्शन किया, पुंज चढ़ाया। दर्शन कर सेठजी को प्रसन्नता का अनुभव हुआ, सेठानी उन्हें दिगंबर मुनिराज के दर्शनार्थ भी ले गयी, सेठ ने महाराज को नमस्कार किया। महाराज ने सेठजी को आशीर्वाद दिया और धर्मवृद्धि कहा। सेठजी को गुरु चरणों में बैठ शांति का अनुभव हुआ। सेठजी ने हिम्मत जुटा कर महाराज से कहा-महाराज हमें कुछ उपदेशामृत प्रदान कीजिए। संतों की यह विशेषता होती है कि वे पात्र को देखकर उपदेश देते हैं चूंकि सेठजी धन संपदा के प्रति विशेष मोह रखते थे अतः महाराज ने उनसे कहा-

निधानं सर्वलक्ष्मीणां हेतुस्तीर्थकृत्कर्मणः ।

पालयन्ति जन धन्याः सम्यक्त्वमिति निश्चलम् ॥२९॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन सब लक्ष्मियों का भण्डार है, तीर्थकर नाम कर्म के बंध का कारण है। वे मानव धन्य व कृतार्थ हैं जो अचलरूप से सम्यक्त्व का पालन करते हैं। महाराज ने कहा-सेठजी! सम्यग्दर्शन ही इस संसार में सारभूत वस्तु है। पापों से बचाकर उत्तम सुख में पहुँचाता है। आप लक्ष्मी



पति बनना चाहते हैं ना, तो सम्यग्दर्शन से ही तीनों लोकों की संपदा प्राप्त होती है। तीर्थंकर नामकर्म नामक पुण्य प्रकृति भी उस सम्यग्दर्शन का ही सुफल है। वे मानव धन्य व कृतार्थ है जो अचलरूप में सम्यक्त्व का पालन करते हैं।

सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा सुनकर सेठ ने महाराज से प्रश्न किया-भगवन् वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रकट होता है तो महाराज कहते हैं-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ध्यर्थाः प्रकाशयन्ते महात्मनः ॥

अर्थात् जिसकी देव में तथा देव के समान गुरु में परम भक्ति होती है। उसी महानुभाव के आगम में प्रतिपादित ये जीवाजीवादिक पदार्थ निश्चय से प्रकट होते हैं। अर्थात् देव और गुरु की भक्ति करने वाले पुरुष को ही जीवाजीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धाान प्रकट होता है।

इसीलिए हे सेठ! तुम सच्चे जिनेन्द्र देव व निर्ग्रन्थ गुरुओं की जितनी बने तन, मन, धन से सेवा, भक्ति करो। तभी तुम्हें सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्राप्ति होगी और जहाँ धर्म होता है धन तो स्वयं आता ही जाता है। किसी ने कहा भी हैं-

धर्म बढ़े से धन बढ़े, धन बढ़ मन बढ़ जाए।

मन के बढ़े सुखि बढ़े, बढ़त-बढ़त बढ़ जाए ॥

जीवन में धर्म वृद्धि होने से ही धन की भी वृद्धि होती है और धन से मन बढ़ता है मन से रुचि बढ़ती ही जाती है और सम्यग्दर्शन गाढ़ सुदृढ़ होता जाता है और सम्यग्दर्शन होने पर महान अभ्युदय की प्राप्ति होती है इसी बात को ओर अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-

देवेन्द्र चक्र महिमानममेयमानं,

राजेन्द्र चक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम् ।

धमेन्द्र चक्रमधरीकृत सर्वलोकं,

लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति रूपैति भव्यः ॥४१॥

अन्वयार्थ-	जिनभक्तिः	-	जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाला
	भव्यः	-	भव्य जीव
	अमेयमानं	-	अपरिमित
	देवेन्द्र चक्र महिमानम्	-	देवेन्द्र समूह की महिमा को



अवनीन्द्र-शिरः अर्चनीयम्-	राजाओं के मस्तक से पूजनीय
राजेन्द्र-चक्रम् -	राजाओं के इंद्र चक्रवर्ती के चक्र को
अधरी कृतसर्वलोकं -	नम्रीभूत किया है सर्वलोक को जिसने ऐसे
धर्मेन्द्र चक्रं -	धर्म के इंद्र तीर्थकर प्रभु के धर्म चक्र को
लब्ध्वा -	प्राप्त करके
च -	और फिर
शिवं -	मोक्ष को
उपैति -	प्राप्त करता है।

अर्थ-जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाला सम्यग्दृष्टि भव्य जीव देवेन्द्रों के समूह की अमर्यादित महिमा को, मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा नमस्कृत चक्रवर्ती के चक्र-रत्न को और धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकरों के धर्मचक्र को पाकर आत्मा की परम कल्याणमयी अवस्था शिवपद/मोक्षपद को प्राप्त करता है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करने वाले इस प्रथम सम्यग्दर्शन अधिकार के अंतिम श्लोक में सम्यग्दृष्टि जीव की विशेषता बतलाते हुए कहा हैं कि-“जिनभक्तिः भव्यः” जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाला सम्यग्दृष्टि भव्य जीव। अब पहला प्रश्न है कि भव्य कौन है? जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को प्राप्त करने की योग्यता रखता है वह भव्य कहलाता है। यह भव्य मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि के भेद से यद्यपि दो प्रकार का होता है तथापि यहाँ ‘जिनभक्ति’ विशेषण दिया गया है उससे सम्यग्दृष्टि भव्य का ही ग्रहण होता है। “जिनभक्ति” यह सम्यग्दृष्टि का विशेष गुण है। यदि कोई जीव सम्यग्दृष्टि है तो नियम से उसके अंदर जिनभक्ति तो पायी ही जायेगी। भक्ति किसे कहते हैं? तो सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज कहते हैं-“पूज्येषु गुणानुरागो भक्तिः” अर्थात् पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग रखना भक्ति कहलाती है। जिन्होंने संपूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है संपूर्ण इंद्रियों को जीत लिया है वे जिन कहलाते हैं। तथा जो सर्वज्ञ, वीतरागी व हितोपदेशी है वे ही सच्चे देव है। ऐसे सच्चे जिनेन्द्र के अनंत गुणों के प्रति जिसका अनुराग है, प्रीति है। बस उसी का नाम भक्ति है। भक्त जब अपने आराध्य की उपासना करता है उनकी भक्ति में तल्लीन होता है तो वह अपनी सुद-बुद भी खो देता है उसे मात्र अपने इष्ट परमात्मा ही नजर आते हैं। वह अपना सर्वस्व अपने परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है। सच्चा भक्त तो भगवान से यही प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! मुझे कुछ मिले या न भी मिले परंतु आपके चरणों की भक्ति करने का सुअवसर मुझे बार-2 मिले। एक सुभाषित कार ने जिनभक्ति के विषय में कहा हैं-



नो मुक्त्यै स्पृयामि नाथ! विभवैः कार्यं न सांसारिकैः,
किन्त्वायोज्य करौ पुनः पुनरिदं त्वामीशमयर्थये।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मंदिरे,
कान्तारे निशिवासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि॥५३७॥ (सु.स.)

भक्त भगवान् से कहता है कि हे नाथ! मैं मुक्ति नहीं चाहता हूँ और मुझे सांसारिक वैभवों से भी कुछ कार्य नहीं है, किन्तु मैं दोनों हाथ जोड़कर आपसे पुनः - पुनः यही एक प्रार्थना करता हूँ कि स्वप्न में, जागने में, खड़े होने में, चलने में, दुःख में-सुख में, घर में, वन में, रात में, दिन में, सदा मेरी आप में भक्ति विद्यमान रहे।

सच्चे भक्त को अपने इष्ट परमात्मा से बढ़कर कुछ भी नहीं होता है इसलिए वे न तो लौकिक पदार्थों की चाहना करता है और न ही सांसारिक भोगों की। यहाँ तक कि उसे मुक्ति से भी श्रेष्ठ जिन भक्ति ही नजर आती है। क्योंकि एक मात्र जिनभक्ति में वह शक्ति और सामर्थ्य है जिसके माध्यम से निधत्ति व निंकाचित जैसे वज्र से वज्र कर्म भी ढीले पड़ जाते हैं। भक्ति वह सेतु है जो मुक्ति का हेतु बन जाती है। भक्ति महान् अभ्युदय व सांसारिक सुखों को भी प्रदान करती है। तथा परंपरा से भक्ति, मुक्ति का कारण भी बनती है। जो सच्चा सम्यग्दृष्टि होता है उसके सम्यग्दर्शन की निर्मलता जिनभक्ति से कई गुनी बढ़ती ही जाती है। जो भी व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है। वह नियम से जिनेन्द्र देव का भक्त तो होगा ही। इसीलिए आचार्य भगवन् ने यहाँ “जिनभक्तिः भव्यः” विशेषण दिया है। तो जिसकी श्रीमद्भगवज्जनेन्द्र में भक्ति होती है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव “अमेयमानं” अपरिमित अर्थात् जिसकी सीमा नहीं ऐसे श्री सम्पन्न “देवेन्द्र चक्र महिमानम्” देवेन्द्र समूह की महिमा को अर्थात् देवों में सर्वश्रेष्ठ पद इंद्र के पद को प्राप्त कर संपूर्ण देव परिकर में अतिशय शोभा से युक्त प्रभुत्व को प्राप्त करता है। जिसकी सभा में सामानिक, पारिषद, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, अनीक, आत्मरक्ष, प्रकीर्णक व किल्बिषक जाति के देव होते हैं। इन सभी के मध्य इंद्र राजा की तरह शोभा को प्राप्त होता है तथा सभी देवगण उसी की आज्ञा से अपने-2 कार्य करते हैं। ऐसा महान् अभ्युदय एक मात्र सम्यग्दृष्टि ही पाता है। दूसरी बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं- “अवनीन्द्र शिरः अर्चनीयम्” राजाओं के मस्तक से पूजनीय “राजेन्द्र चक्रम्” राजाओं के इंद्र चक्रवर्ती के चक्र को भी सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है। ३२,००० मुकुट बद्ध राजा जिसकी सेवा में हाथ जोड़े तत्पर खड़े रहे हैं। जिसकी ९ निधियाँ व १४ रत्न होते हैं। ९६००० जिसकी रानियाँ होती हैं। १८ करोड़ घोड़े ८४ लाख हाथी, लाखों पोता-पोती कुटुम्बी जिसके हैं। तथा जो संपूर्ण पृथ्वी का स्वामी षट्खंडाधिपति है। ऐसे राजाओं में भी सर्वश्रेष्ठ श्री व शोभा संपन्न राजाओं का इंद्र चक्रवर्ती जैसा महान् पद भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से होता है। आगे कहते हैं-“अधरीकृत सर्वलोकं” नम्रीभूत किया है सर्वलोक को जिसने



ऐसे ‘धर्मेन्द्र चक्रं’ धर्म के इंद्र तीर्थकर प्रभु के धर्मचक्र को भी सम्यग्दृष्टि ही लब्ध्वा यानि प्राप्त करता है। तीनों लोक जिनके चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं। जिनकी शोभा अतुलनीय, अनुपम व सर्वश्रेष्ठ है। ऐसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थकर का पद भी सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है। ऐसे महान पदों को पाने के उपरांत सम्यग्दृष्टि जीव “च शिवं उपैति” मोक्ष को भी प्राप्त करता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन इस जीव का इहलोक व परलोक उभयलोक में कल्याण करने वाला है।

यदि एक जीव पर हम इन सब पदों को घटित करें तो सम्यग्दृष्टि भव्य इस भव में तपश्चरण कर स्वर्ग का इंद्र होता है। उस इंद्र अवस्था में उसकी अभूतपूर्व महिमा होती है। तथा संपूर्ण द्वादशांग का ज्ञाता होता है। वहाँ से आकर यह चक्रवर्ती होता है। चक्रवर्ती का चक्ररत्न अपनी षट्खण्ड वसुधा में बिना किसी रुकावट के चलता है। चक्रवर्ती तपश्चरण कर फिर स्वर्ग का इंद्र बनता है और वहाँ से आकर धर्मचक्र को प्रवर्तन वाला तीर्थकर होता है। यह तीर्थकर इतना प्रभावशाली होता है। कि तीनों लोकों के समस्त प्राणी उनके सेवक बन जाते हैं। अंत में जीव आवागमन से रहित मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन सराग अवस्था में अभ्युदय का और वीतराग अवस्था में मोक्ष का कारण बनता है। इसलिए सभी को प्रयत्न पूर्वक इस सम्यग्दर्शन को अपने जीवन में अवश्य धारण करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 भगवान् संभवनाथ भगवान् की जय”

सम्यग्दर्शन जयवंत है

जयति सुख निधानं मोक्षवृक्षैकबीजं, सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्धिना स्यात् ॥
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥ १७७ ॥

(प.पं.वि.)

अर्थ : जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान तो मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है वह सुख का स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीज स्वरूप तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है। उसके बिना प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म अप्राप्त हुए के समान है।





प्रवचन-41

श्लोक-42-43

सम्यग्ज्ञान एवं प्रथमानुयोग

धर्मपरायण बंधुओ! रत्नकरण्डक श्रावकाचार के पहले अध्याय में आचार्य समंतभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन का वर्णन किया। उन्होंने बतलाया कि परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु के प्रति 3 मूढ़ता, 8 मदरहित तथा 8 अंगसहित श्रद्धा ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। जब इस सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मिल जाते हैं तो उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है तथा यही धर्म है। साथ ही आचार्य कहते हैं कि यह सब मैं नहीं कह रहा हूँ ऐसा तीर्थंकर ने कहा है।

आचार्यश्री दूसरे अध्याय-सम्यग्ज्ञान को प्रारंभ करते हैं। वे कहते हैं-जब सम्यग्दर्शन होता है उसी समय सम्यग्ज्ञान हो जाता है। पंडित दौलतरामजी छहड़ाला की चौथी ढाल में कहते हैं-

**सम्यक् साथै ज्ञान होय पै भिन्न अराधो,
लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधो।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई,
युगपत होते हू प्रकाश दीपक ते होई।॥॥**

दीपक के जलने पर प्रताप (उष्णता) तथा प्रकाश एक साथ उत्पन्न होते हैं। हम स्थूल दृष्टि वाले हैं तथा हमारे शरीर की प्रकृति ऐसी है कि हम पहले प्रकाश का अनुभव करते हैं। सिद्धांत यह है कि दोनों युगपत होते हैं। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान हैं। प्रश्न उठता है कि दोनों में अंतर क्या रहा? तो लक्षण से अंतर प्रगट करते हैं कि सम्यग्दर्शन का लक्षण श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान का लक्षण ज्ञान है। दोनों में एक नहीं काफी अंतर है। प्रकाश चक्षु इन्द्रिय का विषय है तथा प्रताप स्पर्शनिद्रिय का। अंधा प्रताप को जान सकता है पर उससे पृष्ठो-प्रकाश क्या है तो वह नहीं बतला पाएगा। भले ही दोनों एक साथ होते हैं परंतु दोनों की पर्याय भिन्न है। तो प्रश्न खड़ा करते हैं कि क्या चारित्र भी हो जाता है? तो कहते हैं-मिथ्यात्व के साथ मिथ्याचारित्र था, सम्यग्दर्शन के बाद सम्यक्त्वाचरण हो जाता है परंतु आचार्यश्री कहते हैं कि यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं। पहला, दूसरा, तीसरा तथा चौथा गुणस्थान दर्शनमोह की अपेक्षा होता है। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र महाराज कहते हैं-



‘चारित्तं णत्थि जदो, अविरद अंतेसु ठाणेसु’ (गो.जी.का.12)

जब तक अविरत स्थान है तब तक चारित्र नहीं। जहाँ चारित्र नहीं चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण है।

अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-सम्यक्त्वाचरण तथा संयमाचरण के भेद से चारित्र दो प्रकार है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग रूप आचरण करना सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। परंतु संयमाचरण के अभाव में वह पूर्ण नहीं है। संयमाचरण के भी दो भेद-सकल संयम तथा देश संयम हैं। छटवें गुणस्थान से सकल चारित्र प्रारंभ होता है। पाँचवे गुणस्थान में देश-चारित्र होता है। जब तक सम्यक्त्वाचरण देश संयम या संयम को प्राप्त नहीं होता तब तक वह संयम नहीं कहलाता उदाहरण स्वरूप-किसी ने एम.बी.बी.एस. किया है परंतु डिग्री के बाद भी जब तक सर्विस और वेतन नहीं मिलते तब तक वह सार्थक नहीं है, तब तक बिना डिग्री वालों के समान ही दिखता है। यदि सम्यक्त्वाचरण को चारित्र मानें तो चारों गतियों में चारित्र मानना पड़ेगा। साथ ही आचार्य उमास्वामी एवं पूज्यपाद आचार्य वर्णन करते हैं-

सम्यक्त्व चारित्र, संयमा संयमाश्च फिर दो भेद नहीं करने पड़ेंगे। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तो सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है। परंतु डोडरमलजी कहते हैं-‘सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी होसि’ सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्षमार्ग होगा। जब वह वीतराग रूप धारण करेगा। साथ ही यहाँ आचार्य समंतभद्र महाराज कहते हैं कि हमें हर बात मानने के पहले विचार करना चाहिए कि वह सिद्धांतपूर्ण है अथवा नहीं।

बंधुओ! शिष्य अबोध है। वह कहता है-आपने सविस्तार सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करके हम पर उपकार किया है। अब कृपा करके सम्यग्ज्ञान के विषय में भी बताइए। तो आचार्यश्री बताते हैं-

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।

निःसन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।42 ।।

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो पदार्थ को
अन्यूनं	-	न्यूनता रहित
अनतिरिक्तं	-	अधिकता रहित
याथातथ्यं	-	ज्यों का त्यों
विपरीतात् विना	-	विपरीतता रहित
च	-	और
निःसन्देहं	-	सन्देह रहित



वेद	-	जानता है
तत् आगमिनः	-	उसे आगम के ज्ञाता पुरुष
ज्ञानं आहुः	-	सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

अर्थ-जो पदार्थ को न्यूनता एवं अधिकता रहित ज्यों का त्यों विपरीतता रहित और सन्देह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

बंधुओ! ज्ञान की महत्ता हर जगह बताई जाती है। लेकिन जिनशासन में ज्ञान के आगे सम्यक् विशेषण जोड़ा गया है और उसे ही महत्त्व दिया गया है। सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं जिसमें व्यक्ति वस्तु को जिस रूप है, न कम, न अधिक, जैसा है वैसा जानता है। अन्यून-न्यून जानेगा तो अधूरा है, अप्रामाणिक है। उदाहरण स्वरूप-चार इंच के पेन को तीन इंच का कहना, यह सही ज्ञान नहीं। तत्त्व सात होते हैं कोई छह कहे तो गलत हैं अथवा-अनतिरिक्त-अधिक जानना भी तथ्यपूर्ण नहीं है। जैसे-सात तत्वों को आठ कहना। याथातथ्य-जैसा है वैसा ज्ञान होना चाहिए। विना च विपरीतात्-विपरीत नहीं होना चाहिए। जैसे-कोई आपसे सात तत्त्व पूछे और आप सात व्यसनों के नाम गिना दें।

तो इसके लिए आचार्य समंतभद्र महाराज ने एक खाँचा बनाया है-निःसन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ञानमागमिनः जो बात इसमें फिट बैठे उसे वे मानते हैं अन्य को नहीं। सम्यग्ज्ञान निःसंदेह होता है। कहीं वैकल्पिक प्रश्न-पत्र हो और आप दो विकल्पों पर सही का निशान लगा दें तो कोई नंबर नहीं मिलेंगे क्योंकि संदेह है। एक निर्णय नहीं है। जब तक व्यक्ति एक निर्णय नहीं करता तब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में संदेहास्पद विषय का व्याख्यान होता है। अतः ज्ञानी के लिए कहा गया है-

जग सुहितकर सब अहितकर, श्रुति सुखद सब संशय हरे।

भ्रम रोग हर जिनके वचन, मुख चंद्र तैं अमृत झरे।।

ज्ञानी के एक शब्द से ही सारे संशय दूर में हो जाते हैं क्योंकि ज्ञानी के वचन संशयहरण होते हैं संशयकरण नहीं। जो विषय आपको ही समझ में नहीं आता वह दूसरों को क्या समझाओगे? वाणी पर नियंत्रण होना चाहिए कि वही बोलें जो संदेहरहित हो। अन्यथा प्राणी को भ्रांति हो सकती है। हमारा संशय किसी की श्रुद्धा को गिरा सकता है। कहा है कि-मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानिज्ञानम्। तत्प्रमाणे! सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। ये पाँच ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ हैं। व्यवहारिकता से नहीं समझे तो आचार्य चरणानुयोग के माध्यम से समझाते हैं। यदि देव-शास्त्र-गुरु में संदेह है तो वह सम्यग्ज्ञान नहीं। ध्यान रखना-जिज्ञासा और शंका में बहुत अंतर है। जब धवला जी आदि की वाचना होती है तो कई विषय सिर के ऊपर से गुजरते हैं तो जिज्ञासा अवश्य होती है पर संशय नहीं क्योंकि जैनागम का अक्षर-अक्षर कसौटी पर कसा हुआ है। आचार्यश्री समंतभद्र महाराज तो कसौटी लिये ही बैठे हैं। वे देवागम स्तोत्र में आचार्य अकलंक देव महाराज लिखते हैं-



देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नाऽतस्त्वमसि नो महान् ।।।

अर्थात् देवों का आना आकाश में गमन चामरादि विभूतियाँ तो मायावी देव भी अपनी विद्या के द्वारा दिखा सकता है, महानता तो अंदर के गुणों में है जिन्हें देखकर मैं आपकी शरण में आया हूँ।

ऐसे वे समंतभद्र आचार्य आगम में भूल नहीं कर सकते। आगम तो आगम है। परंतु समझने के लिए चार अनुयोगों का वर्णन किया गया है। पुस्तक ज्ञान नहीं है पर कारण में कार्य का उपचार करके यानी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा हम उसे भी ज्ञान कह सकते हैं। वह पुस्तक तो ज्ञान का एक माध्यम है। आगम चार अनुयोगों में विभाजित है इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञान में अंतर आये। गाय के चार स्तन होते हैं परंतु दूध में अंतर नहीं आता, वह तो समान होता है। उसी प्रकार चारों अनुयोग समान होते हैं।

एक सज्जन आए, बोले-प्रथमानुयोग में तो कथा-कहानी है। अतः वह प्रमाणित नहीं। मैंने कहा-क्या प्रथमानुयोग का वर्णन सर्वज्ञ ने नहीं किया? बोले-किया तो है। फिर कहो कि सर्वज्ञ के वचन प्रमाणित नहीं। इस प्रकार तो यदि केवली भी प्रमाणित नहीं रहे तो प्रमाणित क्या रहा? भाई, केवली व उनके वचन प्रमाणित हैं। मात्र आपकी दृष्टि का फेर है। आप देखें कि आप जो शास्त्र को गलत कह रहे हैं, कहीं आप ही तो गलत नहीं? यदि आँखों पर लाल चश्मा लगा है तो फिर सफेद वस्तु भी लाल दिखेगी। उसी प्रकार मिथ्यात्व में भगवान, धर्म जिनवाणी गलत लगती है। पीलिया के रोगी को हर वस्तु पीली दिखाई देती है। क्यों? जब तक आँखों में रोग है तब तक गलत ही दिखेगा। जब वह ठीक होगा तो सत्य समझ में आएगा। जिस क्षण सम्यग्दर्शन होगा तो भगवान की वाणी में अंतर नहीं दिखेगा। लेकिन, किंतु, परंतु नहीं-‘सत्यं भगवन्’ की आवाज आयेगी। फिर संदेह नहीं खड़ा होगा कि सीता का जन्म उत्तरपुराण के अनुसार रावण के यहाँ, पद्मपुराण में जनक के यहाँ बताया गया है, तो प्रमाणित क्या है? इसलिए हम प्रथमानुयोग को प्रमाणित नहीं मानते।

तो फिर चरणानुयोग के अष्ट मूलगुण की परिभाषा में-आचार्य सोमदेव महाराज के अनुसार-तीन मकार, पाँच उदम्बर त्यागना ही अष्ट मूलगुण है। तो वहीं आचार्य समंतभद्र कहते हैं-पंच अणुव्रत धारण एवं मकार त्याग ही अष्ट मूलगुण है तो कहो कि चरणानुयोग भी गलत है। करणानुयोग में आचार्य वीरसेन महाराज कहते हैं-धर्मध्यान दसवें गुणस्थान तक होता है वही सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य कहते हैं कि धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक होता है। तो फिर प्रमाणित क्या एवं कैसे मानें? अब कहो, क्या करणानुयोग भी गलत है? अब आ जाइए द्रव्यानुयोग पर। एक जगह कहा- धर्म ध्यान में शुद्धोपयोग होता है। दूसरी ओर कहा- कि जब जीव शुक्लध्यान की भूमिका में होता है तब शुद्धोपयोग तथा शुद्धोपयोग का फल प्राप्त होता है है कर्मों के अब कहें-प्रमाणित क्या? इस प्रकार तो चारों अनुयोग गलत सिद्ध हो जाएँगे।



अतः आचार्य जिनसेन महाराज कहते हैं कि जिन्हें भी सर्वज्ञ के प्रति संदेह हो, वे आचार्य वीरसेन से मिलें। वे कलिकाल सर्वज्ञ है, निर्भीक वक्ता हैं। वे वही वचन कहते हैं जो प्रमाणित हैं। किसी विषय में यदि दो आचार्यों के भिन्न-2 वाक्य मिल जाएँ तो वे अपनी कसौटी पर कसते हैं। यदि खरा उतरे तो ठीक है, नहीं तो-“इदं न घटेद” और यदि निर्णय न हो पा रहा हो तो “उभय वाक्य प्रमाणं” कहते हैं। दोनों प्रमाणित हैं तो फिर प्रश्न उठता है कि सत्य तो एक ही होगा, दूसरा असत्य होगा, तो क्या असत्य भी प्रमाणित है? इस विषय में मेरा मत है कि निर्ग्रथ वाक्य झूठे नहीं हो सकते। अतः इस विषय में निर्णय सर्वज्ञ ही दे सकते हैं अन्य नहीं। तो जब तक सर्वज्ञ का निर्णय नहीं मिलता तब तक दो आचार्यों के परस्पर विरुद्ध वाक्य भी प्रमाणित मानना चाहिए क्योंकि यद्यपि वे सर्वज्ञ या केवली नहीं हैं पर पापभीरु हैं। वे संसार में भटकना नहीं चाहते अतः उनका वचन झूठा नहीं हो सकता। इसलिए कहा कि चारों अनुयोगों में अंतर नहीं रखना। सभी प्रमाणित हैं। द्रव्यानुयोग शुद्ध द्रव्य की, चरणानुयोग-व्यवहार आचरण की, करणानुयोग अंतरंग भावों की तथा प्रथमानुयोग बहिरंग की व्याख्या करता है। इस प्रकार कहना कि शिखर इतना ऊँचा है कि आकाश से पार हो गया। तो यह अलंकार शास्त्र है। अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग है। साक्षात् सरस्वती मुख में विराजमान है। क्यों, इतना बड़ा मुख है अथवा क्या सरस्वती इतनी छोटी हो गई? क्या जीव मुँह में बैठेगा, क्या उन आचार्य की एषणा समिति पल सकेगी? यह अलंकार विद्या है, कथानक साहित्य है। अतः प्रथमानुयोग भी प्रमाणित है। जिसके विषय में कहते हैं-

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः ।।43।।

अन्वयार्थ-

समीचीनः बोधः	-	सम्यक् श्रुतज्ञान
अर्थाख्यानं	-	परमार्थ का विषय करने वाले
चरितं	-	एक पुरुषाश्रित कथा
अपि	-	और
पुराणं	-	त्रेसठ शलाका पुरुष संबंधी कथा रूप
पुण्यं	-	पुण्यवर्धक तथा
बोधिसमाधिनिधानं	-	बोधि और समाधि के निधान
प्रथमानुयोगं	-	प्रथमानुयोग को
बोधति	-	जानता है।



अर्थ- सम्यक् श्रुतज्ञान परमार्थ का विषय करने वाले एक पुरुषाश्रित कथा और त्रेसठ शलाका पुरुष संबंधी कथा रूप पुण्यवर्धक तथा बोधि और समाधि के निधान प्रथमानुयोग को जानता है।

एक पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कथा “चरितं अपि” चरित और त्रेसठ शलाका पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कथा “पुराणं” पुराण कहलाती है। चरित और पुराण दोनों ही प्रथमानुयोग के अंतर्गत आते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि प्रथमानुयोग मात्र कथा-कहानी है उसे पढ़ने से क्या लाभ? वह तो उपन्यास जैसा ही है। पर आचार्यश्री कहते हैं-‘अर्थव्यानं’ यह “प्रथमानुयोग” प्रथमानुयोग उपन्यास की तरह कल्पित अर्थ का वर्णन न कर परमार्थ विषय का वर्णन करता है अतः ‘पुण्यं’ पढ़ने और सुनने वालों को पुण्य बंध होता है अतः इसे पुण्य कहते हैं। इसके सिवाय यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का निधान है-‘बोधि समाधि निधानं’। यह समीचीनः बोधः सम्यग्ज्ञान है।

यह प्रथमानुयोग है परन्तु एक दृष्टि से देखें तो उस प्रथमानुयोग में चारों अनुयोग समाविष्ट हैं। रावण ने अनंतबल केवली के समक्ष नियम लिया कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसे ग्रहण नहीं करूंगा। व्रत-नियम-संयम का वर्णन अर्थात् चरणानुयोग। अनंतबल मुनिराज को केवलज्ञान व मोक्ष प्राप्त हुआ यह चरणानुयोग है।

मैना सुंदरी ने अपने पिता से कहा-किसे वरण करना, जो भाग्य में है सो होगा। कर्म भी कोई वस्तु है। हम हँसते-हँसते कर्म बाँधते हैं पर रोते-रोते भोगना पड़ता है। यदि मैंने अच्छे कर्म किये होंगे तो अच्छा फल मिलेगा, यदि नहीं तो बुरा मिलेगा। पिता-मेरे रहते कर्म क्या चीज है। श्रीपाल कोढ़ी से विवाह कर देता है। मैना सुंदरी ने सिद्धचक्र विधान करवाया और श्रीपाल कुष्ठमुक्त हो गए। भाग्य टाला नहीं जा सकता यह करणानुयोग है। सुकौशल, सुकुमाल इत्यादि मुनियों का विपाक विचय धर्मध्यान कि शेरनी या श्यालनी मुझे नहीं मेरे शरीर को खा रही है ‘तुष मास भिन्नं’ यह द्रव्यानुयोग है।

प्रथमानुयोग जिसमें चक्रवर्ती आदि पुराण पुरुषों के वैभवादि का समस्त वर्णन है परन्तु अंत में कहते हैं कि यह संपूर्ण वैभव त्यागकर दीक्षा ली। यह प्रथमानुयोग-‘बोधि समाधि निधानं’ बोधि-समाधि का निधान है।

बंधुओ! अंतिम समय में यही काम आता है। महापुरुषों ने कैसी विषम परिस्थितियों में भी समता और धैर्य को धारण किया, उनकी कथा क्षपक में साहस और विश्वास प्रदान करती है। आचार्यश्री समंतभद्र महाराज कहते हैं-यही बोध समीचीन है। जिसके विषय में सर्वज्ञ ने हमें समझाया है। हम इस विषय को समझें तथा अपनी श्रद्धा को शाश्वत एवं दृढ़ बनाएँ।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 संभवनाथ भगवान की जय”



प्रवचन-42

श्लोक-44

करणानुयोग को ध्याओ : सम्यग्ज्ञान को बढ़ाओ

भव्य मनीषियो! संपूर्ण जिनागम को अच्छी तरह से जानने के लिए जैनाचार्यों ने उसे चार भागों में विभक्त किया है-जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। इन चारों अनुयोगों को समझने के लिए एक दृष्टान्त आता है-एक दादाजी थे उनका एक छोटा पोता था। पोता नटखटी था, एक दिन खेलते कूदते वह गिर गया, गिरते ही वह रोने लगा- दादाजी ने कहा- बेटा! रोते नहीं, देखों कल तुम्हारी दीदी गिरी थी पर वह रोयी नहीं, तुम क्यों रोते है। बस प्रथमानुयोग भी यही कहता है-जब हम किसी मुसीबत में हो, कष्ट परेशानी में हो तो महापुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग शिक्षा देता है। कि हमारे पूर्वजों/महापुरुषों ने जब इतने कष्ट सहे है। तो हम भी उनके ही पथानुगामी है उन्हें देखकर हमारे अंदर समता जग जाती है। दादाजी ने पुनः पोते से कहा-देखों कल तुमने दीदी के गिरने पर उसकी हंसी उड़ाई थी। अतः तुम गिर गये अब कभी किसी की हंसी मत करना, करणानुयोग भी यही कहता है कि आप जैसा कर्म करेंगे, वैसा ही फल आपको मिलेगा अतः सदैव दूसरों का भला ही करना चाहिए।

तीसरी बात दादाजी ने पोते से कहा-बेटा! जब भी चलो देखकर चलना चाहिए। चरणानुयोग भी आचरण की, चारित्र की, चर्या की बात कहता है कि मोक्षमार्ग पर हमें किस प्रकार का आचरण करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। चौथी बात दादाजी ने पोते से कही-तू तो राजा बेटा है ये तो घोड़ा कूदा। राजा बेटा थोड़े ही गिरता है। यही बात द्रव्यानुयोग कहता है कि हे भव्य! तू यह शरीर नहीं है, तू तो आत्मा है। कष्ट, दुःख शरीर को होता है आत्मा तो अजर-अमर अविनाशी है।

प्रथमानुयोग का स्वरूप हमे परम पूज्य आचार्य समंतभद्र महाराज ने श्लोक 43 के माध्यम से समझाया कि जिसमें तिरेसठ श्लाका पुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन किया जाता है। उसके विशद स्वरूप को समझने के बाद अब पूज्य आचार्य भगवन् करणानुयोग का स्वरूप बतलाते हुए कहते है कि-



लोकालोक विभक्ते, युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामति, रवैति करणानुयोगं च ।।44।।

अन्वयार्थ-

तथामति:	-	श्रुतज्ञान (सम्यग्ज्ञान) ही
करणानुयोगं	-	करणानुयोग को
लोकालोक विभक्ते:	-	लोक व अलोक के विभाग को
च	-	और
युगपरिवृत्ते:	-	युग परिवर्तन को
च	-	और
चतुर्गतीनां	-	चतुर्गतियों को
आदर्श इव अवैति	-	दर्पण के समान जानता है।

अर्थ-जो ज्ञान लोक व अलोक के विभाग को, कल्पकालों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों के जानने में दर्पण के समान है उसको करणानुयोग कहते हैं।

भव्य मनीषियो! इस द्वितीय सम्यग्ज्ञान अधिकार के माध्यम से पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज करणानुयोग का विशद वर्णन करते हुए कहते हैं-‘तथामतिः’ जो सम्यग्ज्ञान “लोकालोक विभक्तेः” लोक व अलोक के विभाग का वर्णन करता है वह करणानुयोग है। संपूर्ण आकाश को दो विभागों में बाँटा जाता है- जहाँ जीवादिक छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। यह ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक व अधोलोक तीन भागों में Divide होता है।

ऊर्ध्वलोक-मध्यलोक से ऊपर लोकान्त तक ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का वासस्थान है। मुक्त जीव ऊर्ध्वलोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई भी सात राजू है। मध्यलोक की ऊँचाई इसी में समाहित है। तथा ऊर्ध्वलोक मृदंगाकार होता है। वैमानिक देव-जो विमानों में निवास करते हैं वे वैमानिक देव कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं-1. कल्पवासी 2. कल्पातीत।

जहाँ तक इंद्र आदि दस भेदों की कल्पना होती है वे कल्पवासी या कल्पोपन्न कहलाते हैं। तथा कल्पवासी देवों से ऊपर के देवों में इंद्र आदि की कल्पना नहीं होती अतः वे कल्पातीत कहलाते हैं कल्पवासी देव सोलह स्वर्गों में रहते हैं। तथा इनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, 9 अनुदिश व 5 अनुत्तर विमान होते हैं। इंद्र आदि भेदों से रहित इनमें रहने वाले सभी देव अहमिन्द्र कहलाते हैं।



सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्त्रर, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत नाम के सोलह स्वर्गों में कल्पवासी देव निवास करते हैं। सुमेरु पर्वत की चूलिका से एक बाल के अंतर पर सौधर्म स्वर्ग का ऋजुनामक पहला विमान है। उसके समानान्तर उत्तर की ओर ऐशान स्वर्ग है। सौधर्म व ऐशान स्वर्ग के ठीक ऊपर समश्रेणी में क्रमशः सानतकुमार व माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्त्रर, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत स्वर्ग दो-दो के जोड़े से एक दूसरे स्वर्गों के ऊपर समश्रेणी में स्थित हैं। उनमें से ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनत और आरण स्वर्ग दक्षिण दिशा में तथा ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र, सहस्रार, प्राणत और अच्युत कल्प उत्तर दिशा में अवस्थित है। इन सोलह स्वर्गों में आदि व अंत के चार-चार तथा मध्य के आठ स्वर्गों में 4 इस प्रकार कुल बारह इंद्र होते हैं। तथा इतने ही प्रतीन्द्र होते हैं। इनके ऊपर 9 ग्रैवेयक है। नौ ग्रैवेयक एक दूसरे के ऊपर-ऊपर है। इनमें नीचे, मध्य व ऊपर के तीन-2 ग्रैवेयक क्रमशः अधो-ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक व उपरिम ग्रैवेयक के नाम से जाने जाते हैं। नवमें ग्रैवेयक के ऊपर अर्चि, अर्चिमालिनी, वैर, वैरोचन, सोम, सोमरूप, अंक और स्वास्तिक तथा आदित्य नामक नौ अनुदिश विमान है। इनमें से अर्चि आदि आठ क्रमशः आठ दिशाओं में तथा आदित्य नामक विमान ठीक मध्य में इंद्रक के रूप में स्थित है। अनुदिश विमानों के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नाम के पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनमें विजयादि क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में और सर्वार्थसिद्धि मध्य में स्थित हैं।

विमानों का अवस्थान-सौधर्म-ऐशान कल्पयुगल मेरुपर्वत की चूलिका से एक बाल के ऊपर से लेकर डेढ़ राजु ऊपर तक है। वहाँ से डेढ़ राजु ऊपर तक सानतकुमार माहेन्द्र कल्प युगल स्थित है। उसके अंतिम इंद्रक के ध्वजदण्ड से लेकर आधा राजु ऊपर तक ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्पयुगल है। इसके अंतिम इंद्रक के ध्वजदण्ड से लेकर आधा राजू ऊपर तक लान्तव कापिष्ठ युगल है। इसके ऊपर के अन्य युगल भी क्रमशः एक दूसरे से आधा-आधा राजू की ऊँचाई पर है। इस प्रकार कुछ 6 राजू में 16 स्वर्ग है। प्रत्येक कल्पों के उपरिम इंद्रक के ध्वजदण्ड के अगले कल्प के प्रथम विमान में असंख्यात करोड़ योजन का अंतर है। अच्युत स्वर्ग से असंख्यात करोड़ योजन के अंदर से ऊपर कुछ कम 1 राजू में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों के ग्यारह पटल हैं।

आधार-सौधर्म युगल के विमानों का आधार जल है सानत्कुमार युगल के विमान वायु पर आधारित हैं। ब्रह्म आदि 8 स्वर्गों का आधार जल व वायु दोनों है तथा आनत से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत सभी विमान आकाश पर आधारित हैं। तात्पर्य यह है कि देव-विमान, नरक बिलों की तरह किसी पृथ्वी पर न होकर अधर में है। वहाँ के पुद्गल स्कन्ध की जल आदि के रूप में परिणत हुए हैं।



स्वर्ग पटल-स्वर्गलोक में कुल 63 पटल हैं। इन पटलों में इंद्रक, श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक रूप से देवों के विमान स्थित है। मध्यवर्ती विमान इंद्रक, दिशाओं में पंक्तिबद्ध रूप में स्थित विमान-श्रेणीबद्ध तथा दिशाओं के मध्य प्रकीर्ण रूप से (बिखरे हुए) स्थित विमान-प्रकीर्णक कहलाते हैं। 63 पटलों में कुल इंद्रक-63, श्रेणीबद्ध विमान-7816, प्रकीर्णक विमान-84,89,144 कुल $84,89,14+7, 816 = 63$ 84,97,023 विमान है। उन विमानों में एक-एक जिनालय है, जिनमें जिन प्रतिमाएँ विराजित हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में कुल जिनालय 84,97,023 है।

63 पटल- सौधर्मद्विक में-31, सानत्कुमार द्विक में-7, ब्रह्मद्विक-4, लान्तवद्विक-2, शुक्रद्विक में-1, शतारद्विक में -1, आनत आदि चार स्वर्गों में-6, अध स्तन ग्रैवेयक-3, मध्यम ग्रैवेयक-3, उपरिम ग्रैवेयक-3, नौ अनुदिश-1, पाँच अनुत्तर में-1 अतः कुल 63 पटल होते हैं।

ईषत्प्राग्भार पृथ्वी/सिद्ध शिला-सर्वार्थसिद्धि इंद्रक विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊपर ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है। इसकी चौड़ाई 1 राजु, लंबाई (उत्तर-दक्षिण) 7 राजु एवं मोटाई 8 राजु है। यह पृथ्वी बीस-बीस हजार योजन मोटाई वाले क्रमशः धनोदधि, धनवात व तनुवात वलयों से वेष्टित है। इस पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतवर्ण की छत्राकार सिद्ध शिला है। यह मध्य में आठ योजन मोटी और क्रमशः घटती हुई दोनों छोरों पर एक प्रदेश मात्र है। इसका आकार उत्तान धवल छत्र के आकार वाला है। इसका व्यास विस्तार मनुष्य लोक के सदृश पैंतालीस लाख योजन है। इसी को सिद्ध क्षेत्र कहते हैं। इस सिद्ध क्षेत्र के उपरिम तनुवात वलय में सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त एवं अनंत सुख से तृप्त सिद्ध भगवान् विराजित हैं। वह सिद्ध लोक है।

इस प्रकार ऊर्ध्व लोक की संपूर्ण संरचना होती है।

मध्य लोक-मध्यलोक पूर्व-पश्चिम एक राजु चौड़ा और उत्तर-दक्षिण सात राजु विस्तार वाला है। इसमें जंबूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप और लवण समुद्र आदि असंख्यात समुद्र हैं। तिर्यक्-तिरछा फैला होने के कारण इसे तिर्यक्-लोक भी कहते हैं। मध्यलोक के बीचों-बीच जंबूद्वीप है, यह थाली के आकार का है। इसका व्यास-विस्तार एक लाख योजन है। जंबूद्वीप को घेरे हुए लवण-समुद्र है, यह चूड़ी के आकार का है। इसका विस्तार-व्यास दो लाख योजन है। लवण समुद्र धातकीखंड द्वीप से घिरा है। इसका विस्तार चार लाख योजन है। धातकीखण्ड द्वीप कालोदधि समुद्र से परिवेष्टित है, इसका विस्तार 8 लाख योजन है। पुष्कर द्वीप, पुष्करवर समुद्र से घिरा है। उसके आगे क्रमशः वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर, नंदीश्वरवर, वरुणवर, अरुणवर, कुण्डलवर, शंखवर, रूचकवर, भुजंगवर, कुशवर, क्रौंचवर आदि प्रत्येक द्वीप व समुद्र क्रमशः एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। ऐसे कुल असंख्यात द्वीप

व असंख्यात समुद्र हैं। सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमणद्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है। सभी द्वीप और समुद्र चूड़ी के आकार के हैं। पुष्करवर द्वीप से लेकर आगे के सभी द्वीप समुद्रों के नाम समान हैं। समस्त द्वीप-समुद्रों का विस्तार पूर्ववर्ती द्वीप-समुद्रों के विस्तार से दूना-दूना है।

जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि (कालोदक) समुद्र और पुष्करवर द्वीप का आधा भाग ऐसा ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र कहलाता है। क्योंकि मनुष्य उतने ही क्षेत्र में पाये जाते हैं। पुष्करवर द्वीप के मध्यभाग में वलय के आकार का मानुषोत्तर पर्वत है। यह पुष्करवर द्वीप को दो भागों में विभाजित करता है। मनुष्य इस पर्वत के उस पार नहीं जा सकते। इसलिए मानुषोत्तर यह इसकी सार्थक संज्ञा है। इसी कारण ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के क्षेत्र को मनुष्य लोक कहते हैं। मनुष्य लोक का विस्तार 45 लाख योजन है।

जंबूद्वीप-समस्त द्वीप और समुद्रों के मध्य थाली के आकार वाला जंबूद्वीप है। इस द्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष नामक सात क्षेत्र हैं। क्षेत्रों का विभाग करने वाले 6 कुलाचल हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन् पर्वत हैं। इन पर्वतों पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक छह हृद/तालाब हैं इन तालाबों से गंगा-सिंधु, रोहित-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा नामक चौदह महानदियाँ निकलती हैं। ये नदियाँ भरत आदि क्षेत्रों में दो-दो करके बहती हैं। इन युगल रूप नदियों में से पूर्व-पूर्व की नदी पूर्व समुद्र में और बाद की नदी पश्चिम समुद्र में गिरती है। नदी-पर्वतों, सरोवरों और वनखण्डों से सुशोभित जंबूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित हैं। उसमें सबसे पहला क्षेत्र-भरतक्षेत्र।

भरतक्षेत्र जंबूद्वीप के दक्षिण भाग में अवस्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिशाओं में लवणसागर है। भरत क्षेत्र का विस्तार 526 योजन है। इस क्षेत्र के ठीक मध्य में पूर्व-पश्चिम तक लम्बायमान रजतमय विजयार्थ पर्वत है। विजयार्थ पर्वत और हिमवान् पर्वत से निकलने वाली गंगा और सिंधु नदियों के निमित्त से भरत क्षेत्र के 6 खंड हो जाते हैं।

हिमवान् पर्वत के पद्म तालाब से निकलकर गंगा और सिंधु ये दोनों नदियाँ पर्वत के मूल में स्थित गंगाकूट और सिंधुकूट में क्रमशः गिरती है। वहाँ से निकलकर पूर्व व पश्चिम दिशा में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई विजयार्थ पर्वत तक पहुँचती है। विजयार्थ पर्वत के मूल में तमिस्र और खंड-प्रपात नामक दो गुफाएँ हैं। गंगानदी तमिस्र गुफा से और सिंधुनदी खंडप्रपात गुफा से निकलकर भरत क्षेत्र के दक्षिण भाग में प्रवेश करती है। उत्तर-दक्षिण में बहती हुई ये दोनों नदियाँ दक्षिण-भरत



के अर्ध भाग तक जाकर पूर्व और पश्चिम समुद्र की ओर मुड़ जाती हैं और अपने-अपने समुद्रों में समाहित हो जाती है। इस प्रकार इन दो नदियों और विजयार्ध पर्वत से विभक्त, भरत क्षेत्र के षट्खण्ड हो जाते हैं। विजयार्ध के दक्षिण के तीन खण्डों में मध्य का खंड आर्यखण्ड और शेष पाँच खण्ड स्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं। आर्यखण्ड में ही धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है। 24 तीर्थकरों का जन्म इसी आर्यखण्ड में होता है। विजयार्ध पर्वत के उत्तर के तीन खण्डों में मध्य वाले स्लेच्छ खण्ड के बीचों-बीच वृषभगिरि नामक एक गोल पर्वत है। दिग्विजय के बाद चक्रवर्ती इसी पर्वत पर अपनी प्रशस्ति लिखता है।

भरत क्षेत्र के बाद हिमवान् पर्वत फिर हैमवत क्षेत्र फिर महाहिमवान् पर्वत फिर हरिक्षेत्र, फिर निषधपर्वत उसके बाद विदेह क्षेत्र फिर सुमेरु पर्वत होता है। सुमेरु पर्वत की एक ओर उत्तर कुरु तो दूसरी ओर देव कुरु होता है। इसके बाद जंबूशाल्मली वृक्ष होता है। विदेह क्षेत्र में 32 उपविदेह छोटी नगरियाँ होती हैं। इसके बाद नील पर्वत फिर रम्यक क्षेत्र रुक्मि पर्वत फिर हैरण्यवत क्षेत्र फिर शिखरिन् पर्वत फिर ऐरावत क्षेत्र होता है। इस प्रकार जंबूद्वीप में सात क्षेत्र, एक मेरु, दो कुरु, जंबू और शाल्मली वृक्ष, 6 कुलाचल, 6 महातालाब, 20 सरोवर, 14 महानदियाँ, 12 विभंग नदियाँ, 20 वक्षार पर्वत, चार नाभि पर्वत, चार यमकगिरि, दो सौ कनकगिरि आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत, 34 आर्य खंड, 34 विजयार्ध पर्वत और 34 वृषभगिरि अवस्थित हैं।

लवण समुद्र-जंबूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र स्थित है। यह चूड़ी के आकार वाला है, इसका विस्तार व्यास 2 लाख योजन है। इस समुद्र के जल सतह का आकार सीधी रखी नाव पर औंधी रखी नाव के आकार के समान है इस लवण समुद्र में 48 कुभोग भूमियाँ हैं जिनमें कुमानुष निवास करते हैं।

धातकीखंड-लवण समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए धातकीखंड द्वीप है। जो लवण समुद्र से दूने विस्तार वाला यानि 4 लाख योजन विस्तार वाला है। धातकी खंड द्वीप में दो रचनाएँ हैं- 1. पूर्वधातकी खंड 2. पश्चिमी धातकी खंड। इसे चारों ओर से घेरे हुए कालोदधि नामक समुद्र है। जिसका विस्तार 8 लाख योजन है इनमें भी 48 कुभोग भूमियाँ हैं।

कालोदधि समुद्र को घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है। जो कि 1600000 योजन विस्तार वाला है। इस द्वीप के बीचों बीच कुण्डलाकार एक मानुषोत्तर पर्वत है। मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस द्वीप के दो विभाग हो गये हैं मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग में मनुष्यों का अवस्थान है। उसको लांघकर आगे मनुष्य नहीं जा सकते।

यहाँ तक ढ़ाई द्वीप हो जाते हैं। जिसका विस्तार 45 लाख योजन है।



कर्मभूमि-संपूर्ण ढाई द्वीप में कुल 15 कर्म भूमियाँ होती है। जहाँ अपनी आजीविका चलाने के लिए असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्म किये जाते हैं तथा संयम-तप अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे कर्म भूमि कहते हैं। भरत, ऐरावत व विदेह क्षेत्र कर्म भूमियाँ हैं। ढाई द्वीप में पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह क्षेत्र हैं इस अपेक्षा से कुल कर्मभूमियाँ 15 हैं। ये शाश्वत कर्म भूमियाँ कहलाती हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्डों में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के निमित्त से षट्काल परिवर्तन होता है। इस कारण अवसर्पिणी के प्रथम तीन (सुषमा-सुषमा, सुषमा व सुषमा-दुःषमा) कालों में तथा उत्सर्पिणी के अंतिम तीन (सुषमा-दुःषमा सुषमा व सुषमा-सुषमा) कालों में भोगभूमि होती है। ये अशाश्वत भोग भूमि कहलाती हैं। यह परिवर्तन आर्यखण्डों में ही होता है। भरत व ऐरावत क्षेत्र, संबंधी सभी म्लेच्छ खण्डों और विजयार्ध पर्वत पर स्थित विद्याधरों की श्रेणियों में सदा दुःषमा-सुषमा काल के आदि व अंत के समान काल रहता है। इसी तरह सभी विदेहों के आर्यखण्डों में सदा दुःषमा-सुषमा काल वर्तता है।

भोगभूमि-जहाँ अपनी आजीविका चलाने हेतु असि-मसि आदि षट्कर्म नहीं करने पड़ते अपितु संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति 10 प्रकार के कल्पवृक्षों से ही हो जाती है। वे भोगभूमि कहलाती हैं। ढाई द्वीप में 30 भोगभूमियाँ होती हैं। ढाई द्वीप के पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच देव कुरु, पाँच उत्तर कुरु, पाँच रम्यक् और पाँच हैरण्यवत् इन तीस क्षेत्रों में भोगभूमियाँ हैं। ये शाश्वत भोगभूमियाँ कहलाती हैं। पाँच देव व पाँच उत्तर कुरु-उत्तम भोग भूमि हरि व रम्यक क्षेत्र में मध्यम व हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। भोगभूमियों की समस्त व्यवस्था क्रमशः सुषमा-सुषमा, सुषमा व दुषमा काल के समान है। किंतु यहाँ के जीवों की शरीर की ऊँचाई व आयु में जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नहीं है।

कुभोगभूमियों का अवस्थान-लवण समुद्र में जंबूद्वीप के तट पर चारों दिशाओं में चार, चारों विदिशाओं में चार और अंतर्दिशाओं में आठ तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र संबंधी दोनों विजयार्ध पर्वतों के दोनों छोरों के समीप दो-दो एवं हिमवान् व शिखरी पर्वत के दोनों छोरों पर दो-दो इस प्रकार कुल $(4+4+8+4+4=24)$ अंतर्द्वीप है। इसी प्रकार 24-24 अंतर्द्वीप लवण समुद्र के दूसरे तट और कालोदधि समुद्र के उभय तटों पर हैं। इस प्रकार कुल $48+48=96$ कुभोगभूमियाँ हैं। इनमें कुमानुष निवास करते हैं। इसलिए इन्हें कुभोगभूमियाँ कहते हैं।

इस प्रकार ढाई द्वीप का वर्णन हुआ। आठवें नदीश्वर द्वीप में 52 जिन चैत्यालय होते हैं



अष्टाह्निका पर्व में देवगण वहाँ जाते हैं तथा बड़ी भव्यता के साथ श्रीजिन की पूजा सम्पन्न करते हैं। इसके आगे असंख्यात द्वीप व असंख्यात समुद्र और भी होते हैं। तथा सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण द्वीप व समुद्र होता है। मध्यलोक की रचना झालर के समान होती है।

अधोलोक-अधोलोक वेत्रासन के समान आकार वाला है। यह सात राजु ऊँचा है। इसकी उत्तर-दक्षिण मोटाई सर्वत्र सात राजु तथा पूर्व-पश्चिम चौड़ाई तल भाग में सात राजु है, जो क्रमशः घटती हुई ऊपर 1 राजु मात्र शेष रह जाती है। अधोलोक में 6 राजु तक सात नरक भूमियाँ हैं। तथा अंत के एक राजु में एक मात्र निगोदिया जीवों का अवस्थान है। अधोलोक के अंतिम एक राजु के क्षेत्र को कलकल पृथ्वी भी कहते हैं।

अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातम प्रभा नाम की सात नरक भूमियाँ हैं। इन भूमियों की प्रभा इनके नाम के अनुरूप ही है। धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा और माघवी ये क्रमशः सातों पृथ्वियों के रुढ़ि नाम हैं। ये सातों पृथ्वियाँ एक दूसरे के नीचे-2 क्रमशः घनोदधि वातवल्लय, घनवात वल्लय, तनुवात वल्लय और आकाश पर प्रतिष्ठित हैं। नारकी जीवों के निवास का आधार होने के कारण इन्हें नरक या नरक भूमि कहते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं-1. खरभाग 2. पङ्कभाग और 3. अब्बहुलभाग। खरभाग की मोटाई 16,000 योजन है। इसके एक-2 हजार योजन मोटे सोलह भाग हैं। सबसे ऊपर एक हजार योजन मोटी चित्रापृथ्वी है। यह चित्रविचित्र रत्नों से भरी है। चित्रापृथ्वी के पृष्ठभाग पर मध्यलोक है। खरभाग के ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजनों को छोड़कर मध्य के चौदह हजार योजनों में तथा पङ्कभाग में भवनवासी देव रहते हैं। पङ्क भाग की मोटाई चौरासी हजार योजन है। अब्बहुल भाग के ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन को छोड़कर शेष भाग में नारकी जीव रहते हैं। इसकी मोटाई अस्सी हजार योजन है। इस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी की कुल मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। शेष पृथ्वियों की मोटाई क्रमशः 32, 28, 24, 20, 16 और 8 हजार योजन है। इनमें ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजनों को छोड़कर शेष भाग में नारकी जीव निवास करते हैं।

नरक भूमियों का अवस्थान-मेरु पर्वत के तल भाग के मोटी पहली पृथ्वी है। इसके नीचे बीस-बीस हजार योजन विस्तार वाले तीन वल्लय हैं। वातवल्लयों के नीचे आकाश का कुछ अंतराल है। उसके बाद 28 हजार योजन मोटी दूसरी पृथ्वी है। इस पृथ्वी का अंतिम पटल मेरु पर्वत से एक राजु नीचे है। उसके नीचे पुनः पूर्ववत् तीन वातवल्लय और आकाश का अंतराल है। उसके उपरान्त 24 हजार योजन मोटी तीसरी पृथ्वी है। इसका अंतिम पटल मेरुपर्वत से दो राजु नीचे है। इसी प्रकार चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं पृथ्वियाँ एक-दूसरे से नीचे-2 मेरुपर्वत से क्रमशः 3, 4, 5 व 6 राजु नीचे



हैं। उससे नीचे एक राजु मोटी कलकल पृथ्वी है। उसमें मात्र एकेन्द्रिय जीवों का वास है।

नरक पटल-सातों नरक भूमियों में 49 पटल या प्रस्तार है। नारकियों के आवास भूमि के प्रस्तार पाथड़े या मंजिल को पटल कहते हैं। सातों नरकों में क्रमशः 13, 11, 9, 7, 5, 3 व 1 इस प्रकार कुल 49 पटल हैं। रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियों के पटलों के नाम भी पृथक-2 है।

नरक बिल-नारकी जीवों के निवास स्थान को नरक बिल कहते हैं। उक्त पटलों में इंद्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के नरक बिल है। पटलों के बीचों बीच रहने वाले नरक बिल को इंद्रक कहते हैं। चारों दिशाओं में पंक्ति बद्ध रहने वाले बिल श्रेणीबद्ध कहलाते हैं। तथा श्रेणीबद्ध बिलों के मध्य यत्र-तत्र रहने वाले बिलों को प्रकीर्णक कहते हैं। सात पृथ्वियों के 49 पटलों में 49 इंद्रक, 9604 श्रेणीबद्ध बिल तथा 83,90,347 प्रकीर्णक बिल हैं। इस प्रकार नरक बिलों की कुल संख्या-84 लाख हैं।

नारकी जीवों को अपने पूर्वोपार्जित पाप कर्म के उदय से चार प्रकार के तीव्र दुःख भोगना पड़ते हैं 1. क्षेत्र जनित 2. शारीरिक 3. मानसिक 4. असुरकृत।

1. बिलों की अपेक्षा कुल 82,25,000 बिलों में उष्णवेदना तथा शेष 1,75,000 बिलों में शीतवेदना है।

2. नारकियों का शरीर अत्यंत विकृत व हुण्डक संस्थान वाला होता है।

3. नारकियों का शरीर वैक्रियिक होता है। तथा इनमें अपृथक विक्रिया पायी जाती है।

4. नारकी जीवों के दाढ़ी-मूँछ नहीं होती।

5. उनके शरीर में निगोदिया जीवों का अभाव रहता है।

6. आयु पूर्ण होने पर उनका शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है।

7. नरकों में नारकी जीव परस्पर लड़ने के लिए प्रयुक्त विविध आयुध और अन्य सामग्री अपने शरीर की विक्रिया से ही बनाते हैं। इस प्रकार अधोलोक का वर्णन पूर्ण हुआ।

अलोक-लोक को छोड़कर संपूर्ण आकाश अलोकाकाश कहलाता है। इसमें एक मात्र आकाश द्रव्य ही होता है। शेष अन्य द्रव्य नहीं पायी जाती। आगे पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं- “युगपरिवृत्तेः” युग परिवर्तन का जिसमें वर्णन है। भरत व ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के निमित्त से षट्काल परिवर्तन होता है।



उत्सर्पिणी काल-जिस काल में मनुष्यों की आयु, ऊँचाई, वृद्धि, बल, बुद्धि आदि सब बढ़ता-2 पाया जाता है। वह उत्सर्पिणी काल है। इसके 6 भेद हैं।

अवसर्पिणी काल-जिस काल में मनुष्यों की आयु, ऊँचाई, बुद्धि, बल, वृद्धि आदि सब घटता-2 पाया जाता है वह अवसर्पिणी काल है इसके भी 6 भेद हैं।

1. **सुषमा-सुषमा**-यह पहला काल कहलाता है इसकी सारी व्यवस्था उत्तम भोग भूमि की तरह होती है। आयु-3 पल्य, आहार-बेर बराबर, 3 दिन के अंतराल।

2. **सुषमा काल**-यह द्वितीय काल कहलाता है। इसकी सारी व्यवस्था मध्यम भोग भूमि की तरह होती है। आयु-2 पल्य, आहार-हर बराबर, 2 दिन के अंतराल।

3. **सुषमा-दुषमा काल**-यह तृतीय काल कहलाता है। इसकी सारी व्यवस्था जघन्य भोगभूमि की तरह होती है। आयु-1 पल्य, आहार-आवला बराबर, 1 दिन के अंतराल।

4. **दुषमा-सुषमा**-यह चतुर्थ काल है। इसी काल में 24 तीर्थकरों, कुलकरों, चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि श्लाका पुरुषों का जन्म होता है। इसी काल में जीव कर्मों का क्षय कर मोक्ष जाता है यह कर्म भूमि काल है।

5. **दुषमा काल**-यह पंचम काल कहलाता है जो कि दुःखमय काल होता है। प्राणियों को सुख तो न के बराबर अपितु दुःख ही दुःख मिलता है चतुर्थ काल का जन्मा व्यक्ति पंचम काल में मोक्ष जा सकता है परंतु पंचम काल में जन्मा व्यक्ति उसी काल में मोक्ष नहीं पाता। क्योंकि पंचम काल में उत्तम संहनन का अभाव है।

6. **दुषमा-दुषमा काल**-यह छठवा काल कहलाता है इसमें जन्मा प्राणी निरंतर दुःख ही दुःख भोगता है। सुख का लेश भी प्राप्त नहीं होता। ये दोनों काल भी कर्मभूमि काल है। इस काल में धर्म ही नहीं होता अतः निर्वाण संभव नहीं।

उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद हैं-

- | | | |
|----------------|-------------------|----------|
| 1. दुषमा-दुषमा | - यह प्रथम काल है | कर्मभूमि |
| 2. दुषमा | - यह दूसरा काल है | कर्मभूमि |
| 3. दुषमा-सुषमा | - यह तीसरा काल है | कर्मभूमि |
| 4. सुषमा-दुषमा | - यह चौथा काल है | भोग भूमि |



5. सुषमा - यह पांचवा काल है भोग भूमि
 6. सुषमा-सुषमा - यह छठवां काल है भोग भूमि

असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है-जिसमें अनहोनी घटनाएँ होती है। जैसे-

1. तृतीय काल में कुलकरोँ, तीर्थकरोँ आदि महापुरुषों की उत्पत्ति व मोक्ष।
2. तीर्थकर की पुत्रियाँ होना।
3. चक्रवर्ती का मान भंग। आदि।

आगे कहते हैं-“च चतुर्गतीनां आदर्श इव अवैति स करणानुयोगं” और चारों गतियों को जो दर्पण के समान स्पष्ट जानता है। वह करणानुयोग शास्त्र है। चार गतियाँ 1. मनुष्य 2. देव 3. तिर्यच 4. नरक गति। इस प्रकार लोकालोक, युगपरिवर्तन व चारों गतियों को हम करणानुयोग शास्त्रों के माध्यम से ही जान जाते हैं। **करणानुयोग संबंधी शास्त्र**-गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, तिलोपपण्णत्ति, षट्खंडागम-धवल, जयधवल, महाधवल, टीका आदि अनेक ग्रंथ है। **करणानुयोग**-गणितीय पद्धति है जिसके माध्यम से हम लोक व अलोक आदि को जानते हैं। करणानुयोग की कसौटी पर कसा आगम हमारे श्रद्धान को दृढ़ व मजबूत बनाता है तथा एकाग्रता आ जाने से असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा का स्थान बनता है। इसलिए अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को मजबूत/दृढ़ बनाने के लिए करणानुयोग शास्त्रों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”

व्रत भंग से दोष

प्राणान्तेऽपि न भङ्गक्तव्यं गुरुसाक्षिधृतं व्रतम् ।

व्रतभंगो हि दुःखाय प्राणा जन्मनि-जन्मनि ।। 966 ।। (सु.सं.)

अर्थ : गुरु को साक्षीपूर्वक लिया हुआ व्रत, प्राणान्त का अवर आने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि व्रत भंग दुख के लिए होता है परन्तु प्राण जन्म-जन्म में प्राप्त होते रहते हैं।





प्रवचन-43

श्लोक-45

पाओं आचरण की शिक्षा

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री 108 समंतभद्र महाराज एक महान् तत्त्व मनीषी नैय्यायिक आचार्य हुए हैं। उन्होंने न्याय की प्रधानता को लेकर अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है विस्तार बुद्धि जनों के अनुग्रह करने के लिए उन्होंने अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ के माध्यम से संपूर्ण आगम का सार जिन चार अमृत कुंभों में संग्रहीत किया गया है। उनका विशेष वर्णन किया है। पूर्व श्लोक 43 व 44 के माध्यम से प्रथमानुयोग व करणानुयोग का वर्णन किया था अब आगे चरणानुयोग का वर्णन करते हुए कहते हैं-

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्ति वृद्धि रक्षाङ्गम् ।

चरणानुयोग समयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।45।।

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो
सम्यग्ज्ञानं	-	सम्यग्ज्ञान (भावश्रुतज्ञान)
गृहमेध्यनगाराणां	-	गृहस्थ व मुनियों के
चारित्रोत्पत्ति वृद्धि	-	गृहस्थ व मुनियों के
रक्षाङ्गम्	-	व रक्षा के साधनों को
विजानाति	-	जानता है।
तम्	-	उसको
चरणानुयोग समयं	-	चरणानुयोग (शास्त्र)
(आचार्याः)	-	(आचार्य)
कथयन्ति	-	कहते हैं।

अर्थ-जो सम्यग्ज्ञान (भावश्रुतज्ञान) गृहस्थ व मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा के साधनों को जानता है, आचार्य उसे चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् इस श्लोक के माध्यम से चरणानुयोग का वर्णन कर रहे



हैं। चरणानुयोग शब्द में छिपा चरण शब्द विशेष महत्वशाली है। चरण का लौकिक अर्थ-जिसके आधार से चला जाए वे चरण कहलाते हैं। यदि हमारे पास चरण है तो हम चल सकते हैं यदि चरण ही न हो तो चलना कैसे संभव हो सकता है। एक बार की बात है। एक मयूर वर्षा ऋतु के समय अपने पंखों को फैलाकर नृत्य कर रहा था, वह मन ही मन बहुत खुश था सोच रहा था मेरे जैसा सुंदर शरीर किसी का भी नहीं, मेरे जैसे सुंदर पंख किसी भी पक्षी के नहीं इसलिए मैं पक्षीराज कहलाता हूँ। पक्षियों में सर्वश्रेष्ठता का खिताब मुझे हासिल है। खुशी से वह इतना पागल हो रहा था कि उसकी नृत्य करने की गति बहुत बढ़ गई थी। नृत्य करते-करते अचानक उसकी दृष्टि अपने पैरों पर गई तो उसकी सारी प्रसन्नता दुःख में बदल गई। हाय, मेरा इतना सुंदर शरीर फिर भी पैर इतने बदसूरत। मयूर ने अपना नृत्य गान बंद कर दिया और उदास होकर एक ओर जाकर बैठ गई। तभी वहाँ से होकर हंसराज उड़ते जा रहे थे जब उन्होंने मयूर को उदास बैठे देखा तो कहा-हे पक्षीराज! आप यूँ उदास क्यों बैठे हैं मयूर ने कहा-हे हंसराज! आज मैं बहुत प्रसन्न था सोच रहा था कि मुझसे खूबसूरत कोई नहीं, परंतु जब मेरी दृष्टि अपने चरणों पर गई बस तभी से दुःखी हूँ, देखो न मैं इतना सुंदर, फिर भी मेरे चरण सुंदर नहीं हैं। वे इतनी चर्चा परस्पर कर ही रहे थे कि अचानक एक बहेलियाँ कहीं से अपना जाल लेकर आ गया, बहेलियाँ पर जैसे ही उन हंस व मयूर की दृष्टि पड़ी वे वहाँ से भागे और इतना भागे, इतना भागे कि भागते-2 एक उपवन में घुस गये। उन दोनों का पुण्य योग प्रबल था परिणाम स्वरूप उस उपवन में वृक्ष के नीचे विराजे मुनिराज के दर्शन उन्हें हो गये। हंस ने मयूर की ओर देखा और कहा-देखो मित्र! वृक्ष के नीचे वे संत महात्मा विराजे हैं हम उनसे चलकर अपने प्रश्न का समाधान लेते हैं। मयूर, हंस की बात स्वीकृत करता है और दोनों महाराज के चरणों में पहुँच जाते हैं। मयूर पंख फैलाकर महाराज के प्रति विनयभाव, भक्ति व हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करता है और दोनों मिलकर अपने आने का कारण कहते हैं-कि हे भगवन्! मैं बहुत परेशान हूँ प्रकृति ने इतना सुंदर शरीर तो मुझे दिया परंतु अफसोस मेरे चरण सुंदर नहीं हैं। महाराज ने बड़े गौर से मयूर के चरण निहारे और कहा-हे पक्षीराज! तुम भ्रांति में हो क्योंकि मुझे तो तुम्हारे चरण ही सबसे सुंदर नजर आ रहे हैं। मयूर कहता है-हे भगवन्! आप मेरा उपहास न करें मैं तो पहले ही बड़ा दुःखी हूँ। महाराज ने कहा-मेरा तो उपहास का प्रत्याख्यान/त्याग व्रत है मैं इस सृष्टि में किसी का भी उपहास नहीं करता। मयूर ने कहा-फिर स्वामिन्! आप ही कहे मेरे चरणों में आपको ऐसा क्या दिखा जो ये सुंदर लग रहे हैं। महाराज ने कहा-तुम यहाँ तक मेरे पास कैसे आये पहले यह कहो ? मयूर ने आप बीती सारी सुना दी-कि हंस मित्र से मेरी चर्चा-वार्ता चल रही थी, तभी बहेलियाँ आ गया, हम दोनों जान बचाकर ऐसे भागे, कि सीधा आपके चरणों में विश्रांति पायी है। महाराज ने कहा- बस! बस! इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि तुम्हारे चरण सबसे सुंदर हैं। यदि ये दो चरण न होते तो तुम भागते कैसे? यदि भागते नहीं तो प्राणों की रक्षा कैसे संभव थी। इन चरणों ने ही तुम्हारे प्राणों की रक्षा की है इसलिए ये चरण ही सबसे सुंदर हैं।



भव्य मनीषियो! जिनके आधार से चला जाए वे ही चरण है। तथा इसके आध्यात्मिक अर्थ में हम उतरे तो जो हमें आचरण की शिक्षा दें वे चरण, ही वास्तविक चरण है। एक बार की प्रासंगिक घटना है। राम, हनुमान, लक्ष्मण व सीता जब वन विहार कर रहे थे तब एक दिन अचानक लक्ष्मण के मन में एक प्रश्न उठा कि भैया! के चरण सुंदर है या भाभी के, रामचंद्र जी के या सीता के। बड़े गौर से दृष्टि डाली परंतु निर्णय नहीं कर पा रहे थे तभी वहाँ हनुमानजी आ गये, लक्ष्मण को किसी गहरी सोच में डूबा देखा तो हनुमान से रहा नहीं गया वे पूछ बैठे-हे लक्ष्मण! तुम क्यों परेशान दिख रहे हो। लक्ष्मणजी बोले- उलझन बहुत बड़ी तो नहीं है। परंतु.....? इतना कहकर लक्ष्मण रुक गये। हनुमान ने कहा-अरे! आप रुक क्यों गये-कहो तो मुझे, अभी धरती-पाताल एककर देता हूँ। सृष्टि में क्षोभ पैदा कर देता हूँ। लक्ष्मणजी बोले- अरे! अरे!! हनुमंत शांत, सृष्टि को नहीं पलटना बस इतना बता दो कि चरण किसके सुंदर है भैया रामचंद्रजी के या भावज सीता के। हनुमानजी बोले-हूँ, ये बात है? प्रश्न तो सचमुच विचारणीय है। परंतु मेरे उत्तर देने से पहले तुम अपना आशय तो कहो-लक्ष्मणजी बोले-मेरे विचार से भावज सीताजी के पैरों से मेरे भैया! राम के चरण अधिक सुंदर है। हनुमान ने कहा-अब मेरी बारी है तो मेरा विचार आपसे कुछ पृथक् है। यद्यपि मेरे प्रभु राम मुझे सबसे प्रिय है इसलिए निःसंदेह उनके ही चरण मुझे सबसे अच्छे लगते हैं परंतु भैया सीता! के चरण की सुंदरता की बराबरी प्रभु श्रीराम के चरण कदापि नहीं कर सकते। लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ वे सोचने लगे यह राम भक्त हनुमान तो बदल गया, अब सीता भैया इसे अधिक प्रिय लगने लगी। हनुमान बोले-लक्ष्मण! तुम जो सोच रहे हो उसका उत्तर अवश्य दूंगा। यद्यपि श्रीराम के चरण सन्मार्ग पर गमन करते हैं। इसलिए श्रेष्ठ है। परंतु उन चरणों का प्रतिपल-प्रतिक्षण अनुगमन करने वाले होने से सीता के चरण सर्वश्रेष्ठ है।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यह है कि जो चरण हमें आचरण की शिक्षा देता है। वही चरण सर्वश्रेष्ठ होता है। तथा जिस अनुयोग में आचरण की शिक्षा छिपी है वही चरणानुयोग है। श्रुतज्ञान के सम्यग्ज्ञान के मुख्य रूप से दो भेद है 1. अंगबाह्य 2. अंगप्रविष्ट इनमें से अंगप्रविष्ट के 12 भेद है। इन बारह अंगों में पहला अंग आचारांग होता है उस आचारांग में ही चरणानुयोग संबंधी शास्त्रों का समावेश होता है। पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं- यत्-जो, 'सम्यग्ज्ञान'-सम्यग्ज्ञान, 'गृहमेध्यनगाराणां'-गृहस्थ व मुनियों के चारित्रोत्पत्ति, 'वृद्धि', रक्षागम्-चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि व रक्षा को जानता है। "तम्" उसकी 'चरणानुयोग समयं' चरणानुयोग शास्त्र कथयन्ति कहते हैं। जिसके आधार से चला जाए तथा जो आचरण की शिक्षा दे वही वास्तविक चरण है। वे चरण गृहस्थों के 11 प्रतिमा रूप तथा मुनियों के 13 प्रकार के चारित्र के अनुरूप 13 है।

गुरुजन जब भी उपदेश देते हैं। तो सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही उपदेश देते हैं क्योंकि कर्मों का



क्षय व निर्वाण की प्राप्ति एक मात्र उसी यथाजात वेश में ही संभव है। मुनियों के वे तेरह चरण-5 महाव्रत, 5 समिति व तीन गुप्तियाँ हैं। 5 महाव्रत-1. अहिंसा 2. सत्य 3. अचौर्य 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह।

महाव्रत-महापुरुष जिनका आचरण करते 'महच्च तत् व्रतञ्चेति महाव्रतम्' है। तथा जो स्वयं महान् व उत्कृष्ट है। पाँचों पापों के पूर्णरूपेण त्याग को महाव्रत कहते हैं।

1. अहिंसा महाव्रत-संपूर्ण छह काय के प्राणियों की हिंसा का 9 कोटि से (मन, वचन, काय कृत, कारित, अनुमोदन 3 3 9) त्याग करना अहिंसा महाव्रत कहलाता है।

2. सत्य महाव्रत-9 कोटि से स्थूल व सूक्ष्म सभी प्रकार के झूठ बोलने का त्याग सत्य महाव्रत कहलाता है।

3. अचौर्य महाव्रत-9 कोटि से, पर की वस्तु के बिना अनुमति ग्रहण का त्याग अचौर्य महाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत-9 कोटि से संपूर्ण प्रकार की स्त्रियों का त्याग कर अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

5. अपरिग्रह महाव्रत-10 प्रकार के बहिरंग व 14 प्रकार के अंतरंग इस प्रकार कुल 24 प्रकार के परिग्रहों का 9 कोटि से त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है।

समिति-यत्नाचार पूर्वक की गई प्रवृत्ति का नाम समिति है समितियाँ 5 प्रकार की होती हैं।

1. ईर्या समिति-मुनिजन गमन करते समय अपने आगे चार हाथ भूमि को देखते हुए चलते हैं। यही उनकी ईर्या समिति कहलाती है।

2. भाषा समिति-हित-मित-प्रिय वचनों का प्रयोग करते हुए-कर्कश, कठोर, अपशब्द, पर के लिए मर्मभेदी, अभिमान से युक्त अशुभ वचनों का त्याग यह भाषा समिति कहलाती है।

3. एषणा समिति-16 उद्गम, 16 उत्पादन, 10 मल दोष व 4 अंगार इस प्रकार 46 दोष व 32 अंतरायों को टालते हुए शुद्ध, प्रासुक, निर्दोष आहार को भ्रामरी व गोचरी वृत्ति से ग्रहण करना एषणा समिति कहलाती है।

4. आदान निक्षेपण समिति-उपयोग के आने वाले उपकरणों व पिच्छ, कमण्डलु आदि को उठाते, रखते समय जीव रक्षा हेतु देखते हुए अच्छी तरह परिमार्जन करना आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है।

5. प्रतिष्ठापना-मल, मूत्र, श्लेष्मा आदि का त्याग करते समय त्यागने योग्य स्थान (भूमि) का परिमार्जन करना जहाँ चींटी आदि जीव न हो ऐसे स्थान पर मल मूत्र का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है। गुप्ति-मन, वचन व काय की दुष्ट चेष्टाओं/अन्यथा प्रवृत्ति के त्याग का नाम गुप्ति है। गुप्तियों के तीन भेद हैं-

1. मन गुप्ति-मन की दुष्टचेष्टाओं का त्याग कर व संपूर्ण अंतरंग जल्पों का त्याग कर धर्म ध्यान में लीन रहना मनो गुप्ति है।



2. वचन गुप्ति-संपूर्ण बाह्य व अंतरंग जल्पों का त्याग कर मौन धारण करना तथा किसी भी प्रकार की वाचनिक चेष्टा नहीं करना वचन गुप्ति है।

3. काय गुप्ति-काय की संपूर्ण दुष्ट चेष्टाओं का त्याग कर, शारीरिक स्थिरता का अभ्यास अथवा संपूर्ण कायिक चेष्टाओं का त्याग काय गुप्ति है।

इन तेरह प्रकार के चारित्रों का मुनिजन यथाशक्ति पालन करते हैं।

यद्यपि शास्त्रों में मुनिजनों के चारित्र को व्यवहार व निश्चय की प्रधानता से दो भागों में बांटा है। आचार्य भगवन् नेमिचंद्र सिद्धान्ति देव अपने वृहद् द्रव्य संग्रह ग्रंथ में कहते हैं-

असुहादो विणिविक्ती सुहे पविक्ती य जाण चारित्तं ।

वदसमिदि गुत्ति रूवो ववहारणया दु जिणभणियं ।।45।।

बहिभ्यंतर किरिया रोहो भवकारणप्पणा सट्ठं ।

णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्म चारित्तं ।।46।।

अशुभ से निवृत्ति व शुभ में प्रवृत्ति का नाम व्यवहार चारित्र है वह व्यवहार चारित्र व्रत, समिति, गुप्ति रूप होता है। तथा ज्ञानी की भव के कारणों से छूटने हेतु जो बाह्य व आभ्यंतर क्रिया का त्याग किया जाता है उसे जिनेन्द्र देव निश्चय चारित्र कहते हैं। यह मुनियों का चारित्र है। यदि कोई व्यक्ति सकल चारित्र के पालन में असमर्थ होता है। तो सर्वज्ञ देव ने गृहस्थ धर्म का भी वर्णन किया है जो कि श्रावक की 11 प्रतिमा रूप होता है। 1. दर्शन प्रतिमा 2. व्रत प्रतिमा 3. सामायिक प्रतिमा 4. प्रोषधोपवास प्रतिमा 5. सचित्त त्याग प्रतिमा 6. रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा 8. आरंभ त्याग प्रतिमा 9. परिग्रह त्याग प्रतिमा 10. अनुमति त्याग प्रतिमा व 11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

चरणानुयोग शास्त्र में मुनियों व गृहस्थों के चारित्र का वर्णन किया जाता है। इस चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा के उपायों को बताते हुए आचार्यों ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है-

सागार धर्मामृत, अनगार धर्मामृत, मूलाचार, आदि अनेक ग्रंथ है। उपासकाध्ययनांग के अंतर्गत चर्या विषयक ग्रंथों का वर्णन किया गया है। चरणानुयोग मोक्षपथ पर गमन करने हेतु आचरण की शिक्षा देता है। आप चरणानुयोग शास्त्रों का विशेष अध्ययन कर अपने आचरण को पवित्र बनायें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”



प्रवचन-45

श्लोक-46

चलो अंधकार से प्रकाश की ओर

भव्य मनीषियो! घनघोर अंधकार के बीच फंसे व्यक्ति को यदि दीपक का छोटा सा टिमटिमाता प्रकाश भी दिख जाए तो मन में तसल्ली होती है, आत्मा में शुक्ल होता है कि एक प्रकाश किरण तो मिली क्योंकि अंधकार में हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। अपने अभीष्ट स्थान व सामग्री को पाने में अधियारा बाधक तत्व है। घनघोर अंधकार में यदि एक छोटी सी प्रकाश किरण आ जाए तो हमें हमारे अभीष्ट तक पहुँचाने में समर्थ होती है।

बंधुओ! इस मानव जीवन को पाकर भी हमारे जीवन में अज्ञान रूपी घनघोर अंधकार छाया रहता है उस अधियारे की कालिमा में हमें हमारे अभीष्ट आत्म तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाती। उस अभीष्ट को पाने के लिए ज्ञान की एक किरण, छोटा सा टिमटिमाता ज्ञान दीप भी काफी होता है। उसी दीपक के प्रकाश की महिमा बतलाते हुए आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज श्लोक 46 के माध्यम से कहते हैं-

जीवाजीव सुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च ।

द्रव्यानुयोग दीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ।।46।।

अन्वयार्थ-

(यः बोधः)	-	(जो ज्ञान)
जीवाजीव सुतत्त्वे-	-	जीव, अजीव आदि उत्तम तत्त्वों को
च	-	और
पुण्यापुण्ये च	-	पुण्य, पाप को और
बंधमोक्षौ	-	बंध, मोक्ष को
श्रुतविद्यालोकं	-	भावश्रुत रूपी प्रकाश को
(यथास्यात्तथा)	-	(जैसा का तैसा)
आतनुते	-	विस्तारता है (प्रकाशित करता है)



स द्रव्यानुयोग दीपः- वह द्रव्यानुयोग भावश्रुतज्ञान है।

अर्थ-जो ज्ञान जीव-अजीव रूप उत्तम तत्त्वों को, पुण्य-पाप, बंध, मोक्ष को व भावश्रुत रूपी प्रकाश को विस्तारता/प्रकाशित करता है। वह द्रव्यानुयोग भावश्रुतज्ञान है।

भव्य मनीषियो! अंधकार यह भी पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय है। तथा प्रकाश की प्रतिद्वन्दी है। प्रकाश व अंधकार दोनों में छत्तीस का आंकड़ा है। अंधकार जिसका नाम सुनते ही हर एक मन दुःखित हो जाता है। अधियारी को कोई भी पसंद नहीं करता। एक बार की घटना है- एक परिवार था जिसमें माता-पिता व उनकी तीन संतानें थी एक बड़ा बेटा व दूसरी बड़ी बेटी व तीसरा बच्चा 4 साल का छोटा बालक था। परिवार में बड़ी खुशहाली थी। बड़ा बेटा टी.वी. का शौकीन था और मस्त होकर क्रिकेट देख रहा था। बेटी पढ़ने में बहुत होशियार थी। बड़ी-बड़ी परीक्षा की तैयारियाँ करती अतः रात-रात भर जागकर खूब पढ़ती थी। छोटा सा 4 वर्षीय बालक मम्मी की गोदी में ही रहना पसंद करता था। तथा मम्मी को घर के काम से ही फुर्सत नहीं थी। रहे पापा सो ऑफिस के काम में व्यस्त रहते थे। सारा परिवार अपने-2 कार्यों में व्यस्त था कि अचानक सारे शहर की लाईट ही चली गई। पूरे शहर में ही अधियारा छा गया। बेटा का मूड ऑफ अब क्रिकेट कैसे देखूँगा, बेटी को बड़ा टेंशन मैं पढ़ूँगी कैसे। छोटा बेटा तो लाईट जाते ही डर के मारे चीख उठा-और अपनी मम्मी को बुलाने लगा-मम्मी जल्दी आओ, भूत आया। मम्मी के सारे काम स्थगित हो गये, पापा का ऑफिस कार्य बंद हो गया। चारों ओर शून्यता छा गई। सर्वत्र दुःख छा गया। बिना प्रकाश के हमारा जीवन कैसे चले क्योंकि आज के मॉडर्न युग में बिना करंट के कोई काम होता ही नहीं है। अधियारे ने पूरे परिवार को परेशान कर दिया तभी माँ का हाथ पास रखे दीपक पर पड़ा उसने दीपक उठाया और जैसे ही तीली लगाई चारों ओर दीपक ने प्रकाश फैला दिया छोटा बच्चा भी शांत हो गया, घोर अंधकार में टिमटिमाते दीपक का थोड़ा भी प्रकाश चेहरे पर प्रसन्नता ला देता है। कारण कि कम से कम क्या, कहाँ पड़ा है वह तो दिखाई देता है जब प्रकाश हुआ तो कोई ईमरजेंसी तक पहुँचा तो कोई जनरेटर तक और सबके काम पूर्ववत् चलने लगे।

बंधुओ! यह किसी परिवार विशेष की नहीं घर-घर की कहानी है। सारा संसार अंधकार से घबराता है इसीलिए प्रकाश की ओर गति देता है। उस अंधकार को दूर कैसे करें? तो अकबर-वीरबल का एक रोचक संवाद आता है। एक बार अकबर ने हमेशा की भाँति अपनी सभा में घोषणा की, कि अमुक-2 कमरे में घनघोर अंधकार का प्रवेश हो गया है जो इस अंधकार को दूर करेगा उसे पारितोषिक दिया जाएगा। बड़े-2 पहलवान उस अंधकार को दूर करने तैयार थे कोई हाथ में बड़े-2 लट्ठ लिये था तो कोई तलवार। एक-2 कर कमरे में घुसे-डंडे चलाये परंतु अंधकार पर डंडों की मार का कोई असर नहीं हुआ, तलवारें चलायी गई परंतु वेअसर। पहलवान, अपनी पहलवानी दिखा-दिखा कर हार



गये, परंतु अंधकार के साम्राज्य को खत्म नहीं कर पाये। अकबर के पास खबर भेजी गई। जहापनाह आपकी आज्ञानुसार बहुत उपाय किये जा चुके हैं। परंतु अंधकार उस से मस नहीं होता। अब बारी वीरबल की थी। वीरबल का चातुर्य तो जगत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कहा-ठीक है राजाज्ञा है तो अवश्य यह कार्य करूँगा। वीरबल ने एक मिट्टी का दीपक उठाया, उसने बाती लगाई, थोड़ा तेल डाला और दीप प्रज्ज्वलित कर दिया और चले अंधकार से लड़ने। जैसे वीरबल ने कमरे में पग रखा अंधकार थरथराने लगा और दीपक के प्रकाश को देखते ही भाग खड़ा हुआ। अंधकार के भागने की खबर सुनते ही महाराजा अकबर बहुत प्रसन्न हुए और वीरबल के “बुद्धि कौशल” की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

बंधुओ! यदि किसी को भगाना है तो प्रतिद्वन्दी/बलशाली का प्रवेश अनिवार्य है। प्रायः संपूर्ण प्राणी जगत अज्ञान रूपी अंधकार से व्याप्त है। यदि हम उस अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करना चाहते हैं। तो प्रतिद्वन्दी का प्रवेश जीवन में अनिवार्य है। तथा अज्ञान का प्रतिद्वन्दी ज्ञान है। जिसके जीवन में सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक प्रज्ज्वलित हो जाता है। उसका मोहान्धकार, अज्ञानान्धकार विलय को प्राप्त हो जाता है। यही बात पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज कह रहे हैं-“द्रव्यानुयोग दीपः” हे भव्य! यदि तुम अपने जीवन में व्याप्त अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करना चाहते हो तो द्रव्यानुयोग का दीपक प्रज्ज्वलित कर लीजिए। द्रव्यानुयोग “जीवाजीव सुतत्त्व” जीव, अजीवादि सुतत्त्वों को प्रकाशित करता है। यह सृष्टि नाना तत्त्वों से भरी हुई है परंतु जो तत्त्व हमें हमारे वास्तविक स्वरूप तक ले जाये वे सुतत्त्व कहलाते हैं। जिनको जानकर हमारे अंदर हेयोपादेय की बुद्धि जाग्रत होती है तथा सुपथ पर गमन होता है। वे सुतत्त्व कहलाते हैं। वे जीवादिक सुतत्त्व सात होते हैं-

1. जीव 2. अजीव 3. आस्रव 4. बंध 5. संवर 6. निर्जरा 7. मोक्ष।

1. जीव-जिसमें ज्ञान व दर्शन रूपी चेतना पायी जाती है वह जीव तत्त्व है। उदाहरण-चतुर्गति के प्राणी।

2. अजीव-जीव से विपरीत अर्थात् जो चेतना रहित है-‘चेतनता बिन सो अजीव है’ वही अजीव तत्त्व है। उदाहरण-कुर्सी, टेबिल, आदि पौद्गलिक पदार्थ है।

3. आस्रव-“कर्मागम द्वार रूपं आस्रवः” कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। इसके दो भेद हैं। 1. भावास्रव 2. द्रव्यास्रव।

जिन परिणामों के निमित्त से कर्म आत्मा में आते हैं- वह भावास्रव है।

परिणाम विशेष से जो पुद्गल प्रचय आत्मा में आता है वह द्रव्यास्रव कहलाता है।

4. बंध-पुद्गल कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशों के साथ दूध व पानी के समान मिलकर एकमेक हो जाना बंध कहलाता है-इसके भी दो भेद हैं-1. भावबंध 2. द्रव्यबंध।



भावबंध-जिन परिणामों के निमित्त से कर्म, आत्मा के साथ बंधते हैं वह भाव बंध कहलाता है। द्रव्यबंध-परिणाम विशेष से जो पुद्गल प्रचय, आत्म प्रदेशों के साथ बंधता है वह द्रव्यबंध कहलाता है।

5. संवर-आत्मा में आते कर्मों का रूक जाना संवर कहलाता है।

6. निर्जरा-“एकदेश कर्म संक्षय लक्षणाः निर्जरा” आत्मा से एकदेश कर्मों का खिरना निर्जरा कहलाती है।

7. मोक्ष-“कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः” आत्मा से कर्मों का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है।

जब हम इन सात तत्त्वों को अच्छी तरह समझ लेते हैं तो हेयोपादेय की बुद्धि आत्मा में जाग्रत हो जाती है। जीव व अजीव तत्त्व पृथक्-पृथक् है हमारी आत्मा संपूर्ण अजीव पौद्गलिक तत्त्वों से पृथक् है। ऐसे कार्य करूँगा तो कर्मों का आस्रव-बंध होगा। भगवत् पूजनादि शुभ कार्यों से शुभास्रव होगा। शुभ बंध होगा। व्रत, समिति, गुप्ति के पालन से कर्मों का संवर/निर्जरा होती है। आत्मा के ध्यान से शुद्धोपयोग से संपूर्ण कर्मों का क्षय मोक्ष होता है। इत्यादि आत्म तत्त्व विषयक श्रद्धान्तर द्रव्यानुयोग के माध्यम से ही सुदृढ़ होता है। पूज्य आचार्य भगवन् आगे कहते हैं- “पुण्यापुण्ये च बंध मौक्षौ च” पुण्य व पाप को, बंध और मोक्ष को भी द्रव्यानुयोग ग्रंथ ‘आतनुते’ विस्तरित करता है।

पुण्य कर्म-देव पूजा, गुरु उपासना, जिनाभिषेक, स्वाध्याय पूजा, संयम आदि शुभ कार्यों को करने से पुण्य होता है। तथा पुण्य का फल-स्वर्ग, मोक्षादि की प्राप्ति है।

पाप कर्म-हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्यों में प्रवृत्ति करने से अशुभास्रव होता है यही पाप कर्म कहलाता है तथा पाप का फल-नरकादि दुर्गतियों की प्राप्ति है।

अन्य-अन्यान्य मती पुण्य-पाप को नहीं मानते। इस लोक-परलोक को नहीं मानते ऐसे चार्वाकादि मतियों की मान्यता है कि परलोकादि किसने देखा इसलिए जीवन मिला है तो विषय भोग जी भर कर भोग लेना चाहिए। ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए क्योंकि इस संसार में प्राणी का पुनः आगमन नहीं होता। उन लोगों की मान्यता का खंडन पुण्य-पाप कर्म की व्यवस्था से हो जाता है आप अच्छा कर्म करेंगे तो फल अच्छा मिलेगा। पाप कर्मों में प्रवृत्त रहेंगे तो फल बुरा मिलेगा। कर्म सिद्धान्त की पुण्य-पाप रूप व्यवस्था समीचीन है। पुण्य-पाप कर्म के स्वरूप को जानने के उपरांत ही पापों से निवृत्ति व पुण्य में प्रवृत्ति संभव है। अतः इस संपूर्ण सिद्धान्त का ज्ञान कराने वाला द्रव्यानुयोग ग्रंथ होता है। आगे कहते हैं- ‘श्रुत विद्यालोकं यथास्यात्तथा आतनुते स द्रव्यानुयोग दीपः’ जो भावश्रुतरूपी प्रकाश को जैसे का तैसा विस्तारता है/प्रकाशित करता है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है।



लोक में श्रुत विद्या यानि भावश्रुत को भी प्रकाशित करता है। द्रव्य श्रुत को पाना आसान है। 11 अंग व 9 पूर्व तक के ज्ञाता द्रव्यश्रुतज्ञानी भी 9 ग्रैवेयक तक भी चला जाता है परंतु संसार परिभ्रमण से नहीं टूट पाता। जबकि अष्टप्रवचनमातृका के ज्ञान को धारण करने वाला भावश्रुतज्ञानी क्षण भर में संपूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

उस भावश्रुत रूपीज्ञान को प्रकाशित करने वाला भी द्रव्यानुयोग ही हैं। द्रव्यानुयोग ग्रंथों के माध्यम से ही आत्म तत्त्व विषयक विशेष विश्लेषण ज्ञात होता है-तत्त्वसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथ-द्रव्यानुयोग ग्रंथ कहलाते हैं। जो आत्मा की संपूर्ण अवस्थाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। बाल की खाल निकालने वाले सूक्ष्म तत्त्व चिंतन को हमारे पूज्य पूर्वाचार्यों ने अपने मंथन द्वारा इन ग्रंथों में भर दिया है। अतः हमारे मिथ्यान्धकार को हटा कर ज्ञान रूपी प्रकाश से भरने का महोपकार द्रव्यानुयोग ग्रंथों में किया गया है। हमारे परम सौभाग्य से हमें इनकी उपलब्धि हुई है। आप इन महान् ग्रंथों का अध्ययन कर तत्त्वचिंतन से अपने आत्मा को अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें।

इसी भावना के साथ-

“श्री1008 मुनिसुव्रत नाथ भगवान की जय”



तत्त्वज्ञान

वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं वरं प्रविष्टं ज्वलेनडतिरौद्रे ।

वरं कृतान्ताय निवेदितं स्वं, न जीवितं तत्त्व विवेक मुक्तम् ।।19।।

(सु.सं.)

अर्थ : तीव्र दोष उत्पन्न करने वाला विष लेना कुछ अच्छा है, भयंकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाना कुछ अच्छा हैं, और यम के लिए अपने आपको सौंप देना कुछ अच्छा है परन्तु तत्त्वज्ञान से रहित जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं है।





प्रवचन-46

श्लोक-47

मोक्षमार्ग का कदम-चारित्र

बंधुओ! रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ के दो अध्यायों में परम पूज्य आचार्य समंतभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की विधि बतलाई। सम्यग्दर्शन जिसके बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं और सम्यग्ज्ञान अर्थात् जिसके बिना सम्यग्दर्शन की निर्मलता तथा सम्यक्चारित्र की ओर प्रयाण, दृढ़ता संभव नहीं क्योंकि आगमिक शास्त्रों में पूर्वाचार्यों ने भी यही कहा कि सम्यग्ज्ञान का फल सम्यक्चारित्र ही है नहीं तो वह ज्ञान मात्र प्रदर्शन है क्योंकि आत्मदर्शन की ओर कदम नहीं बढ़ रहे हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति द्वारा बताये मार्ग पर (श्रद्धान) विश्वास हो जाए, और वह उससे उस मार्ग की पूर्ण जानकारी भी ले ले तथा स्वयं उस मार्ग पर कदम न बढ़ाये वहीं मात्र विश्वास करके, जानकारी लेकर खड़ा रहें तो वह कभी अपने गन्तव्य स्थान (मंजिल) तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार मोक्षमार्ग या मोक्ष तत्त्व, आत्मतत्त्व का गुरुओं के उपदेश से श्रद्धान हो जाए, शास्त्र के अध्ययन से खूब ज्ञान हो जाए थोड़ा नहीं 11 अंग 9 पूर्व का विशाल ज्ञान तो भी यदि व्यक्ति के पास चारित्र का अनुष्ठान नहीं, आत्मतत्त्व का अनुभव रूप चारित्र नहीं तो वह कभी मोक्ष या निजआत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः 1 अकेला सम्यग्दर्शन या 2 अकेला सम्यग्ज्ञान या 3 अकेला सम्यक्चारित्र या 4 सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान या 5 सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र या 6 सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र या 7 मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र मोक्षमार्ग नहीं अपितु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र 1/1 में यहीं बताया “सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः” आगे इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य महाराज बता रहें हैं कि जीवन में वह सम्यक्चारित्र कब, कैसे संभव है-

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः ।

रागद्वषनिवृत्यै चरणं, प्रतिपद्यते साधुः ॥47॥

अन्वयार्थ-

मोहतिमिरापहरणे

-

मोह रूपी अंधकार के दूर होने पर



दर्शनलाभात्	-	सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से
अवाप्तसंज्ञानः	-	जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा
साधुः	-	भव्य जीव
रागद्वेषनिवृत्तै	-	राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए
चरणं	-	चारित्र को
प्रतिपद्यते	-	प्राप्त होता है।

अर्थ-मोहरूपी अंधकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा भव्य जीव रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को प्राप्त होता है।

भव्य बंधुओ! मोहरूपी तिमिर (अंधकार) के दूर हो जाने पर दर्शन (सम्यग्दर्शन) का लाभ होता है इसलिए कहा गया “मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभात्”। परंतु यदि मोह विद्यमान है तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोह के दो भेद हैं-1. दर्शन मोहनीय 2. चारित्र मोहनीय। यहाँ मोह से दर्शनमोहनीय लेना है और दर्शनमोहनीय में से भी मिथ्यात्व नाम का भेद। जिसने मिथ्यात्व को त्याग दिया है। (अर्थात् उपशम या क्षय कर दिया है) उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है क्योंकि कहा गया हैं-

दोई मुख कथी सिले न कंधा, दोई पथ पंथी चले न पंथा।

दोई काज न होत सयाने, विषय भोग अरू मोक्ष पयाने।।

अर्थात् दो काम एक साथ नहीं हो सकते। एक म्यान में 2 तलवारें नहीं हो सकती। अंधकार के साथ प्रकाश नहीं हो सकता। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन होगा तो नियम से सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता तथा सम्यग्दर्शन होगा तो मिथ्यादर्शन नहीं होगा। दोनों में 36 का आँकड़ा है। जब जीवन में मिथ्यात्व का उदय होता है तो वह दृष्टि को बदल देता है, विपरीत बना देता है। उस समय व्यक्ति मोक्षमार्ग की ओर पीठ तथा संसार की ओर मुख कर लेता है। मिथ्यात्व में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ओर पीठ हो जाती है। आत्मतत्त्व में अरुचि तथा संसार में रुचि लगने लगती है। धर्म की बात रूचना तो दूर सुनना भी पसंद नहीं होती गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्यश्री सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचंद्र जी द्वारा कहा भी गया हैं कि

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदसंणो होदि।

ण य धम्मं रोचेदि हु म्हरं खु रसं जहा जरिदो।।17।।

मिच्छाड्ढी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सदहदि।

सदहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवट्ठं।।18।।



मिथ्यात्व का उदय होने पर प्रायः धर्म वैसे ही नहीं रूचता जैसे पित्त ज्वर वाले रोगी को मीठा दूध। पित्त ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को कितना भी मधुर दूध, इलायची आदि मसाला डाल कर दिया जाए पर उसे वह कड़वा ही लगता है। कारण क्या है? तो कहा गया, ज्वर का प्रभाव उसका मुँह कड़वा-2 रहता है और यदि कुछ खाता-पीता भी है तो उसे वह सब सामग्री कड़वी ही लगती है? उसी प्रकार मिथ्यात्वोदय से धर्म नहीं रूचता और तो और सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये प्रवचनों पर, गुरु द्वारा कहे गये उपदेशों पर श्रद्धा नहीं होती, तर्क-वितर्क करते हैं। तर्क-वितर्क नहीं कुतर्क करते हैं और बाहरी क्षणिक मिथ्या चमत्कारों को देखकर अन्यो पर विश्वास जमा लेते हैं। मगर यह आपकी अज्ञान दशा है।

प्रायः जब तक विज्ञान द्वारा कई बीमारियों की खोज नहीं हुई थी तो अंधविश्वास, झूठी मान्यतायें प्रचलित रहती थी कि चेचक हो गया तो देवी का प्रकोप माना जाता था। प्रकोप शांत करने के लिए छोटे देवी-देवता की पूजा प्रक्रिया की जाती थी-एक बार एक विद्वान के पुत्र को भी चेचक हो गया, उनकी पत्नि सीधी-साधी सरल महिला थी। किसी पड़ोसी ने बता दिया-अमुक माता के मंदिर में पूजा-पाठ करने से रोग ठीक हो जाता है। मोह क्या नहीं करता। पुत्र व्यामोह के कारण पत्नि ने अपने पति को प्रेरित किया कि आपको तो चलना ही होगा माता के मंदिर। पर विद्वान सम्यग्दृष्टि श्रावक थे उनका अन्य देवी-देवता को नमस्कार करने का भी त्याग था। उन्होंने एक उपाय निकाला-क्योंकि पत्नि तो मानने वाली नहीं थी। उन्होंने पूछा-मैं तुम्हारा कौन हूँ। तो वह बोली-यह पूछने की बात है, पतिदेव हो। और पूछा- मंदिर किसके जाना है। तो बोली-माता के। तो उन्होंने कहा-तुम्हारी माता है तो मेरी सासु जी हुई। और हमारे परिवार में क्या दामाद-सासुजी की पूजा-पाठ करते हैं। तुम्हें अच्छा लगेगा। सीधी -सरल पत्निजी के दिमाग में बात बैठ गई और कुछ समय बाद पुत्र मात्र इलाज करवाने से ठीक हो गया। कहने का तात्पर्य ज्ञान हो तो मिथ्यात्व की भूमिकायें पलती नहीं।

विज्ञान ने कदम उठाये, कई रोगों को रोकथाम के उपाय निकाल लिये, पकड़ लिया कोई देवी-देवता के प्रकोप नहीं, रोग है। इसका इलाज पूजा-पाठ नहीं दवाईयाँ टीके हैं। टीके लगाएँ गए तो रोग ठीक। तो देवी-देवता कहाँ गए, वह तो मिथ्या अवधारणा थी पैसा पाने, भोले-भाले लोगों को फंसाने के तरीके थे। विज्ञान ने साफ भेद खोल दिया। सच देवी-देवता भी फुरसत में नहीं बैठे कि सतातें रहें। किसी का दिमाग अपसेट विक्षिप्त हो तो कहने लगे-व्यंतर बाधा हो गई। पर मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया व्यंतर बाधा नहीं, मानसिक परेशानियाँ हैं। व्यक्ति न जाने कितनी बार ठगा गया कि घर में भूत-प्रेत है पर जाँच की गई तो भूत नहीं अपितु भय का भूत पाया गया। इसलिए कहा



गया कि 'अवाप्त संज्ञानः' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होते ही एक ऐसा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जो मिथ्या धारणाओं का निराकरण कर देता है। सम्यग्दृष्टि भी बीमार होता है उस पर भी विपत्तियाँ आती हैं और मिथ्यादृष्टि पर भी। पर सम्यग्दृष्टि ज्ञान का आश्रय लेता है, कर्म सिद्धांत लगाता है, विपाक विचय धर्मध्यान का चिंतन करता है। कि बुरा कर्म किया था तो उसका फल भी वैसा ही होगा। देवी-देवता कर्म नहीं बदल सकते, अपने उपार्जित फल को स्वयं भोगना पड़ता है। मंदोदय होगा तो थोड़े सम्यक् पुरुषार्थ से ही ठीक हो जाएगा और यदि तीव्रोदय होगा तो साक्षात् भगवान भी उसे दूर नहीं कर सकते। ऐसी उसकी अटल श्रद्धा होती है। बंधुओं यह उसके ज्ञान की विशेषता है जो सम्यग्दर्शन को निष्कम्प बनाये रखती है, मिथ्यात्व की ओर नहीं जाने देती। ऐसा सम्यग्ज्ञान ही सम्यक्चारित्र दीप को प्रकाशित करता है, उसकी ओर अग्रसर करता है वह चारित्र भी तभी आता है जब “राग द्वेष निवृत्तयैः” राग-द्वेष निवृत्ति की भावना होने लगती है। राग-द्वेष जीतना ही सम्यग्ज्ञान का फल तथा पूर्ण सम्यक्चारित्र की उपलब्धि तथा संसार भ्रमण के नाश का कारण है क्योंकि इष्टोपदेश में ग्रंथ पूज्यपाद आचार्य महाराज ने कहा कि-

रागद्वेषद्वयी दीर्घ, नेत्राकर्षण कर्मणा ।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ।।।।।

राग-द्वेष रूपी दो रस्सियों के कारण ही यह जीव संसार में भ्रमण करता रहता है। प्रशंसा आदि में खुश होना राग है। तथा उसने एक कही तो हम चार कहेंगे। शब्द से काम नहीं चलता तो हाथापाई, लट्ठ और फिर धमाधमी, कटुता, वैरविरोध हो जाना-द्वेष है। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान में डूबकर राग-द्वेष नहीं करता। संत सभी प्रकार के राग-द्वेष का त्याग करके ही वीतरागी बन पाते हैं। उन्हें फिर किसी से वैरविरोध नहीं होता, न सम्मान में हर्ष और न अनादर में द्वेष वे तो निरन्तर समतारस का पान करते हैं और क्षमा का दान करते हैं-

अर्धा वतारन असि प्रहारण में सदा समता धरना । राजा श्रेणिक, रानी चेलना तथा यशोधर मुनिराज का उदाहरण आता है कि यशोधर मुनिराज पर श्रेणिक ने उपसर्ग किया, चेलना ने दूर किया, फिर भी मुनिराज ने ध्यान विसर्जन कर दोनों को समान धर्मवृद्धिरस्तु का आशीष दिया। यह है संतों का राग-द्वेष से रहित सम्यक्चारित्र। इसलिए कहा गया-“चरणं प्रतिपद्यते साधुः”। राग-द्वेष की निवृत्ति ही चारित्र की पहिचान है। साधु पुरुष चारित्र प्राप्ति हेतु चारित्र का कथन करते हैं। उद्देश्य पहले रख दिया। यह संभव नहीं कि चारित्र धारण कर लिया और राग-द्वेष जारी रहें। नहीं। राग-द्वेष क्षय करके ही चारित्र धारण किया जाता है। शास्त्रों में चारित्र की बाधक चार कषाओं का उल्लेख आता है- 1. अनंतानुबंधी-जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात करती है। 2. अप्रत्यख्यानवरण-जो देश



चारित्र का घात करती है। इसकी अवधि 6 माह है यदि 6 माह से अधिक राग-द्वेष बना रहा तो सम्यग्दर्शन समाप्त। राम-लक्ष्मण के शव को 6 माह तक ही राग के कारण लेकर घूमते रहे, इससे अधिक नहीं। 3. प्रत्याख्यानवरण-जो सकलचारित्र का घात करती है। इसकी अवधि 15 दिन है। व्रतियों में यदि कभी कुछ हो जाए तो 15 दिन के पूर्व ही छोड़ दे। 4. संज्वलन-जो यथाख्यात चारित्र का घात करती है। इसकी अवधि अंतर्मुहूर्त है। साधकों में भी कलुषित परिणाम हो सकते हैं पर 48 मिनट के पूर्व-2 समाप्त। पार्श्वनाथ मुनिराज पर कमठ ने उपसर्ग किया पर उन्होंने यही सोचा कि मेरा कोई शत्रु नहीं। उनकी दृष्टि में तो कमठ उपकारी था तभी उन्हें केवलज्ञान, मोक्ष हो सका। न राग, न द्वेष, ऐसे ही समताशील संतों-भगवंतों को वीतरागी तथा वीतद्वेषी कहा जाता है।

अतः उस वीतरागी-वीतद्वेषी परमपद की प्राप्ति के लिए ही गुरुजन चारित्र का पालन करते हैं, कराते हैं हमें चाहिए कि रागद्वेष की निवृत्ति हेतु उनके बताये गये चारित्र का पालन करें और राग-द्वेष उत्पन्न हो तो ज्ञान द्वारा उसे दूर करके चारित्र को निर्मल-दृढ बनाये। जीवन को चारित्र से श्रंगारित कर अपनी आत्मा का कल्याण करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 आदिनाथ भगवान की जय”



विधानं दुर्गतेद्वारं निधानं सर्वसंपदाम् ।

विधानं मोक्षसौख्यानां पुण्यै सम्यक्त्वमाप्यते ॥

अर्थ : जो दुर्गति के द्वारों को बंद करने वाला है, समस्त सम्पदाओं का भण्डार है और मोक्ष संबंधी सुखों को करने वाला है ऐसा सम्यग्दर्शन बहुत भारी पुण्य से प्राप्त होता है।





प्रवचन-47

श्लोक-48-49

राग द्वेष की निवृत्ति से चारित्र सहज

भव्य मनीषियो! आचार्य समंतभद्र महाराज ने तीसरे अध्याय की प्रथम गाथा में बतलाया कि राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए, चारित्र अत्यंत आवश्यक है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मात्र से मोक्ष नहीं होता। उसके लिए तो जितना आवश्यक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है, उतना ही सम्यक्चारित्र भी है। उस सम्यक्चारित्र के आते ही हम न जाने कितने हिंसादि पापों से बच जाते हैं और हिंसादि पापों से कौन बच सकता है तो आगे लिखते हैं-

गाथा- रागद्वेष निवृत्ते, हिंसादि निवर्त्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ।।48।।

अन्वयार्थ-

रागद्वेषनिवृत्ते:	-	राग-द्वेष की निवृत्ति होने से
हिंसादि निवर्त्तना	-	हिंसादि पापों की निवृत्ति
कृता भवति	-	स्वयमेव हो जाती है क्योंकि
अनपेक्षितार्थ वृत्ति	-	जिसे किसी प्रयोजन रूप फल की प्राप्ति अभिलाषित नहीं है ऐसा
कः पुरुषः	-	कौन पुरुष
नृपतीन् सेवते	-	राजाओं की सेवा करता है? अर्थात् कोई नहीं।

अर्थ-राग-द्वेष की निवृत्ति होने से हिंसादि पापों की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है क्योंकि जिसे किसी प्रयोजन रूप फल की प्राप्ति अभिलाषित नहीं है ऐसा कौन पुरुष राजाओं की सेवा करता है? अर्थात् कोई नहीं।



बंधुओ! 'रागद्वेष निवृत्तेः' रागद्वेष की निवृत्ति से "हिंसादि निवर्तना कृता भवति" हिंसादि पाँच पापों के त्याग रूप चारित्र उत्पन्न होता है। सही भी है रागद्वेष की निवृत्ति बिना हिंसादि की निवृत्ति आसान-सहजता से नहीं हो पाती और रागद्वेष नहीं तो निवृत्ति परिणाम आसान होते हैं उदाहरण के तौर पर यदि रात्रिभोजन में राग नहीं तो त्यागना आसान है। यदि राग है तो त्यागना कठिन है। राग बना हुआ है तभी तो खाने की भावना है तब त्यागरूप परिणाम हो नहीं सकते। उसी प्रकार द्वेष की निवृत्ति। राग छोड़ना सरल है परंतु द्वेष छोड़ना कठिन है। किसी ने गाली दे दी तो लोग सब अच्छाईयाँ उपकार भूल जाते हैं पर मरते दम तक उसे नहीं छोड़ते। जब मैं स्कूल में अध्ययन करता था तो एक बार एक लड़के ने मुझे गाली दे दी। मुझे बहुत खराब लगा। मैंने उसकी शिकायत स्कूल में पढ़ाने वाले पंडित से की। तो उन्होंने मुझसे पूछा-उसने तुम्हें गाली दी। मैंने कहा-हाँ, आस-पास खड़े मित्रों-छात्रों से भी पूछ लीजिए। तो वे बोले-अच्छा उसने दी, तो बताओ वह कहाँ है, तो मैं सोच में पड़ गया उन्होंने दुबारा कहा कि बताओ तुमने गाली ली, तो कहाँ रखी, जेब में या पेटी आदि में। अब बताने की चीज होती तो मैं बता देता। तो पंडितजी ने कहा-तुम्हारे पास है नहीं, तो इसका मतलब तुमने ली नहीं, जब ली नहीं तो वह उसके पास लौट गई। अब तुम्हें परेशानी क्यों। जब कोई पैसा देता है और सामने वाला न ले तो वह पैसे किसके पास जाते हैं, जिसने दिये थे उसी के पास। यदि गर्म लोहे के गोले को उठाकर गुस्से में दूसरों को मारना चाहा तो सामने वाले को लगे या न लगे परंतु उठाने वाला बच नहीं सकता, उसके हाथ अवश्य जल जाएंगे। उसी प्रकार जो अपशब्द बोलेगा वही कर्म से बंधेगा, उसे दण्ड नियम से मिलेगा, तुम तो रागद्वेष भाव को त्याग कर भलाई, क्षमा करते जाओ क्योंकि यही तुम्हारा निज स्वभाव है रागद्वेष करना विभाव है, स्वभाव की ओर शनैः-2 कदम बढ़ाओ-

एक बार किन्हीं संत को पानी के प्रवाह में बहता हुआ बिच्छू दिखा, देखते ही हृदय दया से भीग गया, तुरंत ध्यान का विसर्जन कर स्वयं नदी में उतरकर उसे जल प्रवाह से उठाकर हाथों में रख लिया, तो विच्छू ने तुरंत डंक मार दिया, डंक लगते ही संत को झटका लगा, जिससे विच्छू पानी में गिर गया, संत-तो-संत थे उन्होंने पुनः उठा लिया और उसने पुनः डंक मार दिया, ऐसा कई बार हुआ। तब इस दृश्य को देखने वाले व्यक्ति ने संत से कहा-ऐसे अपकारी को बचाना व्यर्थ है, आप बार-2 उठा रहे हैं उसकी रक्षा के लिए और वह हर बार आपको डंक मार रहा है। तो संत ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया कि देखो विच्छू का स्वभाव डंक मारना है और मेरा स्वभाव परोपकार, रक्षा करना, जब वह अपने स्वाभाव को नहीं छोड़ रहा है तो मैं भी अपने स्वभाव को क्यों छोड़ूँ। उसी प्रकार बंधुओं रागद्वेष करना हमारा स्वभाव नहीं बल्कि रागद्वेष से निवृत्ति ही हमारा स्वभाव है।

रागद्वेष के परित्याग के लिए आवश्यक है कि पंचपरमेष्ठी तथा अपनी आत्मा के प्रति अनुराग



हों। क्योंकि राग-द्वेष से ही जीव कर्म से बंधता है तथा संसार में घूमता है तथा विराग भाव से छूटता है। समयसार ग्रंथ 150 में भी कहा हैं-

**रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।150 ।।**

कबीर ने इस विषय में कहा कि-कबीर दास जी संसार की स्थिति को देखकर एक दोहा लिखते हैं कि-

**चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन के बीच में साबत बचा न कोय ।।**

अर्थात् संसार रूपी चक्की है जिसके दो पाट है एक राग दूसरा द्वेष। जिस प्रकार दो पाटों के मध्य अनाज आ जावे तो साबत नहीं बचता है। पिस जाता है। उसी प्रकार राग, द्वेष दो ऐसे ही पाट है जिनके मध्य में जीव रूपी दाना पिस रहा है। देखते हुए कबीर रोने लगते हैं तभी उनके पुत्र कमाल, वे भी अच्छे कवि थे उन्होंने देखा तो कहा-कि यह सत्य है जीव राग-द्वेष में पिस रहा है, शुभाशुभ कर्मों को बाँध रहा है उनके फलों में राग-द्वेष करके सुख-दुख में बैचन क्षणिक सुखी-दुखी पीडित रहते हैं पर यदि वे-

**चलती चाकी देखकर, दिया कमाल ठाय ।
कील सहारे जो रहे, बाल न बाँका थाय ।।**

धर्म रूपी, गुरु-प्रभु रूपी कील का सहारा ले लें तो वे राग-द्वेष रूपी पाटों के बीच पिसने से बच सकते हैं। अतः राग हटाना है तो अपनी आत्मा-वीतराग प्रभु वाणी से अनुराग करें। फिर देखो कैसे इन्द्रिय विषयों घर कुटुम्बियों से रागभाव तथा प्रतिकूल व्यक्तियों से द्वेष भाव नहीं छूटता। पं. बनारसी दास ने समयसार कलश के पद्यानुवाद में लिखा-

**“दोई मुख सुई सिले न कंथा
दोई पथ पंथी चले न पंथा ।
दोई काम न होत सयाने
विषय भोग अरू मोक्ष पयाने ।।**

अर्थात् वीतरागी की शरण में हो तो संसारिक राग हो नहीं सकता। यदि विषयभोगों को भोगते-2 मोक्ष साधना हो रही है तो यह आपकी अज्ञानता-मिथ्यात्व की दशा है। अज्ञानता-मोह में लगता है कि उन्नति हो रही है परन्तु ऐसा तो नहीं कि गाड़ी रिजव हो रही हो। ज्ञान से देखो तो



पता चलता है कि हमने दुख का ही कार्य किया है। राग ऐसा बंधन है जिसमें केकई भी बंध चुकी थी, राज्य माँगा, भरत हेतु क्योंकि यदि राम को राज्य मिल जाता तो भरत को उनकी दासता में रहना पड़ता। दशरथ का राम पर अत्यधिक स्नेह था परंतु वे वचन से बंधे थे। राग ने ही सबको प्रेरित किया। राग व्यक्ति को अंधा बना देता है। विवेक समाप्त कर देता है तभी तो दशरथ ने राम के वनवास जाते ही प्राण त्याग दिये। जैन मान्यता के अनुसार वैराग्य हो गया। राग ने ही विराग भाव जगा दिया। रावण का सीता के प्रति राग था, तो सारी सोने की लंका को खोना पड़ा।

बंधुओ! राग एक आग है और ऐसी आग है जो अंतरंग में आत्मा के आत्मीक गुणों को जला देती है। व्यक्ति बाहरी संसार में मकड़ी की तरह ऐसा फंस जाता है कि चाह कर भी धर्म नहीं कर पाता मंदिर भी आज जाए, माला भी फेरे, पूजा-दर्शन भी करें, तो भी संकल्प-विकल्प से मन भरा रहता है और इतना भरा रहता है कि बाहरी सब क्रियायें तो चलती हैं पर उपयोग संसार-कुटुम्ब राग में। जब मेरी क्षुल्लक दीक्षा हुई तो एक बार पू. आचार्यश्री ने परीक्षा ली बोले-पूर्णसागर यहाँ आओ। तुम्हें माता-पिता, भाई-बहिन की याद आती है क्या? मैंने कहा-नहीं आती। क्यों? क्योंकि संघ का टाईम टेबल इतना व्यस्त है कि याद करने का समय नहीं मिलता, यदि समय मिलता है तो सबक याद करने में चला जाता है। मतलब उपयोग चेंज किया तो कुछ याद नहीं आता।

बंधुओ! राग व्यक्ति को धर्म से, आत्मा से छुड़ाता है, तोड़ता है जबकि राग से विपरीत वीतराग विराग परिणाम आत्मतत्त्व, धर्म से जोड़ता है फिर विषयों से विरक्ति स्वतः होने लगती है, हिंसादि पापों से निवृत्ति स्वयं होने लगती है क्यों? क्योंकि हमें उन वीतराग प्रभु की तरह अपनी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का लक्ष्य दिखने लगता है, भावना उत्पन्न होती है, अहर्निश भावनायें लहरों की तरह हिलौरे लेती हैं कि वह दिन कब आये जब मैं वीतरागी प्रभु की तरह उस वीतराग स्वरूप निजात्मा का रसास्वादन/संवेदन/अनुभूति/अनुभव करूँ, उस वीतराग पथ पर अग्रसर होऊँ। इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी भी यही कहते हैं।

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमं।

तथा-तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।३८।।

कि जैसे-२ आत्मतत्त्व की संवित्ति होने लगती है तो इन्द्रियों के विषय सुलभता से छूटने लगते हैं। यहाँ आचार्य महाराज ने संक्षेप में राग के त्याग की ही चर्चा की है। जैन-आगम का प्राण, परिभाषा कोई पूछे तो यही कहा जाएगा कि राग का त्याग करके उस वीतराग पथ की ओर कदम बढ़ाकर निजस्वरूप की उपलब्धि ही जैनआगम का सार है। जैन आगम मात्र ऊपरी त्याग की बात नहीं करता, भाव प्रधान है द्रव्य के साथ। जैसे रात्रि भोजन का त्याग करना अलग बात है और रात्रि भोजन का



आंतरिक भावों से उसके प्रति आसक्ति, मोह, राग भाव का त्याग करना अलग बात है। क्योंकि प्रायः व्यक्ति कुछ सीमा के लिए त्याग तो कर देता है पर गिन-गिन कर एक-एक दिन निकालता है, राग भाव काम कर रहा है। त्याग ज्ञान के साथ नहीं हुआ। सिद्धांत तो यह है कि रात्रि में प्रचुर जीव उत्पन्न होते हैं, उनकी रक्षा हो सकें, हिंसा से बच सके, इसलिए मारकण्डी पुराण में मारकण्डेय ऋषि ने लिखा हैं-

दिवा नाथे अस्ते गते दिवा नाथे तोयं रुधिरं मुञ्चते ।

अन्ने मांसम् प्रोक्तं मारकण्डे उच्यते ।।

अर्थात् दिवा यानि सूर्य के अस्त हो जाने पर तोय अर्थात् पानी, खून, सम कहा जाता है तथा अन्न मांस के समान है क्योंकि सूर्यास्त होते ही सूक्ष्म जीव बढ़ जाते हैं। वैज्ञानिक भी कहते हैं कि सूर्य की किरणों में परावैगनी किरणें होने से जीव उत्पन्न नहीं होते, यदि होते हैं तो उसके प्रताप से मर जाते हैं। लाईट में प्रकाश तो होता है पर प्रताप नहीं। यही कारण है कि जीव बने रहते हैं यदि किसी साधु से पूछो कि अन्न मांस तुल्य क्यों है? तो वे कहेंगे-भोजन पर रात्रि में असंख्यात जीव बैठ जाते हैं वे खाने में आ जाते हैं, शास्त्र तो फिर यही कहेगा कि आपने जीवों को भी खाया। जब व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान होता है तो हेय-उपादेय तत्त्व समझ में आने लगते हैं, फिर राग-द्वेष की स्वतः निवृत्ति होती है। क्यों, अहिंसा समझ में आ गई तो फिर रात्रिभोजन का त्याग आसान हो जाता है फिर किसी को त्याग की बात कहनी नहीं पड़ती। तथा त्याग होने के बाद सिरदर्दी, गिन-2 कर दिन नहीं निकलते। आंतरिक त्याग में एक आनंद उत्पन्न होता है। त्याग हो गया तो तत्जन्य हिंसा से भी स्वतः बच जाते हैं। जीवों की रक्षा से प्राणी संयम तथा आसक्ति, राग भाव के त्याग से इन्द्रिय संयम ही होने लगा।

आचार्य महाराज बता रहे हैं कि 'अनपेक्षितार्थ वृत्तिः' अर्थात् किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं होना। दुनिया में 2 प्रकार के व्यक्ति होते हैं। 1. अनपेक्षित वृत्ति वाले 2. अपेक्षित वृत्ति वाले। अपेक्षित अर्थात् जिसे कार्य या कार्य फल की अपेक्षा है जैसे एक छात्र है, परीक्षा दे रहा है, यदि उसके कक्षा शिक्षक आ जावे तो वह विनय-सम्मान चाकरी करता है क्योंकि अपेक्षा है, वे प्रसन्न रहेंगे तो अच्छे नम्बर मिलेंगे और दूसरा छात्र है जिसके वे क्लास टीचर या शिक्षक नहीं, या वह उन्हें जानता ही नहीं, तो वह सम्मानादि नहीं करता क्योंकि प्रयोजन, अपेक्षा नहीं। ऐसा 'कः पुरुष', कौन पुरुष 'नृपतीन् सेवते' राजा की सेवा करेगा। अर्थात् कोई नहीं। उसी प्रकार जब सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य के उगते ही राग-द्वेष रूपी अंधकार जब पलायन कर गया हो जिससे फिर हिंसादि पापों से, इन्द्रियों विषयों से निवृत्ति हो गई तो फिर कौन पुरुष संयम ग्रहण की बात करेगा क्योंकि उसके तो स्वतः ही संयम पलने लगा है। शिष्य कहता है गुरुदेव हिंसादि पापों को निवृत्ति होने से क्या होता है विशेष और समझा दीजिए तो आचार्य समंतभद्र महाराज कहते हैं कि-



गाथा-

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

अन्वयार्थ-

संज्ञस्य	-	सम्यग्ज्ञानी जीव का
पापप्रणालिकाभ्यः	-	पाप के प्रणाली (नाली) स्वरूप
हिंसानृतचौर्येभ्यः	-	हिंसा, झूठ, चोरी
च	-	और
मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां	-	कुशील तथा परिग्रह से
विरतिः	-	निवृत्ति होना
चारित्रम्	-	चारित्र
कथ्यते	-	कहा जाता है ।

अर्थ-पाप के कारण भूत, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है ।

बंधुओ! आचार्य समंतभद्र महाराज सभी भव्य प्राणियों की मोक्षमार्ग का क्रमिक वर्णन करते हुए बता रहे हैं। कि 'हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च' हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील भावों और परिग्रह जो कि पापप्रणालिकाभ्यो-पापों की प्रणाली (नाली) है। प्रणाली का अर्थ परम्परा है तथा परम्परा का अर्थ संतान है। दूसरा अर्थ है नाली। वह भी नाली कैसी? तो विशेष-प्रकृष्ट अर्थात् उत्कृष्ट से उत्कृष्ट। वह प्रणाली सामान्य नहीं जिसमें साफ पानी बहता हो, यह विशेष नाली है जिसमें अहर्निश गंदा पानी बहता है प्रायः जब नाली साफ न हो तो दुर्गंध आने लगती है। बाहर की नाली को तो फिर भी साफ किया जा सकता है परंतु यहाँ बाहर की गंदगी बहाने वाली नाली ग्रहण नहीं करना अपितु अंदर की, भावों की, नाली ग्रहण करता है जिसमें पाप रूपी गंदा कचड़ा-कीचड़ भरा है, बहता रहता है। इस पापों से भरी नाली को साफ करना है मगर ध्यान रखना इसे साफ करने के लिए बाहर से कर्मचारी काम नहीं आते बल्कि इस गंदगी को दूर करने के लिए 'विरतिः' विरति अर्थात् विरक्ति रूप, त्याग रूप परिणाम काम आते हैं। इसी विरति रूप परिणामों का नाम 'चारित्रम्' चारित्र है, अर्थात् वे ही परिणाम चारित्र संज्ञा को प्राप्त होते हैं। विरति बिना चारित्र हो नहीं सकता। वह चारित्र किसके होता है तो कहा गया 'संज्ञस्य' अर्थात् सम्यग्ज्ञानी के। जिसने सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान को पाया है वही सम्यक्चारित्र धारण कर सकता है और वही मोक्ष पा सकता है।



बंधुओ! सम्यग्ज्ञानी कौन? तो जो सम्यग्ज्ञान को धारण करें। यहाँ सम्यग्ज्ञान का व्याख्यान भावश्रुत की प्रधानता से है। आगम में श्रुतज्ञान के 2 भेद आते हैं 1. भावश्रुतज्ञान 2. द्रव्यश्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान के क्षयोपशम से जो ज्ञान होता है वह भावश्रुतज्ञान है तथा उसके आधार से जो शास्त्रादि है उनका ज्ञान है वह द्रव्यश्रुतज्ञान है। यदि भावश्रुत नहीं तो द्रव्यश्रुत नहीं। अथवा सम्यग्ज्ञान यानि वह ज्ञान जिससे व्यक्ति हेय-उपादेय का निर्णय कर सके। किस कार्य के करने से लाभ होगा किससे हानि। किससे आत्मा का भला होगा किससे नहीं। ऐसा ज्ञानी ही पापों से विरक्त होता है पूर्णता त्याग न कर पाये तो संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है। सम्यग्ज्ञानी जीव है ना इसलिए हिंसक सामग्री चमड़े, कीटनाशक आदि दवाईयों का व्यापार नहीं करेगा। उसे विश्वास धर्म से कभी किसी को खाली नहीं रखेगा और फिर ऐसी सामग्री बेचने धन ज्यादा आ भी गया पर यह पेट तो सीमित है। मुझे पेट ही तो भरना है पेटी तो पुण्य होगा तो स्वयमेव भरेगी उसके ये भेद विज्ञान परख विचार ही उसे ऐसी हिंसा आदि व्यापारों से दूर कर देते हैं, उनसे विरक्ति भाव उत्पन्न करा देते हैं। वह झूठ वचन नहीं बोलना, उससे विरत होता है। किसी की बिना पूछे रखी हुई, पड़ी हुई या भुली ही सामग्री को उठाने के भाव नहीं करता क्यों? क्योंकि उसे पदार्थों के प्रति विशेष राग की भावना अब नहीं रही। आत्म श्रद्धान ज्ञान होने उसकी प्राप्ति में उपयोग लगाता है। पूर्णता ब्रह्मचर्य न पाल सके तो कम से कम वह अपनी पत्नि में संतुष्ट होता हुआ शेष सभी को माँ, बहिन, पुत्री के समान देखता हूँ कुशील भावों से विरत होता है। असीम सम्पदा होने पर भी उसे नश्वर मानता है, पाप का कारण मानता है। इसलिए वह अनावश्यक परिग्रह नहीं रखता। स्थूल रूप से अथवा उसकी सीमा बांध लेता है जिससे शेष परिग्रह के दोषों से बच जाता है। ऐसे ये विरतिभाव ही उसे चारित्रवान बनाने में सहयोगी होते हैं।

बंधुओ! कहने का तात्पर्य कि राग-द्वेष से बचना है तो मिथ्यात्व अज्ञान को दूर भगाओ या सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान रूपी ज्वाजल्यमान दीपक प्रज्ज्वलित कर लो मिथ्यात्व-अज्ञान स्वतः ही भाग जाएगा। हिंसादि पापों से विरक्ति होगी तो फिर चारित्र की प्राप्ति सरल हो जाएगी और वही चारित्र की पूर्णता ही आपको आपकी निजात्मा से मुलाकात-भेंट करा देगी।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-47

श्लोक-50

चारित्र ही जीवन का सार

भव्य मनीषियो! परम पूज्य तार्किक चूड़ामणी आचार्यश्री 108 समंतभद्र महाराज चारित्र की महिमा को बतला रहे हैं। चारित्र ही जीवन का सार है। इस सृष्टि में जन्म में तो सभी प्राणियों का होता है परंतु जन्म उसी का सार्थक होता है जो जन्म पाकर सदाचरण को धारण करता है। खा पीकर और सोकर तो पशु-पक्षी भी अपना जीवन पूर्ण कर लेते हैं। और हमने भी यदि वैसा ही किया तो एक पशु में और हमारे में क्या अंतर, नीतिकारों ने कहा हैं-

आहार निद्रा भय मैथुनानि, सामान्यमेतद् पशुभिः नराणां ।

सामान्य ऐषा मधिको विशेषाः धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना ॥

आहार, भय, निद्रा, मैथुन आदि क्रियायें तो सर्वसामान्य में पायी जाती हैं चाहे पशु हो या मनुष्य सभी में ये समान रूप से होती हैं। इसमें कुछ विशेषता नहीं है। मनुष्य धर्म धारण कर सकता है परंतु यदि धर्म धारण नहीं करता तो वह पशु के ही समान है। यद्यपि पशु भी धर्म को धारण कर सकते हैं। परंतु सकल संयम/सकल चारित्र को धारण नहीं कर सकते, मात्र देशसंयम ही धारण कर सकते हैं। जबकि मनुष्य सकल संयम धारण कर निर्वाण भी पा सकता है। चारित्र का ही जीवन में सारभूत वस्तु है वह दो प्रकार का है इसी बात को बतलाते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्व संग विरतानाम् ।

अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससंगानाम् ।।50।।

अन्वयार्थ-

तत् चरणं	-	वह चारित्र
द्विविधं भवति	-	दो प्रकार का होता है
(कथं)	-	(कैसे?)
सकलं चरणं	-	सकल चारित्र
विकलं चरणं	-	विकल चारित्र



तन्मध्ये	-	उनमें से
सर्वसंगविरतानाम्	-	सर्व परिग्रहों से रहित
अनगाराणां	-	मुनियों के
सकलं चरणं	-	सकल चारित्र
भवति	-	होता है
च	-	और
ससंगानाम्	-	परिग्रह सहित
सागाराणां	-	गृहस्थों को
विकलं चरणं	-	विकल चारित्र
भवति	-	होता है।

अर्थ-चारित्र के दो भेद है- 1. सकल चारित्र 2. विकल चारित्र। सकल चारित्र सर्व परिग्रह रहित मुनियों के होता है और विकल चारित्र परिग्रह सहित गृहस्थों के होता है।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य कुंदकुंद देव जो एक महान् आध्यात्मिक संत हुए है उन्होंने अपने प्रवचन सार ग्रंथ में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा हैं- “चारित्तं खलु धम्मो” अर्थात् निश्चय से चारित्र ही धर्म है। चारित्र से ही जीवन में चमक आती है। यदि जीवन धन, पैसा, वैभव, कुटुम्ब-परिवार, मित्रगण सब कुछ है परंतु एक मात्र चारित्र नहीं है तो जीवन में सब कुछ होने पर भी कुछ भी नहीं है। आचार्य भगवन् समयसारजी में कहते हैं-

सुदपरिचिदाणु भूया सव्वस्स भी कामभोगबंध कहा।

एयतस्सुलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।

अर्थात् सभी प्रकार की काम, भोग व बंध विषयक कथाएँ अनादि काल से हमने हमेशा सुनी है, परिचय में आयी है और अनुभव की है। अतः ये सब तो सुलभ ही है। परंतु हमारा एकत्व विभक्त आत्मा एक ऐसा है। जिसे जानना, उसका परिचय पाना और अनुभूति में उतारना सब कुछ उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उस आत्मानुभूति को ही आचार्यों ने निश्चय चारित्र कहा है और उस निश्चय चारित्र को जो प्राप्त कर लेता है। वह शीघ्र मुक्ति को पा लेता है वह निश्चय चारित्र सकल संयम धारी मुनियों के ही संभव है। यद्यपि संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर सकल संयम धारण करके ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकती है। परंतु यदि सकल संयम को धारण करने की शक्ति के अभाव में आचार्यों ने देश संयम का विधान किया। एक-एक सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते ही एक दिन में उस अंतिम सीढ़ी की भी प्राप्ति हो ही जाती है जो हमें हमारी मंजिल तक पहुँचा देती है।



पूज्य आचार्य भगवन् संयम को/चारित्र को दो भागों में विभक्त करते हुए कह रहे हैं-

“सकलं विकलं चरणं” वह चारित्र सकल चारित्र व विकल चारित्र के भेद से “तत् द्विविध भवति” दो प्रकार का होता है। सकल का अर्थ है परिपूर्ण चारित्र/अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का पूर्णरूप से त्याग करना सकल चारित्र है। इसे ही महाव्रत, पूर्णसंयम, सकल चारित्र कहते हैं विकल का अर्थ है अपूर्ण अर्थात् एकदेश चारित्र। अथवा हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करना विकल चारित्र है। इसे ही देश चारित्र, अणुव्रत, गृहस्थों का चारित्र कहते हैं। आगे कहते हैं-

“तत्सकलं सर्वसंग विरतानाम्” इन दोनों प्रकार के चारित्रों में से सकल चारित्र संपूर्ण बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह से रहित अनगाराणां मुनियों के होता है। इनमें से बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं-

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड।

1. क्षेत्र-खेत आदि जिसमें गृहस्थ फसल आदि उगाते हैं।

2. वास्तु-रहने के मकान, घर आदि को वास्तु कहते हैं।

3. हिरण्य-चांदी व चांदी से बने आभूषण आदि।

4. सुवर्ण-सोना व उससे निर्मित आभूषण आदि।

5. धन-गाय, बैल, भैंस आदि पशुधन।

6. धान्य-गेहूँ, बाजरा, ज्वार आदि धान्य।

7. दासी-स्त्री नौकर।

8. दास-पुरुष नौकर।

9. कुप्य-वस्त्रादि।

10. भाण्ड-वर्तन आदि।

इन 10 प्रकार के बाह्य परिग्रहों के मुनिजन त्यागी होते हैं।

अंतरंग परिग्रह के 14 भेद होते हैं।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंक वेद।

1. मिथ्यात्व-अतत्त्वों में रुचि व तत्त्वों में अरुचि रूप परिणाम मिथ्यात्व है।

2. क्रोध-चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जब जीव क्षमा रूप परिणामों को छोड़ देता है तो वह क्रोध रूप विभाव परिणति से परिणत हो जाता है।

3. मान-चारित्र मोहनीय के कषाय वेदनीय के उदय होने पर जब जीव लघुता, विनय गुण को छोड़ता है तब वह मान रूप परिणत होता है।



4. माया-कषाय वेदनीय के उदय होने पर जो छल कपट रूप परिणाम होता है वह माया है।
 5. लोभ-कषाय वेदनीय के उदय से जो लालच रूप परिणाम होता है वह लोभ कषाय है।
 6. हास्य-नोकषाय वेदनीय कर्म के उदय से जो हंसी आती है वह हास्य कषाय कहलाती है।
 7. रति-इष्ट वस्तु के प्रति राग रूप परिणाम रति कषाय है।
 8. अरति-अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष रूप परिणाम अरति कषाय है।
 9. शोक-दुःख या खेद रूप परिणाम को शोक कहते हैं।
 10. भय-किसी भयानक वस्तु को देखकर जो डर लगता है वह भय कषाय है।
 11. जुगुप्सा-पदार्थों में ग्लानि रूप परिणाम जुगुप्सा है।
 12. स्त्रीवेद-नोकषाय वेदनीय कर्म के उदय से पुरुष से रमण करने रूप परिणाम स्त्रीवेद है।
 13. पुरुषवेद-नोकषाय वेदनीय कर्म के उदय से स्त्री में रमण रूप परिणाम पुरुषवेद है।
 14. नपुसंक वेद-नोकषाय वेदनीय की तीव्रता होने पर उभय रमण रूप परिणाम नपुसंक वेद है।
- इन 14 प्रकार के अंतरंग परिग्रहों के मुनिजन त्यागी होते हैं।

बहिरंग परिग्रह को तो सारी दुनियाँ परिग्रह मानती है। परंतु कषायें भी परिग्रह हैं ऐसा कोई नहीं स्वीकारता। एक मात्र जैन सिद्धान्त ही इतना सूक्ष्मता से विवेचन करता है जिसमें कषायें भी परिग्रह स्वीकारी गई हैं। लौकिकता में जिन बाह्य वस्तुओं का हम संग्रह करते हैं उन्हें परिग्रह मानते हैं परंतु जब हम आध्यात्मिक चिंतन में उतरते हैं तो चूंकि कषायें आत्मा की स्वभाव दशा नहीं हैं अपितु आत्मा की वैभाविक परिणतियाँ हैं और कर्मोदय जनित अवस्थाएँ हैं। इसलिए मुनिजन उन्हें भी परिग्रह मान छोड़ देते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण 14 और 10 को 24 मिलाकर प्रकार के परिग्रह का मुनिजन त्याग कर देते हैं और “सागाराणां ससंगानाम् विकलं चरणं” परिग्रह सहित गृहस्थों के देशचारित्र पाया जाता है। “स आगारः इति सागारः” जो घर सहित हैं वे सागार हैं।

जब तक व्यक्ति परिग्रह से सहित होता है तब तक उसके पास सकल चारित्र नहीं होता। क्योंकि “कारणाभावे कार्याभावः” कारण के अभाव में ही कार्य का अभाव होता है, वस्त्रधारी परिग्रही जीव के हिंसादि पापों का कारण परिग्रह मौजूद है, जब तक परिग्रह है तब तक महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता। अथवा छोटा सा भी परिग्रह प्राणी को समीचीन साधना से महाव्रतों से विचलित कर सकता है। संत तभी तक संत रहते हैं जब तक उनके पास परिग्रह का अभाव है एक बार की घटना है एक संत महात्मा जी थे। संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर कुटियाँ में रहते थे। बड़े उच्च साधक थे। उनके बड़े-बड़े भक्त थे। एक दिन एक भक्त संत के चरणों में आया और बोला-हे पूज्यवर! आपने संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर दिया, यहाँ तक कि आपके पास तन ढकने के लिए एक कपड़े का टुकड़ा



तक नहीं, मेरे मित्र हंसते हैं, मुझे अच्छा नहीं लगता। अतः आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कम से कम मेरी ओर से एक लंगोटी ही रख लीजिए। संत उस भक्त की सेवा से बड़े प्रसन्न थे अतः बोले-ठीक है तेरी इतनी प्रार्थना है तो मैं स्वीकार कर लेता हूँ। संत ने वह लंगोटी रख ली, दो-चार दिन पहनी कि वह बहुत गंदी हो गई। भक्त फिर संत के पास आया बोला-बाबा यह लंगोटी मुझे दो मैं धोकर लाता हूँ बड़ी मैली हो गई है। तब तक आप यह दूसरी लंगोटी पास रख लीजिए। संत ने दूसरी लंगोटी भी रख ली। कुछ दिन बाद एक चूहा एक लंगोटी को कुतर कर चला गया, लंगोटी में छेद हो गये, भक्त ने देखा तो पूछा-बाबा ये क्या हुआ-संत बोले बेटा-चूहे ने लंगोट काट दी। अच्छा तो आपकी कुटियाँ में चूहे हैं। वह भक्त चूहे को भगाने एक बिल्ली रखता है। अब बिल्ली तो रख ली। बिल्ली के डर से चूहों का आना बंद हो गया संत सोचते हैं बिल्ली को पीने के लिये दूध रोज-रोज कहाँ से लाऊँ अतः भक्त से एक गाय मँगाते हैं। गाय दूध देती थी। जिसे बिल्ली पीती थी। अब गाय को खाने चारा चाहिए। चारे के लिए खेती चाहिए। भक्त संत बाबा का परम भक्त था इसलिए एक खेत खरीदकर संत बाबा के लिए दे देता है। संत अब सोचता है कि खेती को संभालने के लिए, घर को चलाने के लिए एक घरवाली चाहिए। संत को शादी रचानी पड़ती है और धीरे-2 संत की दशा “यथा तथा भव” जैसी हो जाती है। अब संत, संत नहीं गृहस्थ हो गया। क्योंकि घर से सहित है, घरवाली से सहित है और खेतीबाड़ी आदि परिग्रह से सहित है वह गृहस्थ है।

संत सोचता है कि जिस परिग्रह का त्याग कर संत बना था वही परिग्रह फिर मेरे पास आ गया। रात भर पीसा और पारे पर भी न उठा पाये तो इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी?

बंधुओ! कहने का तात्पर्य यही है कि यदि संत के पास यदि दो कौड़ी भी आ जाए तो वह दो कौड़ी का भी नहीं रहता है अर्थात् यदि संत के पास तिलतुस मात्र भी परिग्रह है तो फिर वह संत नहीं रहता। गृहस्थों में ही फिर उसकी गणना की जायेगी क्योंकि पूज्य आचार्य भगवन् इस श्लोक के माध्यम से स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि जो परिग्रह से सहित, घर बसाकर रहता है वह गृहस्थ है। तथा जो संपूर्ण परिग्रह व पापों का त्याग कर देता है वह अनागार अर्थात् संपूर्ण परिग्रह त्यागी साधु/सकल संयमी/महाव्रती कहलाता है। जब तक व्यक्ति के पास परिग्रह मौजूद रहता है। तब तक वह पांचों पापों से मुक्त नहीं होता। क्योंकि परिग्रह ही संपूर्ण पापों का हेतु बनता है। जबकि अपरिग्रही पाँचों पापों से बच जाता है इसलिए उसके महाव्रतपना सकल चारित्र संभव है।

परिग्रह सहित गृहस्थ यद्यपि परिग्रह का पूर्णरूपेण त्याग तो नहीं कर पाता परंतु परिग्रह का परिणाम अवश्य बनाता है परिग्रह सीमित कर लेने से ही उसके पापों का सीमांकन हो जाता है इसलिए उसके देशव्रत होता है। देशव्रत के 11 भेद होते हैं। जिन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कहा जाता है।



1. दर्शन प्रतिमा 2. व्रत प्रतिमा 3. सामायिक प्रतिमा 4. प्रोषधोपवास प्रतिमा 5. सचित्त त्याग प्रतिमा 6. रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा 8. आरंभ त्याग प्रतिमा 9. परिग्रह त्याग प्रतिमा 10. अनुमति त्याग प्रतिमा 11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

इनमें से 1-6 प्रतिमा धारी-जघन्य श्रावक, 7-9 प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक, 10-11 प्रतिमा धारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

जो साधक महाव्रतों के धारण में असमर्थ होता है। सर्वज्ञ देव उन्हें देशव्रत के धारण का उपदेश देते हैं। जो देशव्रतों का पालन करता हुआ उसमें निष्णात हो जाता है वही महाव्रतों को धारण कर सकता है। तथा जिसने महाव्रतों को ग्रहण कर लिया है। वही सराग चारित्र का धारी एक दिन निर्विकल्प वीतराग चारित्र व अंत में यथाख्यात नामक परमोत्कृष्ट चारित्र को धारण कर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार आचार्य भगवन् ने चारित्र के दो भेद देश चारित्र व सकल चारित्र के स्वरूप व स्वामी का ज्ञान कराया। अपनी आत्मा के हित चाहने वालों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य चारित्र को अवश्य धारण करना चाहिए। यही मनुष्य जीवन का सार है।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 महावीर भगवान की जय”



चारित्र महिमा

चारित्रं निरगाराणां शूराणां शान्तचेतसाम्॥

शिवं सुदुर्लभं सिद्धं सारं क्षुद्रभयावहम्॥३४॥ (सु.सं.)

अर्थ : जो शिव-आनंद रूप है, अत्यंत दुर्लभ है, सिद्ध है, सारभूत है और क्षुद्र जीवों को भय उत्पन्न करने वाला है ऐसा चारित्र शूरवीर तथा शान्तचित्त मुनियों के होता है।





प्रवचन-48

श्लोक-51

छोटे-छोटे नियम एक दिन : बहुत बड़े हो जाते हैं

भव्य मनीषियो! मुक्ति पथ पर अपने कदमों को अग्रसित करने वाले साधक अपने जीवन में सबसे पहले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न करते हैं और सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात् सम्यग्ज्ञानी बन चारित्र बिना साधक की यात्रा अभी अधूरी है। मुक्ति पाने हेतु यह Final round होता है। जो इसमें तिर गया वह भव पार हो जाता है उदाहरण के लिए जब हम कोई Game खेलते हैं। तो उसमें दो तीन round होते हैं। First round को pass करने वाला Second round में पहुँचता है Second में विजय पाने वाला Third में प्रवेश करता है यही Final round होता है। दो round जीतकर भी यदि Final Round में हार गये तो हारे ही माने जाओगे। यद्यपि यह भी सत्य है कि बिना प्रथम round को जीते दूसरे में व दूसरे को जीते बिना तीसरे में प्रवेश होगा नहीं परंतु तीसरे को जीतने के बाद ही विजय की घोषणा की जाती है।

हमारे पूज्य आचार्य भगवन् भी यही बात कह रहे हैं कि हे भव्य! यदि तुमने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है व सम्यग्ज्ञान की आराधना में तुम लगे हो तो तीसरी सीढ़ी पर भी कुछ कदम बढ़ाओ क्योंकि उसके बिना मोक्ष मार्ग अपूर्ण है आचार्य उमास्वामी महाराज ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में कहा है-

“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः” ।।1।।अ.1।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता का नाम मोक्षमार्ग है। किसी ने प्रश्न उठाया कि इन तीनों की एकता का नाम ही मोक्षमार्ग क्यों है? क्या सम्यग्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं हो सकता? जबकि सम्यग्दर्शन होने के बाद मोक्ष पाना नियामक हो जाता है। इस शंका का समाधान देते हुए पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं-नहीं! तीनों ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र पृथक्-पृथक् होने पर मोक्षमार्ग संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकते। अथवा तीन में से किन्हीं दो के होने पर भी मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। अपितु त्रिवेणी का संगम होना चाहिए। तभी मोक्षमार्ग कहलायेगा। आपने हलवा अवश्य बनते देखा होगा। उसमें गेंहूँ का आटा पानी व बूरा तीन चीजें मिलायी जाती है मात्र आटा हलवा नहीं है मात्र पानी या बूरा भी हलवा नहीं है। आटा व घी मिला दे तो भी वह हलवा नहीं कहलायेगा। तीनों वस्तुओं का सम्मिश्रण ही हलवा है। बस ठीक उसी प्रकार



सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाते हैं। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में आचार्यश्री ने मोक्षमार्गः एक वचन का प्रयोग किया है और एक वचन प्रयोग करने का तात्पर्य भी यही है कि तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाते हैं।

सम्यक्चारित्र रूपी अंतिम पायरी को पार किये बिना मुक्ति ही संभव नहीं है। चारित्र की बहुत बड़ी महिमा होती है, चारित्र से ही मनुष्य श्रेष्ठता प्राप्त करता है। जब हम सिद्धान्त को खोलकर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि जिसकी किसी अशुभ आयु का बंध हो जाता है। वह चारित्र धारण नहीं कर सकता।

मुनिराज के उपदेश को सुनकर श्याल ने व्रत ग्रहण किया और रात्रि में खाना-पीना छोड़ दिया वह दिन रात मुनिराज के उपकारों का स्मरण करता रहता था। वह देशव्रती या महाव्रती नहीं बन सकता। अथवा व्रतधारी नियम से एक स्वर्ग गति को ही पाता है अन्य अशुभ गतियों का बंध नहीं करता। यह व्रतों को/चारित्र को धारण करने की महिमा है। तिर्यच प्राणी तक देशव्रतों को धारण करके सद्गति पाते हैं। इस विषय संबंधी घटना शास्त्रों में आती है।

मगध में सुप्रतिष्ठित नाम का एक नगर अपनी सुंदरता तथा विशालता के लिए प्रख्यात था। उस नगर के राजा जयसेन धर्मज्ञ तथा प्रजापालक थे। इन्हीं राजा के राज्य में धनमित्र नामक एक सेठ रहता था। उनकी पत्नी का नाम धनमित्रा थी। वे पति-पत्नि जैन धर्म के अखण्ड प्रेमी थे। एक दिन उन्होंने सागरसेन नामक अवधिज्ञानी मुनिराज को आहार देकर पूछा-प्रभो! अब हमको संतान की आशा नहीं रही। इस संसार की मोह-माया में फंसने से उत्तम है कि जिनदीक्षा ग्रहण करके आत्महित करें। मुनि ने कहा कि अभी दीक्षा का शुभ अवसर नहीं है क्योंकि तुमको पुत्ररत्न की प्राप्ति शीघ्र ही होने वाली है। उसके द्वारा अनेक प्राणियों का कल्याण होगा। मुनि की ऐसी भविष्यवाणी सुनकर दोनों पति-पत्नि प्रसन्न हुए।

तभी से धनमित्रा जिनपूजादि की ओर विशेष ध्यान देने लगी। उसने थोड़े समय के उपरांत एक प्रतापी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म के उपलक्ष में सेठ ने उत्सव किया, पूजा-प्रभावना की और उस बालक का नाम प्रीतिकर कुमार रखा। उसकी सुंदरता कामदेव से भी अधिक थी। जब प्रीतिकर 5 वर्ष का हुआ तो उसके पिता ने उसे विद्याध्ययन के लिए गुरु के पास भेजा। चूंकि कुमार की बुद्धि तीक्ष्ण थी अतः वह थोड़े ही समय में विद्वान हो गया धनी और विद्वान होने पर प्रीतिकर में अभिमान का नामोनिशान भी नहीं था। वह हमेशा दूसरों को पढ़ाता व समय-2 पर धर्मोपदेश भी करता था। महाराज जयसेन उसकी परोपकारिता से अत्यंत प्रभावित हुए और वस्त्राभूषणों से प्रीतिकर का सम्मान किया।



यद्यपि प्रीतिकर को धन की कमी नहीं थी, तथापि उसको कर्तव्यहीन होकर बैठा रहना ठीक नहीं लगा। उसे धन प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने प्रतिज्ञा की कि जहाँ तक मैं स्वयं धनोपार्जन नहीं करूँगा तब तक विवाह नहीं करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह विदेश के लिए रवाना हुआ। विदेश में वर्षों तक निवास करके प्रीतिकर कुमार ने बहुत धन अर्जित किया और धनोपार्जन कर वह वापस आ गया। उसके आने से माता-पिता आदि सभी को अत्यंत आनंद हुआ। प्रीतिकर की ऐसी कर्तव्यशीलता देखकर महाराज जयसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी पुत्री पृथ्वीसुंदरी तथा अन्य देश की राजकुमारियों का विवाह प्रीतिकर के साथ किया और इसी उपलक्ष में आधा राज्य भी उसे दे दिया।

प्रीतिकर राज्यविभूति प्राप्त कर आनंद पूर्वक रहने लगा। उसकी प्रवृत्ति सदा विषयों की तरफ ही नहीं थी अपितु वह प्रतिदिन जिनपूजा, अभिषेक आदि करता था। परोपकार करना तो उसके जीवन का लक्ष्य ही था। एक बार सुप्रतिष्ठितपुर के सुंदर बगीचे में दो चारण ऋद्धिधारी मुनि ऋजुमति व विपुलमति पधारे। प्रीतिकर कुमार ने आदर पूर्वक उनका सम्मान किया और अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा की व धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा-प्रीतिकर! धर्म वह है जिससे संसार के दुःखों से हमारी रक्षा व उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। धर्म के दो भेद हैं- 1. मुनिधर्म 2. गृहस्थ धर्म।

मुनिधर्म सर्वत्याग रूप होता है और गृहस्थ धर्म में संसार में रहकर धर्म पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म व गृहस्थ धर्म में सबसे बड़ा अंतर यह है कि पहला साक्षात् मोक्ष का कारण है और दूसरा परंपरा से। मुनिराज के उपदेश से प्रीतिकर को जैनधर्म पर अपार श्रद्धा हुई। उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! कृपा करके आप मुझे मेरे पूर्व भव की कथा कहिये? मुनिराज कहने लगे-

इसी बगीचे में एक बार सागरसेन नाम के मुनिराज पधारे थे। उन आगमन की खुशी में नगर निवासी गाजे-बाजे के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ पधारे। लोगों के चले जाने के बाद “ये लोग यहाँ मुर्दा डाल गये हैं” ऐसा जानकर एक श्याल उसे खाने के लिए आया। मुनिराज अवधिज्ञानी थे श्याल के मन्तव्य को समझ गये तथा यह भी जान गये यह श्याल का जीव निकट भव्य है। अतः धर्मोपदेश देते हुए मुनिराज ने कहा-हे भव्य! तू मुर्दा खाने के लिए इतना व्याकुलित हो रहा है। धिक्कार है तुझे। पाप का परिणाम बहुत खराब होता है। इस कुकृत्य को छोड़ दे और पवित्र जिनधर्म को स्वीकार कर। वही आत्मा की पापों से रक्षा करता है। पुण्य के रास्ते धर्म से खुलते हैं। मुनिराज के उपदेशों का श्याल के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, मुनिराज का उपदेश सुन वह शांत हो गया। मुनिराज ने उसे रात्रि भोजन त्याग व्रत की महिमा बतलायी और कहा-जो महानुभाव धर्म की रक्षा के लिए रात्रि भोजन का त्याग करते हैं वे इस लोक तथा परलोक दोनों में सुखी रहते हैं। उनको हर प्रकार की संपदा सुलभ



है। और जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं वे जन्मान्ध व निःसंतान होते हैं। उनको जीव हिंसा का पाप लगता है। इसीलिए सभी के लिए रात्रि भोजन का त्याग हितकारी है।

जंगल में विचरण करते-करते एक बार उसे जोर से प्यास लगती है। तभी पास ही उसे एक बावड़ी नजर आती है वह प्यास बुझाने बावड़ी में प्रवेश करता है। परंतु बावड़ी के अंदर अंधेरा होने से वह वापस आ जाता है। अनेक बार वह ऐसा करता है परंतु जितने बार भी वह अंदर जाता है हर बार अंधेरा दिखता है और वह बिना पानी पिये ही बाहर आ जाता है प्यास से उसका बुरा हाल था प्राण कण्ठ में आ चुके थे। फिर भी वह अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहा। अंदर व बाहर आते जाते वह बहुत थक गया और प्यास के कारण ही उसका प्राणांत भी हो गया। परंतु मरणोपरांत अपने संयम में दृढ़ रहने के परिणामस्वरूप उसने (तूने) धनमित्रा के गर्भ से प्रीतिकर के रूप में जन्म लिया। यह संयम का ही प्रभाव था संयम की महिमा अपरंपार है संयम के प्रभाव से प्राणी त्रिलोक पूज्य हो जाता है। अब यह तेरा अंतिम शरीर है। तू कर्मों का क्षय कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा।

इस प्रकार मुनिराज के श्रीमुख से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर प्रीतिकर कुमार को वैराग्य हो गया। उसे विषय भोगों से विरक्ति हो गई। वह अपने प्रिय पुत्र प्रियकर को राज्य देकर भगवान् स्वामी के समवशरण में गया और दीक्षा ग्रहण कर ली पश्चात् शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान प्राप्त किया। संयम की महिमा अद्भूत होती है।

संयमी के चरणों में स्वयं देवता भी नतमस्तक रहते हैं। लौकिक दृष्टि से देखे तो भी चारित्रवान् ही पूज्यता को प्राप्त होता है। समाज में जो व्यक्ति सच्चरित्र होते हैं। देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करते हुए व्रत, नियम, संयम पालते हैं वे बहुमान पाते हैं। देश चारित्र, श्रावक का चारित्र होता है। उस देश चारित्र में एक देश रूप से पापों का त्याग कर, एक देश रत्नत्रय धारण किया जाता है। पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज उस श्रावक के चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए कह रहे हैं कि-

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु, गुण शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।

पंच त्रि चतुर्भेदं, त्रयं यथा संख्यमाख्यातम् ॥५१॥

अन्वयार्थ-

गृहिणां	-	गृहस्थियों का
चरणम्	-	चारित्र
त्रेधा	-	तीन प्रकार का
तिष्ठति	-	होता है
अणुगुण शिक्षा व्रतात्मकम्-		अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत रूप
तत्	-	वे



त्रयं	-	तीनों
यथासंख्यं	-	क्रम से
पंच-त्रि-चतुर्भेदं	-	पाँच, तीन व चार भेद
आख्यातं	-	कहे गये है।

अर्थ-गृहस्थों का चारित्र क्रमशः पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत रूप तीन प्रकार का होता है।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् यहाँ गृहस्थों के चारित्र की प्रधानता से कथन कर रहे हैं। “गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु गुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्”। गृहस्थों को चारित्र तीन प्रकार का होता है।

1. अणुव्रत 2. गुणव्रत 3. शिक्षाव्रत।

अणुव्रत-हिंसादि पाँच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत कहलाता है।

चूँकि गृहस्थ अवस्था में सावधयोग आरंभ, सारंभ, व्यापार, नौकरी आदि जीवनोपार्जन के साधनों का आलम्बन लेना पड़ता है। इसलिए गृहस्थ पाँचों पापों-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह का पूर्ण रूपेण त्याग नहीं कर पाता। परंतु संयम साधना की ओर उसने चूँकि उसने अपने कदम बढ़ा लिये हैं। इसलिए व हिंसादि का एकदेश रूप से या स्थूल रूप से त्याग कर देता है हिंसा चार प्रकार की होती है-

1. संकल्पी 2. विरोधी 3. उद्योगी 4. आरंभी

इन चार प्रकार की हिंसाओं में से वह संकल्पी हिंसा का मात्र पूर्णरूपेण त्याग कर पाता है। क्योंकि व्यापार आदि के निमित्त उद्योगी, आरंभी व विरोधी हिंसा संभव है।

इसी प्रकार व्यापार आदि के निमित्त सूक्ष्म झूठ का त्याग संभव नहीं इसलिए वह स्थूल रूप से झूठ बोलने का त्याग कर देता है। स्थूल रूप से घर वस्तु का हरण नहीं करता तथा अपनी पत्नि में ही संतुष्ट रहते हुए शेष संपूर्ण स्त्रियों के प्रति माता, पुत्री व बहिन सदृश्य दृष्टि रखता हुआ स्वदारसंतोष व्रती होता है। तथा संपूर्ण परिग्रह त्याग करने में सक्षम न होने से वह परिग्रह का परिणाम बना लेता है। इस प्रकार पाँचों पापों का स्थूल रूप से त्याग कर वह अणुव्रती हो जाता है।

‘यथासंख्य पंच’ क्रम से अणुव्रत के 5 भेद हैं-

1. अहिंसाणुव्रत 2. सत्याणुव्रत 3. अचौर्याणुव्रत 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत 5. परिग्रह परिमाणानुव्रत।

गुणव्रत-जो अणुव्रतों की या आठ मूलगुणों की रक्षा करे उन्हें गुणव्रत कहते हैं। इनके ‘त्रि’ तीन भेद हैं- 1. दिग्व्रत 2. देशव्रत 3. अनर्थदण्डव्रत।

गुणव्रती दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा निर्धारित कर लेता है। तथा उस मर्यादा के भीतर प्रतिदिन के नियम, व्रत भी ग्रहण करता जाता है। तथा अनावश्यक/बिना प्रयोजन जीवों की



हिंसा से बचता है। इस प्रकार अहिंसाणुव्रत आदि पांचों व्रतों की रक्षा होता है। अहिंसाणुव्रत आदि और-2 दृढ़ होते जाते हैं। जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए बाढ़ लगाई जाती है। उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा के लिए गुणव्रत रूपी बाढ़ अनिवार्य होती है।

शिक्षाव्रत-जिनके श्रुतज्ञान का अभ्यास हो अथवा मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा जिनसे मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं इन 'चतुः' चार भेद हैं- 1. देशावकाशिक 2. सामायिक 3. प्रोषधोपवास 4. वैयावृत्ति।

अन्य आचार्यों के अनुसार-1. सामायिक 2. प्रोषधोपवास 3. अतिथि संविभाग 4. सल्लेखना।

अणुव्रत व गुणव्रतों को धारण कर लेने के उपरांत साधक अभ्यास रूप में सामायिक ध्यान आदि करता है अतिथियों का द्वाराप्रेक्षण करता है। व्रत-नियम संयम में वृद्धि करता जाता है। यह उसकी महाव्रतों के ग्रहण रूप अभ्यास दशा होती है। प्रोषधोपवास के माध्यम से प्रोषधपूर्वक उपवास का अभ्यास बनाता है। चतुर्विध संघ की वैयावृत्ति में तत्पर रहता है तथा सल्लेखना का भी अभ्यास करता जाता है। जो साधक मजबूती के साथ बिना प्रमाद किये उत्साह पूर्वक निरतिचार इन व्रतों को पालन करते हैं। वे ही आगे चलकर महाव्रतों को धारण कर उनका दृढ़ता पूर्वक पालन कर पाते हैं अतः ये बारह व्रत गृहस्थों का चारित्र है जो मुनिव्रतों तक पहुँचाने के लिए प्रथम सोपान की तरह होता है।

जो गृहस्थावस्था में रहकर धीरे-धीरे छोटे-छोटे व्रत नियम, संयम ग्रहण कर पाते हैं। इसलिए प्रत्येक श्रावक को चाहिए कि गृहस्थों के चारित्र का दृढ़ता व प्रीतिपूर्वक अवश्य पालन करें क्योंकि यहीं चारित्र परम्परा से मुक्ति का कारण बनता है।

इसी भावना के साथ

“श्री 1008 मुनिसव्रतनाथ भगवान की जय”



अहिंसा से लाभ

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्चियम्।

अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥ 83 ॥ (सु.सं.)

अर्थ : अहिंसा ही मोक्ष प्राप्त कराती है, अहिंसा ही स्वर्ग की लक्ष्मी देती है, अहिंसा ही हित करती है और अहिंसा ही व्यसनों को, कष्टों को नष्ट करती है।





प्रवचन-49

श्लोक-52

अणुव्रत का लक्षण

बंधुओ! आचार्य समंतभद्र महाराज रत्नकरण्डक श्रावकाचार पुनीत ग्रंथ की एक-2 रहस्यमयी कारिकाओं के द्वारा श्रावकों के आचार-आचरण की पद्धति, व्यवस्था का परिज्ञान कराते हुए कहते हैं कि आगम में उत्कृष्ट मार्ग कहा- “णग्गो ही मोक्खमग्गो” अर्थात् निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है अतः उसे ही धारण करें, लेकिन जो मुनिव्रत पालन में असमर्थ है, ऐसे लोग कहते हैं महाराज शक्ति नहीं, मोहभाव अधिक है तो दयालु आचार्य कहते हैं घबराएँ नहीं, साहस कीजिए, धीमी गति से चलिएँ। चलते-चलते कभी पहुँच जाएंगे। कछुआ धीमी गति से चलता है तो एक दिन मंजिल तक पहुँच जाता है पर चलता रहे, सो न जाएँ।

आचार्यों का एक सूत्र है कि चलने वाले को रास्ता दिखलाते हैं साहस देते हैं, अंगुलि पकड़कर चलना सिखाते हैं वे कहते हैं ठीक तुम महाव्रत पालन में असमर्थ हो तो अणुव्रतों का पालन करो। तो शिष्य प्रश्न करता है शिष्य अबोध है, जिज्ञासावान है विनयभाव से पूछता है आपने अणुव्रत कहे, तो वे अणुव्रत क्या कहलाते हैं ? तो वे कहते हैं-

गाथा-

प्राणातिपातवितथ, व्याहारस्तेय काममूर्च्छाभ्यः ।

स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥52॥

अन्वयार्थ-

प्राणातिपात वितथ	-	हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, मूर्च्छा (परिग्रह)
व्याहारस्तेयकाम मूर्च्छाभ्यः		
स्थूलेभ्यः पापेभ्यः	-	स्थूल पापों से
व्युपरमणं	-	विरत होना
अणुव्रतं	-	अणुव्रत
भवति	-	(होता) है।



अर्थ- स्थूल, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापों से विरक्त होना अणुव्रत है।

बंधुओ! अणुव्रत का अर्थ देश चरित्र है और जीवन में चारित्र तभी संभव है जब हमारे पास सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो। सम्यग्दर्शन यानि मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी, जब आप पहली सीढ़ी ही न चढ़ पाये तो शेष चढ़ना असंभव है अतः आचार्य महाराज कह रहे हैं कि चारित्र धर्म पाने के पूर्व विश्वास/श्रद्धा आवश्यक है सामान्यतः वैद्य जब औषधि देता है तो हम उस पर विश्वास रखते हैं। आवश्यक भी है क्योंकि श्रद्धा बिना औषधि काम भी नहीं करती। औषधि उसे निरोगता की सिद्धि प्रदान करती है जो उस पर विश्वास करता है। चरक संहिता में उल्लेख है इसका। वैद्य तो मिट्टी भी दे दे तो वह औषधि बन जाती है। परमपूज्य आचार्य विमलसागर जी गुरुदेव की गृहस्थावस्था की घटना है कि एक माँ को दवाई के रूप में उन्होंने राख की पुड़िया बना कर दे दी, और कहा-खिला देना बेटे को ठीक हो जाएगा। माँ ने ऐसा ही किया, पीड़ा समाप्त हो गई। सच विश्वास हो तो अनहोनी घटनायें चमत्कार भी संभव हैं। कभी-2 लोग पूज्य गुरुदेव से कहने लगते थे कि महाराज महामंत्र पढ़ते-2 भी हमारा कष्ट दूर नहीं होता, दूसरा मंत्र बता दीजिए, तो वे कहते थे कि यदि तुम्हारा महामंत्र से कष्ट दूर नहीं हुआ तो शेष मंत्रों से भी नहीं होगा। श्रद्धापूर्वक करो तभी फल मिलेगा। सच जिस प्रकार खुशबू बिना पुष्प व्यर्थ है, बुद्धि बिना विद्या व्यर्थ है, विनय बिना ज्ञान व्यर्थ है, पेट्रोल बिना गाड़ी व्यर्थ है, भूख बिना भोजन व्यर्थ है, प्यास बिना पानी व्यर्थ है उसी प्रकार श्रद्धा बिना जीवन में चारित्र, धर्म व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है। अतः श्रद्धा होनी चाहिए लेकिन खाली विश्वास का नाम धर्म नहीं, ज्ञान भी होना चाहिए।

यदि जीवन में सही ज्ञान है तो ही विश्वास सम्यक् होगा और चारित्र का निर्माण करेगा। अन्यथा कोरा विश्वास अंधविश्वास है “बाबा वाक्य प्रमाणं” के समान है आचार्य महाराज कह रहे हैं- मेरी नहीं, अपनी कसौटी पर कसना। अतः अपनी बुद्धि भी लगाना चाहिए। ज्ञान अर्थात् प्रज्ज्वलित दीप, जिसे आगम में मध्यदीप कहा गया है। जो सम्यग्दर्शन को मांजता है तथा चारित्र को भी प्रकाशित करता है क्योंकि अकेली श्रद्धा तथा ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। बिना पुरुषार्थ किए, बिना क्रिया को जानना समझना क्या काम का जो हमारे जीवन में आ न सके, ऐसा ज्ञान भी वजन के समान है। ज्ञान का अर्थ है जिसे जाना है उसकी प्राप्ति के लिए कदम आगे बढ़ा देना।

आचार्य शिवकोटि महाराज भगवती आराधना में कहते हैं- दीपक व्यक्ति के लिए रास्ता दिखाता है, जिससे वह अपनी मंजिल प्राप्त कर लेता है। अतः वह ज्ञान उन्मार्ग निष्कर्षक है। सन्मार्ग दर्शक है। दीपक रास्ता बता सकता है पर चलना हमें ही होगा। रास्ता देखकर आप न चले तो दीपक



का दोष नहीं। ज्ञान ने रास्ता दिखा दिया फिर भी न चले तो यह मोह है। जानकर भी नहीं चलना मोह है। जिसके हाथ में दीपक नहीं अथवा जो अंधा है यदि वह कुएँ में गिरे तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसके पास आँखें नहीं, लेकिन कोई हाथ में जलता हुआ दीपक लेकर चले और फिर भी गिर जाए तो आश्चर्य होता है कि ऐसे दीपक से क्या प्रयोजन?

अतः आचार्य समंतभद्र यहीं मार्ग बता रहे हैं कि कदम बढ़ाना चारित्र की ओर पर ज्ञान के साथ ज्ञान के बिना चारित्र, चारित्र ही नहीं क्योंकि मार्ग ही नहीं दिख रहा है, ज्ञान ही नहीं, तो कदम भी बढ़ाओगे तो धोखा हो जाएगा, चलने का परिश्रम होगा पर मंजिल नहीं मिलेगी। अतः ज्ञान के साथ चलना।

समयसार अमृतकलश के पद्यानुवाद में बनारसीदास कहते हैं- 'जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहे, बिन क्रिया मोक्ष पद चाहे वह मूढ़न में मुखिया.....

ज्ञान-चारित्र का संबंध महत्त्वशाली है। ज्ञान आँख है तो चारित्र पैर है। जिसके पास हाथ-पैर है तो मंजिल प्राप्त हो सकती है। कदाचित् एक आँख वाला तथा एक पैर वाला परस्पर में सामंजस्य बना ले तो भी मंजिल पा सकता है। एक जंगल में आग लगी हुई हो, यदि उस जंगल में एक अंधा तथा एक पंगु फंस जाए तो परेशानी दोनों को संभव होगी। अंधा सोचता है कहाँ भागूँ, कहीं ऐसा न हो कि जिस दिशा में आग लगी हो उसी में भागने लगूँ, तो जीवन समाप्त। पंगु को सब दिख रहा है कि इस ओर भागने पर बचा जा सकता है परंतु भागें कैसे? योगायोग दोनों मिल जाए, दोस्ती कर ले और लँगड़ा कहे-भैया मैं रास्ता बता सकता हूँ पर चल नहीं सकता। तब अंधा भी कहे-कि भैया, घबराओ मत, पैरों से मैं चलूँगा, तुम रास्ता बताना, तभी अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ जाता है और दोनों बच जाते हैं। ज्ञान-चारित्र नहीं, तो संसार रूपी दावानल से बचा नहीं जा सकता। सोचो, कि ज्ञान से मुक्ति संभव तो नहीं। ज्ञान एवं आचरण अलग-2 है। एक-2 कदम देखकर आगे बढ़ाते जाइए, रास्ता लंबा है मोक्षपुरी का। कहीं देखते ही देखते जीवन न निकल जाए। जितना जाना, पढ़ा, उसे सार्थक करें। हिरण, शेर आदि को जब लंबी दौड़ तय करनी हो तो छलांग लगाते हैं। छलांग लगाकर जल्दी पहुँचा जा सकता है यहाँ छलांग लगाना यानि मुनिव्रत धारण करना और यदि संभव न हो अणुव्रत पालना।

अणुव्रत अर्थात् धीमी गति से चलना, हिंसादि पापों का स्थूलरूप से त्याग करना। 'प्राणातिपातः' प्राणों का अतिपात, वियोग, विच्छेद होना, उसे प्राणातिपात कहते हैं जो इसे करे, उसके हिंसा होती है उसका 'व्युपरमणं' त्याग करें, 'स्थूलेभ्यः' स्थूल रूप से अर्थात् संकल्पी हिंसा तो न करे।



‘वितथ स्थूलेभ्यः व्युपरमण’ वितथ अर्थात् झूठ बोलने का व्यवहार। ज्ञानी, का वितथ व्यवहार नहीं होता। सुपथ (सत्य) व्यवहार होता है मौन रहता है, पर ऐसा सत्य भी नहीं बोलता कि दूसरे के प्राण नष्ट हो जाए। ‘स्तेय स्थूलेभ्यः व्युपरमण’ स्तेय अर्थात् चोरी। अणुव्रती कभी पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु को नहीं लेता। ‘काम स्थूलेभ्यः व्युपरमण’ काम अर्थात् कुशील। अणुव्रती अपनी स्त्री में संतोष रखता है, परस्त्री का त्याग करता है। ‘मूर्च्छा स्थूलेभ्यः व्युपरमण’ मूर्च्छा यानि परिग्रह में आसक्ति, श्रावक परिग्रह की सीमा को बांधकर मूर्च्छा भाव को कम करता है। तभी उसके अणुव्रतं भवति अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रहपरमाणुव्रत होते हैं।

जो भव्य जीव! सम्यग्श्रद्धान-ज्ञान के साथ इन अणुव्रतों का भावसहित, निरतिचार पालन करते हैं वे निश्चय ही सुगति में गमन कर अंत में सामर्थ होने पर मुनिव्रत को धारकर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं आप सभी भी छोटे-2 व्रतों को अंगीकार कर मानव जीवन को सार्थक कर अपना कल्याण करें।

इसी भावना के साथ-

“जय बोलिए आदिनाथ भगवान की जय”



वित्तं हि नष्टं किञ्चित् नष्टं
स्वास्थ्यं हि नष्टं किञ्चिद् विनष्टम्।
वृत्तं हि नष्टं सर्वं विनष्टं।
तस्माच्च व्रतं परिरक्षणीयम् सु.स.।।

अर्थ : यदि धन नष्ट हुआ तो कुछ नष्ट नहीं हुआ, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कुछ नष्ट हुआ है, यदि चारित्र नष्ट हुआ तो सब कुछ नष्ट हो गया इसलिए चारित्र अच्छी तरह रक्षा करने योग्य है।





प्रवचन-50

श्लोक-53

प्रथम अहिंसाणुव्रत

बंधुओ! कल आचार्य महाराज ने 52 नम्बर की कारिका के माध्यम से हमे समझाया था कि सम्यग्श्रद्धान, ज्ञान से शून्य चारित्र मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं अतः अणुव्रत भी क्यों न हो तो भी उनका श्रद्धान ज्ञान के साथ पालन करें तो वे जीवन में मोक्ष की सिद्धि में कारण होंगे। आगे आचार्य महाराज प्रथम अहिंसाणुव्रत का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि-

गाथा- संकल्पात्कृतकारित, मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ 53 ॥

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो
योगत्रयस्य	-	तीनों योगों के
कृतकारित नमननात्	-	कृत, कारित, अनुमोदना रूप
संकल्पात्	-	संकल्प से
चरसत्त्वान्	-	त्रस जीवों को
न हिनस्ति	-	नहीं मारता है
तत् निपुणाः	-	उसे हिंसादि पापों के त्याग रूप व्रत के विचार करने में समर्थ मनुष्य
स्थूलवधाद् विरमणं	-	स्थूल हिंसा का त्याग अर्थात् अहिंसाणुव्रत
आहुः	-	कहते हैं।

अर्थ - जो मन, वचन, काय के कृत, कारित, अनुमोदना रूप संकल्प से त्रस जीवों को नहीं मारता है, उसकी उस क्रिया को गणधर आदिक स्थूल हिंसा से विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं।



बंधुओ! आचार्य महाराज बता रहे हैं कि अहिंसाणुव्रत के पालन में ‘योगत्रयस्य’ अर्थात् तीनों योग मनयोग, वचनयोग तथा काय योग से “कृत कारितानु-मननात्” एवं कृत-कारित-अनुमोदना से इन तीन में, तीन योग का गुणा करें तो 9 आता है अतः 9 कोटियों से जो “संकल्पात्” संकल्प पूर्वक “चरसत्त्वान्” त्रस जीवों को, ‘न हिनस्ति’ नहीं मारता वह उसका ‘स्थूलवधात् विरमणं’ स्थूल हिंसा से विरत होना अहिंसाणुव्रत है। लेकिन ध्यान रखे-खाली मारने के त्याग का नाम ही अहिंसा नहीं विशेषण दिया कृत भी नहीं, कारित भी नहीं, और अनुमोदना भी नहीं तभी अहिंसाणुव्रत जीवन में श्रगारित हो सकता है। यह नहीं कि भैया जीव जन्तु बहुत हो जाते हैं, हमारा तो व्रत है तुम दवाई छिड़क दो। तो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं कृत यानि स्वयं करने का त्याग, कारित यानि दूसरों से कराने, साधन आदि देने दोनों का भी त्याग है। अनुमोदना-करने वाले के मानस परिणामों की स्वीकृति अर्थात् तुमने ऐसा कार्य बहुत अच्छा किया, मन ही मन खुश होना भैया आप सराहना कर रहे हो तो वह हिंसा की ही प्रशंसा हो उसका भी त्याग होना चाहिए। अतः ज्ञान जगाए समझे कि यह सब उसी कोटि (हिंसा) में ही गिने जाएंगे।

आगम में चार प्रकार की हिंसा का उल्लेख है आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा, विरोधी हिंसा तथा संकल्पी हिंसा आरम्भी हिंसा यानि गृहकार्य आदि में होने वाली हिंसा, गृहस्थ है तो खाना बनाना ही पड़ेगा, आगादि का कार्य करना ही होगा, इसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। उद्योगी हिंसा-यानि व्यापार, उद्योग आदि कार्यों में होने वाली हिंसा, गृहस्थ है ना, तो गृह घर चलाने, कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए धन चाहिए और धन के लिए व्यापार भी आवश्यक है और जहाँ व्यापार है वहाँ पाप-हिंसा न हो तो संभव नहीं। तीसरी विरोधी हिंसा-संसार के प्रपंचों में फंसे व्यक्ति को न्याय आदि के लिए अपने प्रतिकूल व्यक्तियों से विरोध-द्वेष के भाव होते ही हैं क्योंकि गृहस्थ यानि राग की बहुलता, और जहाँ राग है वहाँ द्वेष रहता ही है अर्थात् विरोधी हिंसा से वह बच नहीं सकता। पर चौथी संकल्पी हिंसा यानि संकल्प, मन में दृढता पूर्वक किसी जीव को नष्ट करने के भाव, इससे से तो श्रावक बच ही सकता है, पदार्थों, वस्तुओं की सुरक्षार्थ भाव होना चाहिए, और जीवरक्षा में प्रयत्नशील हो तो इस संकल्पी हिंसा का त्याग हो जाता है। गृहस्थ, सम्यग्दृष्टि है उसका अनुकम्पा-दया-करुणा गुण काम करता है तो वह कभी भी ऐसे भाव कर नहीं पाता।

कृत-कारित-अनुमोदना भी शुभ-अशुभ रूप दो प्रकार की हो सकती है जैसे धर्म कार्य में की जाने वाली शुभ है और अधर्म कार्य में की जाने वाली अशुभ। धर्म कार्य में तो कृत ही होना चाहिए। कारित भी हो पर कब, जब आप असमर्थ हो, एक पंगु-अपंग व्यक्ति है वह पूजा नहीं कर सकता, आहार नहीं दे सकता, तो वह प्रेरणा देता है कि आप कर दो, आप दे दो यह कारित है, न कि हमारे



पास समय नहीं इसलिए तुम कर लेना, प्रायः पुरुषवर्ग ऐसा ही करता है एक बार मैंने एक सज्जन से पूछा-आप आहार नहीं देते, तो वे बोले इस कार्य को मैंने अपनी श्रीमति को सौंप दिया है समय नहीं मिलता, वह मेरे हिस्से का आहार दे देती है। तो मैंने कहा-अच्छा, तो उसका पुण्य आपको मिलेगा। बोले-हाँ, कारित तो है। मैंने कहा-फिर कल से भोजन श्रीमति करेगी, पेट आपका भर जाएगा, तो मुँह नीचे करके हंसने लगे। अतः असमर्थ हो तो कारित करो, आहार देने में जब हाथ कांपने लगे, आंखों से दिखना कम हो जाए तो आचार्यश्री कहते हैं, सहयोग करने में भी उतना ही फल मिलेगा, तथा उसका ही कारितपना सार्थक है। क्यों? क्योंकि उसे दुख, वेदना है कि मेरे कैसे अशुभ कर्मों का उदय कि मैं पूजा, आहार दान से वंचित रहता हूँ। धर्मात्मा का लक्षण है कि जब वह धर्म कार्य नहीं कर पाता तो दुखी होता है (पर रोता नहीं) पश्चाताप करता है और उसका वही पश्चाताप असंख्यात गुणी पाप कर्मों की निर्जरा कर पुण्य का बंध करा देता है।

अनुमोदना भी किसकी? तो कहते हैं जो कृत और कारित दोनों में असमर्थ है। यदि समर्थ है तो स्वयं करना ही श्रेष्ठ है। आज कई मंदिर टिके हैं मात्र पुजारी के बल पर। पैसा भेज दिये जाते हैं। जीवन में धन-सम्पत्ति मिली है, आंगोपांग मिले हैं तो स्वयं पूजा करनी चाहिए, प्रमाद को छोड़ना चाहिए, भाव बनाना चाहिए कि धर्म कार्य मैं करूँगा-भरत चक्रवर्ती छः खण्डों का अधिपति था फिर भी आहार दान-पूजा करवाता नहीं था, स्वयं सौभाग्य मानकर करता था। आपने अभी कृत को छोड़ दिया तो समझो आती हुई सम्पत्ति को छोड़ दिया। कारित भी आपका शून्य होगा। बैंक में हम 100 रुपये जमा करते हैं तो वह कालान्तर में दुगुना-तिगुना हो जाता है और यदि जमा ही नहीं किया तो सब बेकार। हम तो कहते हैं सक्षम-समर्थ बने तथा धर्मकार्य में प्रेरित भी करें, कि हम भी करते हैं तुम भी करो। एक-एक दीपक से दीपावली बन जाती है। कड़ी-कड़ी जुड़कर सांकल बन जाती है। परस्पर में प्रोत्साहित किया तो लाईन क्या भीड़ लग जाती है। आपके प्रेम, सद्व्यवहार स्नेह, वात्सल्य से ही यह संभव हो सकता है। दुनिया समझ सकती है समझाने वाला चाहिए। आज हम देखते लौकिक महोत्सवों शादी आदि में इतनी भीड़ दिखती है धार्मिक महोत्सवों में क्यों नहीं? क्योंकि हमारा प्रयास सम्यक् नहीं। हम कितना प्रमाद करते हैं। पूजा भगवान के लिए नहीं अपने लिए करते हैं।

बंधुओ! अपने धर्म को हम उठा सकते हैं और गिरा भी सकते हैं जब कभी भगवान का जुलूस निकलता है तो लगता है कि प्रभावना करने वाले भी हम हैं, अप्रभावना करने वाले भी हम हैं राम को राम के काल में लोग उतना नहीं जानते थे। भगवान महावीर को उतना नहीं जानते थे। हमारी श्रद्धा भक्ति प्रभावना से व्यक्ति इतना जानने लगा। हमें धर्म कार्यों में आगे होना चाहिए, इतना प्रेम होना चाहिए कि कोई हमारी बात टाल न सके, कहो मैं भी करता हूँ मेरे साथ तुम भी चलो।

अनुमोदना करना-अच्छा किया तुमने जो पूजन, व्रत नियम करने लगे। हो सकता है वह अपने व्रत भूल जाए। परंतु आप समझा देना कि पुनः स्थिर हो जाए। यह धार्मिक अनुमोदना है यह नहीं कि हताश कर दिया, प्रेम, वात्सल्य से समझा दे। धर्म के कार्य में कृत-कारित-अनुमोदना का फल मिलता ही है आदि पुराण में आया कि आदिनाथ भगवान के कई पूर्व भवों में जब वे ब्रजजंघ चक्रवर्ती थे जब उन्होंने श्रीमती रानी के साथ वन में मुनिराजों को आहार दिया था जिसकी अनुमोदना बंदर, सिंह, शुक और नेवला ने भी की तो वे भविष्य में उनके पुत्र होकर मोक्ष गये।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जैसे धर्म कार्यों का फल शुभ रूप मिलता है उसी प्रकार अधर्म, हिंसा कार्यों में कृत-कारित-अनुमोदना का फल अशुभ-दुख रूप ही मिलेगा। कई ऐसे व्यक्ति हैं जो वधशाला में बध नहीं करते परंतु कराते जरूर हैं। चमड़े के वेल्ड, जूते, चप्पल, पहनते हैं। जो वध करके ही निर्मित होते हैं, जानकर भी संतुष्ट नहीं होना कि हमने नहीं किया। धर्म कहता है करे या कराये फल समान है। बौद्ध मान्यता है कि मारना नहीं लेकिन मरे का प्रयोग कर सकते हैं, भगवान महावीर स्वामी ने इसका विरोध किया। आप ऐसी-2 हिंसक प्रसाधन सामग्री का उपयोग करते हैं जिससे बेचने वाले उद्योगों में आर्डर देते हैं और वहाँ जीव नष्ट किये जाते हैं। जितनी अधिक उपयोग की मात्रा उतना अधिक बध। एक सज्जन ने प्रश्न किया-क्या हमारे अकेले उपयोग न करने से या त्याग कर देने से कत्लखाने बंद हो जाएंगे। हाँ।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अंतर तो आयेगा ही उदाहरण आता है कि एक बार सनतकुमार चक्रवर्ती थे अपनी आयुधशाला में धूलधूसित थे वहाँ उनके पास एक देव आकर कहता है महाराज-आपकी जैसी सुन्दरता सुनी थी उससे कई गुना अधिक पाई। तो वे कहते हैं-आपने अभी देखी कहाँ सुन्दरता, सुन्दरता ही देखना है तो राजदरबार में देखना। वे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित राजदरबार में आसीन है। देव कहता है महाराज आपकी सुन्दरता में अंतर आ गया। वे कहते कैसे? तो वह देव एक गिलास पानी लेता है उसमें एक सूखा तिनका डुबाकर निकालता है और पूछता है कि पानी कम हुआ क्या? यदि नहीं तो, तिनका गीला कैसे? तिनका गीला है तो कमी पानी में अवश्य हुई। अतः एक-2 प्राणी के त्याग होगा तो अंतर अवश्य आयेगा। आज अनेक प्रकार की अहिंसक सामग्री मिलती है उनका प्रयोग करें। यदि प्रतीज्ञा है तो जीव बचे या न बचे। शनैः-2 अंतर आयेगा और फिर आप तो उस तदून्य भीषण हिंसा की भागीदारी से बच जाओगे। अतः कारित से बचे और अनुमोदना से भी क्योंकि पाप कार्यों की प्रशंसा कर दी तो उतना ही पाप लगता है जितना करने वाले को लगता है।



स्वयम्भूरमण समुद्र में रहने वाले भीमकाय महामत्स्य जो 1000 धनुष का होता है, वह जब सोता है तो उसका मुख खुल जाता है और अनेक जीव-जंतु उसके मुख में आते-जाते रहते हैं, इसे देखकर कान में रहने वाला तदुल मत्स्य मात्र विचारता ही है, अनुमोदना करता है, प्रसन्न होता है कि मैं होता तो किसी को जाने नहीं देता। तो महामच्छ तो अपार हिंसा के कारण सातवेंनरक जाता ही है तथा साथ में वह तदुल मच्छ भी जाता है।

बंधुओ! मन-वचन-काय से हिंसा का त्याग करना और स्थूल हिंसा के विषय में न मन से सोचेंगे, न वचनों से बोलेंगे और न काय से करेंगे, तथा न कृत, न कारित और न अनुमोदना करेंगे, ऐसी पवित्र भावना जब हृदय में उत्पन्न हो जाती है तो जीवन में अहिंसागुव्रत का पालन आसान हो जाता है शास्त्रों में अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं कि अहिंसागुव्रत के पालन से मातंग (चाण्डाल) भी देवों द्वारा पूजित हुआ अतः आप सभी भी अणुव्रत को धारण कर अपना दुर्लभ जीवन निरर्थक न करके, अपना कल्याण करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नमिनाथ भगवान की जय”



अहिंसा की महिमा

आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान नरः ।

अहिंसा व्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥८५॥ (सु.सं.)

अर्थ : मनुष्य एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही दीर्घायु, सुन्दर, श्रीमान्, उत्तमरूप वाला और कीर्तिमान होता है।





प्रवचन-51
श्लोक-54

दोष जानकर उनको त्यागो

भव्य मनीषियो! कथन की प्रणाली अर्थात् अपनी बात को हम दो प्रकार से कह सकते हैं-1.विधि परक 2. निषेध परक। रात्रि भोजन त्याग का व्रत दिलाते समय गुरुजन अपनी बात को दो प्रकार कह सकते हैं। आपको दिन में ही भोजन करना चाहिए। अब दिन में ही करना चाहिए इसका तात्पर्य ही यही है कि रात्रि में नहीं करना चाहिए। विधि पक्ष में निषेध छिपा रहता है। अथवा यूँ कहा जाए कि आपको रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए। यह निषेध परक कथन हुआ। परंतु रात्रि भोजन नहीं करने का तात्पर्य ही यही है कि दिन में ही भोजन कर लेना चाहिए। निषेध पक्ष का कथन किया तो विधि का कथन स्वयं हो गया। पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी श्लोक 53 के माध्यम से हमें अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप बतलाया कि मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना से त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। त्रस जीवों की रक्षा करना चाहिए यह विधि परक कथन प्रणाली है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए यह निषेध परक वाक्य हो गया। एक के कथन से दूसरे की पुष्टि स्वयं हो जाती है। अब आगे आचार्य भगवन् इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि कुछ ऐसे भी कारण हैं जो अहिंसा व्रत को समूल नष्ट तो नहीं करते परंतु उसमें दोष/अतिचार अवश्य उत्पन्न करते हैं। उन कारणों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

छेदन बंधन पीड़न, मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।

आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च ।।54।।

अन्वयार्थ-

स्थूल वधात् व्युपरतेः	-	स्थूल वध त्याग के
पञ्च व्यतीचाराः	-	पाँच अतिचार
सन्ति	-	हैं
(के ते पञ्च)	-	(वे पाँच कौन से हैं?)
छेदन, बंधन, पीड़नं	-	छेदना, बांधना, पीड़ा देना



च	-	तथा
अतिभारारोपणं	-	बहुत भार लादना (शक्ति से अधिक)
अपि	-	और
आहारवारणा	-	भोजन समय पर नहीं देना।

अर्थ-छेदना, भेदना, बाँधना, पीड़ा देना तथा शक्ति से अधिक भार लाद देना और समय पर व उचित मात्रा में भोजन नहीं देना ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

भव्य मनीषियों! गृहस्थावस्था में रहने वाले व्यक्तियों को अपनी आजीविका का निर्वाह करने लिए अनेक उपाय अपनाने पड़ते हैं। प्रायः ग्रामीण क्षेत्र में लोग खेती व पशुपालन के द्वारा ही अपनी आजीविका चलाते हैं। पशु-पालन करते हुए इन अतिचारों के होने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए यथायोग्य रीति से इनका स्वरूप समझ कर उन अतिचारों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। पूज्य आचार्य भगवन् ने पहला अतिचार छेदन बतलाया जो अहिंसाणुव्रत में दोष उत्पन्न करता है।

छेदन-कान-नासिका आदि शरीर के अवयवों को परहित की विरोधिनी दृष्टि से छेदना-भेदना ये छेदन-भेदन अतिचार हैं। प्रायः जो गृहस्थ पशु पालन करते हैं वे जानवरों के कान-नाक आदि का छेदन मुसिका आदि बांधने के निमित्त से करते हैं। जिससे उन पशुओं को कष्ट/दुःख सहना पड़ता है। अतः छेदन-भेदन को अतिचार के अंतर्गत अंतर्निहित किया गया है। अब प्रश्न यह है कि माता-पिता अपने बच्चों के मुख्य रूप से लड़कियों के नाक-कान आदि का छेदन-भेदन कराते हैं बच्चों के शरीर में टीका लगवाती है तो क्या वह भी अहिंसाणुव्रत में दोष पैदा करता है। तो उसका समाधान यह है कि बच्चियों के कान, नाक का छेदन-भेदन करने के पीछे लक्ष्य लड़की के श्रृंगार या उसके सौंदर्य की रक्षा करने का है। अतः संसार सुख के हितार्थ है अतः वह दोष नहीं है इसी प्रकार चेचक आदि रोगों से शरीर की सुरक्षा का लक्ष्य होने के लिए चेचक आदि का टीका लगाकर भेदना भी दोष का भाजक नहीं बनता।

बंधन-यह अहिंसाणुव्रत का दूसरा अतिचार है। अभिमत, इष्ट देश-क्षेत्र में जाने से रोकना बंधन है अथवा रस्सी, जंजीर व अन्य किसी प्रतिबंधक पदार्थ के द्वारा शरीर और वचन पर अनुचित रोक-धाम लगाना बंधन नामक अतिचार है। जिन गृहस्थों के घर में पशु-पक्षी होते हैं। वे पशु-पक्षियों को बंधन में रखते हैं। कभी-2 व्यापार आदि के निमित्त या अन्य किसी कारण से विदेश गमन का अवसर आ जाए तो कभी-2 ऐसा भी होता है कि व्यक्ति जानवरों को खूटों से बांधकर चले जाते हैं और कई-कई घंटे तक भूखे-प्यासे पशु गर्मी की भीषण तपन में प्यास से तड़पते रहते हैं। बांधने वाला तो बांधकर भूल गया, अपने दूसरे कार्य में लग गया परंतु पशु बेचारा तड़प रहा है। कभी-2 व्यक्ति



पक्षियों को पिंजरे में बंद करके धूप में पिंजरा रख चले जाते हैं भूख से व्याकुलित पक्षी चोंच को पिंजरे में मारता रहता है फलतः उसकी चोंच से खून भी आने लगता है। आपने उसे बंधन में रखा और वह तड़फ रहा है। क्या आपकी अहिंसा वास्तविक है? प्रायः पशुपक्षी स्वतंत्र खेत, बगीचे में विचरण करना पसंद करते हैं और आप ने उन्हें इतनी छोटी रस्सी से बांध दिया कि वह सीधा खड़ा भी नहीं हो पा रहा सोचिए उसकी बंधे-2 क्या हालत हो जायेगी। साक्षात् खूटा तोड़कर भागने का प्रयत्न करते हुए पशु देखे जाते हैं खूटे के बंधन में बंधे हुए वे गाय-बैल आदि अत्यंत दुःखित व संक्लेशित देखे जाते हैं। कभी-2 उनकी आंखों से अश्रुओं की धारा भी बहने लग जाती है। परंतु उन मूक प्राणियों के आँसू देखने वाला और उनकी करुण पुकार सुनने वाला कोई नहीं होता है। पशुओं को बंधन में रखने से समीचीन अहिंसा का पालन नहीं होता क्योंकि बंधन से उन्हें दुःख होता है। इसीलिए आचार्य भगवन् ने बंधन को अहिंसाणुव्रत का अतिचार कहा है। एक बार एक प्रश्न किया गया कि गृहस्थाचार्य या गुरु, पुत्र व शिष्य को पिक्चर जाने से, व्यसनों का सेवन करने से या अन्य गलत कार्यों में भाग लेने से रोकते हैं। बंधन लगाते हैं तो क्या यह बंधन भी अहिंसाणुव्रत का दोष है? तो इसका समाधान यही है कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि यदि बच्चे को पिक्चर देखने, या व्यसन जैसे दुष्कार्यों से न रोका जाए तो उसका भविष्य ही बिगड़ जाएगा। क्योंकि व्यसन विष की बेल है एक बार व्यक्ति को शराब पीने की लत पड़ जाए, जुआ खेलने, चोरी करने के संस्कार पड़ जाए तो उसने छूटना बहुत मुश्किल होता है। इसलिए ऐसी बुरी आदतों के पड़ने के पहले ही गुरुजन बच्चों पर बंधन लगा देते हैं कि तुम गंदी पिक्चर नहीं देखना, बुरी संगति में नहीं जाना। उनका यह बंधन बच्चे के अहित के लिए नहीं अपितु उसके हित व भविष्य निर्माण के लिए होता है। इसलिए दोष नहीं है। परंतु यदि माता-पिता यदि बच्चों को किसी अच्छे कार्यों में भाग लेने से रोकते हैं तीर्थाटन, दान, त्याग आदि आदि उत्तम कार्यों में बंधन लगाते हैं कि नहीं बेटा! रात्रि भोजन त्याग नहीं करना तू तो अभी छोटा है। आलू प्याज त्याग नहीं करना। बेटा ठंडी है इसलिए मंदिर मत जा। यदि आप बच्चे के पुण्य कार्यों में बाधक बन रहे हैं तो अवश्य आप दोष के भागी बनेंगे।

3. पीड़नं- दण्ड-चाबुक बेंत आदि अनुचित अभिघात द्वारा शरीर को पीड़ा पहुँचाना तथा कटुक वचनों के द्वारा किसी का मन दुःखाना पीड़न नाम का अतिचार है। कभी-2 जो गृहस्थ पशुओं को पालते हैं- बैल-घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि रखते हैं। वे उन जानवरों पर बैठकर एक गाँव से दूसरे गाँव स्वयं जाते हैं अथवा कोई सामग्री ले जाते हैं और यदि रास्ते में वह चल नहीं पाता तो बैलगाड़ी चालक या घुड़सवार या महावत बड़े-2 कोड़ों से उन जानवरों को पीटते हैं, बेंतों से बुरी तरह पीटते हैं अथवा दण्डों से मारते हैं। यद्यपि जानवर तो बेचारे मूक होते हैं मुख से कुछ भी कह नहीं सकते, उनकी कोई अपनी भाषा नहीं होती, कभी-2 उन्हें शारीरिक पीड़ा, किसी अंग में तकलीफ या बुखार



भी होता है। जिस कारण वे चलने में असमर्थ होते हैं। ऐसी अवस्था में अविवेकी जन यह नहीं समझ पाते और उनके आगे न बढ़ने पर उन्हें बेतहाशा, बुरी तरह पीटते हैं। जिससे बेचारे तड़फ-तड़फ कर कभी-2 अपना दम भी तोड़ देते हैं। इसीलिए दण्डे आदि पशुओं को मारना पशु-पीड़ा का हेतु होने से अहिंसाणुव्रत का अतिचार कहा गया है।

कभी-2 बालक पढ़ते लिखते नहीं हैं। तब गुरुजन, पालक जन बालकों को दण्डे से पीटते हैं। फटकारते हैं, अपशब्दों का भी प्रयोग करते हैं, तो क्या यह भी हिंसा है? समाधान यह है कि जो बच्चे पढ़ने-लिखने में प्रमाद करते हैं। यदि गुरुजन उन्हें डाँटेंगे नहीं, फटकारेंगे नहीं तो उनका भविष्य बिगड़ जायेगा। गुरुजन की डाँट आदि के डर से बच्चे पढ़ते-लिखते हैं और उनका भविष्य उज्ज्वल बनता है। फिर भी बालक की रक्षार्थ उसे निर्दयता से पीटना, गाली-गलौच करना उचित नहीं है। गुरु के विषय में तो कहा जाता है- “अंतर हाथ पसारिकै बाहर मारै चोट” गुरुजन अंदर से दया/करुणा से भीगे होते हैं मात्र धमकी देते हुए हल्की-2 चोट ऊपर से लगाते हैं। एक बार की घटना है-एक बार पूज्य गुरुदेव आचार्य सन्मति सागरजी महाराज जब मुनि अवस्था में प. पू. आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज के संघ में थे तब एक दिन मुनि सन्मति सागरजी महाराज से कुछ गलती हो गई। आचार्य महावीरकीर्ति महाराज ने दंड स्वरूप ठंड के दिनों बाहर ग्राउंड में रात्रि व्यतीत करने का आदेश दिया। गुरु भक्ति में सतत् निमग्न रहने वाले मुनिश्री सन्मति सागरजी ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर मैदान में चले गये सर्दी का समय, असह्यनीय ठंड थी परंतु गुरु आज्ञा सर्वोपरि थी। रात्रि में इतनी ठंड थी कि कोई वहाँ बैठ भी नहीं सकता था, महाराज रात्रि विश्राम हेतु चटाई बिछा कर लेट गये। दूर से सूरजमलजी ब्रह्मचारीजी ने देखा तो दया से हृदय भीग गया उन्होंने एक बड़ा तखत उठाया और ऊपर से ढक दिया साथ ही ऊपर से कपड़े का पाल भी डाल दिया। पूज्य आचार्य महावीरकीर्ति जी यह संपूर्ण दृश्य अपने कमरे की खिड़की से देख रहे थे, उन्होंने दंड अवश्य दिया था परंतु मन में चिंता लगी थी कि हमारे शिष्य का ठंड में क्या हाल हो रहा होगा, जब महाराज की व्यवस्था सूरजमल ब्रह्मचारीजी ने कर दी तब गुरु महाराज महावीरकीर्तिजी ने विश्रांति ली।

बंधुओ! गुरु यदि दंडित करते हैं तो वह कठोरता ऊपरी होती है उनका अंतर मन तो शिष्य के प्रति कोमलता से भरा होता है। इस प्रकार का सुधार व हित के अभिप्राय से गुरु व माता-पिता के द्वारा बालकों को जो पीड़ा दी जाती है। वह अतिचार/दोष रूप नहीं है। कटुक वचनों के द्वारा किसी का मन दुःखाना भी पीड़न नामक अतिचार है। कभी-2 घर गृहस्थी में जहाँ सास-बहु आदि भरा घर परिवार होता है उसमें ईर्ष्या वशात् कभी-2 सासु अपनी बहुओं को मर्मभेदी वचन कहती हैं अथवा जिस बहु के संतान न हो उस पर सास वचनों की बौछारें करती हैं। मर्मभेदी वचनों का प्रयोग करती हैं। उसके वे मर्मभेदी वचन बहु के मन को अत्यंत पीड़ा कारक होने से पीड़न नामक अतिचार है।

अहिंसाणुव्रती यदि ऐसा व्यवहार दूसरों से करे तो उसका अहिंसाणुव्रत दूषित होगा। कभी-2 टीचर्स बच्चों के न पढ़ने पर उन्हें अपशब्दों का प्रयोग कर देते हैं। यथा-तू तो पूरा गधा है। पढ़ेगा- लिखेगा नहीं तो गधे चराना पड़ेंगे। इत्यादि वचन यद्यपि दुःख व पीड़ाकारक हैं परंतु हित की भावना से समन्वित होने के कारण पीड़न नामक दोष नहीं है। एक बार ऐसा प्रश्न किया गया कि कटु वचन को अहिंसाणुव्रत का अतिचार क्यों कहा, जबकि प्राणों का घात करना हिंसा है। तो इसका समाधान यह है कि “भारने का घाव तो फिर भी भर जाता है परंतु कटु वचनों का घाव कभी नहीं भरता है” कटु वचन मर्मच्छेदी होते हैं, मानसिक पीड़ा देते हैं अतः उन्हें भी अहिंसाणुव्रत के पीड़न अतिचार में गर्भित किया है।

अतिभारारोपण-किसी भी मानव, नौकर-चाकर आदि व पशु पर उसकी शक्ति से अधिक भार, न्याय-नीति से अधिक कार्य भार, कर भार, दण्ड भार, बोझा लादना ये सब अतिभारारोपण अतिचार हैं। कभी-2 जो गृहस्थ खेती-बाड़ी आदि करते हैं। वे पशुओं की गाड़ी पर रखकर अनाज आदि को एक गांव से दूसरे गाँव ले जाते हैं। लालच में आकर कभी-2 उन गाड़ियों को ऑवर लॉड कर दिया जाता है। आवश्यकता से अधिक अनाज लाद दिया जाता है। वे बेचारे सामग्री के भार को सहन न करने के कारण पीड़ा व दुःख का अनुभव करते हैं और कभी-2 तकलीफ के कारण दम भी तोड़ देते हैं। कभी-2 घर में सास अपनी बहु से शक्ति से अधिक काम लेती है उसका यह दुर्व्यवहार भी अतिभारारोपण में गर्हित है यदि मालिक नौकर से शक्ति से अधिक काम कराता है। अथवा नौकर से काम अधिक लेकर तनख्वाह कम देता है तो वह भी दोष है। सरकार द्वारा जनता पर कर का टेक्स अनुचित भार लादना, कम दोषी को अधिक दण्ड देना। ये सब अतिभारारोपण अतिचार में गर्हित है।

एक बार एक सज्जन ने प्रश्न किया कि वर्तमान में दहेज माँगने वालों को कौन से दोष है? लड़की के पिता स्वयं दहेज में शक्ति अनुसार दान देते हैं, बहुत से भेंट प्रदान करते हैं। यहाँ तक तो कोई दोष नहीं परंतु कभी-कभी लड़के वाले उनसे दहेज की माँग करते हैं और माँग पूरी न होने पर लड़की वालों को प्रताड़ित करते हैं। लड़की के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। आप सामने वाले की शक्ति से अधिक माँग कर देंगे तो वह बेचारा कहाँ से पूर्ति करेगा। कभी-2 दहेज देने के लिए व्यक्ति कर्ज में डूब जाता है। और जीवन भर चाकरी करके भी नहीं चुका पाता इसलिए ऐसा दहेज माँगना निहायती अनुचित है। तथा अतिभारारोपण दोष में गर्हित है।

आहार-वारणा-स्वाश्रित जीवों को-मनुष्य या तिर्यच (पुत्र-पुत्री, बहू या नौकर आदि) को समय पर भोजन नहीं देना या भोजन में कमी करना या पेटभर भोजन नहीं देना आदि सब अहिंसाणुव्रत में आहार-वारणा नामक अतिचार है। कभी-2 लोग पशुओं को एक खूटे से बांध अपने काम काज में लग जाते हैं कभी-2 भूख-प्यास से वे तड़फते रहते हैं। पशु तो मूक प्राणी है वे कह नहीं पाते कि हमें भूख



लगी है या प्यास लगी है मात्र अंदर ही अंदर तड़फते रहते है। कभी-2 व्यक्ति पशुओं से काम तो भरपूर लेते है और खाने को चारा-पानी पर्याप्त मात्रा में नहीं देते परिणाम स्वरूप वे पशु आदि कमजोर हो जाते है और अनेक रोग-बीमारियों के शिकार होकर असमय में मरण को प्राप्त हो जाते है। इसीलिए उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार महापाप है। तथा अहिंसाणुव्रत का दोष है।

इस प्रकार आचार्य भगवन् ने “स्थूल वधाद् व्युपरतेः पञ्चः” अहिंसाणुव्रत स्थूल हिंसा के त्याग रूप व्रत के पाँच अतिचार कहे। इन अतिचारों से बचने हेतु निम्न उपाय है-

1. पर पीड़ा कारक छेदन-भेदन/बंधन कभी नहीं करना चाहिए।
2. दूसरों के लिए पीड़ाकारक/मर्मभेदी वचन नहीं बोलना चाहिए।
3. कभी भी किसी से शक्ति से अधिक कार्य नहीं लेना चाहिए।
4. यदि चार संवारी किसी तांगे में बन सकती है तो 6-7 सवारी नहीं बैठाना चाहिए। यह भी अतिभारोपण है।

5. जितने घण्टे कार्य के पैसे लेते हैं उतने घण्टे ईमानदारी से काम करना चाहिए, स्वामी को भी शक्ति देखकर कार्य कराना व पारिश्रमिक भी पूरा देना चाहिए।

6. किसी भी प्राणी के आहार में रोक लगाना, कम भोजन देना, समय पर भोजन नहीं देना आदि कार्य कभी नहीं करना चाहिए।

तभी अहिंसाणुव्रत का निर्दोष पालन करना संभव है। इन अतिचारों को अच्छी तरह समझकर आप अपने अहिंसाणुव्रत को निर्दोष बनायें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 वासुपूज्य भगवान की जय”





प्रवचन-52
श्लोक-55

सच्चा सुख देता है-सत्य धर्म

भव्य मनीषियो! संतों, महापुरुषों की यह सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वे न केवल स्वयं पापों से बचते हैं अपितु पाप पंक में फंसते प्राणियों को अपने सदुपदेशों के माध्यम से सत्यपथ दिखाते हैं। दुःख के हेतुओं को बताकर उनसे बचने की बात करते हैं। तो सुख के मार्ग पर अग्रसित कर देते हैं। बता देते हैं देखों इस पगडंडी से सीधे-सीधे चले जाना चलते-फिरते तुम्हें मंजिल मिल जायेगी। हिंसा पाप का हेतु है अतः उससे बचने हेतु अहिंसा का स्वरूप बतलाया और उसमें लगने वाले संभावित दोषों के प्रति भी सावधान किया। अब आगे श्लोक 55 के माध्यम से पाप के हेतु झूठ से बचकर हम कैसे सत्यपथ पर चले। अपने जीवन को सत्य के सांचे में कैसे ढाले क्योंकि जहाँ सत्य है वही धर्म है। झूठ की ओढ़नी ओढ़ने वालों का झूठ अधिक समय तक नहीं चलता। झूठ के बादल कभी न कभी तो हटते ही हैं और सत्य रूपी सूरज का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। सत्य रूपी प्रकाश के समक्ष सारे झूठ नतमस्तक होकर पलायन हो जाते हैं।

एक बार ऐसा ही हुआ-एक झूठ भाई ने अपना साम्राज्य संसार में स्थापित करना चाहा। वह बोला जहाँ जाओं वही मेरा राज्य आज संसार में छाया है। सभी मेरी दासता स्वीकार करते हैं। चाहे छोटी-मोटी दुकान हो या बड़ा व्यापार। चाहे कपड़े की दुकान दो या सब्जी मंडी अथवा सोने-चांदी की दुकान सब जगह मेरी डिमांड है। दुकानदार असली माल में नकली मिक्स कर उसे असली बताता है। काली मिर्च में पपीते के बीज तो लाल मिर्च में लाल मिट्टी मिक्स कर देता है नं. दो माल पर नं. एक का लेबल लगाता है। जहाँ देखों सब मेरे दीवानें हैं झूठ बड़ा प्रसन्न था उसने 4-6 झूठों को अपनी गंग में शामिल कर लिया और झूठ भाई की बड़ी टोली तैयार हो गई। झूठ ने सोचा हम जाये कहा-तभी उन्हें नगर सेठ की याद आयी जो कि नं. 1 का खड्डूस व कजूंस था।

‘चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए’ ऐसा उसका सिद्धान्त था। प्राण भले चले जाए पर 1 नया पैसा किसी को कभी न दूँगा ऐसा उसका प्रण था धर्म कर्म से वह कोसों दूर था। दान के नाम से कोसों दूर था। तथा झूठ उसकी रग-रग में समाया था, छल-कपट व झूठ बोलबोल कर गरीब लोगों का धन हड़प लेता था। यदि कोई गरीब अपना सोना-चांदी उसके पास गिरवी रख पैसा ले जाए तो



सोना-चांदी सब हड़प जाता था गाँव के भोले-भाले लोग कुछ नहीं समझ पाते थे। लोगों से अनावश्यक काम लेता था तथा पर्याप्त पारिश्रमिक भी नहीं देता था। झूठ की टोली को अपना डेरा जमाने के लिए अच्छा स्थान मिल गया वे खुशी-2 सेठजी के घर में घुस गये और सेठ जी की सेवा में तैनात हो गये। सेठ ने धोखाधड़ी से बहुत सा अवैध धन कमाया और बड़ी-2 मिलें व दुकानें खोल ली। बड़े-2 महल बना लिये। परंतु पाप आखिर कब तक चलेगा जब तक पूर्व का पुण्य सत्ता में हो। पुण्य की सत्ता समाप्त होते ही पासा पलट भी जाता है। लोगों ने सेठ की दुर्व्यवहार व धोखाधड़ी से परेशान होकर उसके अवैध रीति से कमाये धन की सूचना हैड क्वॉटर तक पहुँचा दी यहाँ सत्य भी ताक में ही था कि मुझे कब अवसर मिले और झूठ से मुकाबला करूँ। सेठजी पोल खुलते ही एक-एक करके सारी मिलों यहाँ तक कि मकान पर भी छापा पड़ गया और उनके घर की ईंट-2 नीलाम हो गई। सत्य भी सेठ के घर में घुस गया सेठजी सिर लटकाये खड़े थे यहाँ एक अकेले सत्य ने सारे झूठों की खूब पिटाई की, बेचारे रोते-2 वहाँ से भाग खड़े हुए। उन्होंने सोचा था कि सारे संसार में अपना साम्राज्य स्थापित करेंगे और विश्वविजेता बन जायेंगे परंतु सत्य ने डंडे मार-मार कर उनकी कमर ही तोड़ डाली। वे बेचारे सोचने लगे कान पकड़ते हैं। हम 100 झूठ भी मिलकर एक सत्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकते इसलिए विश्व में साम्राज्य तो सत्य का ही चलेगा। कमठ ने भी बहुत प्रयत्न किया था असत्य की सत्ता स्थापित करने का 10 भवों तक प्रयास करता रहा परंतु अंततः पारस प्रभु ने केवलज्ञान रूपी सत्य का ऐसा प्रकाश फैलाया कि कमठ ने अपने घुटने टेक दिये और सत्य के सन्मुख नतमस्तक हो गया। उस परम सत्य धर्म को पाने के लिए प्रथम स्टेज अणुव्रत की है। जो छोटे रूप में सत्य को पाने कदम बढ़ाता है वह पहले अपने जीवन में सत्याणुव्रतों को धारण करता है। उस सत्याणुव्रत का स्वरूप क्या है? तो आचार्य भगवन् कहते हैं-

**स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति च सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावाद वैरमणम् ।।55।।**

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो
स्थूलं अलीकं	-	स्थूल झूठ
न वदति	-	नहीं बोलता
न परान् वादयति	-	न दूसरों से बुलवाता है
विपदे	-	(तथा) विपत्ति के कारण भूत
सत्यम् अपि	-	सत्य को भी नहीं बोलता



तत्	-	उसे
सन्तः	-	सज्जन पुरुष
स्थूलमृषावाद	-	स्थूल झूठ
वैरमणम्	-	त्याग अर्थात् सत्याणुव्रत
वदन्ति	-	कहते हैं।

अर्थ-स्थूल झूठ वचन स्वयं नहीं बोलना और न दूसरों से बुलवाना तथा ऐसा सत्य भी नहीं बोलना जो अपने या दूसरों के लिए विपत्ति का कारण हो उसको गणधरादिक सज्जन पुरुष सत्याणुव्रत कहते हैं।

भव्य मनीषियो! पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं-“स्थूलं अलीकं न वदति” जो स्थूल झूठ स्वयं नहीं बोलता। स्थूल झूठ का तात्पर्य है सफेद झूठ बोलना। जो बात जैसी है ही नहीं उसे वैसा कहना। लोक व्यवहार में जिसे मोटा झूठ समझा जाता है उसी का यहाँ ग्रहण करना जैसे-

1. शपथ लेकर अन्यथा कथन करना (जानकर भी असत्य कहना) जैसे-किसी ने कोई वस्तु चुरा ली उससे पूछा कि क्या आपने फलानी वस्तु यहाँ देखी है क्या? तो उत्तर देना नहीं मैंने तो नहीं देखी। यह स्थूल झूठ है।

2. पंच या जज (न्यायाधीश) के पद पर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कथन करना।

3. धर्म की गद्दी पर बैठकर अपने अभिप्राय की सिद्धि के लिए आगम की ओट में गलत बात को सत्य कहना।

4. विश्वास दिलाकर फिर मुकर जाना।

5. अथवा ऐसा झूठ बोलना जिससे दूसरे के प्राण ही चले जाए।

जैसे-किसी ने मर्डर नहीं किया फिर भी उसे फांसा देना जिससे वह फांसी के तखते तक पहुँच जाए यह स्थूल झूठ है।

सत्याणुव्रती स्वयं स्थूल झूठ नहीं बोलता। तथा “न परान् वादयति” न दूसरों से झूठ बुलवाता है। कभी-2 ऐसा भी होता है कि व्यक्ति स्वयं तो झूठ नहीं बोलता परंतु दूसरे की गर्दन पर रिवाल्वर रखकर झूठ बुलवाता है कि यदि तुमने झूठी गवाही कोर्ट में न दी तो तुम्हारी खोपड़ी उड़ा दूँगा। अथवा नोटों की लालच देकर झूठ बुलवाया जाता है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि सत्याणुव्रती न तो स्वयं ही झूठ बोलता है। न दूसरों से बुलवाता है। तथा “सत्यम् अपि विपदे” सत्याणुव्रती ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जो दूसरे के लिए विपत्ति का हेतु बन जाए। एक बार की घटना है-एक क्रूर प्रकृति का बहेलिया जो निरंतर पशुओं का शिकार करता था एक बार वह किसी गाँव से गुजर रहा था। रास्ते से गुजरते उसके हाथ एक सुंदर सोन चिड़ियाँ लग गई। वह बहुत ही सुंदर चुलबुली थी



क्योंकि अभी बहुत छोटी थी। शिकारी के हाथ में आयी चिड़ियाँ का जीवित बचना नामुमकिन था। तभी वहाँ से एक सेठजी गुजर रहे थे। शिकारी के मन में विचार आया यह सेठ सदा सत्य बोलता है आज इसके सत्य की परीक्षा करूंगा। सेठजी सत्याणुव्रती थे। स्थूल झूठ बोलने का त्याग था। बहेलिया ने कहा सेठजी कहा जा रहे है। सेठजी बोले-और कहा भाई, श्रीजी के दर्शन करने मंदिरजी जा रहा हूँ। अच्छा। जाते-जाते मेरी उलझन, मेरा एक प्रश्न सुलझाते जाओ। सेठजी श्री संपन्न भी थे और धी (बुद्धि) संपन्न भी थे वे समझ गये आज मेरी कुछ परीक्षा होने वाली है। बहेलिया बोला देखो सेठ! मेरी मुट्ठी में एक सोन चिड़िया है बताओं यह जीवित है या मरी। बहेलिया सोच रहा था कि सेठ चाहे जो भी उत्तर दे वह सत्य नहीं ठहरेगा यदि जीवित कहेगा तो मैं मार दूँगा यदि मरी कहेगा तो उड़ा दूँगा। इसके सत्य की मखौल उड़ाने का सुनहरा अवसर है। बोलो सेठ! जल्दी से उत्तर दो। सेठजी ने पूर्वापर अच्छी तरह विचार किया और कहा-तेरे हाथों से आज तक कोई जीवित बचा है ये चिड़िया मरी हुई है। जैसे ही सेठ मरी कहता है बहेलियाँ उसे आकाश में उछाल देता है और चिड़ियाँ आकाश में उड़ जाती है। उसके प्राणों की रक्षा हो जाती है। बहेलियाँ-हँसता हुआ कहता है सेठजी आज तुम्हारे वचन असत्य हो गये तुम तो सदा सत्य बोलते हो। सेठजी ने कहा-भैया! मैंने अपने व्रत के अनुरूप सत्य ही बोला है क्योंकि जिस झूठ को बोलने से किसी के प्राण या आजीविका जीवन बच जाए वह झूठ, झूठ नहीं सत्य ही कहा जाता है।

बंधुओ! पर प्राणों की रक्षा के लिए सेठ ने झूठ बोला था इसलिए वह सत्य की कोटि में ही गिना जाएगा आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जो विपत्ति के कारण भूत सत्य को भी नहीं बोलता “तत् संतः स्थूल मृषावाद वैरमणम् वदन्ति” उसे सज्जन पुरुष सत्याणुव्रत कहते हैं।

यहाँ अज्ञानतावश या असावधानी वशात् जो बात बिना चाहे ही अन्यथा कही जावे या मुख से निकल जावे उसका स्थूलमृषावाद में ग्रहण नहीं है। यहाँ ‘संकल्पात्’ शब्द अहिंसाणुव्रत में कथित की अनुवृत्ति करते हुए संकल्पी असत्य का ग्रहण किया गया है। अर्थात् सत्याणुव्रती संकल्प पूर्वक असत्य नहीं बोलता और सत्य से जीवन में बड़ी-2 उपलब्धियों को प्राप्त करता है।

एक बार की बात है एक पक्का नामी चोर था। चोरी करना उसका मात्र पेशा ही नहीं अपितु शौक भी था। वह दिन भर चोरी करता और रात्रि में दुर्व्यसनों का सेवन करता था उसका अड्डा बीच जंगल में था। एक दिन संध्या के समय वह अपने अड्डे पर जा रहा था। तभी उसकी दृष्टि के वृक्ष नीचे विराजमान एक नग्न पुरुष पर पड़ी पद्मासन से विराजे सौम्य मूर्ति, तेजस्वी महापुरुष को देख उसका मन हुआ कि मैं इनके पास जाऊँ वह हिम्मत जुटा कर उन भद्र पुरुष के सन्मुख गया। उनकी पवित्र आभाओं का इतना गहरा प्रभाव उस चोर पर पड़ा कि वह अपना काम धंधा भूल महाराज के चरणों में बैठ गया। महाराज ध्यान में बैठे हुए थे। कुछ समय के उपरांत महाराज का ध्यान विसर्जन



हुआ महाराज ने जैसे ही आँखें खोली, चोर चरणों में नतमस्तक हो गया और बोला-हे महापुरुष! आप कौन हैं? क्या आप कोई देव हैं? आपको देख मेरे क्रूर परिणाम शांत हो गये और आनंद का अनुभव कर रहा हूँ। महाराज ने उसे निकट भव्य जान धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर धर्मोपदेश दिया।

हे भव्य! चोरी करना महापाप है, व्यसनों के सेवन से जीव दुर्गति को पाता है। अतः इस दृष्टकृत्य का त्याग कर दो। यद्यपि चोर महाराज से बहुत प्रभावित था तथापि उसकी आजीविका चोरी पर निर्भर थी। परिवार कैसे चले? अतः चोर ने कहा महाराज! अभी आप मुझे कोई और व्रत दे दीजिए। धीरे-2 अपनी आजीविका के दूसरे उपाय खोजकर मैं चोरी करना भी छोड़ दूँगा। महाराज ने कहा-ठीक है तुम झूठ बोलने का त्याग कर दो, चोर ने कहा यह नियम तो बहुत सरल है इसे मैं अपना सकता हूँ। मुनिराज से सदैव सत्य बोलने का नियम ले लेता है। प्रातःकाल होते ही महाराज वहाँ से विहार कर जाते हैं। यहाँ चोर प्रतिदिन की भाँति चोरी करने सेठ के यहाँ घुसता है। रात्रि के घनघोर अंधकार में वह डाका डालता है बहुत सा धन चुरा कर इकट्ठा कर लेता है। जैसे ही खिड़की के रास्ते जाने की कोशिश करता है एक सिपाही की दृष्टि उस पर पड़ती है और वह उसे पकड़ लेता है तथा सेठ के सन्मुख ले जाता है। सेठजी चोर से पूछते हैं बता तू कौन है? चोर ने सत्य बोलने का नियम ले रखा था अतः बोला-मैं एक चोर हूँ। सेठजी भोचक्के रह गये। बोल यहाँ क्यों आये हो-सेठजी! कैसा प्रश्न है, जब चोर हूँ तो बेशक चोरी करने आया हूँ। सेठजी उसकी बातों से अचंभित भी थे और प्रसन्न भी। चोर कभी अपने मुख से अपने आप को चोर नहीं स्वीकारता। मैं कैसे मानूँ कि तुम चोर हो। चोर ने कहा-ये धन का ढेर आप देख रहे हैं यह मैंने ही इकट्ठा किया है और चोर, मुनिराज से लिये व्रत संबंधी सारा दृष्टान्त कह सुनाता है सेठ चोर की सत्यता से बहुत प्रभावित होता है वह खुश होकर चोर को सारा धन ईनाम में दे देता है। वह धन इतना था कि यदि चोर की चार पीड़ियाँ भी खाये तो भी खर्च नहीं होगा। चोर इस उपलब्धि को मुनिराज की अनुकंपा व आशीर्वाद का फल ही समझता है और मुनिराज से किये वायदे के अनुसार वह चोरी करना भी छोड़ देता है और जो धन उसे सेठ ने दिया था उससे वह एक बड़ा भारी व्यापार शुरू कर देता है और बड़ा धनवान सेठ बन जाता है।

बंधुओं! एक छोटे से सत्य ने चोर का काया कल्प कर दिया। सोचिए जो एक अणुव्रत पाकर इतना बड़ा सेठ बन गया। सत्य की जगत में ऐसी ही महिमा है। जब एक स्थूल झूठ का त्याग जीवनोत्थान हेतु बन सकता है तो सत्य धर्म यदि आत्मा के असीम वैभव को प्रदान करें तो आश्चर्य ही क्या है?

आप अपने जीवन में उस सत्याणुव्रत को धारण कर परम सत्य धर्म को प्राप्त करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 संभवनाथ भगवान की जय”



प्रवचन-53

श्लोक-56

दोष त्याग निर्दोष बनो

भव्य मनीषियो! सत्य के धरातल पर खड़े होकर हम जो कुछ भी जानते हैं, सुनते हैं, देखते हैं। वही वास्तविक होता है। उस वास्तविकता तक पहुँचने के लिए असत्य की पतों को हटाना अनिवार्य होता है। जैसे-जैसे हम असत्य की पतों को हटाते जाते हैं हम अपनी आत्मा के बहुत नजदीक, करीब-करीब पहुँचते जाते हैं और जब असत्य की संपूर्ण पतें हट जाती हैं तो हम केवलज्ञान रूपी परम सत्य के खुले आकाश में पहुँच जाते हैं। उस परम सत्य को पाने हेतु प्रथम सोपान को पाना अनिवार्य है यदि हमने प्रथम सोपान को पा लिया तो अंतिम सोपान नियम से मिलेगा ही और वह प्रथम सोपान सत्याणुव्रत है।

सत्याणुव्रत की चर्चा पूज्य आचार्य भगवन् ने श्लोक 55 में की थी, आचार्यश्री ने सत्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए उसके ग्रहण की बात की थी। आज पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जिसे पा लिया है उसका मात्र पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके आगे भी हमें अपने कुछ कदम बढ़ाना होंगे।

जब कभी आप मार्केट में जाकर हीरा, पन्ना व सुवर्ण के आभूषण व ज्वैलरी आदि खरीद कर लाते हैं। तो मात्र खरीदना और घर ले आना पर्याप्त नहीं उसके साथ-2 आप उस संपदा को एक तिजोरी में रखते हैं। फिर उस तिजोरी के ऊपर एक मोटा सा ताला लगाते हैं। तथा वह धन संपदा सुरक्षित रहे। उन सभी कारणों से सावधान रहते हैं। जिनसे धन की क्षति हो सकती है। पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं -कि यदि आपने सत्याणुव्रत को जानकर उसे ग्रहण कर लिया हैं तो अब उसके रक्षण में लग जाइए क्योंकि ये व्रत आत्मा की बहुमूल्य संपदा है ये ही आत्मा के आभूषण, आत्मा का श्रृंगार है। सत्याणुव्रत में क्या-2 अतिचार लगते हैं उन्हें जानकर यदि आप उनसे बचने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चित रूप से आप अपने व्रतों का निरतिचार रूप से पालन कर सकेंगे। पूज्य आचार्य भगवन् सत्याणुव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

परिवाद रहोभ्याख्या, पैशून्यं कूटलेखकरणं च।

न्यासापहरिताऽपि च, व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ।।56।।



अन्वयार्थ-

सत्यस्य	-	सत्याणुव्रत के
पञ्च	-	पाँच
व्यतिक्रमाः	-	अतिचार
भवन्ति	-	होते है
(के ते पञ्च)	-	(वे पाँच कौन से है?)
परिवाद	-	दूसरों की बुराई करना
रहोभ्याख्या	-	दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना
पैशून्यं	-	चुगली करना
कूटलेखकरणं	-	झूठे लेख लिखना
अपि च	-	तथा
न्यासापहारिता	-	किसी की धरोहर को हड़प लेना।

अर्थ-धर्म विरुद्ध झूठा उपदेश देना अथवा दूसरों की बुराई करना, दूसरों की गुप्त बात को प्रकट करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना तथा किसी की धरोहर को छल से हरण करना, ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी हमारे महोपकारी है क्योंकि एक ओर तो उन्होंने हमें सत्याणुव्रत का स्वरूप बतलाया तो दूसरी ओर व्रत में संभावित दोषों की व्याख्या कर हमें सावधान कर रहे है कि हे भव्य! यदि तुम्हें अपने व्रतों का निर्दोष रीति से पालन करना है तो होने वाले अतिचारों को जानकर उनसे बचने का उपाय करना चाहिए।

पहला अतिचार कहते है-

1. परिवाद-परि सर्वतो दोषोल्लेखन वादः कथनं अपवादः।

सब ओर से दोषों का उल्लेखन करना परिवाद है। सबसे सस्ता काम यदि कुछ है तो वह है दूसरों की बुराई करना। व्यक्ति दिन रात दूसरों के दोषों का लेखा-जोखा करता है। फलाना ऐसा है, ठिकाना ऐसा है। वह ऐसा करता है वह वैसा करता है। फलाने हमारे पड़ोसी बहुत बुरे है। दिन-रात व्यसनों में डूबे रहते है, लड़ते-झगड़ते रहते है। मेरी सासू बड़ी बुरी है। दिन रात बड़बड़ाती रहती है। न काम करें न धाम। व्यक्ति दूसरों की बुराई का अवसर प्राप्त होने पर हजार काम भी छोड़ देता है। प्रायः महिलाओं की ऐसी आदत होती है कि चार महिलाएँ गुट बनाकर बैठ जाती है और इसकी-उसकी बुराई चालू। उनको इसी में रस/आनंद आता है। परंतु ध्यान रखिये आप जिस व्यक्ति की निंदा कर रहे है। वह बुरा हो या न भी हो परंतु निंदक सर्वप्रथम बुरा है क्योंकि दूसरों की निंदा व बुराई करने वाला नीच गोत्र का पात्र है। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी महाराज ने कहा हैं-



परात्मनिंदा प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादने च नीचैर्गोत्रस्य ।।

पर की निंदा व आत्म प्रशंसा नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।

अर्थात्- दूसरों की बुराई करने से उसका बुरा हो न हो परंतु हमारा स्वयं का बुरा हो ही रहा है। आचार्य महाराज तो यहाँ तक कह रहे हैं कि यदि तुमने दूसरों की बुराई की तो तुम्हारा सत्याणुव्रत भी दूषित हो जायेगा क्योंकि जब व्यक्ति दूसरे की बुराई में उतरता है तो असत्य संभाषण क्रोधावेश में संभव है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि जिस बुराई में आत्मा के अहित के सिवाय कुछ भी तथ्य नहीं किया, ऐसी बुराई का तुम परित्याग कर दो। कहा जाता है-

करो भलाई पर की भला स्वयं का होगा।

करो बुराई पर की बुरा स्वयं का होगा।

दूसरे की बुराई करने वाला स्वयं का पहले बुरा करता है। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकारता है कि जब हम दूसरों की बुराई करते हैं तो हमारे कलुषित परिणामों के द्वारा तो जो (Aura) आभामण्डल का निर्माण होता है वह काला व टूटा हुआ रहता है। जो दूसरों पर भी बुरा प्रभाव डालता है। तथा स्वयं पर भी। कलुषित परिणामों व Exsitation के कारण hasmful hasmons body से Seareti होते हैं। जो Body पर hasnful effect दिखाते हैं। परिणाम स्वरूप शरीर विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाता है। तथा हमारे जैनाचार्य कहते हैं- कि पर की बुराई करेंगे तो तुम्हें संक्लेशता होगी, परिणाम कलुषित होंगे। तथा संक्लेशता से तीव्र स्थिति व अनुभाग बंध होगा। कर्मों का भार घटेगा नहीं अपितु बढ़ेगा और संसार की वृद्धि होगी। कवि तुलसीदास ने बड़ी सुंदर बात कही है-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय।

जो मन खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

यदि आप दूसरों पर 1 अंगुली उठाते हैं कि ये बुरा तो तीन अंगुलियाँ जो आपकी ओर जा रही हैं। वे संकेत कर रही हैं कि यदि सामने वाला एक गुना बुरा है तो हम तीन गुने बुरे हैं और यदि हम दूसरे की बुराई करते हैं। तो हमारा सत्याणुव्रत तो दूषित हो ही रहा है। एक बार प्रश्न आया कि क्या गुरु से किसी के दोष कहना भी निंदा है? तो इसका समाधान यह है कि यदि हम किसी के दोष गुरु से कहते हैं तो वह अतिचार या दोष नहीं हैं। क्योंकि गुरु मोक्षमार्ग पर चलाते हैं हमारे परम हितैषी हैं। यदि हम हित की भावना/सुधार की भावना रखते हुए गुरु से साधर्मि के दोष कहते हैं तो वह निंदा नहीं अपितु उपकार का कार्य है। हाँ, यदि हम एक साधर्मि की निंदा दूसरे से या श्रावकों से करते हैं तो वह दोष है। जिसकी मिस्टेक है या तो उससे ही कहे अथवा गुरु से कहे ताकि उसका सुधार हो सके तो, यह निंदा नहीं कहलायेगी। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी महाराज ने सत्याणुव्रत के अतिचारों में मिथ्योपदेश को परिवाद के स्थान पर रखा है।



मिथ्योपदेश यानि धर्म विरूद्ध झूठा उपदेश देना। कभी-कभी अपने स्वमत की सिद्धि के लिए व्यक्ति धर्म के विरूद्ध संभाषण करता है। मनवाणी को जिनवाणी नहीं बनाना चाहिए। अपने मन की बात सिद्ध करने के लिए जिनवाणी की आड़ लेना। अथवा ऐसा कहता है कि यह तो शास्त्रों में लिखा है। शास्त्रों में कहा है कि केवली कवलाहार करते हैं या देव मदिरापन करते हैं। इत्यादि मिथ्योपदेश कहलाता है और मिथ्योपदेश सत्याणुव्रत में न केवल अतिचार उत्पन्न करता है अपितु यदि उस पर ब्रेक न लगाया गया तो अनाचार तक ही पहुँचा देगा।

2. रहोभ्याख्यान-दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना रहोभ्याख्यान कहलाता है। कोई व्यक्ति अपनी किसी बात को गुप्त रखना चाहता है किसी को नहीं बताना चाहता और आप ने छिपकर यदि कोई भी उसकी बात को जान लिया है तो उसको कभी दूसरों के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए यदि आप उसे दूसरों के समक्ष प्रकट करेंगे तो आपके सत्याणुव्रत में दूषण आयेगा।

3. पैशून्य-पैशून्य का तात्पर्य है चुगली करना। चुगली करना महापाप है चुगली है क्या? तो कहा जाता है-

उलटी को सुलटी करे, सुलटी को उलटाय।

काम बिगारे जगत् को, चुगलखोर कहलाए।।

कुछ लोगों की आदत होती है कि ईर्ष्या, द्वेष वशात् दूसरों की चुगली करता है। इसकी बात उससे उसकी इससे कुछ का कुछ मिर्च मसाला लगाकर बात कहना कि फलाने सज्जन आपके बारे में ऐसा कह रहे थे वे तो आपकी हमेशा बुराई ही करते रहते हैं आपसे बहुत चिड़ते हैं। इस प्रकार दूसरों के उल्टे-सुलटे कान भरकर भड़का देना यह चुगली कहलाती है। चुगली करने वाला कभी अपने सत्याणुव्रत का अच्छी तरह से पालन नहीं कर सकता क्योंकि चुगली में असत्य की पुष्टि नियम से होती है। इसलिए सत्याणुव्रती को चाहिए वह अपने व्रत का निर्दोष पालन करने हेतु पैशून्य का त्याग करें। तत्त्वार्थ सूत्र में पैशून्य के स्थान पर साकारमंत्रभेद शब्द का प्रयोग किया जाता है।

4. कूटलेखकरणं क्रिया-झूठे दस्तावेज बनाना, झूठे हस्ताक्षर करना, पुरानी लिखावट में नई मिला देना अथवा उसमें काँट-छाँट कर देना आदि कूटलेखकरण क्रिया है। अथवा ठगने के प्रयोजन में झूठी लिखा-पढ़ी करना। यह सब कूटलेखकरण क्रिया है और सत्याणुव्रत को दूषित करता है।

5. न्यासापहारितापि च-और किसी की धरोहर को हड़प लेना। पहले/पुराने समय में जो महाजन होते थे वे दूसरों का सोना-चांदी आदि धन रखकर दूसरों को पैसा देते हैं और कुछ समय पश्चात् जब वह व्यक्ति अपनी धरोहर लेने आता तो समय निकल गया इत्यादि कहकर उसकी अमूल्य धरोहर को हड़प लेते हैं। अथवा कोई व्यक्ति विश्वास के सहारे हमारे पास कोई वस्तु रखकर गया कि हम विदेश जा रहे हैं। जब वापस लौटकर आयेगे तो वापस ले लेंगे। कोई-2 लोग सामग्री रख तो



लेते हैं परंतु जब मालिक लेने आता है तो मुकर जाते हैं कि आपने कब कौन सी सामग्री हमें सौंपी। हमें याद नहीं। इत्यादि प्रकार से दूसरे के विश्वास को तोड़कर उसकी धरोहर को हड़प लेते हैं क्योंकि आपने सामग्री रखी है फिर भी आप उससे मुकर रहे हैं तो यह साफ-2 झूठ ही हो गया। यह व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। सत्याणुव्रत का धारी इन सब दोषों से बचने का पूरा पूरा प्रयास करता है। घर-गृहस्थी में रहते हुए इन सब दोषों के होने की संभावना रहती है इसलिए सत्याणुव्रती इन सब दोषों से बचने हेतु निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

आप इन दोषों को अच्छी तरह समझ कर इनसे यथाशक्य बचने का प्रयत्न करें तथा सत्याणुव्रत को निर्दोष बनाएं।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मुनिसुव्रत नाथ भगवान की जय”



सत्य महिमा

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम्।

चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम्॥9/27॥ (ज्ञानार्णव)

अर्थ : सत्यव्रत श्रुत और यमों का स्थान है, विद्या और विनय का भूषण है और सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य उत्पन्न करने का कारण सत्य वचन ही है।

चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्द्धयन्ती जगदत्रये।

स्वर्गिभिर्धियते मूर्ध्ना कीर्तिः सत्योत्थिता नृणाम्॥ 9/29॥

(ज्ञानार्णव)

अर्थ : तीनों लोकों में चन्द्रमा के समान आनंद को बढ़ानेवाली सत्यवचन से उत्पन्न हुई मनुष्यों की कीर्ति को देवता भी मस्तक पर धारण करते हैं।



प्रवचन-54

श्लोक-57

स्वामी का आज्ञा न होय : चीज गहे सो चोरी होय

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज आत्मोन्नति के सूत्रों को प्रदान करते जा रहे हैं वे कह रहे हैं हे भव्य! एक-एक बुराई को तुम छोड़ते जाओ तो एक-एक गुण संग्रहित होता जायेगा। पूर्व श्लोकों में पूज्य आचार्य भगवन् ने दो व्रतों का स्वरूप व अतिचार कहें अब आगे अचौर्याणुव्रत की बात पूज्य आचार्य भगवन् कह रहे हैं। चोरी करना महापाप है यह जगत प्रसिद्ध है। चोरी करने वाले का विश्वास समाप्त हो जाता है। वह जहाँ भी जाता है। लोगों की निगाहें टिकी रहती है। यदि कोई सामग्री खो जाए तो सब लोग उसी की तरफ देखते हैं कि इसी ने चुराई होगी। तथा चोरी करने वालों को परलोक में जाकर गधा, घोड़ा, गाय, बैल आदि बनकर कर्ज चुकाना पड़ता है। तथा चोरी की लत यदि जीवन में एक बार पड़ जाए तो संभल पाना मुश्किल होता है। आज की छोटी सी चोरी कल के दिन फांसी के फंदे तक ले जा सकती है।

एक बार की बात है-एक छोटा सा बच्चा जब पहली-पहली बार स्कूल गया तो बहुत खुश था। यद्यपि वह गरीब परिवार का था इसलिए अन्य बच्चों को देख वह दुःखी होता था। एक बार उसकी दृष्टि एक बच्चे की पेंशिल पर पड़ी उसे वह पेंशिल भा गई और उसने धीरे से वह पेंशिल चुराया और घर आ गया। जब घर आया, तो सबसे पहले उसने वह पेंशिल अपनी माँ को दिखाई। देखो माँ मैं स्कूल से किसी बच्चे की पेंशिल चुरा कर लाया माँ स्वयं संस्कारित नहीं थी इसलिए बच्चे को डाँटने की बजाए उसकी पीठ थपथपा दी कि बेटा तूने बहुत अच्छा काम किया। बेटा बहुत खुश हुआ उसने सोचा माँ अच्छा कह रही है तो जरूर मैंने कोई बहुत अच्छा काम किया है। अब तो वह नित नई-2 सामग्रियाँ चुरा-चुराकर लाने लगा। माँ रोज पीठ थपथपा देती। स्कूल से निकलकर वह जेबकतरा बन गया।

बंधुओ! चोरी के संस्कार ऐसे ही होते हैं यदि एक बार पड़ जाये तो व्यक्ति फिर कोई मेहनत का काम करना नहीं चाहता चोरी को ही वह अपना व्यापार बना लेता है जेब कतरते हुए वह एक दो बार पकड़ा भी गया। परंतु कभी उसकी माँ ने उसे सही राह नहीं दिखाई। जेब कतरते-कतरते एक



दिन वह डाकूओं की गेंग में जा मिला और धीरे-2 एक बड़ा नामी डाकू बन गया। जिसका नाम सुनकर लोग थरथराते थे। उस डाकू की तानाशाही इतनी बढ़ गई कि सरकार को उसके ऊपर ईनाम रखना पड़ गया। सभी जगह उसके चर्चे थे। एक दिन बहुत प्रयत्न व प्रयासों के द्वारा वह पकड़ा गया।

उसके पकड़े जाने पर सर्वत्र खुशहाली छा गई। सभी खुश थे कि अब हमारा डर भय समाप्त हो गया, उस डाकू को फांसी की सजा सुनाई गयी और मरने से पूर्व उसकी अंतिम इच्छा पूछी गई। अंतिम इच्छा व्यक्त करते हुए उसने कहा कि मैं मरने से पूर्व अपनी माँ से मिलना चाहता हूँ। उसकी माँ को जेल में लाया गया। जब माँ आ गई तो उसने माँ से कान पास करने कहा-सब ने सोचा कि शायद अपनी अंतिम इच्छा माँ के कान में कहना चाहता है। माँ ने कान समीप किया तो जंजीरों से बंधे उस डाकू ने जोर से अपनी माँ का कान काट दिया। माँ जोर से चीख उठी। लोगों ने सोचा यह कितना क्रूर व खूंखार प्राणी है। इसने फांसी के तख्ते पर चढ़ते-चढ़ते भी अपनी माँ तक को नहीं छोड़ा उसे भी यातना दी। तब डाकू से किसी ने पूछा-तूने ऐसा क्यों किया पापी से पापी व्यक्ति भी जन्म देने वाली माँ का सम्मान करता है उसे कष्ट नहीं पहुँचाता क्या माँ को कष्ट पहुँचाने की ही तुम्हारी अंतिम इच्छा शेष थी। डाकू ने बड़े गंभीर व दर्द भरे स्वर में कहा-आज मैं जिस फांसी के तख्ते पर चढ़ने जा रहा हूँ। वह मेरी माँ की ही देन है। मुझे याद है वह दिन जब मैं स्कूल से 1 पेंशिल चोरी करके लाया था। तब माँ ने मुझे डाँटा नहीं था अपितु मेरे गलत कार्य करने पर भी मेरी पीठ थपथपायी थी उस दिन तो मुझे मेरी माँ विश्व की सबसे अच्छी माँ लग रही थी, परंतु आज उस गलती को कंट्रोल नहीं करने का परिणाम यह निकला कि मैं मौत के मुख में खड़ा हूँ तथा पाप की गठरी मेरे सिर पर रखी हैं काश! मेरी माँ मुझे उस दिन एक थप्पड़ लगा देती। तो आज मैं डाकू नहीं होता।

बेटे के मुख से सच्चाई को सुन माँ का कलेजा फट रहा था वह कहती है-हाँ बेटा! तू सच कह रहा है। मेरी अज्ञानता व छोटी सी ढील की सजा ही आज तुझे मिल रही है। अपराधी तू नहीं, अपराधी मैं हूँ। फांसी के तख्ते पर तुझे नहीं मुझे चढ़ाया जाना चाहिए। जेलर साहब, जब माँ और बेटे के पारस्परिक संवाद को सुनते हैं और जेल का ऐसा एक कानून होता है कि यदि कोई अपराधी अपनी गलती व अपराध को अंतरंग से महसूस करता है तथा पश्चाताप प्रकट करता है तो उसकी सजा कम कर दी जाती है। डाकू के पश्चाताप से भरे वचनों को सुन जेलर साहब उसकी फांसी की सजा रद्द कर उम्र कैद की सजा सुना देते हैं।

बंधुओ! एक छोटी सी स्कूल में चुराई गई पेंशिल, फांसी के तख्ते तक ले जा सकती है। इसलिए चोरी जैसे महापाप से बचने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। उस पाप से बचने का उपाय व्रत ग्रहण करना है। अचौर्याणुव्रत का धारी स्थूल रूप से चोरी का त्यागी होता है। उस अचौर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं-



निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृश चौर्यादुपारमणम् ।।57।।

अन्वयार्थ-

तत्	-	उसको
अकृशचौर्यात् उपारमणम्	-	स्थूल चोरी त्याग अणुव्रत
भवति	-	होता है।
यत्	-	जो
परस्वं	-	दूसरे के धन को
न हरति	-	न तो स्वयं लेता है।
न च (अन्यस्मै)	-	और न (दूसरे के लिए)
दत्ते	-	देता है।
(कथं भूतं) परस्वं	-	(कैसे?) पर द्रव्य को? जो
निहितं वा	-	रखा हुआ हो।
पतितं वा	-	गिरा हुआ हो।
सुविस्मृतं वा	-	भूला हुआ हो।
अविसृष्टम्	-	बिना दिया हुआ हो।

अर्थ-दूसरों की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई अथवा नहीं दी हुई वस्तु को न तो स्वयं लेना और न दूसरों को देना अचौर्याणुव्रत है।

भव्य मनीषियों! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी बड़ी सूक्ष्मता से विचार कर अचौर्याणुव्रत का कथन कर रहे हैं। वे कहते हैं “निहितं वा” किसी की रखी हुई वस्तु को “यत् परस्वं न हरति न च अन्यस्मै दत्ते” जो न तो स्वयं लेता है न दूसरों को देता है। यदि किसी व्यक्ति ने अपनी वस्तु कहीं रख दी है और आपने स्वामी की आज्ञा के बिना वह वस्तु बिना पूछे उठा ली या उठा कर किसी को दे दी। तो यह चोरी ही कहलायेगी। कहा भी जाता है- स्वामी का आज्ञा बिन चीज लहे सो चोरी होय।। आपने वस्तु के मालिक की आज्ञा नहीं ली और उसकी वस्तु उठा ली तो वह अपना सामान जहाँ रखकर गया है। जब वहाँ अपनी वस्तु नहीं पायेगा तो वह बहुत दुःखी होगा। क्योंकि पैसे को प्राणी का 11 वाँ प्राण माना गया। पैसे खो जाने पर कभी-2 व्यक्ति के प्राण तक चले जाते हैं। मनुष्य तो मनुष्य तिर्यच प्राणी तक पैसों के लिए अपने प्राण देते देखे जाते हैं। एक बार News Paper में एक चूहे की घटना पढ़ने को मिली थी।



एक चूहा था, पूर्व पर्यायों के संस्कार वशात् उसमें पैसों के प्रति विशेष मोह था। एक बार उसे कहीं बीस रुपये के खुले नोट मिल गये। एक-एक के बीस नोट उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। ऐसे मिलने की खुशी में वह पैसों के चारों ओर घूम-घूम कर खूब नाचा जब नृत्य बंद हुआ तो एक-एक नोट ले जाकर अपने बिल में रखने लगा एक-एक कर वह 19 नोट तो अपने बिल में रख आया, शेष बचा 1 रुपया जब वह उस अंतिम नोट को लेने के लिए आया तो उन एक-एक नोट के मालिकों ने चूहे के बिल से शेष 19 रुपये निकाल लिये क्योंकि मालिक ने वे नोट चूहे को बिल में ले जाते देख लिया था जब चूहा उस अंतिम नोट को लेकर बिल में आया तो शेष 19 रुपयों को न पाकर बड़ा दुःखी हुआ। उसके दुःख की कोई सीमा नहीं थी। पैसों को पाकर वह जितना उछल-कूद रहा था। पैसों के गायब होने से वह पैर पटक-2 कर बहुत दुःखित हुआ। चूहे के बिल में छापा क्या पड़ा चूहे को अटक आ गया और वह मूर्छा खाकर बेहोश हो गया।

बंधुओ! जब एक चूहे जैसे प्राणी की यह दशा हो सकती है। तो फिर मनुष्यों की क्या बात कहे। अतः किसी की वस्तु जहाँ रखी है वही रखी रहने दो। जब भी उसे याद आयेगा अपनी वस्तु उठा ले जायेगा। कुछ लोगों का कहना होता है कि हम उसकी वस्तु चुरा नहीं रहे मात्र उठाकर एक तरफ रख रहे हैं अथवा मंदिर की गोलक में डाल रहे हैं। अथवा किसी गरीब को दे रहे हैं। तो इसका उत्तर यह है जब वस्तु आपकी नहीं है तो उठाना क्यों? दूसरी बात किसी गरीब को देना हो या मंदिर की गोलक में डालना हो तो पर द्रव्य पर हमारा जब स्वामित्व ही नहीं तो दूसरों को कैसे दे सकते हैं? जो अपनी वस्तु है उसी का दान किया जाता है पर वस्तु का दान, दान नहीं। अपितु बिन पूछे लेना चोरी ही कहलायेगी।

आगे कहते हैं-“पतितं वा” किसी की वस्तु गिर गई हो, तो कभी-2 ऐसा हो जाता है कि चलते-2 जेब से पैसे गिर गये या कोई आभूषण गिर गया। तो क्या वह हम उठा सकते हैं नहीं उठा सकते? न स्वयं ले सकते हैं न उठा कर दूसरों को दे सकते हैं। हो सकता है उस व्यक्ति को याद रहे कि मैं यहाँ से गुजरा था यदि उसकी सामग्री वही पड़ी रहेगी तो हो सकता है खोजते-2 उसे मिल भी जाए। परंतु यदि आपने उठा ली या उठा कर किसी दूसरे को दे दी या मंदिर में डाल दी तो वह व्यक्ति कितना दुःखी होगा इसलिए किसी की गिरी हुई वस्तु को भी स्वामी की आज्ञा के बिना लेना चोरी ही है। आगे आचार्य भगवन् कहते हैं-“सुविस्मृतं वा” अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी सामग्री धन-पैसा आदि यदि किसी स्थान पर भूल गया है तो किसी की भूली हुई वस्तु को नहीं उठाना चाहिए। न उठाकर दूसरों को देना चाहिए। क्योंकि कोई भूल कर छोड़ गया है तो याद आते ही वह उसी स्थान पर लेने अवश्य जायेगा यदि आप उस वस्तु को नहीं उठाते तो वह उसे मिल जाती। इसलिए भूली हुई वस्तु को लेना भी चोरी है।



परंतु यदि हमारा साधर्मी अपनी कोई वस्तु कहीं भूल आया है और यदि हमने देख लिया है और उस वस्तु को उठाकर जिस व्यक्ति की है उस तक पहुँचा दी। तो यह चोरी नहीं अपितु परोपकार कहलायेगा। परंतु किसी की भूली वस्तु स्वयं रख लेना या दूसरों को दे देना तो चोरी ही कहलायेगी। आगे कहते हैं-“अविसृष्टम्” बिना दिया हुआ हो। अर्थात् बिना दिये हुए हम किसी की वस्तु नहीं ले सकते यथा सामने वाले साधर्मी के पास दो पेन है और आपको आवश्यकता है तो बिना स्वामी की आज्ञा लिये पेन उठा लेना कि इसके पास तो दो हैं एक ही से तो लिखेगा। भले ही वो 1 से लिखे परंतु आज्ञा लिये बिना या सूचना किये बिना पर द्रव्य को हरना चोरी ही कहलायेगी।

यदि कोई व्यक्ति आपके मांगने पर भी आपको नहीं देना चाहता परंतु आपने जबरदस्ती जिद्द कर करके उसकी वस्तु ले ली तो स्वामी की इच्छा के विरुद्ध सामग्री ली है। इसलिए उसका अंतर्भाव भी चोरी में ही हो जायेगा। तथा कुछ लोग किसी की गिरी, पड़ी, रखी, भूली वस्तु को न तो स्वयं उठाते हैं न दूसरों को देते हैं। परंतु जोरों से हल्ला कर दिया कि यहाँ तो पैसे पड़े हैं और आपकी बात किसी दूसरे के कानों में पहुँच गई और उसने वे पैसे उठा लिये तो भी उसके साथ-2 चोरी का दोष आपको भी लगेगा क्योंकि आपने स्वयं भले नहीं उठाया, चोरी स्वयं नहीं की परंतु चोरी का रास्ता दूसरों को तो अवश्य बता दिया। इसलिए ये सब प्रकार चोरी में ही अंतर्निहित है। तथा इन सबका जो त्याग है “तत् अकृशचौर्यात् उपारमणम् भवति” वहको स्थूल चोरी त्याग अणुव्रत अर्थात् अचौर्याणुव्रत होता है।

चोरी का त्याग करने वाला अचौर्याणुव्रती सर्वत्र सम्मान पाता है, सभी उसका विश्वास भी करते हैं कि यदि हम कोई सामान भूल भी गये होंगे तो हमें मिल जायेगा। ऐसे अचौर्याणुव्रती इहलोक व परलोक में सम्मान व ऐश्वर्य को पाते हैं।

इसलिए हमें अवश्य ही ऐसे पवित्र अचौर्याणुव्रत को अवश्य ही धारण करना चाहिए। यही हमारी आत्मोन्नति का सोपान सिद्ध होगा।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 अभिनंदन नाथ भगवान की जय”





प्रवचन-55

श्लोक-58

पाँच पापों से बचो

भव्य मनीषियो! जीवनोत्थान के सूत्रों को प्रदान करने वाले परम पूज्य आचार्यश्री 108 समंतभद्र महाराज एक-एक व्रतों का सविस्तृत वर्णन करते हुए व्रतों की महिमा गा रहे हैं। व्रत ही आत्मा का उत्थान करते हैं। आत्मा को अवगुणों से बचाकर गुणवत्ता प्रदान करते हैं। जब तक आत्मा अपने सर्वोत्कृष्ट उत्थान मोक्ष की सिद्धि न कर ले तब तक व्रताचरण कर दुर्गतियों का निवारण करते हुए धर्मध्यान के योग्य सुगतियों को पाना सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए आचार्य भगवन् व्रतों में सुदृढ़ रहने हेतु एक-एक व्रत का स्वरूप व अतिचार का वर्णन कर रहे हैं। पूर्व-श्लोक में आचार्य भगवन् ने चोरी को पाप बतलाते हुए उससे बचने हेतु अचौर्याणुव्रत का स्वरूप कहा आचार्य भगवन् अचौर्याणुव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

चौर प्रयोग चौरार्था, दान विलोप सदृशसन्मिश्राः ।

हीनाधिक विनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः । ॥58॥

अन्वयार्थ-

- | | | |
|------------------|---|---|
| अस्तेये | - | अचौर्याणुव्रत के |
| पञ्च व्यतीपाताः | - | पाँच अतिचार हैं |
| (के ते पञ्च) | - | (वे पाँच अतिचार कौन से हैं?) |
| चौर प्रयोग | - | चोर को चोरी करने की प्रेरणा या अनुमोदना करना, |
| चौरार्था दान | - | चोरी का माल खरीदना, |
| विलोप | - | राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, |
| सदृशसन्मिश्राः | - | समान वस्तुओं को मिलाना, |
| हीनाधिक विनिमानं | - | नाप तौल के बाटों में तथा नियमों में न्यून अधिक करना । |

अर्थ-1. चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना 2. चोरी की वस्तु को खरीदना 3. राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना 4. कम कीमत की वस्तु में समान रंग वाली वस्तु अधिक कीमत की मिलाकर अधिक कीमत में बेचना 5. नाप-तौल में न्यूनाधिक करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।



भव्य बंधुओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् अपने व्रतों को निर्दोष पालने हेतु अतिचारों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं-

1. **चौर प्रयोग**-चोरी का प्रयोग, चोर को चोरी करने की विधि बतलाना। उदाहरण के लिए कभी-2 माताएँ अपने बच्चों को चोरी की शिक्षा दे देती है। बेटा! जाकर पापा के जेब से 10 रुपये निकाल लाना और तब निकालना जब पापा ऑफिस गये हो। अथवा अन्य प्रकार से दूसरे की सामग्री लाने की विधि स्वयं बताना अथवा दूसरे से कहकर चोरी में प्रयुक्त कराना अथवा चोरी करने वाले की प्रशंसा-अनुमोदना करना। वाह! आपके अंदर तो बड़ी हाथ की सफाई है। कोई चालाकी से किसी की जेब काट कर लाया और आप उसकी प्रशंसा में जुटे है वाह-वाह कितनी सफाई से आपने जेबकाटी किसी को मालूम भी नहीं पड़ा आप तो जीनीयस मांडू है।

लाखों/करोड़ों का व्यापार करने वाले कुछ लोग नंबर दो की कमाई करते हैं। और लाखों का फायदा मिनिटों में होता है। कोई तो चोरी पर चोरी करता जा रहा है और आप उसकी प्रशंसा कर रहे है। तो चोरी की अनुमोदना करने वाला भी चोरी करने बराबर पाप का भाजक बनता है। कभी-2 व्यक्ति स्वयं तो चोरी की विधि नहीं बतलाता परंतु दूसरों के द्वारा किसी को चौर कर्म में लगा देता है। दूसरों को चौरकर्म में प्रयुक्त करना यह भी चोरी करने के बराबर पाप है। एक बार हम लोगों के पास एक सज्जन आये बोले- महाराज! बॉम्बे जैसे महानगरों में तो बड़ी बुरी स्थिति है मैंने कहा-क्या हुआ? वे बोले-यहाँ पर गरीब लोगों के बच्चों को चुराकर बड़े-2 चोर उन्हें चोरी करना सिखाकर, बड़े-2 करोड़पति सेठों के यहाँ चोरी करवाते है। चोरों की भी बड़ी-2 गैंग होती है। छोटे-2 बच्चों को चुराकर ठेकेदार लोग उन्हें चोरी की ट्रेनिंग देते है। छोटे-2 बच्चे धीरे-2 पल कर उन्हीं के यहाँ बड़े होते है। वे नन्हें-मुन्हें अपना भला-बुरा नहीं समझते, डराकर धमकाकर उनसे जो-जो भी कुछ करवाया जाता है। डरकर वे सबकुछ करते है। मुझे बड़ा आश्चर्य और दुःख भी हुआ कि व्यक्ति स्वयं चोरी करता है। तथा दूसरों को पाप कर्मों में लगा देता है। वे बच्चे मजबूर होते हैं। चाहकर भी वहाँ से भागकर कहीं और नहीं जा सकते। यदि कहीं और जाते है। तो उनके प्राण ही हरण कर लिये जायेंगे। मजबूर होकर प्राणों की रक्षा हेतु वे सब कुकर्म करने को तैयार हो जाते है। इस प्रकार चोर डाकुओं की टोली की टोली तैयार हो जाती है।

2. **चौरार्था दान**-चौरार्थादान का तात्पर्य है चोरी का माल खरीदना। बड़े-बड़े चोर करोड़पति के घर से उनके पहनने के कपड़े, बर्तन, पैसे आदि चुराकर लाते है अथवा बड़ी-2 दुकानों से सामग्री चुराकर लाते है और कम कीमत पर उन्हें बेच देते है। कई बड़े-2 शहरों में तो चोर मार्केट भी होता है। जहाँ पर कीमती से कीमती सामग्री कम रेट पर मिल जाती है कितने ही लोग लोभ लालच में फंसकर वह कीमती सामग्री कम रेट में खरीद लाते है। कभी-2 फेरी वाले भी हजारों रुपयों की साड़ी को 100 व 200 रुपयों में बेचकर चले जाते है और प्रायः व्यक्ति लोभ-लालच में आकर खरीद लेते



है। एक बार किसी सज्जन ने प्रश्न किया कि महाराज व्यापारी जिस समय माल खरीदता है तो उसे क्या मालूम कि यह चोरी का है या नहीं, फिर वह दोष का भागी है कि नहीं। तो सबसे प्रथम पहचान चोरी के माल की यह है कि बहुकीमती सामग्री यदि कौड़ियों के दाम मिल रही है तो दाल में कुछ काला अवश्य है। क्योंकि कोई व्यक्ति अपनी हानि करके तो आपको सामग्री देगा नहीं। बस इसी से अंदाजा लग जायेगा कि सामग्री चोरी की है या नहीं। यदि ऐसा अहसास होने पर भी आप सामग्री खरीद रहे हैं तो आप दोष के भागी होंगे। आपके अचौर्याणुव्रत में दोष लगेगा।

3. विलोप-विलोप शब्द से प्रभाचंद्राचार्य ने राजाज्ञा का उल्लंघन मात्र लिया है। राजा की आज्ञा के विपरीत चलना भी दोष है। कितने ही लोग राजकर, टेक्स नहीं भरते, भूमिकर, संपत्तिकर, आदि नहीं भरते है यह राजकीय चोरी ही कहलायेगी। कितने ही लोग बिजली की चोरी करते हैं। मीटर कनेक्शन चेंज कर देते हैं जिससे बिजली की खपत से एक चौथाई बिल भी नहीं आता। राजकीय बनाये हुए बहुत से नियमों का व्यक्ति पालन नहीं करते। निषिद्ध स्थानों पर अपनी दुकानें खड़ी कर लेते हैं। यह सब विलोप नामक अतिचार है। तत्त्वार्थ सूत्र में विरुद्धराज्यातिक्रम का प्रयोग 'विलोप' के स्थान पर किया गया। विरुद्धराज्यातिक्रम यानि राजा की आज्ञा के विपरीत चलना। जो भी दंड संहिता निर्धारित की है उसका पालन नहीं करना। कभी-2 गुरुकुल में रहने वाले/पढ़ने वाले बालक भी गुरुकुल के नियमों का पालन नहीं करते अथवा गुरु आज्ञा से विपरीत ही चलते हैं। तो वह सब विरुद्धराज्यातिक्रम में समाविष्ट हो जायेगा। उदाहरण के तौर पर गुरुकुल का ऐसा नियम है कि गुरु की आज्ञा के बिना किसी सामग्री को लेना-देना नहीं चाहिए। परंतु कुछ लोग गुरु आज्ञा की परवाह न करते हुए धीरे से लुकछिप कर, गुरु से आंख बचाकर सामग्री मंगा लेते हैं। कि भैया! अमुक-2 सामग्री ला देना है हो सकता है आपके कहने पर श्रावक व्यवस्था बना दे, सामग्री ला दे परंतु आपने चूंकि गुरु आज्ञा का पालन नहीं किया इसलिए आप दोष के भागी कहे जायेंगे।

एक बार की घटना है-हम लोग जब क्षुल्लक अवस्था में परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्यश्री 108 सन्मति सागरजी महाराज के संघ में थे तब एक दिन पूज्य आचार्यश्री ने एक छोटी सी पुस्तक मुझे पढ़ने दी। वह पुस्तक मेरी टेबिल पर रखी थी। मेरे पास उस समय एक लड़का आता था उसकी दृष्टि किताब पर पड़ी तो बोला- महाराज! मैं आपकी किताब घर ले जाऊँ क्या? पढ़ कर दो दिन में वापस दे दूंगा। मैंने यूँ ही सहजता में हाँ कर दिया। वह लड़का उस पुस्तक को ले गया। दो चार दिन बाद एक दिन पूज्य आचार्य का आहार योगायोग उसी लड़के के यहाँ हुआ। मैनाबाईजी पूज्य आचार्यश्री के आहार कराने गई थी। जैसे ही उनकी दृष्टि उस पुस्तक पर पड़ी वे पहचान गई कि यह तो वही पुस्तक है जो महाराज ने पूर्णसागर क्षुल्लकजी को पढ़ने दी थी। मैनाबाईजी चुपचाप वह पुस्तक ले आयी और ले जाकर महाराज को दे दी। अब क्या था मेरी तो क्लास लग गई। आचार्यश्री ने कहा-पूर्णसागर! कुछ दिन पहले तुम्हें मैंने एक पुस्तक दी थी वहा कहाँ है ? मैंने कहा-हाँ-हाँ मेरे पास



है। आचार्यश्री ने कहा-तुम्हारे पास है तो ले आओ। मैं पुस्तक लेने कमरे तक तो आया परंतु पुस्तक मेरे पास तो थी नहीं, वह तो अनजाना लड़का ले गया था। मुझे न तो उसका नाम/पता मालूम था, न घर। अब क्या करूँ। थोड़ी देर बाद मैं आचार्यश्री के पास पहुँचा और कहा-आचार्यश्री रखी तो वही थी परंतु मिल नहीं रही। तभी मैनाबाईजी बोली-मिलेगी भी कैसे वह तो यह रही। महाराज के पास अपनी पुस्तक देख मुझे बहुत डर लगा और सच-सच सारी घटना सुना दी। महाराज! वह लड़का पढ़ने ले गया था। आचार्यश्री ने कहा-किसी श्रावक को पुस्तक देने के पूर्व क्या आपने हमसे आज्ञा ली। मैंने कहा-आचार्यश्री! मुझसे गलती हो गई। क्षमा कर दीजिए। आगे ऐसी गलती नहीं करूँगा। पूज्य आचार्यश्री ने कहा-हाँ ठीक है। आगे से याद रखना। वह दिन मुझे हमेशा याद रहता था उसके बाद कभी गुरुदेव से पूछे बिना कभी कोई कार्य नहीं किया। यदि हम गुरु आज्ञा या गुरुकुल के नियम के विरुद्ध कुछ भी कार्य करते हैं तो वह सब विरुद्धराज्यातिक्रम दोष में गृहीत हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त विलोप शब्द से न्याय सिद्धान्तों का भंग करना, चेतन-अचेतन संपत्ति को जला देना, बम गिराना, विष आदि देना इत्यादि दुष्कार्य भी ग्रहण किये जा सकते हैं कभी-2 व्यक्ति न्याय के विरुद्ध आचरण करते हैं आगम के सिद्धान्तों में अपनी इच्छानुसार तोड़-मरोड़ कर देते हैं। भ्रष्टाचारी, घूसखोरी, रिश्वत लेना व देना सब विरुद्धराज्यातिक्रम में गृहीत है। किसी की चेतन या अचेतन संपत्ति को ईर्ष्या, द्वेष या क्रोधावेश में आकर जला देना, बम पटकना, विष देना इत्यादि सब अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

4. सद्दृश सन्मिश्र:- इस अतिचार की वर्तमान में प्रबलता देखी जा रही है। प्रायः मनुष्य अनुचित लाभ की दृष्टि से सद्दृश दिखने वाले पदार्थों को मिला कर विक्रय करते हैं। जैसे-दूध में पानी, शुद्ध घी में डालडा, काली मिर्च में पपीते के बीज, लाल मिर्च में लाल गेरूआ मिट्टी असली में नकली आदि भिन्न-भिन्न मिश्रण द्वारा व्यक्ति दुनियाँ को ठग रहे हैं। यह अचौर्याणुव्रत का अतिचार है। जो व्यक्ति ऐसे काम करते हैं वे मिलायी गई अनावश्यक सामग्री के तुल्य चोरी कर रहे हैं। तथा इस प्रकार से दूसरों को ठगने से चोरी, छलकपट, झूठ आदि अनेक पापों के भागी बनते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में सद्दृशसन्मिश्र के स्थान पर प्रतिरूपक व्यवहार शब्द का प्रयोग किया जाता है।

5. हीनधिकविनिमानं- नाप-तौल के बांटों में तथा नियमों में न्यून-अधिक करना। प्रायः व्यापारी गण मुख्य रूप से सब्जी मंडी व राशन की दुकानों में नाप-तौल में गड़बड़ करते हैं। आधा-आधा किलो सामग्री कम तौलते हैं या तो वे बांटों में कुछ गड़बड़ी रखते हैं अथवा तराजू में और अनावश्यक वस्तु की बचत कर लेते हैं। सामग्री खरीदने वाला ग्राहक बेचारा सीधा साधा होता है बेचने वाले के छलकपट को नहीं समझ पाता और वह ऐसे व्यापारियों के द्वारा ठगाया जाता है। परंतु दूसरे को छलने का परिणाम कभी अच्छा नहीं निकलता। एक बार की घटना है-एक दूध वाला था रोज दूध दुहता तथा पास की नदी से उसमें आधा पानी मिलाता और चल देता बाजार में बेचने। लोगों को



पानी मिला दूध देकर बहुत से पैसे ऐंठ लेता था। उसका रोज का यह क्रम जारी रहता था। वह दूध दुहता नदी के पास जाता, पानी मिलाता और पैसे कमाता। उसी नदी के किनारे एक वृक्ष लगा था। उस पर एक बंदर रहता था। बंदर रोज यह दृश्य देखता था कि कैसे पानी-मिला मिलाकर यह दूधवाला दूध बेचता है। बंदर भी बहुत समझदार होते हैं। एक दिन प्रतिदिन की भाँति वह दूधवाला दूध बेचकर वहाँ से निकल रहा था। नदी किनारे वृक्ष की शीतल छाया देखी तो गर्मी से होने वाली थकान से कुछ राहत पाने के लिए उसने पैसे की थैली पास में सिरहाने रखी और सो गया। नदी किनारे वृक्ष हो तो शीतल पवन चलता ही है। उसकी नींद लग गई। बंदर ने देखा आज अच्छा अवसर है। वह झट से पेड़ से उतरा और उस दूधवाले के सिरहाने रखी पैसे की थैली खींची और ऊपर चढ़ गया। जैसे ही उसने थैली खींची दूधवाले की नींद खुल गई। उसने देखा कि बंदर मेरी दिनभर की कमाई लेकर ऊपर बैठा है। दूधवाले ने बड़ी मिन्नतें मांगी, भाई। मैं गरीब आदमी हूँ। घर जाकर बीबी बच्चों को क्या खिलाऊँगा, मेरे सिक्के वापस दे दे। थैली में 1-1 के बहुत से सिक्के भरे थे। दूधवाले ने बहुत प्रार्थना की। बंदर भी समझदार था। अतः 1 सिक्का उसने नीचे फेंक दिया दूधवाला खुश हो गया कि शायद एक-एक कर बंदर सारे सिक्के नीचे फेंक देगा। बंदर ने दूसरा सिक्का निकाला और पानी में फेंक दिया। दूधवाले को दुःख हुआ वह बोला-ऐ बंदर! तू क्या कर रहा है परंतु वह कहाँ सुनने वाला था। एक सिक्का पानी में तथा एक वृक्ष के नीचे गिराता गया। थैली खाली होते ही फेंक दी। दूधवाले ने पैसे बटोरे और गिने तो आधे पैसे थे। दूधवाला बड़बड़ा रहा था कि कैसा बंदर है मेरे आधे पैसे पानी में चले गये। तभी एक बूढ़ी दादी वहाँ से गुजरी और दूधवाले को बड़बड़ाते देख सब समझ गई और बोली-ऐ दूधवाले, सुन ये बंदर समझदार है, न्यायनीति सम्पन्न है। तुम रोज दूध में आधा पानी मिलाते हो इसलिए इस बंदर ने न्याय कर दिया है-दूध का दूध व पानी का पानी। दूध का धन तुझे दिया और पानी का पानी में अर्थात् नदी को दे दिया। दूधवाला बड़ा शर्मिन्दित हुआ। ठीक है बंदर ने तो न्याय ही किया है।

बंधुओ! छलकपट अधिक समय नहीं चलता। छल करने वाले को भी दंडित करने वाला कोई न कोई मिल ही जाता है। इसलिए छल-कपट के द्वारा चोरी करना महापाप है निंद्य है। अचौर्याणुव्रत में महान् दोष उत्पन्न करता है और ऐसा ही सदृश सन्मिश्र व हीनाधिकविनिमान यदि निरंतर चलता रहा तो एक दिन व्रत पूर्णरूपेण भंग हो जाता है। इस प्रकार आचार्य भगवन् “पञ्चास्तेये व्यतीपाताः” पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहे हैं। अपने व्रत का निर्दोष रीति से पालन करने हेतु इन पाँचों अतिचारों को अच्छी तरह समझकर इनसे बचते रहना चाहिए।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 पार्श्वनाथ भगवान की जय”



प्रवचन-56
श्लोक-59

पार नहीं है शीलव्रतों का

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज के चिंतन से निकले मोती अपने आप में किसी गज मोती से कम कीमती नहीं है। पूज्य आचार्य भगवन् चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत की महिमा बतला रहे हैं। इस जगत में सर्वश्रेष्ठ व्रत शीलव्रत होता है। शील जगत में सबसे अधिक महिमावंत है। शीलव्रत के बारे में सुभाषितकारों ने कहा हैं-

शीलं सर्वगुणौघमस्तकमणिः शीलं विपद् रक्षणं,

शीलं भूषणमुत्त मुनिजनैः शीलं सदा सेवितम्।

दुर्वाराङ्ग जदाववह्निशमने प्राव्रट् पयोदोदकं,

शीलं सुर्वसुखैक कारण मतः स्यात् कस्य नो सम्मतम्।।95।। (सु.स.)

अर्थ-शील, समस्त गुणसमूह का मस्तक मणि है। शील, विपत्ति से रक्षा करने वाला है, शील उत्तम आभूषण है। शील, मुनियों के द्वारा सदा सेवित है। शील, भयंकर शारीरिक रोग रूपी दावानल को शांत करने के लिए वर्षाऋतु संबंधी मेघ का जल है और शील समस्त सुखों का अद्वितीय कारण है अतः किसके लिए इष्ट नहीं है। अर्थात् सभी के लिए इष्ट है। शीलवंत संपूर्ण विश्व में पूज्यनीय होता है सभी उसका आदर-सम्मान करते हैं। अतः उसके शील के प्रभाव से अनेक अतिशय भी हो जाते हैं। यद्यपि इस शीलव्रत को दो भागों में विभक्त किया गया है। 1. ब्रह्मचर्य महाव्रत 2. ब्रह्मचर्याणुव्रत। जो मन, वचन, काय व कृत, कारित और अनुमोदना 3×3=9 इन नव कोटियों से स्त्रीमात्र का त्याग कर देता है और अपनी ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन होने का अभ्यास बनाता है। संपूर्ण पर द्रव्यों के प्रति ममत्व रहित होकर अपनी एकत्व विभक्त आत्मा का ही ध्यान करता है। वह ब्रह्मचर्य महाव्रती है। परंतु जो कोई अखंड रूप से इस महाव्रत के पालने में अशक्य हो उनके लिए सर्वज्ञ देव ने ब्रह्मचर्याणुव्रत का उपदेश दिया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत अर्थात् एकदेश रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अर्थात् अपनी स्व विवाहिता स्त्री को छोड़कर संपूर्ण पर नारियों का त्याग यानि अपनी स्त्री के अतिरिक्त जितनी भी स्त्रियाँ



है उन्हें, माता, पुत्री या बहिन तुल्य दृष्टि से देखना। इसे ही एक पत्नि व्रत/एक पतिव्रता या स्वदार संतोष व्रत कहते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा देखे तो अपने पति को छोड़कर स्वदार संतोषव्रती संपूर्ण पुरुषों को पिता, पुत्र व भाई तुल्य दृष्टि से देखती हैं।

शील वह उत्तम आभूषण है जिससे आत्मा को श्रृंगारित किया जाता है। तथा संपूर्ण गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण यदि कोई है तो वह गुणों के मस्तक पर मणि की तरह शोभा को पाने वाला शीलव्रत ही है। संपूर्ण कष्टों से उबारने वाला व संपूर्ण सुखों की खानि शीलव्रत ही होता है। विपत्ति में पड़ी सतियों की रक्षा उनके शील के प्रभाव से ही हो जाती है। शास्त्र ऐसी शीलवंत नारियों के चरित्रों से भरे पड़े हैं चाहे सती सीताजी हो या सती सोमा चाहे सती अंजना हो या रयणमंजूषा चाहे मैनासुंदरी हो या सेठ सुदर्शन सबके शीलव्रत की महिमा से ही विपत्तियाँ टली हैं। इसलिए संपूर्ण विपत्तियों को हरने वाला व शाश्वत सुख का आलय उत्तम शीलव्रत ही होता है। जैसे वन में लगी हुई दावानल को एक मात्र बादल से होने वाली जल वृष्टि ही समर्थ है अन्य कोई नहीं उसी प्रकार शील भयंकर शारीरिक रोग रूपी दावानल को शांत करता है। यह महान शीलव्रत मुनियों के द्वारा सेवन किया जाता है। तथा संपूर्ण सुखों का आलय है। अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीन मुनिराज को कितना सुख होता है। तो पंडित दौलतरामजी अपनी प्रज्ञा से कहते हैं कि वैसा सुख जैसा मुनिराजों को होता है-

“सो इंद्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाही कह्यो” वैसा सुख तो इंद्र, नागेन्द्र यहाँ तक की स्वर्ग के अहमिन्द्रों को भी नहीं होता। इनका सुख भी आत्म ध्यान में बैठे मुनिराज से बहुत कम है। ऐसे अद्वितीय सुख को शीलव्रती अपने व्रत के माहात्म्य से प्रकट कर लेता है।

चूंकि श्रावक भी शीलव्रतों का पालन करते हैं परंतु वे एकदेश ब्रह्मचर्य का ही पालन कर सकते हैं। श्रावक का वह शीलव्रत ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। उस ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं-

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पाप भीतेर्यत् ।

सा परदार निवृत्तिः, स्वदार संतोष नामापि ॥५९॥

अन्वयार्थ-

यत्	-	जो
पापभीतेः	-	पाप के भय से
न तु	-	न तो स्वयं
परदारान् गच्छति-	-	पर स्त्री के प्रति गमन करता है
न परान् गमयति -	-	न दूसरों को गमन कराता है
सा परदारनिवृत्तिः-	-	वह परदारा से निवृत्ति रूप (ब्रह्मचर्याणुव्रत)



स्वदार सन्तोष

-

स्वदार संतोष

नाम अपि

-

नामक व्रत है।

अर्थ-पाप के भय से दूसरे की स्त्री को स्वयं सेवन नहीं करना और न ही सेवन कराना परदार निवृत्ति व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) है। इसी का अपर नाम स्वदार संतोष व्रत है।

भव्य मनीषियो! परम पूज्य आचार्य भगवन् आत्महित के इच्छुक भव्यात्माओं को ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप बतला रहे हैं-“यत् पापभीतेः” जो पाप के भय से ‘न तु परदारान् गच्छति’ स्वयं पर स्त्री के प्रति गमन नहीं करता है। जो ब्रह्मचर्याणुव्रत को धारण करते हैं। वे परस्त्री को यदि उम्र में बड़ी हो तो माता के तुल्य तथा जो उम्र में समान हो उसे बहिन तथा जो उम्र में छोटी हो उसे पुत्री के समान देखते हैं। कोई परदार का अर्थ पर की मात्र विवाहित स्त्री से लगाते हैं तथा मानते हैं कि दूसरे की विवाहिता स्त्री को छोड़कर अविवाहिता, कन्या या वेश्या सेवनीय है, यह कहना ठीक नहीं है ब्रह्मचर्याणुव्रत धारी स्वस्त्री में ही संतुष्ट रहता है। उसके लिए स्वस्त्री से भिन्न स्त्रियाँ विवाहिता-अविवाहिता, कन्या, वेश्या सभी माता व बहिन या पुत्री के तुल्य हैं।

परदार निवृत्ति व स्वदार संतोष दोनों पर्यायवाची हैं। परदार निवृत्ति शब्द निषेध परक है और स्वदार संतोष शब्द विधि परक है दोनों का आशय एक ही है। आगे कहते हैं ‘न परान् गमयति’ कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं तो परस्त्री के प्रति गमन नहीं करते परंतु दूसरों को प्रेरित करते हैं। कई स्थानों पर हमें ऐसी घटनाएँ सुनने को मिली कि कुछ लोग जो वेश्यावृत्ति को पेशा व्यापार बनाते हैं। वे दूसरे की बहु-बेटियों का अपहरण कर उन्हें जबरदस्ती वेश्यावृत्ति हेतु प्रेरित करते हैं। तथा उनके साथ अभद्र व्यवहार करते हैं परंतु जो ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है वह न तो स्वयं परदार के प्रति गमन करता है न ही दूसरों को प्रेरित करता है। यही “सा परदार निवृत्तिः स्वदार संतोष नामापि” परदारा से निवृत्ति रूप स्वदार संतोष व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) कहलाता है।

स्वदार संतोषव्रत की भी इतनी महिमा होती है कि उसके शील के प्रभाव से देवों के आसन कंपायमान हो जाते हैं। तथा बड़े-2 चमत्कार भी हो जाते हैं। एक सती शिरोमणी की पवित्रता की घटना है-

एक दिन राजा भोज ने कालीदास से पूछा-कविवर! हमारे देश में कोई सती शिरोमणी नारी है? कालीदास ने सोच-विचार कर उत्तर दिया राजन्! सती स्त्रियाँ आपके देश में बहुत हैं पर सती शिरोमणी तो एक ही है।

राजा भोज ने पूछा-“वह कौन है?”

कालीदास ने उत्तर दिया इस नगर में शंकर शर्मा नाम के एक ब्राह्मण रहते हैं। वह धनहीन हैं परंतु किसी से कुछ मांगते नहीं। उन्हीं की स्त्री सती शिरोमणी है, वह केवल अपने पति को ही सर्वस्व



मानती है। उसकी सेवा में रात दिन रत रहती है। वह पर पुरुष का मुंह नहीं देखती, कभी घर से बाहर नहीं निकलती। सती शिरोमणी की प्रशंसा सुनकर राजा भोज उसके दर्शन के लिए उत्कण्ठित हुआ। उसने कविवर से पूछा—“क्या किसी तरह मुझे उस देवी का दर्शन मिल सकेगा?” कालीदास ने उत्तर दिया—महाराज! दर्शन मिलना कठिन है। यद्यपि वह ब्राह्मण निर्लोभी है तथापि हो सकता है शायद धन की लोभ लालच में आ जाए।

राजा भोज ने शंकर शर्मा को राज सभा में बुलाया। प्रस्थान करते समय उनकी बुद्धिमती स्त्री ने उनसे हाथ जोड़ कर कहा—स्वामिन्! यदि राजा धन दें तो न लेना। धन से लोभ और मद उत्पन्न होता है जिससे हमारा नियम भंग होता है। धन ही अनेक अनर्थों की जड़ है। जिसके पास धन होता है वह मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता। अनेक अत्याचार, दुराचारों का आगार यही धन है। इसी के कारण भाई-भाई में झगड़ा होता है। पिता-पुत्र में मारपीट होती है। धन से मनुष्य को कभी शांति संतोष नहीं मिलता। जितना धन आता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है और तृष्णा वश मनुष्य नाना प्रकार के पाप/दुराचार करता है। अतः सुख का कारण धन नहीं है, संतोष है। संतोषी व्यक्ति अपने जीवन में सभी प्रकार के सुख और आनंद को प्राप्त करता है। धन के रहने से अशांति उत्पन्न होती है।” वह निष्पृह ब्राह्मण जब राज सभा में पहुँचा तो उसे आदर पूर्वक बैठाया गया। राजा ने स्वर्ण दीनारों से भरे हुए दो थाल मँगाकर उस दरिद्र ब्राह्मण को भेंट किये ब्राह्मण ने उसे लेने से इंकार कर दिया। राजा ने समझा शायद यह भेंट ब्राह्मण को अल्प प्रतीत हो रही है यह सोचकर राजा ने दो थाल मोहरों से भरे और मंगवाये। उस गरीब ब्राह्मण ने हँसकर कहा—राजन्! आप यह न समझे कि इन्हें कम समझ कर मैंने नहीं लिया है। वास्तव में मुझे धन की अभिलाषा नहीं। मेरा धन तो नित्य कर्म है। कहिये, आपने मुझे किस काम से बुलाया है? राजा ने कहा—हे विप्र! मेरी इच्छा केवल आपके दर्शन करने की थी किसी विशेष कार्य से मैंने आपको नहीं बुलाया। मैं चाहता था कि आपको कुछ दक्षिणा देता, पर आप स्वीकार नहीं करते हैं। मेरा यह राज्य धन्य है जिसमें आप जैसे-नित्य कर्मानुष्ठान करने वाले सात्विक ब्राह्मण निवास करते हैं। राजा का राज्य धनिकों, सामन्तों और शूरवीरों से जितना अधिक समृद्ध और शुभोभित होता है उससे कहीं अधिक तपस्वी और सदाचारी व्यक्तियों के निवास करने से होता है। राज्य की संपत्ति सदाचार और शील होता है। जिस राज्य में शीलवान सदाचारी और धर्मात्मा निवास करते हैं वही राज्य यथार्थ में राज्य है।

ब्राह्मण राजा के द्वारा यथेष्ट सम्मान प्राप्त कर अपने घर चला गया। उसने राजा का समस्त समाचार अपनी सती-साध्वी पत्नि से कह सुनाया। दूसरे दिन राजा ने कालीदास से पुनः कहा—कविवर, उस सती शिरोमणी के दर्शन का उपाय बतलाईये। उसके दर्शन किये बिना मुझे चैन नहीं। मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरा जीवन निरर्थक है। कृपया अवश्य कोई उपाय बतलाईये। कालीदास ने दूसरी युक्ति



अपनायी कहा-राजन्! उस सती को केवल सन्यासी पर विश्वास है वह किसी पर पुरुष का मुख नहीं देखती। अतः यदि आप सन्यासी बनकर उसके द्वार पर जायें तो आपको उसके दर्शन हो सकते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई भी उपाय उसके दर्शन का नहीं है। सती शिरोमणियों का प्रभाव अद्भुत होता है उसके सतीत्व के तेज के समक्ष पापी का पाप और दुराचारी का दुराचार कापूर हो जाता है। कुभावना लेकर यदि कोई भी व्यक्ति सती के समक्ष जाता है तो उसका सर्वनाश निश्चित है। अतएव आप पवित्र विचारों सहित सन्यासी के वेश में उसके दर्शन कीजिए। राजा ने कहा-कविवर! वह शंकर शर्मा तो मुझे पहचानता है अतः वह सन्यासी वेश में जाने पर मुझे पहचान लेगा तथा कपटाचारी समझकर अभिशाप दे देगा।

कालीदास-राजन्, उस शंकर शर्मा को अपनी राज्य सभा में बुला लीजिए और उसे किसी धार्मिक अनुष्ठान में लगा दीजिए। इस बीच आप सन्यासी के वेश में वहाँ जाकर सती शिरोमणी के दर्शन कर लीजिए। कालीदास के परामर्शानुसार राजा ने शंकर शर्मा को बुलवाया और उसे एक धार्मिक अनुष्ठान में लगा दिया जो अनुष्ठान तीन दिन में समाप्त होने वाला था। राजा भोज गैरूआ वस्त्र धारण कर और दंड कमण्डलु लेकर शंकर शर्मा के द्वार पर जाकर बोला-“भिक्षान्नं देहि” सती ने सन्यासी की आवाज सुनकर भीतर से उत्तर दिया अभी भोजन बनने में विलम्ब है तब तक आप वृक्ष के नीचे बैठ जाईये भोजन बनते ही आप की सेवा में प्रसाद आ जावेगा। कृपया थोड़े समय के लिए धैर्य धारण कीजिए। सन्यासी वेशधारी भोज ने कहा-मैं यही बैठूँगा। उनके हठ पर सती ने वहीं बैठे रहने दिया। भोजन तैयार होते ही वह सफाई से परोसकर ले आयी और बैठकर सन्यासी के लिए उत्तम आमों का रस निचोड़ने लगी। यद्यपि आम सभी रस से परिपूर्ण थे पर रस एक से भी नहीं निकला। यह देखकर सती बोली-हे आमों! तुम रस क्यों नहीं छोड़ते, मैंने तो आज तक पर-पुरुष का ध्यान तक नहीं किया। क्या राजा भोज जो सत्यवादी था, आज परस्त्री पर मुग्ध है। सती के मुख से उक्त शब्द निकलते ही आमों का रस निकलने लगा। राजा ने विचार किया सती को मेरा कपट मालूम हो गया है, न मालूम यह कौन सा शाप देगी। सती का तेज वज्र को भी क्षार कर सकता है उसके समक्ष इन्द्रादि भी नतमस्तक हो जाते हैं। न मालूम मेरी क्या स्थिति होगी, अब मुझे सती के चरणों में गिरकर क्षमा माँग लेनी चाहिए। अपना अपराध प्रकट किये बिना मेरा कल्याण नहीं हो सकता है। यद्यपि मैंने किसी बुरी भावना से ऐसा नहीं किया है। मैं तो सती के दर्शन कर अपने को पवित्र करना चाहता हूँ। हे भगवन्! मेरी विचारधारा मुझे बहुत कष्ट दे रही है, मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मैंने बहुत बड़ा पाप किया है। इस पाप के उदय से न मालूम मेरी क्या दुरावस्था होगी। चला था अपनी आत्मा को सती के दर्शन से पवित्र करने परन्तु कुछ उल्टा ही हो गया।



सती का अभिशाप एक पीढ़ी को ही भस्म नहीं करता अपितु अनेक पीढ़ियों को भस्म कर देता है। सती के कोप से बचाने की क्षमता किसी भी देव-दानव में नहीं है। उसका क्रोध, अग्नि और वज्र से भी बढ़कर होता है। इस प्रकार विचार कर राजा भोज के चरणों में गिर गया और क्षमा याचना करने लगा। सती शिरोमणि बोली-राजन्! आप डरें नहीं, आप हमारे राजा हैं और हम आपकी प्रजा हैं। अतः आप मेरे पिता के समान हैं। मैं आपके मन के विचारों को जानती हूँ। आप सत्यवादी हैं। पराई स्त्री के त्यागी हैं। आपके उच्च और महान् विचारों की सत्यता इन आमों ने ही सिद्ध कर दी है। यदि आप लम्पट होते तो इन आमों से रस नहीं निकलता। आपकी पवित्र भावना का संकेत आमों से रस निकलना है। यदि मैं आपका मन दूषित देखती तो आपको अभिशाप देकर भस्म कर देती पर आपका मन अत्यंत पवित्र है। अतः मैं आपसे प्रसन्न हूँ। आपका मंगल होगा। आपका राज्य, प्रजा, धन, जन सभी की समृद्धि होगी। एक सती के अंतर मन से निकली पवित्र भावनाओं से राजा समुन्नत शील हुआ। वस्तुतः शील का माहात्म्य अचिन्त्य है। शीलवान की सर्वत्र पूजा होती है। अतः हमें अपने जीवन में सदाचार को अपनाते हुए शीलव्रतों को ग्रहण करना चाहिए ताकि हमारी आत्मा का कल्याण हो।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नमि नाथ भगवान की जय”



शील महिमा

शीलं सौख्यकरं प्रमोद जननं शीलं कुलोद्योतनं ।

शीलं सार विभूषणं गुणकरं शीलं च लक्ष्मीकरम् ।

शीलं स्वव्रतरक्षणं शुभकरं शीलं यशः कारणं ।

तस्माद् भव्य जना! जिनेन्द्र कथितं शीलं श्रियन्तु त्रिधा ॥ 93 ॥

(सु.स.)

अर्थ : शील सुख को करने वाला है, हर्ष का जनक है, कुल को प्रकाशित करने वाला है, श्रेष्ठ आभूषण है, गुणकारी है, लक्ष्मीदायक है, अपने व्रत की रक्षा करने वाला है, शुभकारी है और यश का कारण है इसलिए हे भव्यजनों! जिनेन्द्र प्रतिपादित शील की मन-वचन-काय से सेवा करो।





प्रवचन-57

श्लोक-60

निरतिचार व्रतों का बाना : मुक्ति का बस यही ठिकाना

भव्य आत्महितेच्छु आत्माओ! परम पूज्य आचार्य भगवन् समंतभद्र महाराज व्रतों से होने वाले सुख व लाभ बतला रहे हैं उन सुखों को हम कैसे पायें? पापों से दोषों से बचने हेतु व्रतों का स्वरूप व अतिचारों को आचार्य भगवन् क्रम-2 से बतला रहे हैं। जो व्यक्ति विषयों के चक्कर में पड़ता है वह अपनी समूल गुण संपदा का विनाश कर देता है किसी सुभाषितकार ने कहा भी हैं-

दोषाणामाकारः कामो गुणानां च विनाशकृत् ।

पापस्य च निजो बंधुः सङ्गमश्च परापदाम् ।।99।।

अर्थात् काम सभी दोषों की खान है, गुणों का विनाशक है, पाप का आत्मबंधु और भारी आपत्तियों का संगम मेल है।

एक दोष में सर्वदोष समाहित होते हैं। विषयों में आसक्त व्यक्ति अपने हिताहित का विवेक नहीं रख पाता फिर वह कितना भी बड़ा राजा, विद्वान्, धनिक भी क्यों न हो तो भी उसके समस्त गुण वैभव व सम्मान भी नष्ट हो जाता है। विषय पापों को आमंत्रण देते हैं जिससे व्यक्ति भारी विपत्तियों का शिकार हो जाता है। तथा क्षुद्र से क्षुद्र प्राणियों के द्वारा भी विषयासक्त निरादर पाता है।

एक बार की बात है-किसी नगर में कोई बड़ा राजा राज्य करता था यद्यपि वह बुद्धिमान राजपाट, न्याय नीति में कुशल था तथापि उसमें एक बहुत बड़ी बुराई थी कि वह विषयों में अत्यंत आसक्त रहता है। दिन रात अपनी रानियों के पास समय बिताता था कभी मदिरापान तो कभी नृत्यगान यद्यपि प्रजा को राजा की कार्य कुशलता व बुद्धि वैभव का बड़ा गौरव था परंतु राजा के विषयासक्त होने से सब परेशान थे। ऐसा क्या उपाय निकले जिससे राजा विषयों से विरक्त हो जाए। राज्य में एक होनहार वृद्ध मंत्री था उसने राजा को विषयों से विरक्त कराने हेतु एक सन्यासी की बहुत प्रशंसा राजा के समक्ष सुनायी। सन्यासी की अत्यंत प्रशंसा मंत्री के मुख से सुनकर राजा को उससे मिलने की उत्कंठा हुई। राजा ने उस सन्यासी से मिलने हेतु मंत्री को संकेत किया। मंत्री तो चाहता



ही था कि राजा को ऐसी उत्सुकता हो। मंत्री ने अपनी कुशलता से राजा की भेंट सन्यासी से करा दी। राजा अब रोजाना महात्मा सन्यासी की कुटिया में जाने लगा। उसने एक दिन महात्मा को अपने महलों में पधारने को कहा-पर महात्मा ने यह कहकर टाल दिया कि मुझे तुम्हारे महलों में बड़ी दुर्गंध आती है इसलिए मैं वहाँ नहीं चलता। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा हमारे महलों में तो इत्र फुलेल का छिड़काव रहता है। वहाँ दुर्गंध का क्या काम? महात्माजी ऐसा क्यों कहते हैं, पता नहीं। राजा ने संकोच वश फिर कुछ नहीं कहा। कुछ दिन बाद महात्माजी राजा को साथ लेकर घूमने निकले। घूमते-घूमते व चमारों की गलियों में पहुँच गये और पीपल की छाया में खड़े हो गये। चमारों के घरों में कहीं चमड़ा खरीदा हुआ रखा था, तो कहीं सूख रहा था, तो कहीं ताजा चमड़ा तैयार किया जा रहा था। हर घर में चमड़ा था और उसकी बड़ी दुर्गंध आ रही थी चूँकि हवा भी पीपल की वृक्ष की दिशा में ही चल रही थी इसलिए उसकी दुर्गंध से राजा परेशान हो गया। उसने महात्मा से कहा-भगवन्! दुर्गंध के मारे मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता अतः यहाँ से शीघ्र निकल चलिये। महात्माजी बोले-तुम्हीं को बदबू आती है क्या? देखो उन घरों में कितने पुरुष, स्त्रियाँ और बाल-बच्चे है और कोई काम कर रहे हैं, कोई खा, पी रहे हैं, कोई प्रसन्न चित्त होकर खेल रहे हैं, किसी को तो दुर्गंध नहीं आती, फिर तुम्हीं को क्यों आ रही है? राजा ने कहा-महात्मन्! चमड़ा कमाते-कमाते तथा चमड़ा में रहते-रहते उनको अभ्यास हो गया है इनकी नाक ऐसी हो गई है कि इन्हें चमड़े की दुर्गंध नहीं आती। परंतु मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ। जल्दी चलिए-अब तो एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरा जाता। मेरा तो दम निकल रहा है। महात्मा ने हँसकर कहा-भाई! यही हाल तुम्हारे राजमहल का भी है। विषय भोगों में रहते हुए तुम्हें उनमें दुर्गंध नहीं आती तुम्हें विषयों की दुर्गंध में रहने का अभ्यास हो गया है। पर मुझे तो विषय देखते ही उल्टी सी आती है। इसी से मैं तुम्हारे महलों में नहीं जाता हूँ। वास्तव में ये सांसारिक विषय भोग बहुत ही धिनौने हैं। इनमें से बहुत ही दुर्गंध निकलती है। राजा सारा रहस्य समझ गया। महात्मा हँसकर राजा को साथ लिये वहाँ से चल दिये। आगे चलकर राजा ने संपूर्ण विषयों का त्याग कर दिया और बड़ा महात्मा बन गया।

बंधुओ! जो इन विषयों का त्याग कर देता है वह तो महात्मा बन जाता है। परंतु जो इन्हीं विषयों में फंसा रहता है वह बड़े भारी दुःखों को पाता है दुरात्मा बन जाता है। तथा विपत्तियों के घेरे में घिर जाता है। जो व्यक्ति अपना आत्महित चाहते है वे दूर से ही इन विषयों का परित्याग कर देते है और शक्त्यानुसार व्रतों को धारण कर लेते है पहले ब्रह्मचर्यव्रत को अणुरूप में धारण करने वाला ब्रह्मचर्याणुव्रती कहलाता है। उस व्रत की निर्मलता व रक्षा हेतु उसके अतिचारों को जानना अनिवार्य हैं। अतः आचार्य भगवन् ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों को बतलाते हुए कहते है-



अन्यविवाहाकरणानङ्ग क्रीडा विट्त्व विपुल तृषः ।
इत्वरिकागमनं, चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥60॥

अन्वयार्थ-

अन्य विवाहः	-	दूसरों का विवाह
आकरण	-	करने में सहयोग देना,
अनङ्ग क्रीडा	-	काम सेवन से भिन्न अंगों के द्वारा काम क्रीडा करना,
विट्त्व	-	खोटे वचन बोलना,
विपुलतृषः	-	काम की तीव्र लालसा और
इत्वरिकागमनं	-	व्यभिचारिणी स्त्रियों से संबंध रखना
(एते) पञ्च	-	(ये) पाँच
अस्मरस्य	-	ब्रह्मचर्याणुव्रत के
व्यतीचाराः	-	अतीचार
सन्ति	-	है ।

अर्थ-ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार है-

1. दूसरों के विवाह करने में तन-मन-धन से परिपूर्ण सहयोग देना । 2. अनिश्चित अंगों से भोग क्रिया करना । 3. कुचेष्टा रूप भंड वचन बोलना । 4. काम की तीव्र लालसा (स्वस्त्री सेवन में भी लंपटता रखना) व 5. कुलटा स्त्रियों से संपर्क रखना ।

भव्य मनीषियो! अपने व्रतों के निरतिचार पालन हेतु अर्थात् दोषों से बचने हेतु अतिचारों का वर्णन करते हुए पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं- “अन्य विवाहाकरणा” दूसरों का विवाह कराने में पूर्ण सहयोग देना । यह अतिचार है । यद्यपि यदि कोई अणुव्रती अपने बेटा-बेटियों का विवाह संबंध करता है तो वह तो दोष नहीं है क्योंकि वह उसका कर्तव्य है । घर गृहस्थी में रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य होता है । अपने बच्चों के संबंध हेतु प्रयत्न प्रयास करना तो दोष नहीं है । परंतु दूसरों के विवाह कराने में उद्यत रहना । अन्य लोगों जिनके कुटुम्बी जन, माता-पिता सब है फिर भी मैं आपका संबंध कराये देता हूँ मेरी बड़ी पहिचान है और इस प्रकार दूसरों के विवाह कराने में ही तन-मन-धन से लगे रहना । तो दूसरों के कुशील में जो हमारी सम्मति हो रही है वह हमारे व्रतों में दूषण उत्पन्न करती है । इसीलिए ब्रह्मचर्याणुव्रती दूसरों का विवाह स्वयं नहीं करा सकता है दूसरों को सलाह दे और सम्मति अनुमोदना कर सकता है कि हाँ-हाँ आपने बड़ा अच्छा संबंध किया । यह सब दोष नहीं है । दूसरे अतिचार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं-“अनङ्गक्रीडा” काम सेवन से भिन्न अंगों के द्वारा काम क्रीडा करना भी दोष है ।



वितत्व-कुचेष्टा रूप भंड वचन बोलना। ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी व्यक्ति कभी भी किसी भी परस्त्री से अशिष्ट वचन नहीं बोलता है। आज के वर्तमान समय में अशिष्टता बढ़ती जा रही है प्रायः स्कूल व कॉलेजों में प्रशिक्षण के स्थान पर इस प्रकार अशिष्टताएँ अधिक होती है और अखबार बलात्कार आदि अप्रत्याशित घटनाओं से भरे हुए मिलते हैं। जो व्यक्ति इस तरह की अशिष्टताओं पर ब्रेक नहीं लगाते वे अपने व्रत को समूल नष्ट कर देते हैं। इसीलिए वितत्व को अतिचार में गर्हित किया गया है। **विपुलतृषः** -कामसेवन की तीव्र लालसा रखना अर्थात् स्वस्त्री सेवन में अत्यंत लंपटी होना भी ब्रह्मचर्याणुव्रत में दोष उत्पन्न करता है। **इत्वरिकागमनं**-व्यभिचारिणी स्त्रियाँ-जो अपने पति को छोड़ परपुरुषों के साथ संबंध रखती हैं वे व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहलाती हैं। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियों या वेश्याओं से संबंध रखना इत्वरिकागमन है। जिस प्रकार शराबी से मित्रता रखने वाला स्वयं शराबी न भी हो परंतु शराबी के संसर्ग से लोकापवाद/बदनामी को प्राप्त होता है। तथा कालान्तर में शराबी की संगति का दुष्प्रभाव भी पड़ सकता है। ठीक उसी प्रकार जो व्यभिचारिणी स्त्रियों से संपर्क रखता है, लेन-देन का व्यवहार रखता है। वह लोक में निंदा को तो प्राप्त होता ही है। साथ ही उस व्यभिचारी का असर भी उस पर पड़ सकता है। इसलिए इत्वरिकागमन को ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार में गर्हित किया गया है। **“एते पञ्च अस्मरस्य व्यतीचाराः सन्ति”** ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार कहे गये हैं।

इस प्रकार इन अतिचारों को जानकर इनसे बचता हुआ जो निर्मल शीलव्रतों का पालन करता है। वह शील के माहात्म्य से किसी अचिन्त्य सुख को पाता है। तथा अनुक्रम से स्वर्ग के देवों का व मोक्ष सुख भी पा लेता है। आप भी ऐसे अभ्युदय सुख पाने हेतु ब्रह्मचर्याणुव्रत का अपनाकर अतिचार रहित उसकी पालना करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की जय”



शील से मनोरथ सिद्ध

यतोऽत्र कुलजस्त्रीणां शीलं सर्वार्थ साधनम् ।

जीवितव्याद् बिना तेन वरं प्राण विसर्जनम् ॥ 92 ॥ (सु.स.)

अर्थ : इस जगत में शील ही स्त्रियों के सब मनोरथों को सिद्ध करने वाला है इसलिए उसके बिना जीवित रहने की अपेक्षा प्राणविसर्जन करना अच्छा है।





प्रवचन-58
श्लोक 61-62

जोड़ो नहीं छोड़ो

भव्य बंधुओ! पूज्य आचार्य श्री समंतभद्र महाराज श्रावकाचार के माध्यम से हमें चलना सिखा रहे हैं। जिस प्रकार बच्चे के डगमगाकर चलने पर भी माता-पिता को खुशी होती है उसी प्रकार श्रावकाचार की पद्धति चर्या में देख, आचार्यों को भी खुशी होती है। पंचाणुव्रतों में परिग्रह परिमाणानुव्रत का क्रम है। परिग्रह भी एक पाप है। आचार्य कहते हैं कि गृहस्थ अवस्था में सर्वदेश त्याग नहीं हो सकता, अतः वह सीमा बाँधता है। जिसके विषय में कहते हैं-

गाथा-

धन-धान्यादि-ग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषुनिःस्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः, स्यादिच्छापरिमाण-नामाऽपि ।। 61 ।।

अन्वयार्थ-

धन धान्य आदि ग्रन्थं	-	धन, धान्य आदि 10 प्रकार के परिग्रह को
परिमाय	-	परिमाण करके
ततः	-	उससे
अधिकेषु	-	अधिक में
निः स्पृहता	-	इच्छा रहित होना
परिमित परिग्रहः	-	परिग्रह परिमाण व्रत
अपि	-	अथवा
इच्छा परिमाण नाम	-	इच्छा परिमाण नामक व्रत
स्यात्	-	है।

अर्थ - धन-धान्य आदि क्षेत्र (खेत-खलिहान), वास्तु, मकान, हिरण्य चाँदी या रुपये-पैसे, क्योंकि पहले चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था सुवर्ण (सोना), धन (गाय बैल आदि), धान्य (अनाज), दास (नौकर), दासी (नौकरानी), कुप्य (वस्त्र), भाँड (बर्तन) 10 प्रकार के परिग्रह को परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा रहित होना परिग्रह परिमाण अणुव्रत अथवा स्थूल-मूर्च्छा विरति है।



बंधुओ ! जब हम किसी के वैभव का वर्णन सुनते हैं तो प्रायः भाव आते हैं कि कितना पुण्यात्मा है, उसकी चार दुकानें हैं, इतने मकान हैं, इतना धन है, 40 अथवा 400 नौकर लगे हैं, बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ हैं, महल है, किसी बात की कमी नहीं है। इसके लिये क्या कहें-पाप अथवा पुण्य? आचार्यों ने तो परिग्रह को पाप कहा है लेकिन जहाँ पुण्य का वर्णन आया वहाँ कहा-‘पुण्ये किं वा दुरासदम्’-(क्ष.चू.89, सूक्ति) पुण्य के उदय में क्या दुर्लभ है? कुछ भी दुष्प्राप्य या दुर्लभ नहीं होता है। आवश्यकता की पूर्ति कराने वाला पुण्य है। जिसके माध्यम से प्राणी की प्रगति हो वह पुण्य है, न कि परिग्रह पुण्य है। छः खंड का अधिपति चक्रवर्ती जिसकी 96,000 रानियाँ होती हैं, 9 निधि, 14 रत्न जिसके आधीन होते हैं। सोचिये जिसकी 96,000 रानियाँ हों, फिर कितने ससुर आदि अन्य रिश्तेदार होंगे? कितने पुत्र-पुत्रियाँ होंगे? दो-चार लाख संतानें हो जाएँ फिर जब उनका विवाह होगा तो राजपुत्रों की एक-दो रानियाँ नहीं होती। परिवार बैठ जाए तो पूरा एक प्रांत खड़ा हो जाए। उसके खजाने का उल्लेख आता है कि अक्षय निधियाँ होती हैं। जिसकी कभी समाप्ति नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र कभी खाली नहीं होता उस प्रकार वह निधि भी कभी खाली नहीं होती, जितना चाहिए निकालते जाओ। इतना वैभवशाली होता है चक्रवर्ती। यदि बाह्य परिग्रह की ही परिग्रह दस प्रकार के बाह्य परिग्रह शास्त्रों में इस प्रकार गिनाए गए हैं-

धन-धान्यादि ग्रंथं-धनं-गवादि धान्यं ब्रीह्यादि। आदि शब्दाद्दासीदासभार्या गृह क्षेत्र द्रव्य सुवर्ण रूप्याभरण वस्त्रादि संग्रहः। (संस्कृत टीका रत्नकरण्डक श्रावकाचार-प्रभाचंद्र)

क्षेत्रवास्तु धनं-धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदम्।

शयनासनं च यानं च, कुप्य भाण्डमिति दशम्॥

क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु, कुप्य शयन मासनम्।

द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्य दश परिग्रहाः॥ (483, सोमदेव उपासकाध्ययन)

1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. धन 4. धान्य 5. द्विपद 6. चतुष्पद 7. शयनासन 8. वाहन 9. कुप्य 10. भांड।

1. क्षेत्र-सब प्रकार की भूमि-खेत-खलिहान, पर्वत, नदी, नाले आदि।

2. वास्तु-मन्दिर, मकान, दुकान, महल, अटारी, भवन आदि।

3. धन-सोना-चाँदी, हीरा-मोती, रत्न, उनसे निर्मित आभूषण, रुपये-पैसे आदि।

4. धान्य-गेहूँ, चावल, मटर, अरहर, उड़द, मूँग, आदि जो भी खेती से प्राप्त होते हैं।

5. द्विपद-स्त्री, पुत्र, नौकर-चाकर, दासी-दास आदि।

6. चतुष्पद-हाथी, गधा, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल आदि।



7. शयनासन-सोने व बैठने के साधन, जैसे-कुर्सी, पलंग, चटाई, खाट, गद्दे आदि।
8. यान-डोली, पालकी, गाड़ी, हवाई जहाज, कार आदि।
9. कुप्य-सूती, ऊनी, रेशमी इत्यादि के वस्त्र।
10. भाण्ड-ताँबा, पीतल, लोहा आदि धातु व काँच, प्लास्टिक, लकड़ी आदि के बर्तन।

संज्ञा है तो सबसे बड़ा परिग्रह का पाप तो चक्रवर्ती को लगेगा। इस स्थिति में आप तो अपरिग्रही के समान हैं। आपके पास तो एक भी निधि, एक भी रत्न नहीं और रानी है तो केवल एक। लेकिन नहीं, आचार्यों ने अंतरंग परिग्रह को मुख्य लेकर कहा है—“मूर्च्छा परिग्रहः” मूर्च्छा परिग्रह है। सामग्री है अथवा नहीं है, कम है अधिक है, इसकी अपेक्षा तौला गया है कि मूर्च्छा, आसक्ति, आशा कितनी है। संभवतः भिखारी की आसक्ति चक्रवर्ती से भी अधिक हो सकती है और चक्रवर्ती की सामान्य मनुष्य के समान हो सकती है। अतः षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती से अधिक परिग्रहवान भिखारी माना जाएगा। एक भिखारी भी चक्रवर्ती के स्वप्न देखता है। मूर्च्छा, आकांक्षा, तृष्णा में कुछ हो न हो, कर्म अवश्य बँधते हैं। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि आप अनाब-शनाप परिग्रह जोड़ते जाएँ और कहें कि हम अपरिग्रही हैं क्योंकि हमारी मूर्च्छा नहीं है। मूर्च्छा नहीं है तो जोड़ने की भावना कैसे हो रही है?

एक सन्यासी मेरे पास आये और बोले—मैं वस्त्र पहनता हूँ, कुटिया में रहता हूँ पर मूर्च्छा नहीं रखता इसलिए मेरा अपरिग्रह व्रत है। मैंने धीरे से उनका दुपट्टा लिया और फाड़ने जैसी क्रिया करने लगा। उन्होंने तुरंत ही दुपट्टा खींच लिया—क्या करते हैं महाराज? मैंने कहा—इसी का नाम मूर्च्छा है। जब नाव का वजन बढ़ता है तो वह डूबने लगती है अंततः पूर्णतः डूब जाती है। मूर्च्छा भी प्राणी को नरक तक पहुँचा देती है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—“बहुवारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः” बहुत आरंभ-परिग्रह नरकायु के आस्रव का हेतु है। हम ऊपर (मनुष्य भव में) कैसे आए? तो किसी भव में मूर्च्छा घटी होगी क्योंकि—‘अल्पारंभ परिग्रहत्वं मानुषस्य’ अल्पारंभ परिग्रह से मनुष्यायु बंध होता है और मूर्च्छा घटेगी तो मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है क्योंकि त्यागी को देव या मोक्ष पद ही प्राप्त होता है। प्राणी अंतरंग में ज्यादा वजनदार होता है। मूर्च्छा वजन है जितना अवधारण करोगे उतना डूबोगे। परिग्रह व्यक्ति को गिरा देता है। उसका धर्म समाप्त कर देता है क्योंकि दो काम एक साथ नहीं हो सकते कि धर्म में भी मन लगे और परिग्रह में भी। व्यक्ति दर्शन तो भगवान के करता है लेकिन भगवान के रूप में उसे धन-दौलत दिखती है। लोभ में आसक्त परिग्रही को परमात्मा नहीं दिखते। जब बाहर के नहीं दिख रहे तो अंदर के कैसे दिख सकते हैं? जब वह भगवान की जाप करता है तो बाहर से एवं मुख से जाप चलती है, मन की जाप तो कुछ और ही हुआ करती है। इसलिए कबीर ने लिखा हैं—



माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर। कर का मनका डार के, मन का मनका फेर।।

माला फेरते एक युग चला गया पर एक भी मणि हाथ में नहीं आया। वे कहते हैं-हाथ के मणि को छोड़े और मन की माला का मणि फेर लीजिए। लेकिन यह इतना आसान नहीं है। मूर्च्छा होती है तो स्वप्न भी वही देखते हैं। विरले लोगों को ही स्वप्न में भगवान या मंदिर के दर्शन होते हैं। अधिकांशतः व्यक्तियों को घर, दुकान, धन-दौलत इत्यादि का ही स्वप्न आता है। धार्मिकता आत्मसात नहीं इसलिए उसकी स्मृति तक नहीं है। जिसका मन घर, दुकान को पकड़े है वह धर्म को नहीं पकड़ सकता। परिग्रह को पाप का बाप कहते हैं। जिसमें सारे पाप समाविष्ट हैं। हिंसा-परिग्रह हेतु चारों प्रकार की हिंसाएँ करनी पड़ती हैं।

झूठ-परिग्रह संचय और रक्षण हेतु व्यक्ति न जाने कितने झूठ बोलता है। इसे व्यापारी वर्ग अच्छी तरह समझता है। जब झूठ बोलने की आदत बन जाती है तो व्यक्ति व्यवहार में अनावश्यक झूठ बोलने लगता है तथा एक झूठ को छिपाने हजारों झूठ बोलने पड़ते हैं। चोरी-व्यक्ति इंकम-टेक्स, सेल टेक्स इत्यादि की चोरी करता है। कुशील-स्त्री को भी परिग्रह कहा गया है। परिग्रह-जोड़ने से कभी तृष्णा नहीं बुझती अपितु और बढ़ती है। अतः अंतरंग तृष्णा भी परिग्रह है।

जो चारों ओर से कसता है वह परिग्रह है। व्यक्ति जैसे-जैसे संग्रह करता है वैसे-वैसे सिद्धांत, चिंतन को भूलता जाता है। वह सोचता है-धन से अच्छा जीवन यापन होगा। अपनी ही नहीं सात पीढ़ी तक की सोच कर लेता है। कभी सोचिए, क्या इस पाप संग्रह को कोई कभी बाँटेगा? नहीं, धन का बाँटवारा हो सकता है परन्तु पाप का नहीं। जो करेगा उसे ही भोगना पड़ेगा। ज्ञानी यह रहस्य समझता है अतः उसकी मूर्च्छा समाप्त हो जाती है। जब मूर्च्छा समाप्त हो गई तो संग्रह क्यों? आवश्यक को रख शेष से अनासक्ति रखनी चाहिए।

पं. बनारसीदासजी बाजार में गमछे बेचते थे। वे सीमित गमछे ही बेचते जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए। लोग टोकते कि अभी तो बाजार शेष है तो वे कहते-मेरा व्यापार हो गया। अब शेष समय घर जाकर पूजा-जाप करूँगा। इस प्रकार परिग्रह की सीमा बाँधकर असीमित तृष्णा को रोका जा सकता है। श्री गुणभद्राचार्य अपने आत्मानुशासन ग्रंथ में लिखते हैं-

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्व मणुसमम्।

कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।।30।।

प्रत्येक प्राणी का आशा रूपी गड्ढा इतना बड़ा है कि विश्व की सारी संपदा उसमें डाल दी जाए तो भी वह अणु की उपमा को धारण करता है। विश्व एक ही है अतः एक गड्ढा भी नहीं भर



सकता। यह सोचकर ज्ञानी अपने परिग्रह की मर्यादा बनाकर असीम पापों से अपनी रक्षा करता है।

भगवान महावीर का यह सूत्र रहा है कि परिग्रह का अनावश्यक संग्रह नहीं करना। महात्मा गाँधी के जीवन में जब भगवान महावीर का यह सिद्धांत उदय हुआ तो उन्होंने नियम ले लिया कि एक ही धोती का इस्तेमाल करूँगा। वे एक धोती के दो हिस्से कर ऊपर, नीचे के दो वस्त्र बना लेते थे। जब वे इंग्लैंड गये तो वहाँ के लोग बहुत आश्चर्यचकित हुए कि भारत के राष्ट्रपिता इस वेष में? चप्पल भी पहने थे तो टायर की, घड़ी सस्ती, चश्मा कमानी वाला। उन्होंने सोचा-जिस देश के राष्ट्रपिता की यह स्थिति है उस देश की स्थिति क्या होगी? उन्हें कीमती वस्त्र भेंट किये गए तो वे बोले-ले तो लूँगा परन्तु दूसरे को दे दूँगा। देश में हर तीन में एक गरीब है। मैंने आधी धोती इसलिए पहनी ताकि उसकी लँगोटी बनाएँ तो पाँच-छह लँगोटी बन जाएगी। चप्पल महँगी नहीं पहनी क्योंकि उतने में पाँच-छह व्यक्तियों की पूर्ति हो जाएगी। इस तरह देश के हित में वे सीमित परिग्रह रखा करते थे। दशलक्षण पूजा में कहा गया है- **“बहु धन बुरा हू भला कहिए, लीन पर उपगार सों”** धन बुरा कहा गया है पर यदि परोपकार में जाता है तो कथंचित अच्छा भी है। कहा भी है कि धन की तीन गतियाँ होती हैं-दान, भोग, नाश। यदि दान या भोग में धन का उपयोग नहीं किया तो धन नाश को प्राप्त हो जाता है और यही नहीं असीम मात्रा में संग्रह ही संकट का हेतु बनता है। जैन समाज ने इस विषय में अविष्कार किया। चार प्रकार के सुपात्र दान के अतिरिक्त हॉस्पिटल, सहायता केंद्र, स्कूल, कॉलेज इत्यादि में भी धन का सदुपयोग किया है।

बंधुओ! हमारे महान उपकारी आचार्यों ने हमें जो सूत्र दिये हैं उन्हें हम एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकालते न रहें बल्कि इस दिशा में चिंतन बनाएँ कि हमारी नाव किन कारणों से डूब रही है और उनसे हम कैसे बच सकते हैं। संपूर्ण त्याग नहीं कर सकते **“धन्धन्यादि ग्रन्थ”**- धन्धन्यादि परिग्रह का **“परिमाय”** परिमाण करें तथा **“अधिकेषु”** उससे अधिक की निःस्पृहता” इच्छा न करें **“परिमित परिग्रह”** परिग्रह परिमाण व्रत धारण करें अर्थात् मर्यादा बनाएँ। क्योंकि जब तक इच्छाएँ बाँधी नहीं जाती तब तक मूर्च्छा समाप्त नहीं होती। मूर्च्छा से असीम परिग्रह पाप का आस्रव होता है। भले ही अधिक की मर्यादा बाँध लें। कम से कम शेष असीम, अनंत का पाप नहीं लगेगा। उदाहरण के लिए-वनस्पति 10 लाख होती है तथा हम संभवतः 100 का भी प्रयोग नहीं करते। यदि प्रमाण बना लें तो 9 लाख 99 हजार 9 सौ से बच सकते हैं। आप 1, 2 या 3 मकान में रहते हैं, तो यदि परिमाण बाँध लें तो शेष के आस्रव से बच सकते हैं।

मन से परिग्रह के भाव हो जाएँ तो उसके लिए प्रायश्चित है। कम से कम बाहर से तो नहीं बढ़ाओ। सीमा है तो मूर्च्छा स्वयं चली जाएगी।



मन जाता है जान दे, तू मत जाय शरीर।
उतरी धरी कमान को, कहा करेगा तीर॥

आगे आचार्य महाराज परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचारों के विषय में कहते हैं-

**अतिवाहनातिसंग्रहविस्मय लोभाति भारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य, विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते।।62।।**

अन्वयार्थ-

परिमित परिग्रहस्य	-	परिग्रह परिमाण व्रत के
पंच	-	पाँच
विक्षेपाः	-	अतिचार
लक्ष्यन्ते	-	निर्दिष्ट किये जाते हैं
अतिवाहन	-	प्रमाण से अधिक वाहन
अतिसंग्रह	-	अधिक संग्रह करना
अतिविस्मय	-	अति आश्चर्य करना
अतिलोभ	-	अधिक लोभ करना
अतिभारवहनानि	-	अधिक भार लादना

अर्थ- 1. प्रमाण से अधिक वाहन 2. अधिक संग्रह 3. अति आश्चर्य 4. अतिलोभ 5. अतिभार लादना ये परिग्रह परिमाण व्रत के 5 अतिचार हैं।

बंधुओ! यहाँ आचार्य भगवन् ने परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों को गिनाया है। पूर्व गाथा में हमने देख कि इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण भी है। यानी अपनी इच्छा के अनुसार प्रमाण बनाया जाता है क्योंकि हर किसी की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी का परिवार छोटा है तो वह थोड़े में अपनी पूर्ति कर लेता है पर किसी का परिवार बड़ा है तो उसे अधिक धन आदि रखना पड़ता है। यह एक आशय हुआ तथा दूसरा आशय यह भी है कि मनुष्य की इच्छा कभी तृप्त नहीं होती। जितने भी साधन जोड़े जाते हैं सब उस इच्छा रूपी अग्नि में घी की भाँति पड़ते और इच्छा रूपी ज्वाला को और दहकाते हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो कौनसी ऐसी वस्तु है जो उपयोगी न हो। आजकल तो कचरे का भी सदुपयोग करना सिखाया जा रहा है। अतः यदि हम इच्छाओं का ही परिमाण कर लें तो हमें व्यर्थ सामग्री जोड़ना ही नहीं पड़ेगी क्योंकि जहाँ कारण हट जाएगा वहाँ कार्य कैसे रह सकता है। इसी भावना से सम्यग्दृष्टि, श्रावक अपने परिग्रह का परिमाण बनाता है लेकिन अनादिकाल से मोह, अज्ञानता, विषय-वासना के जो संस्कार इस जीव पर पड़े हैं वे भी समय-समय पर इस पर हावी होते हैं। तब वह नियम तो नहीं तोड़ता पर ऐसे रास्ते निकाल लेता है जिससे उसकी तृष्णा को बल मिलता है और उसके व्रत में दोष लगता है।



आचार्यश्री प्रभाचंद्र कृत रत्नकरण्डक श्रावकाचार संस्कृत टीका में इन अतिचारों के विषय में इस तरह बताया गया है-

1. **अतिवाहन-लोभ** की तीव्रता को कम करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया, इसलिए उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नाम का अतिचार होता है।

2. **अतिसंग्रह**-‘यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा’ इस लोभ के वश से कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है।

3. **अतिविस्मय-संग्रहीत वस्तु** को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का तो मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरे के द्वारा ठहरकर बेचने पर उससे अधिक लाभ हुआ, इस स्थिति में लोभ के आवेश से अतिविस्मय अतिखेद करता है। यह अतिविस्मय नाम अतिचार है।

4. **अतिलोभ-विशिष्ट लाभ** मिलने पर भी और भी अधिक लाभ की इच्छा से कोई अधिक लोभ करता है तो उसका यह अतिलोभ नाम का अतिचार है।

5. **अतिभारवहनानि**- लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है। एक अतिभार-आरोपण अहिंसाणुव्रत का भी है परन्तु वहाँ कष्ट देने का भाव रहता है और यहाँ अधिक लाभ प्राप्त करने का अथवा अतिभारारोपण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबार को इतना अधिक फैला लेना, जिसकी यह स्वयं सँभाल नहीं कर सकता है और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी आचार्य उमास्वामी महाराज ने परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार गिनाये हैं-

क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य प्रमाणातिक्रमाः ॥7/21॥

क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम-खेत और मकान के प्रमाण का उल्लंघन करना क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम है। जैसे-किसी व्यक्ति ने एक खेत और एक मकान का नियम लिया पर बाद में लोभवश पास का एक और खेत तथा मकान खरीद लिया और दोनों के बीच की सीमाएँ तोड़कर दोनों को एक कर दिया। इस प्रकार यहाँ संख्या तो एक ही रही पर प्रमाण का अतिक्रम हो गया।



हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम- चाँदी, सोना आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम है। जैसे-किसी व्यक्ति ने सोने या चाँदी के विषय में नियम लिया कि मैं एक गले का हार, अँगूठी और कड़ा मात्र रखूँगा और बाद में उन आभूषणों को गलाकर उनमें और सोना या चाँदी मिला लिया। यहाँ भी आभूषणों की संख्या वही रही, पर परिमाण अधिक हो गया।

धनधान्यप्रमाणातिक्रम- पशुधन तथा अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्यप्रमाणातिक्रम है। जैसे-किसी ने नियम लिया कि मैं चार पशु और चार बोरे अनाज रखूँगा पर कालांतर में तृष्णावश उन चार पशुओं पर ही आठ का वजन लाद दिया तथा यह धान्य आगे अच्छी कीमत पर बिकेगा ऐसे लोभ से संग्रह कर लिया। यह भी अतिचार है।

दासीदासप्रमाणातिक्रम- दास-दासियों के प्रमाण का जैसे-दो नौकर और दो नौकरानी का नियम करके उनसे ही दुगना काम कराना।

कुप्यप्रमाणातिक्रम- वस्त्र तथा बर्तनों के प्रमाण का उल्लंघन करना। जैसे-चार चादर और पाँच बर्तनों का किसी ने नियम लिया पर बाद में 2 चादरों को जोड़कर एक गिना तथा इसी तरह यथाविध बर्तनों के विषय में जानना चाहिए।

अतिचारों से बचने के साथ-साथ व्रत की भावना भी भानी चाहिए। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्यश्री उमास्वामी महाराज ने कहा हैं-

‘मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय राग द्वेष वर्जनानि पञ्च’ ॥७/७॥ प्रत्येक इंद्रिय के मनोज्ञ (मनोहर), अमनोज्ञ (अरुचिकर) विषयों में राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। ऐसी भावना भाने वाला ही निर्दोष व्रत पालन कर सकता है। परिग्रह का नव कोटि से त्याग करने वाले मुनिजन समस्त पापों से बच जाते हैं। अतः हमें भी उस अपरिग्रहता की ओर बढ़ने के लिए परिग्रह की सीमा बनानी चाहिए।

इसी भावना के साथ

“श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-59
श्लोक-63

अणुव्रत फलते है इस रूप

बंधुओ! श्रावकाचार की मुख्य सीढ़ी आचार्य समंतभद्र महाराज के शब्दों में पाँच अणुव्रत है। जिस प्रकार नींव के बिना महल नहीं हो सकता, जड़ के बिना वृक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार पंचाणुव्रतों के बिना श्रावका धर्म नहीं हो सकता। अतः अहिंसाणुव्रत का पालन करें और सत्यादि व्रत उसके साधक है, पूरक है। अथवा यू कहें कि जैसे पांचों इन्द्रियाँ जीवन जीने के लिए महत्त्वशाली है अनिवार्य है यदि इन्द्रियाँ अंग पूर्ण न हो तो विकलांग कहलाता है उसी प्रकार एक भी अणुव्रत बिना पूर्ण श्रावकाचार नहीं हो सकता। जैसे पाँच अंगुलियों की मुख्यता है, प्रधानता है, अपना-2 काम है उसी प्रकार प्रत्येक व्रत का अपना-2 महत्त्व है। उनके निरतिचार रूप पालन से जीवन में क्या-2 उपलब्धियाँ हो सकती है इसी बात को बताते हुए, आचार्य महाराज कह रहे हैं कि-

गाथा- **पंचाणुव्रत निधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥63॥**

अन्वयार्थ-

निरतिक्रमणाः	-	अतिचार रहित
पंच	-	पाँच
अणुव्रत निधयः	-	अणुव्रत रूपी निधियाँ
तं सुरलोकं	-	उस स्वर्ग लोक को
फलन्ति	-	फलती हैं- (देती हैं)
यत्र अवधिः	-	जिसमें अवधि ज्ञान
अष्टगुणा	-	अणिमा महिमा आदि आठ गुण
च दिव्य शरीर	-	और सात धातुओं से रहित वैक्रियिक शरीर
लभ्यन्ते	-	प्राप्त होते है।

अर्थ-अतिचार रहित पाँच अणुव्रत रूपी निधियाँ स्वर्गलोक में फलती है, स्वर्ग लोक में अवधिज्ञान है, अणिमा आदि आठ ऋद्धियाँ और सप्त धातु रहित सुंदर वैक्रियिक शरीर प्राप्त होते हैं।



परम पूज्य आचार्य महाराज कितनी सुन्दर व्याख्या कर रहे हैं। उन्होंने पाँच अणुव्रतों को “पंचाणुव्रतनिधयो” निधि की उपमा दी है। लौकिकता में भी देखा जाता है कि जिसके पास निधि /सम्पत्ति/धन होता है वह कभी दरिद्र नहीं देखा गया, उसे कभी हाथ नहीं फैलाना पड़ा, उसे कभी दर-दर नहीं भटकना पड़ा क्योंकि निधिवान है। श्रावक के पास भी यदि पंचाणुव्रत रूपी निधि है तो वह कभी खोटी गतियों में नहीं जाएगा, दुख-कष्ट में नहीं मिलेगा, उसका तो रिजर्वेशन हो गया स्वर्ग का। कहा गया है “फलन्ति सुरलोक” अर्थात् स्वर्ग फल को पंचाणुव्रत रूपी निधियाँ प्रदान करती है। पर ध्यान रखना विशेषण आया “निरतिक्रमणाः” कि व्रतों का पालन निरतिचार होना चाहिए, अतिचार सहित नहीं, दोष सहित नहीं, दोष रहित होना चाहिए। अतिचार यानि व्रतों में दोष लगाना। इसलिए प्रायः सभी आचार्यों ने अतिचारों को टालने की बात कही है। अतिचार तात्कालिकता में व्रत का खण्डन नहीं करते परंतु उसमें दोष उत्पन्न करा देते हैं। वे अतिचार एक चिंगारी के समान हैं, धीरे-2 सारे व्रतों को जला देते हैं जिस प्रकार कपास के ढेर को एक छोटी सी चिंगारी भी अंततः सारे कपास को जला देती है। अतः छोटे दोष को कभी छोटा समझ कर छोड़ नहीं देना। विवेकी पुरुष जिस प्रकार चिंगारी की उपेक्षा करता है उसे बुझाने का प्रयास करता है उसी प्रकार व्रती भी दोषों, अतिचारों को दूर करने का प्रयास करता है।

आगम में आया कि दोषों की निवृत्ति के लिए साधक अपने गुरु के पास जाकर निश्छल भाव से निंदा-गर्हा, आलोचना करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित लेता है। वह उसमें विलंब नहीं करता कि आज दोष हुआ अब कल आलोचना कर लेंगे। साधकों का हृदय समुद्र की तरह होता है जिनमें उठने वाली पवित्र भावनाएँ दोषों की लहरों की तरह किनारे कर देती हैं? दोषों को पचाती नहीं अपितु दूर फैंक देती है। व्यक्ति के भाव हो कि मुझे सामायिक करना है तो यह विशुद्धि अंश है। मुझसे दोष हुआ इसे सुधारना है, सम्यक् बनाना है गुरु के पास जाकर प्रायश्चित लूँगा। यह सब परिणाम विशुद्धि अंश से ही आते हैं। दूसरी ओर हमसे नहीं होती सामायिक। नियम है तो करना है, जैसे हो सो करेंगे। आपकी भाषा आपके विचारों का संकेत दे रही है। दोष हो गया तो हो गया, कौन जानकर किया, ले लेंगे प्रायश्चित, यह जबरजस्ती का पालन है ऐसी साधना फलीभूत नहीं होगी।

इन परिणतियों को ज्ञानी ज्ञान से नापता है तथा पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है। यदि वह अबध्यायुष्क व्रती है तो देवगति का बंध करता है। दूसरी बात बध्यायुष्क है एवं देवगति का बंध उसके है तभी उसके विशुद्धियुक्त व्रत धारण करने, पालने के परिणाम हो रहे हैं। अन्यथा राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर के समवशरण में इतनी भक्ति की, इतने प्रश्न किए लेकिन व्रती बनने के भाव नहीं हुए। उन्होंने भगवान से पूछा-हे प्रभु! आपकी कल्याणमयी वैराग्यवर्धक दिव्यध्वनि से अनेकों जीवों का कल्याण हुआ परंतु मेरे भाव क्यों व्रतधारण करने के क्यों नहीं हो रहें। तब भगवान



ने कहा-हे श्रेणिक! तेरे नरक आयु का बंध हो चुका है। “जैसी गति वैसी मति” अशुभ आयु का बंध तो परिणाम भी अशुभ ही होंगे। व्रत धारण के शुभ परिणाम कैसे संभव है। प्रायः अशुभ आयु बंध वाले के मृत्यु के समय दुकान-कुटुम्ब दिखता है और भगवान के नाम से सिरदर्द होता है। कारण क्या है? दुर्गति का बंध, तो परिणाम शुभ-अच्छे हो नहीं सकते। व्रती लोग भी यही न सोचे कि हम व्रती है निश्चित ही स्वर्ग जाएंगे। कर्म सिद्धांत कहता है कि व्रतीपना बाहर का, अब ले लेंगे दो-चार दिन में प्रायश्चित्त। अरे! आग लगने पर उसे आप तुरंत बुझाते है, ना कि दो-चार दिन बाद, यदि 2 - 4 दिन की सोची तो सब स्वाहा हो जाएगा। इसलिए तुरंत प्रतिक्रमण-आलोचना करें। साधक दिन हुये दोषों की दैवसिक प्रतिक्रमण करके तथा रात्रि में हुये दोषों की रात्रिक प्रतिक्रमण में आलोचना करता है। गुरु से विशेष दोषों की जैसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि जीव खत्म हो गए, अहिंसा व्रत में दोष लग गया, झूठ बुल गया, अपशब्द बुल गये, अविनय हो गया तो वह निंदा-गर्हा पूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त लेता है कि हमारे व्रतों की शुद्धि कीजिए।

आलोचना, प्रतिक्रमण, दोषों की जानकारी, ज्ञान दशा में संभव है जब व्यक्ति ज्ञान की भूमिका में बैठता है तो उसे अपने व्रतों की तस्वीर नजर आती है, मुनीम जब हिसाब-किताब करता है तो वह आय-व्यय हुए एक-एक पैसे का हिसाब रखता है। ज्ञानी जीव भी जब सामायिक में बैठता है तो दिन-रात्रि में हुए दोषों का हिसाब लगाता है।

शाम-सवेरे हे जिया मन मंदिर मे आया कर।

मन मंदिर में आकर तू, झाड़ू रोज लगाया कर।।

घरों में प्रतिदिन सुबह-शाम झाड़ू लगाने से कचड़ा इकट्ठा नहीं हो पाता, तो कहा गया कि हे साधक! प्रतिदिन हुये दोषों की, उसदिन ही आलोचना करें। कचड़ाघर नहीं, समुद्र (सागर) बनें, समुद्र में कचड़ा डाला जाए तो लहरें उसे किनारे कर देती है ज्ञान होता है तो आत्मविशुद्धि जगती है ऐसे भावलिंगी विशुद्धात्मा साधक उन दोषों को तुरंत अलग कर देते है, पेट में उनके दोष पचते नहीं। आत्मविशुद्धि वेष धारण करने का नहीं अपितु अंतरंग की परिणति का नाम है कि आपके कितने भाव सहित व्रतों का पालन है, कितना निरतिचार पालन है यदि ऊपरी वाना मात्र है तो अशुभ गतियों में भी जा सकते हो। अतः हे साधक! स्वयं को टटोले, थर्मामीटर स्वयं के पास है, अपनी-2 स्वयं की परीक्षा करें कि हमारी भावसहित साधना कितनी है। गुरु उपदेश दे सकते है, अंगुली का सहारा दे सकते है पर चलना तो आपको ही होगा। गुरु तो साध्य है साधन नहीं। जिसदिन स्वयं व्रतों को निरतिचार पालने को भाव उत्पन्न होंगे तो दोष उसी प्रकार ऊपर आ जाएंगे जैसे तेल और पानी में तेल। दोषों के दूर होते ही भावसहित साधना होगी और उसका फल देवगति की प्राप्ति ही होगी। एकबात ध्यान रखें। व्रती व्रत की साधना स्वर्गादि फल के लिए नहीं करता परंतु उसका निष्काम फल



उसे स्वर्ग दिलाता है।

स्वर्ग में वह सम्यग्दृष्टि व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला जीव “अवधि” अवधिज्ञान से सहित होता है तथा “अष्टगुणा” प्रकार की सिद्धियाँ-ऋद्धियाँ उसे वहाँ प्राप्त होती है।

1. अणिमा - छोटा शरीर बना लेना।
2. महिमा - सुमेरु से भी बड़ा शरीर बना लेना।
3. लघिमा - वायु से भी हल्का शरीर बना लेना।
4. गरिमा - पहाड़ से भी भारी शरीर बना लेना।
5. प्राप्ति - भूमि पर बैठकर अगुंली से सूर्यादि को छू लेना।
6. प्राकाम्य - जल में भूमि की तरह तथा भूमि में जल की तरह गमन करना।
7. ईशित्व - तीनों लोकों का स्वामीपना होना।
8. कामरूपित्व - अदृश्य हो जाना, अनेक प्रकार के रूप बनाना आदि।

“दिव्यशरीर” दिव्य शरीर होता है, विद्रूप-कुरूप नहीं होता। समचतुस्र संस्थान, ब्रजवृषभनाराचसंहनन के साथ हड्डी आदि धातुओं रहित सुन्दर-प्रकाशवान शरीर से युक्त होता है।

बंधुओ! मोक्षमार्ग पर चलने के पूर्व अपनी संयम रूपी गाड़ी का अन्वेषण कर लेना कि कितना अच्छा, कितना बुरा किया, कितने व्रतों में दोष, अतिचार होते हैं, उनसे कैसे बचा जा सकता है। लग जाये तो तुरंत दूर कर देना तात्कालिक में चिंगारी वत् अतिचारों, दोषों को समाप्त कर देना क्योंकि निरतिचार व्रत ही मोक्षमार्ग में सहायक है। साक्षात् न सही पर परम्परा से कारण है। कभी अणुव्रती भी महाव्रतों को धारणकर मोक्ष पद पा सकता है और यदि संसार शेष है तो तीनों गतियों (नरक, तिर्यच, मनुष्य) से बच जाता है अर्थात् एक मात्र देवगति में जाता है। अतः आप सभी भी थोड़ी मात्रा में ही सही, धीरे-2 ही सही, पर निरतिचार व्रतों का पालन करें, और अपने जीवन को दुखों से छुड़ाकर मोक्षसुख की ओर अग्रसर करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 नमिनाथ भगवान की जय”



प्रवचन-60
श्लोक-64-65

व्रतों में प्रसिद्ध व्यक्ति

भव्य बंधुओ! रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ के कर्ता आचार्य समंतभद्र महाराज श्रावक का आचार कब सही मायने में श्रावकाचार संज्ञा को प्राप्त होता है तथा उसका फल कब फलीभूत, किस रूप में होगा, इसका बड़ा ही अनुपम वर्णन कर रहें, उन्होंने बताया था निरतिचार पंचाणुव्रत स्वर्ग रूपी सम्पदा को देते हैं, और परम्परा से मोक्ष के साधक हैं। तो शिष्य पूछता है गुरुदेव ऐसे कौन से उदाहरण है या व्यक्ति है जिन्होंने पंचाणुव्रत का निरतिचार पालन कर देवों जैसी सम्पत्ति को प्राप्त किया। तो आचार्य महाराज कहते हैं-

गाथा-

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः ।

नीली जयश्च सम्प्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम् ।।64।।

अन्वयार्थ-

मातङ्गोः च धनदेवः - चाण्डाल और धनदेव (सेठ)

ततः परः वारिषेणः - उसके आगे वारिषेण

नीली च जयः - नीली और जय

उत्तम् पूजातिशयं - उत्तम पूजा के अतिशय को

सम्प्राप्ताः - प्राप्त हुए हैं।

अर्थ-यमपाल चाण्डाल, धनदेव सेठ, वारिषेण, वणिक् पुत्री नीली और राज पुत्र जयकुमार क्रम से पांचों व्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय (प्रसिद्धि) को प्राप्त हुए “मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः नीली जयश्च सम्प्राप्ताः” पूज्य आचार्य महाराज यहाँ पाँच अणुव्रतों में प्रसिद्ध उन व्यक्तियों के क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं जिन्होंने निरतिचार व्रतों का उत्तम फल पाया। प्रभाचंद्राचार्य अपनी टीका में कहते हैं कि देवों ने यमपाल का स्नान कराया पूजा की अस्पर्श था जरा सोचिए कि



ये तो महाव्रतों से युक्त है तो हमें श्रद्धा-भक्ति के साथ नवधाभक्ति करनी चाहिए। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में कहा-कि उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों की पूजा करनी चाहिए। मातंग, धनदेव, वारिषेण नीलीदेवी तथा जयकुमार क्रमशः अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रह परिमाणुव्रत में ऐसे विख्यात हुये कि आज तक उनका नाम लिया जाता है। यहाँ पर एक विशेष विशेषण आया कि “पूजातिशय उत्तमं” अर्थात् ये सब अतिश्रेष्ठ पूजा को प्राप्त हुये थे। पूजा शब्द पर प्रायः बहुत विवाद रहते हैं। पर यहाँ तो आचार्य महाराज एक चाण्डाल आदि की पूजा की बात कर रहे हैं और आप व्रती आर्यिका आदि संयमी की पूजा की बात आ जाये तो प्रश्न खड़े कर देते हैं। अरे! नवधाभक्ति करना भी एक पूजा है और पूजा भी एक भक्ति है। विवेक जगाए-आपका शब्द पर विवाद है अथवा पद्धति पर। यदि शब्द पर है तो आचार्य महाराज एक चाण्डाल की पूजा की बात कर रहे तो सिद्ध करें अब, कहो कि वे गलत कहते हैं, पर आचार्य समंतभद्र महाराज जैसे बाल की खाल निकालने वाले, प्रत्येक आगमवाक्य को न्याय-युक्ति की कसौटी पर कसने वाले न्यायिक, तर्कशील आचार्य गलत नहीं कह सकते। बस अंतर आता है तो पूजा-अर्चना की परिचर्या में। आप जैसे भगवान को भगवान की तरह पूजते हैं, और मुनि को मुनि की तरह, क्या आप मुनि को भगवान की तरह पूजते हैं? नहीं ना, भगवान-भगवान है और गुरु-गुरु। पूजा कर लेने से कहीं वे भगवान, गुरु नहीं हो जाते, उसी प्रकार आर्यिका पूजा, आर्यिका रूप ही होती है पर यह नहीं कि पूजा आदि नवधा-भक्ति होती ही नहीं, तो यह गलत मान्यता है। जब कभी आप आर्यिका संघ के आमंत्रण के लिए दूसरे गांव जाते हैं। तो क्या खाली हाथ जाते हैं, नहीं, श्रीफल ले जाते हैं। वह भी अष्टद्रव्य में से एक द्रव्य है तो क्या यह पूजा नहीं। कुछ लोग कहने लगते हैं हमने चढ़ाया नहीं था, भेंट किया था, तो भैया भेंट उन्हें किया जाता है जो उस भेंट को स्वीकार करें, जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया, स्वीकार करते नहीं तो उन्हें चढ़ाया ही जाता है।

यहाँ अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध मातंग की कहानी आती है पोदनपुर में मातंग यानि चाण्डाल जो जाति एवं कर्म की अपेक्षा चाण्डाल था क्योंकि राजाज्ञा थी अपराधी को फांसी पर चढ़ाना है। एक दिन उसका पुण्य का उदय आया कि एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज के उसे दर्शन के साथ उपदेश का लाभ हुआ, जिससे उसके जीवन की दिशा ही क्या दशा, परिणाम परिवर्तित हो गये। सच्चा पापी से पापी भी तर सकता है विनयपाठ में कहा गया कि “अंजन से तारे कुधी” अर्थात् धर्म जीवन में आ जाये तो अंजन जैसे चोर भी सिद्ध हो तर गए संसार से। धर्म धारण का अधिकार सभी को है धर्म संकीर्ण नहीं विशाल होता है। जैन कौन? तो जो जैन धर्म धारण करे, उसके अनुसार परिचर्या करे, तो वह जैन है। जिस प्रकार सूर्य हर आँगन का होता है, शीत हरकर आतप (गर्मी) देता है, समान प्रकाश देता है इसी तरह धर्म होता है। एक बार पूछा गया कि क्या जैन-धर्म सीमित दायरे में करना चाहिए।



कतई नहीं। जैनधर्म तो प्राणीमात्र का धर्म है, एक मेढ़क भी समवशरण में पांखुड़ी लेकर पूजा के लिए जा सकता है तो मनुष्य उससे बहुत ऊँचा है परंतु उदाहरण चाण्डाल का दिया गया, तो कहना पड़ा कि आज सामाजिक पद्धतियाँ है उनकी सीमा है पर निषेध नहीं। कई स्थानों पर जैनेत्तर भी भक्तिभाव से जिनेन्द्रदेव की पूजा, भक्ति करते हैं पर अंतर है तो मात्र मर्यादा सीमा का, जिससे अन्य व्यक्ति गलत फायदा न उठा ले। चाण्डाल ने मुनिमहाराज से अष्टमी-चतुर्दशी को फांसी पर न चढ़ाने का नियम ले लिया। योगायोग जब अष्टाहिका पर्व में राजाज्ञा थी कि कोई जीव हिंसा, मांस सेवन न करे, फिर राजपुत्र ने उसका उल्लंघन कर दिया, और राजा ने उसे फांसी की सजा सुनाई, चतुर्दशी का दिन था, यमपाल को पता चला तो उसने रास्ता निकाला घर में स्वयं छिप गया, पत्नी से कहा-उन्हें कहना मैं घर में नहीं हूँ। राजा के सेनापति आते हैं-यमपाल कहाँ गया, आज उसका पुण्योदय आया है, राजपुत्र को फांसी पर चढ़ाना है और उसे अमूल्य आभूषण आदि मिलेंगे। पत्नी सोचती है न कहू तो सारा धन जाता है, हाँ कहू तो पति की आज्ञा का उल्लंघन होता है। प्रवचनसार में स्त्रियों के विषय में कहा गया-कि स्त्रियों में मायाचारी स्वभावतः होती है। अर्थात् वह कहती है वे तो बाहर गए हैं लेकिन अंगुलि से इशारा करती है कि अंदर है। मायाचारी अर्थात् मन में कुछ, वचन में कुछ, चेष्टा में कुछ। वे सैनिक समझ जाते हैं अंदर जाकर पकड़ लेते हैं, चल तेरा पुण्य है। वह समझाता है आज मेरा व्रत है। कुछ भी हो-महाराज की आज्ञा है, आज ही फांसी पर चढ़ाना होगा। वह कहता है-मैं। इस आज्ञा का पालन नहीं कर सकता, तब राजपुत्र एवं यमपाल दोनों को राजाज्ञा न मानने के कारण समुद्र में फिकवाने कहा गया, जिस समुद्र में बड़े-2 जीव जंतु थे, सैनिकों ने दोनों को समुद्र में पटक दिया। देखते ही देखते राजपुत्र को घडियाल निगल गये पर चाण्डाल को देव ने सिंहासन पर विराजमान कर लिया। जल में तैरता हुआ सिंहासन उस पर बैठा चाण्डाल, सब देख दंग रह गये, देवों ने उसका सम्मान किया। सारी दुनिया जान गई एक अहिंसाणुव्रत धारी की देवता भी पूजा करते हैं।

सत्याणुव्रत में धनदेव प्रसिद्ध हुआ-सत्याणुव्रत से धन देव सेठ ने पूजातिशय को प्राप्त किया था। उसकी कथा इस प्रकार है-

धनदेव की कथा-जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देश में एक पुणरीकिणी नामक नगरी है। उसमें जिनदेव और धनदेव नाम के दो अल्प पूंजीवाले व्यापारी रहते थे। उन दोनों में धनदेव सत्यवादी था। एक बार वे दोनों जो लाभ होगा उसे आधा आधा ले लेंगे ऐसी बिना गवाह की व्यवस्था कर दूर देश गये। वहाँ बहुत-सा धन कमाकर लौटे और कुशलपूर्वक पुण्डरीकिणी नगर आ गये। उनमें जिनदेव, धनदेव के लिए लाभ का आधा भाग नहीं देता था। वह उचित समझकर थोड़ा सा द्रव्य उसे देता था। तदनन्तर झगड़ा होने पर न्याय होने लगा। पहले कुटुम्बीजनों के सामने, फिर महाजनों के सामने और अन्त में राजा के आगे मामला उपस्थित किया गया। परन्तु बिना गवाही का



व्यवहार होने से जिनदेव कह देता कि मैंने इसके लिए लाभ का आधा भाग देना नहीं कहा था, उचित भाग ही देना कहा था। धनदेव सत्य ही कहता था कि दोनों का आधा-आधा भाग ही निश्चित हुआ था। तदनन्तर राजकीय नियम के अनुसार उन दोनों को 'दिव्य' न्याय दिया गया। अर्थात् उनके हाथों पर जलते हुए अंगारे रखे गए। इस दिव्यन्याय से धनदेव निर्दोष सिद्ध हुआ, दूसरा नहीं। तदनन्तर सब धन धनदेव के लिए दिया गया और धनदेव सब लोगों के द्वारा पूजित हुआ तथा धन्यवाद को प्राप्त हुआ। इस प्रकार द्वितीय अणुव्रत की कथा है।

चौर्याविरति अणुव्रत से वारिषेण ने पूजा का अतिशय प्राप्त किया था। इसकी कथा स्थितिकरण गुण के व्याख्यान में प्रकरण में कही गई है। वह इस प्रकरण में भी देखना चाहिए। इस प्रकार तृतीय अणुव्रत की कथा है। मातंग, धनदेव और वारिषेण के आगे नीली और जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुए हैं। उनमें अब्रह्मविरति अणुव्रत-ब्रह्मचर्याणुव्रत से नीली नाम की वणिक्पुत्री पूजातिशय को प्राप्त हुई है। उसकी कथा इस प्रकार है-

नीली की कथा-लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा वसुपाल रहता था। वहीं एक जिनदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था। उनके एक नीली नाम की पुत्री थी, जो अत्यन्त रूपवती थी। उसी नगर में एक समुद्रगुप्त नाम का सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम सागरदत्त था और उन दोनों के एक सागरदत्त नाम का पुत्र था। एक बार महापूजा के अवसर पर मन्दिर में कायोत्सर्ग से खड़ी हुई तथा समस्त आभूषणों से सुन्दर नीली को देखकर सागरदत्त ने कहा कि क्या यह भी कोई देवी है? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्त ने कहा कि यह जिनदत्त सेठ की पुत्री नीली है। नीली का रूप देखने से सागरदत्त उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया और यह किस तरह प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार उसके विवाह की चिन्ता से दुर्बल हो गया। समुद्रदत्त ने यह सुनकर उससे कहा कि हे पुत्र! जैन को छोड़कर अन्य किसी के लिए जिनदत्त इस पुत्री को विवाहने के लिए नहीं देता है।

तदनन्तर वे दोनों पिता पुत्र कपट से जैन हो गये और नीली को विवाह लिया। विवाह के पश्चात् वे फिर बुद्धभक्त हो गये। उन्होंने नीली का पिता के घर जाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार धोखा होने पर जिनदत्त ने यह कहकर संतोष कर लिया कि यह पुत्री मेरे हुई ही नहीं है अथवा कुआ आदि में गिर गई है अथवा मर गई है। नीली अपने पति को प्रिय थी, अतः वह श्वसुराल में, जिनधर्म का पालन करती हुई एक भिन्न घर में रहने लगी।

समुद्रदत्त ने यह विचार कर कि बौद्ध साधुओं के दर्शन से, संसर्ग से, उसके वचन, धर्म और देव का नाम सुनने से काल पाकर यह बुद्ध की भक्त हो जायेगी, एक दिन समुद्रदत्त ने कहा कि नीली बेटी! बौद्ध साधु बहुत ज्ञानी होते हैं, उन्हें देने के लिए हमें भोजन बनाकर देओ। तदनन्तर नीली ने



बौद्ध साधुओं को निमन्त्रित कर बुलाया और उनकी एक-एक प्राणहिता-(पनहिया) जूती को अच्छी तरह पीसकर तथा मसालों से सुसंस्कृत कर उन्हें खाने के लिए दे दिया। वे बौद्ध साधु भोजन कर जब जाने लगे तो उन्होंने पूछा कि हमारी जूतियाँ कहाँ हैं? नीली ने कहा कि आप ही अपने ज्ञान से जानिये आपके ही पेट में स्थित हैं। इस प्रकार वमन किये जाने पर उनमें जूतियों के टुकड़े दिखाई दिये। इस घटना से नीली के श्वसुर पक्ष के लोग बहुत रुष्ट हो गये।

तदनन्तर सागरदत्त की बहन ने क्रोधवश उसे परपुरुष के संसर्ग का झूठा दोष लगाया। जब इस दोष की प्रसिद्धि सब और फैल गई, तब नीली भगवान् जिनेन्द्र के आगे सन्यास लेकर कायोत्सर्ग से खड़ी हो गई और उसने नियम ले लिया कि इस दोष से पार होने पर ही मेरी भोजन आदि में प्रवृत्ति होगी, अन्य प्रकार नहीं। तदनन्तर क्षोभ को प्राप्त हुई नगरदेवता ने आकर रात्रि में उससे कहा कि हे महासति! इस तरह प्राणत्याग मत करो, मैं राजा को तथा नगर के प्रधान पुरुषों को स्वप्न देती हूँ कि नगर के सब प्रधान द्वार कीलित हो गये हैं, वे महापतिव्रता स्त्री के बाँये चरण के स्पर्श से खुलेंगे। वे प्रधान द्वार प्रातःकाल आपके पैर का स्पर्शकर खुलेंगे। ऐसा कहकर वह नगरदेवता राजा आदि को वैसा स्वप्न दिखा कर तथा नगर के प्रधान द्वारों को बन्द कर बैठ गई। प्रातःकाल नगर के प्रधान द्वारों को कीलित देखकर राजा आदि ने पूर्वोक्त स्वप्न का स्मरण कर नगर की सब स्त्रियों के पैरों से द्वारों की ताड़ना कराई। परन्तु किसी भी स्त्री के द्वारा एक भी प्रधान द्वार नहीं खुला। सब स्त्रियों के बाद नीली को भी वहाँ उठाकर ले जाया गया। उसके चरणों के स्पर्श से सभी प्रधान द्वार खुल गये। इस प्रकार नीली निर्दोष घोषित हुई और राजा आदि के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुई। यह चतुर्थ अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहविरति अणुव्रत से जयकुमार पूजातिथय को प्राप्त हुआ था। उसकी कथा इस प्रकार है-जयकुमार की कथा-कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नगर में कुरुवंशी राजा सोमप्रभ रहते थे। उनके जयकुमार नाम का पुत्र था। वह जयकुमार परिग्रहपरिमाणव्रत का धारी था तथा अपनी स्त्री सुलोचना से ही सम्बन्ध रखता था। एक समय, पूर्व विद्याधर के भवों की कथा के बाद जिन्हें अपने पूर्वभवों का ज्ञान हो गया था, ऐसे जयकुमार और सुलोचना हिरण्याधर्मा और प्रभावती नामक विद्याधर युगल का रूप रखकर मेरु आदि पर वन्दना-भक्ति करके कैलास पर्वत पर भरत चक्रवर्ती के द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस जिनालार्यों की वन्दना करने के लिए आये। उसी अवसर पर सौधर्मेन्द्र ने स्वर्ग में जयकुमार के परिग्रहपरिमाणव्रत की प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिए रतिप्रभ नाम का देव आया उसने स्त्री का रूप रख चार स्त्रियों के साथ जयकुमार के समीप जाकर कहा कि सुलोचना के स्वयंवर के समय जिसने तुम्हारे साथ युद्ध किया था उस नमि विद्याधर राजा की रानी को, जो कि अत्यन्त रूपवती, नवयौवनवती, समस्त विद्याओं को धारण करने वाली और उससे विरक्तचित्त है, स्वीकृत करो, यदि



उसका राज्य और अपना जीवन चाहते हो तो। यह सुनकर जयकुमार ने कहा कि हे सुन्दरी! ऐसा मत कहो, परस्त्री मेरे लिए माता के समान है। तदनन्तर उस स्त्री ने जयकुमार के ऊपर बहुत उपसर्ग किया, परन्तु उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर वह रतिप्रभदेव माया को संकुचित कर, पहले का सब समाचार कहकर प्रशंसा कर और वस्त्र आदि से पूजाकर स्वर्ग चला गया। इस प्रकार पंचम अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।।

अब आगे आचार्य महाराज पाँचों पापों में प्रसिद्ध हुये व्यक्तियों का कथानक तथा नाम यथाक्रम कहते हैं-

गाथा-

धन श्री सत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि।

उपाख्येयास्तथा श्मश्रु, नवनीतो यथाक्रमम्।।65।।

अन्वयार्थ-

धन श्री सत्यघोषौ	-	धन श्री, सत्यघोष
च तापसा रक्षकौ	-	और तपस्वी, यमदण्ड नामक कोतवाल
अपि श्वश्रुनवनीतो	-	तथा श्मश्रुनवनीत
यथाक्रमम्	-	क्रमशः (पाँचों पापों में)
उपाख्येयाः	-	कुख्यात हुए (प्रसिद्ध हुए)।

अर्थ-धन श्री नामक सेठानी, सत्य घोष नामक पुरोहित, एक तपस्वी, यमदण्ड नामक कोतवाल और श्मश्रुनवनीत नामक वैश्य क्रम से पाँचों पापों में कुख्यात हुए हैं (प्रसिद्ध हुए)

बंधुओ! जिस प्रकार पाँच अणुव्रतों में व्यक्ति ख्याति/प्रसिद्धि को प्राप्त हुये उसी प्रकार पाँच पापों का भी क्रम जानना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। जिनका स्वरूप आप पूर्व में जान चुके है। अब यहाँ उन पापों में प्रसिद्ध हुये “धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि तथा श्मश्रुनवनीतो” अर्थात् धन श्री,” सत्यघोष, तापसी, कोतवाल तथा श्मश्रुनवनीत नाम से जाना जाने वाला लुब्धदत्त सेठ का “उपाख्येयाः” उपाख्यान/कथानक यथाक्रमम् यथाक्रम से किया जाएगा।

धनश्री की कथा-लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा लोकपाल रहता था। वहीं एक धनपाल नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। धनश्री जीव हिंसा से कुछ भी विरत नहीं थी अर्थात् निरन्तर जीव हिंसा में तत्पर रहती थी। उसकी सुन्दरी नाम की पुत्री और गुणपाल नाम का पुत्र था। जब धनश्री के पुत्र नहीं हुआ था तब उसने एक कुण्डल नामक बालक का पुत्र बुद्धि से पालन-पोषण किया। समय पाकर जब धनपाल की मृत्यु हो गई तब धनश्री उस कुण्डल के साथ कुकर्म करने लगी। इधर धनश्री का पुत्र गुणपाल जब गुण और दोषों को जानने लगा तब उससे शंकिता होकर

धनश्री ने कुण्डल से कहा कि मैं गोंखर में गाएँ चराने के लिए गुणपाल को जंगल भेजूंगी सो तुम उसके पीछे लगकर उसे वहाँ मार डालो, जिससे हम दोनों का स्वच्छन्द रहना हो जायेगा-कोई रोक नहीं सकेगा। यह सब कहती हुई माता को सुन्दरी ने सुन लिया, इसलिए उसने अपने भाई गुणपाल से कह दिया कि आज रात्रि में गोधन लेकर गोंखर में माता तुम्हें जंगल भेजेगी और वहाँ कुण्डल के हाथ से तुम्हें मरवा डालेगी, इसलिए तुम्हें सावधान रहना चाहिए।

धनश्री ने रात्रि के पिछले पहर गुणपाल से कहा हे पुत्र! कुण्डल का शरीर ठीक नहीं है इसलिए आज तुम गोंखर में गोधन लेकर जाओ। गुणपाल गोधन को लेकर जंगल गया और वहाँ एक काष्ठ को कपड़े से ढककर छिपकर बैठ गया। कुण्डल ने आकर 'यह गुणपाल है' ऐसा समझकर वस्त्र से ढके हुए काष्ठ पर प्रहार किया। उसी समय गुणपाल ने तलवार से उसे मार डाला। जब गुणपाल घर आया तब धनश्री ने पूछा कि रे गुणपाल! कुण्डल कहाँ गया? गुणपाल ने कहा कि कुण्डल की बात को यह तलवार जानती है। तदनन्तर खून से लिप्त बाहु को देखकर धनश्री ने उसी तलवार से गुणपाल को मार दिया। भाई को मारती देख सुन्दरी ने उसे मूसल से मारना शुरू किया। इसी बीच में कोलाहल होने से कोतवालों ने धनश्री को पकड़कर राजा के आगे उपस्थित किया। राजा ने उसे गधे पर चढ़ाया तथा कान, नाक आदि कटवाकर दण्डित किया, जिससे मरकर दुर्गति को प्राप्त हुई। इस तरह प्रथम अव्रत से सम्बद्ध कथा पूर्ण हुई।

सत्यघोष असत्य बोलने से बहुत दुःख को प्राप्त हुआ था। इसकी कथा इस प्रकार है-

सत्यघोष की कथा-जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानी का नाम रामदत्ता था। उसी राजा का एक श्रीभूति नाम का पुरोहित था। वह जनेऊ में कैची बाँधकर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोलूँ तो इस कैची ने अपनी जिहा का छेद कर लूँ। इस तरह कपट से रहते हुए, उस पुरोहित का सत्यघोष यह दूसरा नाम चल पड़ा। लोग विश्वास को प्राप्त होकर उसके पास अपना धन रखने लगे। वह उस धन में से कुछ तो रखने वालों को दे देता था और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था। लोग रोने से डरते थे और कोई रोता भी था तो राजा उसकी सुनता भी नहीं था।

तदनन्तर एक समय पद्मखण्ड नगर से एक समुद्र दत्त नाम का सेठ आया। वह वहाँ सत्यघोष के पास अपने पाँच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करने के लिए दूसरे पार चला गया और वहाँ धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। काठ के एक पहिये से वह समुद्र को पार कर रखे हुए मणियों को प्राप्त करने की इच्छा से सिंहपुर में सत्यघोष के पास आया। रंक के समान आते हुए उसे देखकर उसके मणियों को हरने के इच्छुक सत्यघोष ने विश्वास की पूर्ति के लिए समीप में बैठे हुए लोगों से कहा कि यह पुरुष जहाज फट जाने से पागल हो गया है और



यहाँ आकर मणि माँगेगा। उस सेठ ने आकर तथा प्रणाम कर कहा कि हे सत्यघोष पुरोहित! मैं धन कमाने के लिए गया था। धनोपार्जन करने के बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है इसलिए मैंने जो रत्न तुम्हें रखने के लिए दिये थे वे रत्न कृपाकर मुझे दे दीजिये। जिससे जहाज फट जाने के कारण निर्धनता को प्राप्त हुए अपने आप का उद्धार कर सकूँ। उसके वचन सुनकर कपटी सत्यघोष ने पास में बैठे हुए लोगों से कहा कि देखो, मैंने पहले आप लोगों से बात कही थी वह सत्य निकली। लोगों ने कहा कि आप जानते हैं, इस पागल को इस स्थान से निकाल दिया जावे। ऐसा कहकर उन्होंने समुद्रदत्त को घर से निकाल दिया। ‘वह पागल है’ ऐसा कहा जाने लगा। ‘सत्यघोष ने मेरे पाँच बहुमूल्य रत्न ले लिए हैं’ इस प्रकार रोता हुआ वह नगर में घूमने लगा। राजभवन के पास एक इमली के वृक्ष पर चढ़कर वह पिछली रात में रोता हुआ यही कहता था। यह करते हुए उसे छह माह निकल गये।

एक दिन उसका रोना सुनकर रामदत्ता रानी ने राजा सिंहसेन से कहा कि देव! यह पुरुष पागल नहीं है। राजा ने भी कहा कि तो क्या सत्यघोष से चोरी की संभावना की जा सकती है। रानी ने फिर कहा कि देव! उसके चोरी की संभावना की जा सकती है क्योंकि यह सदा ऐसे ही वचन कहता है। यह सुनकर राजा ने कहा कि यदि सत्यघोष के चोरी की संभावना है तो तुम परीक्षा करो। आज्ञा पाकर रामदत्ता ने एक दिन राजा की सेवा के लिये आते हुए सत्यघोष को बुलाकर पूछा कि आज बहुत देर से क्यों आये है, सत्यघोष ने कहा कि आज मेरी ब्राह्मणी का भाई पाहुना बनकर आया था, उसे भोजन कराते हुए बहुत देर लग गई। रानी ने फिर कहा-अच्छा, वहाँ थोड़ी देर बैठो, मुझे बहुत शौक है। आज अक्षक्रीड़ा करें-जुआ खेलें। राजा भी वहीं आ गये और उन्होंने कह दिया कि ऐसा करो।

तदनन्तर जब जुआ का खेल होने लगा तब रामदत्ता रानी ने निपुणमति नाम की स्त्री से उसके कान में लगकर कहा कि तुम ‘सत्यघोष पुरोहित रानी के पास बैठे हैं उन्होंने मुझे पागल के रत्न माँगने के लिए भेजा है’ ऐसा उसकी ब्राह्मणी के आगे कहकर वे रत्न माँगकर शीघ्र आओ। तदनन्तर निपुणमति ने जाकर वे रत्न माँगे, परन्तु ब्राह्मणी ने नहीं दिए, क्योंकि सत्यघोष ने उसे पहले ही मना कर रक्खा था कि किसी के माँगने पर रत्न नहीं देना। निपुणमति ने आकर रानी के कान में कहा कि वह नहीं देती है। तदनन्तर रानी ने पुरोहित की अँगूठी जीत ली, उसे पहिचान के रूप में देकर निपुणमति को फिर से भेजा, परन्तु उसने फिर भी नहीं दिये। अब की बार रानी ने पुरोहित का कैंची सहित जनेऊ जीत लिया। निपुणमति ने उसे पहिचान के रूप में दिया और दिखाया। उसे देखकर ब्राह्मणी आश्वस्त हुई तथा ‘नहीं देती हूँ तो पुरोहित कुपित होंगे,’ इस तरह भयभीत भी हुई, अतः उसने वे मणि निपुणमति को दे दिये और निपुणमति ने रामदत्ता को सौंप दिये। रामदत्ता ने राजा को दिखाये। राजा ने उन रत्नों को बहुत से रत्नों में मिलाकर उस पागल से कहा कि अपने रत्न पहिचान



कर उठा ले। उसने उसी प्रकार जब अपने रत्न उठा लिए तब राजा और रानी ने उसे वणिक्पुत्र-सेठ स्वीकृत किया अर्थात् यह मान लिया कि यह पागल नहीं है किन्तु वणिक्पुत्र है।

तदनन्तर राजा ने सत्यघोष से पूछा कि तुमने यह कार्य किया है? उसने कहा- कि देव! मैं यह काम नहीं करता हूँ। मुझे ऐसा करना क्या युक्त है? तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए राजा ने उसके लिए तीन दण्ड निर्धारित किये-1. तीन थाली गोबर खाओ, 2. पहलवानों के तीन मुक्के खाओ अथवा 3. समस्त धन देओ। उसने विचारकर पहले गोबर खाना प्रारम्भ किया, पर जब गोबर खाने में असमर्थ रहा, तब पहलवानों के मुक्के सहन करना शुरू किया, पर जब उसमें भी असमर्थ रहा तब सब धन देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीनों दण्डों को भोगकर वह मरा और तीव्र लोभ के कारण राजा के खजाने में अंगधन जाति का साँप हुआ। वहाँ भी मरकर दीर्घ संसारी हुआ। इस प्रकार द्वितीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

तापस चोरी से बहुत दुःख को प्राप्त हुआ, इसकी कथा इस प्रकार है-

तापस की कथा-वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में राजा सिंहस्थ रहता था। उसकी रानी का नाम विजया था। वहाँ एक चोर कपट से तापस होकर रहता था। वह दूसरे की भूमि का स्पर्श न करता हुआ लटकाते हुए सींके पर बैठकर दिन में पंचाग्नि तप करता था और रात्रि में कौशाम्बी नगरी को लूटता था। एक समय 'नगर लुट गया है' इस तरह महाजन से सुनकर राजा ने कोट्टपाल से कहा-रे कोट्टपाल! सात रात्रि के भीतर चोर लाओ या अपना शिर लाओ। तदनन्तर चोर को न पाता हुआ कोट्टपाल चिन्ता में निमग्न हो अपरान्हकाल में बैठा था कि किसी भूखे ब्राह्मण ने आकर उससे भोजन माँगा। कोट्टपाल ने कहा-हे ब्राह्मण! तुम अभिप्राय को नहीं जानते। मुझे तो प्राणों का संदेह हो रहा है और तुम भोजन माँग रहे हो। यह वचन सुनकर ब्राह्मण ने पूछा- कि तुम्हें प्राणों का सन्देह किस कारण हो रहा है? कोट्टपाल ने कारण कहा। उसे सुनकर ब्राह्मण ने फिर पूछा- यहाँ क्या कोई अत्यन्त निःस्पृह वृत्तिवाला पुरुष रहता है? कोट्टपाल ने कहा कि विशिष्ट तपस्वी रहता है, परन्तु उसका यह कार्य संभव नहीं है। ब्राह्मण ने कहा- कि वही चोर होगा, क्योंकि वह अत्यन्त निःस्पृह है। इस विषय में मेरी कहानी सुनिए-

1. मेरी ब्राह्मणी अपने आपको महासती कहती है और 'मैं पर पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं करती', यह कहकर तीव्र कपट से समस्त शरीर को कपड़े से आच्छादित कर अपने पुत्र को स्तन देती है-दूध पिलाती है। परन्तु रात्रि में गृह के वरेदी के साथ कुर्म करती है।

2. यह देख मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं मार्ग में हितकारी भोजन के लिए सुवर्णशलाका को बाँस की लाठी के बीच रखकर तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ा। आगे चलने पर मुझे एक ब्रह्मचारी



बालक मिल गया-वह हमारे साथ हो गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था, इसलिए उस लाठी की बड़े यत्न से रक्षा करता था। उस बालक ने ताड़ लिया-समझ लिया कि यह लाठी सगर्भा है-इसके भीतर कुछ धन है। एक दिन वह बालक रात्रि में कुम्भकार के घर सोया। प्रातः वहाँ से चलकर जब दूर आ गया तब मस्तक में लगे हुए सड़े तृण को देखकर कपटवश उसने मेरे आगे कहा कि हाय हाय मैं दूसरे के तृण को ले आया। ऐसा कहकर वह लौटा और तृण को उसी कुम्भकार के घर पर डालकर सायंकाल के समय तब हमसे मिला जब कि मैं भोजन कर चुका था। वह बालक जब भिक्षा के लिए जाने लगा तब मैंने सोचा कि यह तो बहुत पवित्र है, इस तरह उसका विश्वास कर कुत्ते आदि को भगाने के लिए मैंने वह लाठी उसके लिए दे दी। उसे लेकर वह चला गया।

3. तदनन्तर महाअटवी में जाते हुए मैंने एक वृद्ध पक्षी का बड़ा कपट देखा। एक बड़े वृक्ष पर रात्रि के समय बहुत पक्षियों का समूह एकत्रित हुआ। उसमें अत्यन्त वृद्ध पक्षी ने रात्रि के समय अपनी भाषा में दूसरे पक्षियों से कहा कि हे पुत्रो! अब मैं अधिक चल नहीं सकता। कदाचित् भूख से पीड़ित होकर आप लोगों के पुत्रों का भक्षण करने लगूँ, इसलिए प्रातःकाल आप लोग हमारे मुख को बाँध कर जाइये। पक्षियों ने कहा कि हाय पिताजी! आप तो हमारे बाबा हैं, आपमें इसकी संभावना कैसे की जा सकती है? वृद्ध पक्षी ने कहा कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' भूखा प्राणी क्या पाप नहीं करता?' इस तरह प्रातःकाल सब पक्षी उस वृद्ध के कहने से उसके मुख को बाँधकर चले गये। वह बँधा हुआ वृद्ध पक्षी, सब पक्षियों के चले जाने पर अपने पैरों से मुख का बन्धन दूर कर उन पक्षियों के बच्चों को खा गया और जब उनके आने का समय हुआ तब फिर से पैरों के द्वारा मुख में बन्धन डालकर कपट से क्षीणोदर होकर पड़ रहा।

4. तदनन्तर मैं एक नगर में पहुँचा। वहाँ मैंने चौथा कपट देखा। वह इस प्रकार कि उस नगर में एक चोर तपस्वी का रूप रखकर तथा दोनों हाथों से मस्तक के ऊपर एक बड़ी शिला को उठाकर दिन में खड़ा रहता था और रात्रि में 'हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ' इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे 'असपर जीव' इस नाम से कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकान्त स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्ण से विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुष को उस शिला से मार डालता और उसका धन ले लेता था। इन चार तीव्र कपटों को देखकर मैंने यह श्लोक बनाया था-

अबालेति-पुत्र का स्पर्श न करने वाली स्त्री, तृण का घात न करने वाला ब्राह्मण, वन में काष्ठ मुख पक्षी और नगर में अपसर जीवक ये चार महाकपट मैंने देखे हैं।

ऐसा कहकर तथा कोट्टपाल को धीरज बँधाकर वह ब्राह्मण सींके में रहने वाले तपस्वी के पास गया। तपस्वी के सेवकों ने उसे वहाँ से निकालना भी चाहा, परन्तु वह राज्यन्ध बनकर वहीं पड़ रहा



और एक कोने में बैठ गया। तपस्वी के उन सेवकों ने 'यह सचमुच ही रात्र्यन्ध है यह नहीं' इसकी परीक्षा करने के लिए तृण की काड़ी तथा अंगुली आदिक उसके नेत्रों के पास चलायी, परन्तु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब बड़ी रात्रि हो गई तब उसने गुहा रूप अन्धकूप में रखे जाते हुए नगर के धन को देखा और उन लोगों के खान पान आदि को देखा। प्रातःकाल उसने जो कुछ रात्रि में देखा था उसे कह कर राजा के द्वारा मारे जाने वाले कोट्टपाल की रक्षा की। सींके में बैठने वाला वह तपस्वी उस कोट्टपाल के द्वारा पकड़ा गया और बहुत भारी यातनाओं से दुःखी होता हुआ मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार तृतीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

अब्रह्म-कुशील सेवन से निवृत्ति न होने के कारण यमदण्ड कोतवाल ने दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है-

यमदण्ड कोतवाल की कथा-आहीर देश के नासिक्य नगर में राजा कनकस्थ रहते थे। उनकी रानी का नाम कनकमाला था। उनका एक यमदण्ड नाम का कोतवाल था। उसकी माता अत्यन्त सुन्दरी थी। वह यौवन अवस्था में ही विधवा हो गई थी तथा व्यभिचारिणी बन गई थी। एक दिन उसकी पुत्रवधु ने रखने के लिए आभूषण दिया। उस आभूषण को पहिनकर वह रात्रि में अपने पहले से संकेतित जार के पास जा रही थी। यमदण्ड ने उसे देखा और एकान्त में उसका सेवन किया। यमदण्ड ने उसका आभूषण लाकर अपनी स्त्री को दिया। स्त्री ने देखकर कहा कि यह आभूषण तो मेरा है, मैंने रखने के लिए सास के हाथ में दिया था। स्त्री के वचन सुनकर यमदण्ड कोतवाल ने विचार किया कि मैंने जिसके साथ उपभोग किया है वह मेरी माता होगी। तदनन्तर यमदण्ड, माता के जार के संकेतगृह (मिलने के स्थान पर) पर जाकर उसका पुनः सेवन किया और उसमें आसक्त होकर गूढरीति से उसके साथ कुकर्म करने लगा।

एक दिन उसकी स्त्री को जब यह सहन नहीं हुआ तब उसने अत्यन्त कुपित होकर धोबिन से कहा कि हमारा पति अपनी माता के साथ रमता है। धोबिन ने मालिन से कहा और मालिन कनकमाला रानी की अत्यन्त विश्वासपात्र थी, वह उसके निमित्त फूल लेकर गई। रानी ने कुतूहल वश उससे पूछा कि कोई अपूर्व बात जानती हो? मालिन कोतवाल से द्वेष रखती थी, अतः उसने रानी से कह दिया कि देवि! यमदण्ड कोतवाल अपनी माता के साथ रमण करता है। कनकमाला ने यह समाचार राजा से कहा और राजा ने गुप्तचर के द्वारा उसके कुकर्म का निश्चय कर कोतवाल को पकड़ाया। दण्डित होने पर वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार चतुर्थ अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रह पाप से निवृत्ति न होने के कारण श्मश्रुनवनीत ने बहुत दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है-



श्मश्रुनवनीत की कथा- अयोध्या नगरी में भवदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था और पुत्र का नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह लुब्धदत्त व्यापार के निमित्त दूर गया। वहाँ उसने जो धन कमाया था वह सब चोरों ने चुरा लिया। तदनन्तर अत्यन्त निर्धन होकर वह किसी मार्ग से आ रहा था। वहाँ उसने किसी समय एक गोपाल से पीने के लिए छाछ माँगी। छाछ पी चुकने पर उसका कुछ मक्खन मूछों में लग गया। उसे देख उसने वह मक्खन यह विचार कर निकाल लिया कि इससे व्यापार होगा। इस तरह वह प्रतिदिन मक्खन का संचय करने लगा, जिससे उसका श्मश्रुनवनीत यह नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार जब उसके पास एक प्रस्थप्रमाण घी हो गया तब वह घी के बर्तन को अपने पैरों के समीप रखकर तथा शीतकाल होने से झोपड़ी के द्वार पर पैरों के समीप अग्नि रखकर विस्तर पर पड़ गया। वह विस्तर पर पड़ा-पड़ा विचार करता है कि इस घी से बहुत धन कमाकर मैं सेठ हो जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामन्त, महासामन्त, राजा और अधिराजा का पद प्राप्त कर क्रम से सबका चक्रवर्ती बन जाऊँगा। उस समय मैं सात खण्ड के महल में शय्यातल पर पड़ा होऊँगा। चरणों के समीप बैठी हुई सुन्दर स्त्री मुट्ठी से मेरे पैर दाबेगी और मैं स्नेहवश उससे कहूँगा कि तुझे पैर दबाना नहीं आता। ऐसा कहकर मैं पैर से उसे ताड़ित करूँगा। ऐसा विचारकर उसने अपने आपको सचमुच ही चक्रवर्ती समझ लिया और पैर से ताड़ितकर घी का बर्तन गिरा दिया। उस घी के द्वार पर रखी हुई अग्नि बहुत जोर से प्रज्वलित हो गई। द्वार जलने लगा, जिससे इच्छाओं के परिमाण से रहित वह निकलने में असमर्थ हो वहीं जलकर मर गया और दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार पंचम अव्रत की कथा पूर्ण हुई। 165 ।।

बन्धुओ! सदैव पाप का फल दुःख, दुर्गति में गमन, अपमान-तिरस्कार, आदि ही देखे जाते हैं कहा भी गया है “दुःखमेव वा”। तथा दूसरी ओर पापों से विरति अर्थात् व्रतों का निरतिचार फल सुख-शान्ति, स्वर्गसम्पत्ति, सम्मान-प्रतिष्ठा यशस्वीर्ति मिलता है। एक शीतल वृक्ष की छाया है तो दूसरा जेठ की तपन, आपको विचार करना है आपको व्रत रूपी जेठ की तपन अर्थात् दुःखों का पहाड़ चाहिए या सुख की छाया। निश्चित ही आप सभी पाँच व्रतों में तुलना कर पाप त्याग कर व्रतों को धारण कर अनन्त सुख को प्राप्त करें।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 पार्श्वनाथ भगवान की जय”





प्रवचन-61
श्लोक-66

मूलगुण ये श्रावक के

भव्य बंधुओ! परम पूज्य आचार्य समंतभद्र ऐसे महान दिगम्बराचार्य हुए जिन्होंने आगम-सिद्धांत-न्याय आदि जटिल विषयों से लेकर श्रावकाचार जैसे सरलतम विषयों का व्याख्यान भी अपनी तर्क-युक्ति रूपी कसौटी पर कस कर किया है। उक्त ग्रंथ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में श्रावकाचार की पद्धति, आचरण, जीवनचर्या का संक्षेप-सारगर्भित कथन किया है। अभी तक पाँच अणुव्रतों का स्वरूप तथा अतिचार का वर्णन करने बाद पूज्य आचार्यश्री अष्टमूलगुण का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

मद्य-मांस मधु त्यागैः, सहाणुव्रत पंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहु, गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥66॥

अन्वयार्थ-	मद्य मांस मधुत्यागैः सह	-	मद्य मांस, मधु त्याग सहित
	अणुव्रत पंचकम्	-	पाँच अणुव्रतों को
	श्रमणोत्तमाः गृहिणां	-	गणधरादि आचार्य गृहस्थों के
	अष्टौ मूल गुणान्	-	आठ मूलगुण
	आहुः	-	कहते हैं

अर्थ-भगवान् जिनेन्द्र देव मद्य त्याग, मधु त्याग, मांस त्याग के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं।

बंधुओ! 'अणुव्रतपंचकं' पाँच अणुव्रत अर्थात् अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रहपरिमाणानुव्रत सह के साथ 'मद्य-मांस-मधु' अर्थात् मद्य (शराब) मधु (शहद), 'त्यागैः' का त्याग ये आठ श्रावकों के अष्टौ मूलगुणान् अष्टमूलगुण है या 'गृहिणां-गृहस्थों' के अर्थात् जो गृहस्थ इनका विधि अनुसार पालन करता है वह श्रावक है 'आहुः'-कहा है, 'श्रमणोत्तमाः'-जो श्रमणों यानि मुनियों में उत्तम है ऐसे तीर्थंकर भगवंतों ने।

पाँच अणुव्रत के बाद, आठ मूलगुण का कथन किया गया, लगता है इसमें जरूर आचार्य महाराज का कोई रहस्य अवश्य है क्योंकि आठ मूलगुण के बाद पंचाणुव्रत का कथन किया जाना



चाहिए। जब चिंतन होता है तो लगता है इसका रहस्य यही है कि जैनदर्शन मुख्यतः द्रव्य, भाव साधना पर आश्रित है जिस प्रकार एक रथ चलाने के लिए कम से कम दो पहिये चाहिए। एक पहिए वाला रथ चल नहीं पाता। उसी प्रकार धर्म रथ साधना के लिए भी द्रव्य-भाव रूपी दो पहिये जो है, वे दोनों आवश्यक है। द्रव्य को साधन, भाव को साध्य कहा है। कहीं दोनों को साधन तथा होने वाली उपलब्धि को साध्य कहा है आचार्य ब्रह्मदेव सूरी ने वृहद द्रव्य संग्रह टीका में लिखा है कि -द्रव्य साधना-साधन है, भाव साधना साध्य है। साध्यभूत भाव साधना की प्राप्ति एवं रक्षा हेतु यति द्रव्य साधना को प्राप्त करते है। द्रव्य साधना आधार है तभी साध्य की सिद्धि आसान है अन्यथा कठिन। पूज्य आचार्य महाराज का यही आश्रय है कि जो पाँच अणुव्रतों को समझता है वहीं आठ मूलगुणों को समझ सकता है। जो हिंसा को नहीं समझता वह मद्य, मांस, मधु को भी त्याग नहीं सकता। दो विषय है प्रथम-हिंसा, द्वितीय-मद्य, मांस, मधु। तो पहले किसे समझाएंगे तो पहले ज्ञानी हिंसा को समझाता है। हिंसा समझे बिना यह संभव नहीं। इसलिए प्रथम अहिंसाणुव्रतादि का उपदेश दिया।

बंधुओ! श्रावकाचार की नींव का पहला पाषाण पहली ईंट क्या है? आचार्य समंतभद्र ने कहा कि वे आठ मूलगुण है। जिसप्रकार नींव के बिना महल का अवसान संभव नहीं, वह ठहर नहीं सकता। उसी प्रकार आठ मूलगुण के बिना श्रावक धर्म नहीं और कितनी भी त्याग, तपस्या, पूजा करता है तो यह संभव नहीं, इसका अर्थ यह नहीं उसके बिना वे अस्तित्व नहीं रखेंगे। नींव जड़ नहीं, बीज बोया नहीं तो पौधा ठीक कैसे रह सकता है। यही नींव एवं मकान का संबंध है। मकान जितना ऊँचा चाहिए तो तदनु रूप नींव मजबूत होनी चाहिए। दो चार मंजिल बनाना हो नींव कमजोर हो तो भी भार को संभाल नहीं सकती। श्रावक धर्म का महल बनाता है, नींव नहीं तो गिर जायेगा। मूलगुण के नियम नहीं ले सकता, तो मूलगुण के बिना पूजा प्रारंभ नहीं हो सकती जिस प्रकार बिना अंक के जीरो (0) की कीमत नहीं। आठ मूलगुण के बिना, पूजा तथा त्याग आदि की कीमत नहीं। अष्ट मूलगुण का पालन नहीं करते, और आलू-प्याज का त्याग कर दूंगा। तो आवश्यक है मूलगुण। जैनाचार्यों ने मूलगुण का भिन्न-2 वर्णन किया है। आचार्य समंतभद्र ने 5 अणुव्रत एवं 3 मकार का त्याग इसे मूलगुण कहे है। जिनसेनाचार्य ने 5 उदम्बर, 3 मकार का त्याग इसे अष्ट मूलगुण कहा है। पंडित-आशाधरजी ने सागार धर्मावृत में रात्रि भोजन त्याग, पंच परमेष्ठी भक्ति, पानी छानना, मद्य, मधु, मांस, पाँच उदम्बर का त्याग, जीव दया का पालन, गिनाये हैं। यदि 8 मूलगुण धारी है तो वह भी आहार देने का अधिकारी है। अन्यथा नहीं।

बंधुओं! आचार्य भद्रबाहु आहार कर लौट रहे थे तो रास्ते में एक घर में एक बालक पालने में पड़ा रो रहा था उस बालक के जाओ-जाओ के शब्द निकल रहे थे, वे विसमित हुए। निमित्त ज्ञानी आहार के समय निमित्त ज्ञान नहीं लगाते, लेकिन फिर भी सोचते है। यहाँ अकाल पड़ने वाला है धर्म का विनाश होगा, श्रावकों का अस्तित्व भी नहीं रहेगा। पूछते है कब तक? वह कहता है-12-12। वे



समझ जाते हैं 12 वर्ष तक अकाल पड़ेगा। लौटकर चतुर्विध संघ को बुलाते हैं उनके संघ में 2400 साधु थे, जानकारी देती है। चर्चा राज्य में भी फैल जाती है कुछ लोग पक्ष में तथा कुछ विपक्ष में थे। श्रेष्ठी वर्ग ने कहा कि हमारे पास पर्याप्त भंडार की व्यवस्था है, आप यही रुकें। आचार्यश्री भद्रबाहु कहते हैं भण्डार पेट भर सकते हैं पर धर्म की रक्षा संभव नहीं। कुछ आधा संघ यही रुकने तैयार हो गया। पर 1200 शिष्य भद्रबाहु महाराज के साथ विहार करते हैं मध्य में वे निमित्त ज्ञान से जानते हैं कि आयु सीमित है, सारे संघ को आगे विहार का आदेश देते हैं और कहते हैं यही समाधि सल्लेखना की साधना करूंगा परंतु शिष्य समूह तैयार नहीं, कौन शिष्य होगा जो गुरु को छोड़ने तैयार होगा। फिर गुरु आज्ञा थी, जाना ही पड़ा। पर लघु शिष्य मुनि चन्द्रगुप्त नहीं माने और वहीं रुक जाते हैं। एक दिन आचार्यभद्रबाहु ने कहा-चन्द्रगुप्त आहार के लिए जाइए। गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं वे जाते और वापिस लौटकर आ जाते हैं। गुरु ने पूछा आहार हुआ? तो वे कहते वहाँ जंगल ही जंगल था नगर दूर-2 तक नहीं। दूसरे दिन भी तो उन्हें नगर मिलता, आहार सामग्री मिलती पर देने वाला कोई नहीं। ऐसे ही क्रमशः लोग मिलते पर पडगाहन विधि नहीं जानते, फिर पडगाहन विधि हो रही पर अकेली महिला मिलती है महाराज अकेले विषमलिंगी से नहीं पडगते, ऐसे कई दिन बीतने के पश्चात् सभी अनुकूलता मिलने पर उनका निरंतराय आहार होता है इस प्रकार 12 वर्ष व्यतीत हो गए, इसी मध्य आचार्यभद्रबाहु की सल्लेखना भी हो गई पर वे वही उनकी चरणों की वंदना करते हुए रुक रहे हैं। 12 वर्ष पश्चात् सारा 12000 साधुसंघ लौट आता है, चन्द्रगुप्त मुनि से सभी मिलते हैं और आहारचर्या के लिए जाते हैं विशाल नगर अनेकों चौके कितना आनंदभरा दृश्य होगा एक साथ 12000 साधु चर्या के निकले होंगे जब। पर आहार के पश्चात् एक महाराज अपना कमण्डल भूल आते हैं पुनः लेने जाते हैं तो वहाँ कोई नगर-चौके नहीं थे पर एक वृक्ष पर उनका कमण्डल टंगा हुआ था, उठाकर, संघ में लौटकर सारा समाचार अपने आचार्यश्री को बताते हैं।

बंधुओ! यह चन्द्रगुप्त मुनि की गुरुभक्ति तथा पुण्य का प्रभाव था कि देवतागण निरन्तर सेवा करते थे। यद्यपि मुनिराज देवों से आहार नहीं लेते। क्यों? क्योंकि वे अष्टमूलगुण धारण नहीं कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त भी प्रायश्चित्त लेते हैं। श्रावक के धर्म का प्रतीक अष्टमूलगुण तथा यज्ञोपवीत है जिसे देखकर साधु समझ जाते हैं कि यह आहार दे सकता है। प्रायः अष्टमूलगुण का पालन जीवनपर्यंत ही होना चाहिए पर “कीजे शक्ति प्रमाण” सीमा बांध लेना चाहिए। तभी आहार दे सकते हैं।

यहाँ गाथा में मद्य को ही प्रथम रखा गया क्यों? क्योंकि शराब ऐसा व्यसन है कि जिससे प्रभावित व्यक्ति मांसादि सातों व्यसनो का सेवन करने लगता है। शास्त्रों में एक ब्राह्मण की कथा प्रसिद्ध ही है। शराब मस्तिष्क को विकृत कर देती है। जब विचार पवित्र नहीं तो आचरण शुद्ध कैसे होंगे? जिसने शराब का त्याग किया तो उसे समझाना आसान है क्योंकि जो नशे में बैठा हो उसे समझाया नहीं जा सकता। शराब पीता रहे तो श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं। शराब त्याग नहीं तो जैन लिखना छोड़ देना चाहिए। जैन धर्म महानधर्म है जैन है तो मद्यादि का सेवन न करे, जिन



भगवान की माने। एक बार विहार करते समय 1 कि.मी. दूर से बदबू आने लगी। हम समझे बूचड़खाना होगा। लोगों ने कहा-यहाँ शराब की फैक्टरी है। जैसे-जैसे निकट पहुँचे तो खाइयों-गद्दों में काला पानी भरा बह रहा था। फैक्टरी मालिक का परिचय दिया कि आसपास की जमीन-खेत खरीद लिए हैं क्योंकि जहाँ-जहाँ तक यह पानी पहुँचता है वहाँ की मिट्टी की उर्वरकता समाप्त हो जाती है। आचार्य समंतभद्र कहते हैं-जो मिट्टी को खराब कर सकती है तो पेट में जा अंतरंग की निर्मलता, ऋजुता, पवित्रता, विशुद्धि, धार्मिकता आदि गुणों को क्या रहने देगी? नहीं। तभी तो एक शराबी धर्म से दूर भागता है और चाहे भी करना तो भी नहीं करने देना चाहिए। हरिजन की तरह उसकी सीमा होना चाहिए क्योंकि उसका आचरण उसी कोटि का है। साधर्मी ऐसे व्यक्ति के साथ भोजन नहीं करते, उसके साथ उठना-बैठना पसंद नहीं करते।

बंधुओ! एक बार फैक्टरियों से आइडिया लिया गया-तो जाना कि सड़े-गले फल, महुआ, धान आदि को लेकर सभी विभागों में सड़ाया जाता है अन्यथा मादकता आ नहीं सकती। महिनों पर्यंत सड़ते हैं जिसमें त्रसजीव बिलविलाने लगते हैं। मशीन से रिफाइन करते हैं तो वे सभी स्वाहा हो जाते हैं दुर्गंध दूर करने के लिए केमिकल्स मिलाए जाते हैं। शराबी भी यदि निर्माण की पद्धति देखे तो वह भी नहीं पियेगा। निर्माण में असंख्यात जीवों की हिंसा तथा शीशी में भी निरंतर जीवों की उत्पत्ति और हिंसा होती है। जो शराब के नशे में रहता है उसे होश नहीं रहता, माँ को पत्नि, पत्नि को माँ समझता है।

अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने आविष्कार किया कि दौ सौ छात्र जो शराबी थे उनका दिमाग अलग तथा कुछ उसके त्यागी थे उनका अलग। दोनों का समय-2 पर परीक्षण किया तो पाया कि शराब त्यागी छात्र स्वस्थ थे बुद्धि विकास अधिक था उस पर थीथस लिखी गई कि शराबी व्यक्ति की बुद्धि क्षीण होती है, आलस, तंद्रा अधिक। शराब में 17 प्रकार के जहर होते हैं शारीरिक-मानसिक कैंसर आदि बीमारियों में सहायक होते हैं फेफड़ों-गुर्दों-किडनी आदि को खराब कर देते हैं। न जाने कितना वर्णन किया तब 90 प्रतिशत छात्रों से उसका त्याग कर दिया। प्रतिज्ञा ली कि देश की सेवा करेंगे, शराब मुक्ति हेतु आंदोलन करेंगे।

बंधुओ! मद्य से धर्म-धन-जन की हानि होती है शास्त्रों में यादवों की कथा मद्य में प्रसिद्ध है। सारांश यही निकला कि द्वीपायन मुनि के द्वारा सारी द्वारिका जल गई थी। अतः आध्यात्मिक हो या सामाजिक शारीरिक सभी दृष्टियों से शराब हेय ही है। उसका त्याग करना चाहिए।

मांस त्याग अगला अणुव्रत है त्रस जीवों के कलेवर को मांस कहते हैं। लोग विवर्तक करते हैं कहते हैं फल सब्जी क्या मांस नहीं? नहीं, ये मांस नहीं क्योंकि इसका निर्माण रक्तादि सात धातुओं से नहीं होता, अतः वनस्पति मांसाहार नहीं, शाकाहार है। जैन ही नहीं जैनैतर शास्त्रों में भी कहा गया कि-मांस खाने वाला व्यक्ति 1000 यज्ञ करा ले, सैकड़ों तीर्थों की यात्रा कर लें। 1000 गायों तथा ब्राह्मणों को खाना खिला दे तो भी उस पाप को धो नहीं सकता। गुरुनानक ने कहा-यदि कपड़े में खून



लग जाए तो हम तुरंत धो देते हैं, यदि वह खून हृदय तक पहुंच गया तो हृदय पवित्र कैसे रहेगा। दयानंद सरस्वती कहते थे-मृत्यु के पश्चात् शव को घर में नहीं रखना चाहिए कब्रिस्तान ले जाना चाहिए। पर जिसने प्राणियों के शव (मांस) को पेट में ही रख लिया तो उसका पेट ही कब्रिस्तान से कम नहीं है।

कुछ लोग मांस नहीं खाते पर शाकाहारी अण्डे खाते हैं। कितनी गलत धारणा है अण्डे वह भी शाकाहारी। तो भैया चाहे निषेचित हो या अनिषेचित दोनों ही अण्डे मांसाहार ही हैं। रसना इन्द्रिय में आसक्त हो दया, धर्म को मत छोड़ो। विदेश में एक बार गांधीजी के स्वास्थ्य खराब होने पर अण्डा का सेवन बताया गया था तो उन्होंने कहा था-मुझे मरना मंजूर है पर धर्म छोड़कर अण्डे खाना मंजूर नहीं। वे जैन नहीं थे फिर भी जैन धर्म पालते थे। पर आज व्यक्ति जैन होकर भी धर्म को छोड़कर भौतिकता में आकर मांस खाने लग जाए अण्डे खाने लग जाए, तो वह जैन, श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं।

मधु त्याग अगला मूलगुण है। मधु का निर्माण भी बहुहिंसा बिना संभव नहीं। मधुमक्खी पराग के छत्ते में उगलती है उस वमन में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं लोग शहद के लिए आग लगा देते हैं फिर उसे नीचोते हैं जिससे सारी मधुमक्खियाँ खत्म हो जाती हैं तब शहद निकलता है। एक बार व्यक्ति ने पूछा-तो क्या महाराज स्वतः टपकने वाले शहद का सेवन कर सकते हैं? तो नहीं। सात गांव के जलाने में जितना पाप लगता है उतना पाप एक बूंद शहद खाने में लगता है। अतः उसका भी त्याग करना चाहिए।

शास्त्रों में आता है कि जब एक नवजात शिशु 45 दिन का हो जाता है तो उसे मंदिर लाकर दर्शन कराया जाता है उपरांत प्रतिष्ठाचार्य आदि कान में णमोकार सुनाते हैं, सिर पर साधिया बनाकर शेषाक्षत - गंधोदक छिड़कते हैं। माँ से कहते हैं तुम्हें 8 वर्ष तक इसे 8 मूलगुणों का पालन कराना है तथा आपको भी पालन करना माता-पिता नियम ले कायोत्सर्ग करते हैं। आठ वर्ष के होने पर पुनः उस बालक को नियम दिलाते हैं तब कहीं वह श्रावक संज्ञा को प्राप्त होता है। प्रश्न हो सकता है 8 वर्ष में ही क्यों? क्योंकि उसी उम्र में देशसंयम पालने की योग्यता हो सकती है। 8 मूलगुण ही क्या वह तो 28 मूलगुण भी प्राप्त कर सकता है। जिनसेनाचार्य तो आजीवन नग्न रहे अर्थात् 8 वर्ष तक कपड़े नहीं पहने और फिर दीक्षा ले ली। हम भी इन आठ मूलगुणों के बीजवत् अपने बच्चों में अवश्य संस्कारित कराये। जब जागे तभी सवेरा अर्थात् स्वयं भी पालन करे। मूलगुण होंगे तो ही धर्म तथा धर्म का फल मोक्ष मिलेगा क्योंकि मूलगुण नींव, जड़ है उसके होने पर ही वृक्ष फलीभूत होता है। मंजिल खड़ी होगी। तभी आपका कल्याण हो सकेगा।

इसी भावना के साथ-

“श्री 1008 मल्लिनाथ भगवान की जय”

**उपसर्ग विजेता परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी महाराज द्वारा
लिखित, सम्पादित एवं संकलित तथा श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग
विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित प्रवचन सत् साहित्य**

पुष्प नं.	नाम	मूल्य
-----------	-----	-------

लेखन साहित्य - (संस्कृत टीका साहित्य)

1. **सर्वोदयी संस्कृत टीका (बारसाणुवेक्खा)** 150
परम पूज्य आचार्य कुंदकुंद स्वामी के 2000 वर्ष प्राचीन बारसाणुवेक्खा ग्रन्थ पर 'प्रथम बार' लिपिबद्ध की गई 'सर्वोदयी संस्कृत टीका'। जो कि 21वीं सदी की प्रथम विशद व्याख्यान सहित टीका है। जिसमें सभी अनुयोगों के अनेक ग्रन्थों से लिए गए आगमोक्त प्रमाणों के साथ मर्मस्पर्शी, विशद् तथा सरस, सुगम व्याकरण की परिशुद्धता के साथ-साथ अनेक उद्धरण व नवीन चिन्तनों को अनुपम लेखन शैली के माध्यम से आगम के अमृत को परोसा गया है। इस ग्रन्थ का विषय विश्लेषण आध्यात्मिक विकास का अमोघ सोपान है मात्र 3 माह 18 दिन में परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज द्वारा रचित यह कृति अपने सरलीकरण एवं भाषा सौष्ठव के कारण न केवल जनमानस अपितु बड़े-बड़े मूर्धन्य विद्वानों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनेगी।
2. **रत्नत्रय वर्धनी संस्कृत टीका—(रयणसार)** 25
आर्ष परम्परा के उद्भट आचार्य श्री कुंद-कुंद महाराज द्वारा रचित 2000 वर्ष प्राचीन रयणसार जी ग्रन्थपर प्रथम बार अपनी अनुपम लेखन रचना चातुरी का प्रयोग कर 'रत्नत्रय वर्धनी टीका' का प्रणयन कर परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज ने अपने अंक परिश्रम व श्रुत भक्ति से प्रेरित होकर किया है जिसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग सरल व स्वभाविक ढंग से कर उसे एक उत्कर्ष प्रदान किया है, जो आगमिक प्रमाणों से समन्वित, सुयुक्तिक, तथा गूढात्मक विषयों का स्पष्टीकरण सहित है। जिसे अंकलेश्वर से प्रारम्भ कर मात्र 9 माह 15 दिन की अल्प अवधि में गाँधीनगर (गुजरात) को पुण्य धरा पर पूज्य आचार्य श्री ने इसे पूर्ण किया है तथा आगम के मंथन से प्राप्त सुन्दर चिन्तनों रूपी मखन को रत्नत्रय वर्धन हेतु हम भव्यों को परोस कर अनन्य उपकार किया है। यह टीका अपने सरलीकरण व हृदय स्पर्शी चिन्तनों के कारण दिग् दिगन्त में जयवन्त रहेगी।
- (शोधपूर्ण साहित्य)**
3. **शुद्धोपयोग** 40
शुद्धोपयोग विषयक भ्रान्तिओं का जड़ से उन्मूलन करने वाली, लगभग 51 शास्त्रों के अन्वेषणपूर्ण गहन-मनन चिन्तन तथा उनके लगभग 315 उद्धारणों से निर्मित आगमोक्त प्रमाणों से युक्त शोधपूर्ण कृति। जिस पर देश के विभिन्न प्रान्तों के लगभग 150 से अधिक मूर्धन्य विद्वानों के समीक्षात्मक श्लाघनीय अभिमत प्राप्त हुए। जिसके अध्ययन से विद्वान् जगत् को एक सम्यक्दिशा का बोध मिला।
4. **सम्यग्दर्शन** 35
द्वितीय शोधात्मक कृति, जिसमें सम्यग्दर्शन विषयक अनेकानेक शंका-समाधानों तथा आगमिक और अध्यात्म भाषा के द्वारा साराग-वीतराग, निश्चय-न्यवहार, प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम आदि लाक्षाणिक भेद-प्रभेद, उत्पत्ति आदि गहन विषयों का लगभग 54 आगमोपदिष्ट शास्त्रों के 322 उद्धरणों से पूरित, मिथ्यात्वांधकार का विनाश कर आत्मरुचि रूप सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने वाली अमूल्य कृति है।
5. **आगम चक्खू साहू** 22
दिगम्बर मुनियों की समाचार विधि, आर्यिका चर्या, पात्रभक्ति तथा यज्ञोपवीत सम्बन्धी विषयों पर देश-समाज-संघ की पंथ-परम्परा के हठाग्रह से दूर, लगभग 150 ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से निकाले गए 257 उद्धरणों से परिपूर्ण संघस्थ साधु-साध्वियों की तत्त्ववार्ता रूप में एक अतिशयवान् आगमोक्त शोधपूर्ण कृति।
6. **सल्लेखना से समाधि** 30
आराधना, समाधि सल्लेखना विषयक लगभग 168 विषयों पर, भगवती आराधना आदि 25 शास्त्रों के खोजपूर्ण,

	अनेकानेक उद्धरणों से युक्त, मृत्यु महोत्सव की कला सिखाने वाली शोधपूर्ण अद्भुत कृति। जिसमें क्षपक निर्यापकों तथा निर्यापकाचार्य की क्रियाविधि, सल्लेखना-आत्मघात नहीं आदि भ्रान्तियों का निर्सन करने वाली सुन्दर यह प्रस्तुत कृति अति प्रशंसनीय है।	
7.	संत साधना के प्रेरक प्रसंग साधना काल के दौर में गुजरते महत्त्वपूर्ण निज अनुभवों, प्रसंगों का लेखन। जिसमें साधक के पूर्व व पश्चात् परिणति, आत्मप्रभावना से दूर धर्मप्रभावना ख्याति की भावना क्यों? कैसे होती है? इन सब वास्तविक स्थितियों का अनुभव परक लेखन है।	20
8.	परम दिगम्बर जैन मुनि (हिन्दी, मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी) सम्प्रति काल में दक्षिणभारत जैसे देश के अनजान लोगों के लिए दिगम्बर संतों की अचल साधना-आराधना, परिचर्या, गरिमा-महिमा तथा उनके सम्मान व निंदा के फलों को परिज्ञान हेतु लगभग 68 ग्रन्थों के तथा अन्य पत्रकों के आलेखन कर अथाह कठोर प्रयास से इस शोधपूर्ण कृति का सृजन हुआ। जिसमें हिन्दू, इस्लाम, सिक्ख, बौद्ध आदि धर्मों ने भी दिगम्बर मुनियों का समय-समय पर सम्मान किया है इसका विवरण है।	45
9.	सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म (हिन्दी, अंग्रेजी) यह कृति जैनधर्म का गागर में सागरवत् संक्षिप्त परिचय के साथ ग्रन्थों-पुराणों-कुराणों, उपनिषदों, इतिहास के पन्नों, प्राचीन-पुरातत्व विभागों, दर्शनों तथा विदेशी विद्वानों की दृष्टि में भी शाश्वत दिगम्बर जैन धर्म का सार्वभौमिक सम्मानीय अस्तित्व को उजागर करने वाली अलखक दीपस्तंभ सदृश। पूज्य गुरुवर द्वारा लिखित धर्म की असीम व्याख्याओं से परिपूर्ण है।	30
10.	तीर्थकर दिव्य दर्शन हमारे तीर्थकर भगवतों के जीवन चरित्र से परिचित/अवगत कराने वाली लगभग 200 प्रश्नों के समाधान एवं त्रेसठ शलाका पुरुषों के विषय में विस्तृत अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों से पूर्ण, जानकारी के साथ यह एक अनमोल, सारगर्भित कृति है।	30
11.	तीर्थकर दर्शन तीर्थकर दर्शन पर ही आधारित 24 तीर्थकरों के परिचय से परिपूर्ण लघु कृति है।	
12.	व्यसन विचार (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी) व्यसन मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्श कराने वाले हिन्दी, मराठी, इंग्लिश, भाषाओं में रूपान्तरित सामायिक उत्थान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें व्यसन से होने वाली हानियों तथा उनमें प्रसिद्ध व्यक्तियों की भयानक स्थितियों का चित्रण, आगम-विज्ञान तथा महापुरुषों के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।	25
13.	फूल नहीं, है काटें सप्त व्यसनों का ज्ञान, त्याग से लाभ-हानि, सम्बन्धित कथाओं का विवरण।	
14.	संस्कार सुरभि (हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी) बालकों के लौकिक विकास के साथ नैतिक विकास में सहायक एक सुरभि वत् बेहतरीन कृति है जिसमें माता-पिता एवं बालकों के जीवनोपयोगी दैनिक चर्या तथा कर्तव्यों, संस्कारों का सम्यक् प्रकार से बोध कराया गया है।	18
15.	जिनेन्द्र दर्शन, जिनेन्द्र पूजन एक श्रावकोचित् प्रभावक कृति, जिसमें सदगृहस्थ के आवश्यक करने योग्य भगवान् के दर्शन-पूजन की सागोपांग विधि का वर्णन है।	10
16.	आध्यात्मिक शंका-समाधान शोधात्मक/खोजात्मक आयामों से परिपूर्ण, पक्षव्यामोह, दुराग्रह से दूर आगमोक्त अध्यात्म में प्रवेश कराने वाली एक लघु कुंजीवत्, साधनोपयोगी शोधपूर्ण कृति है। जिसमें नय, निश्चयनय, व्यवहारनय आदि 12 विषयों का पूर्ण विवरण 358 प्रश्नों के समाधान रूप में लगभग 42 शास्त्रों के अन्वेषण मनन से किया गया है।	30
17.	आध्यात्मिक तत्त्व-चर्चा आगम और अध्यात्म के विवादग्रस्त विषयों पर तुलनात्मक अध्ययन रूप में एक वार्ता। जिसमें मुख्यतः मोक्ष मार्ग विषयक 17, सम्यक्त्व विषयक 45, स्वात्मानुभूति विषयक 56-62 तथा स्वरूपाचरण विषयक 63-83,	18

शंकाओं के समाधान का तत्पनिक युक्ति से दूर, आगम प्रमाणों से किया गया है। इस कृति का उद्देश्य शिष्यों तथा साधकों को ठोस ज्ञान से परिपक्व कराना है।

18. श्रमण आहार चर्या

श्रावकों के मुख्य कर्तव्य दान विषयक सभी शोधात्मक गूढ़, आवश्यक जैसे सोला, पात्र, दान, देय, दाता, विधि, चौका, मर्यादा, जल गालन विधि, चौका सम्बन्धी आदि आवश्यक विषयों पर आगमिक संदर्भों द्वारा अन्वेषणात्मक लेखन।

(चिंतन साहित्य)

19. चैतन्य चिन्तन भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी)

भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी)

भाग-3 (हिन्दी, अंग्रेजी)

साधकोचित् पूज्य गुरुवर के निज आत्मचिन्तन की सरिता से उद्भूत हुए रत्नों सम चिन्तवनों का लेखन।

(बालोपयोगी साहित्य)

20. बाल विज्ञान भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड, मराठी, गुजराती)

भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी)

10

भाग-3

10

भाग-4

धर्म परिज्ञान के प्रथम सोपान के रूप में बालकों तथा युवाओं के लिए प्रारम्भिक क्रमशः जानकारी से परिपूर्ण कृति है। जो हिन्दी, इंग्लिश, मराठी, कन्नड, गुजराती भाषा में रूपान्तरित हो जन-जन में लोकप्रिय है।

21. कर्म विज्ञान भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी)

40

भाग-2

44

भाग-3

हिन्दी, इंग्लिश भाषा में उपलब्ध, करणानुयोग में प्रवेश करने के इच्छुक स्वाध्यायप्रेमियों के लिए यह प्रथम पायरी है जिसमें कर्मसिद्धान्त विषयक प्रारम्भिक विषयों का सरल ढंग से लेखन किया गया है।

(कथा साहित्य)

22. नैतिक कथा मंजूषा भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी)

30

भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी)

30

आगमोक्त रुचिकर श्रेणिक चारित्र पर आधारित कथाओं का जनमानस में परिज्ञान कराने के लिए विभिन्न शास्त्रों से संकलित कर शिक्षाप्रद-बोधपूर्ण रूप में लिखी गई कथाओं का संग्रह। जिससे समाज में नैतिकता-धार्मिकता का विकास हो सके।

(अनुवाद साहित्य)

23. वारसाणुवेक्खा

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी रचित वारसाणुवेक्खा ग्रन्थ का सरल सुबोध अनुवाद।

24. परमरत्नार्चना संग्रह

विनयपाठ से अर्घावलि, विसर्जन पाठ तक सम्पूर्ण पूजाविधि का अर्थ-अनुवाद।

25. सामायिक पाठ (हिन्दी, गुजराती)

सम्पूर्ण आद्योपांत सामायिक विधि एवं सामायिक पाठ का अन्वयार्थ तथा भावार्थ।

(पद्य साहित्य)

26. भावों के विशुद्ध क्षण

साधना काल के अमूल्य विशुद्ध अनुभवों-क्षणों का पद्यरचना लेखन।

27. मुक्ताञ्जलि—

भाग-1

10

भाग-2

10

अनेकानेक शिक्षापूर्ण मुक्तकों के लेखन का संग्रह।

28. नव देवता निर्वाण क्षेत्र पूजा

पूज्य गुरुवर द्वारा रचित नवदेवता निर्वाण क्षेत्र पूजा।

(संकलित/सम्पादित साहित्य)

29. साधना से समाधि

समाधि सल्लेखना के

30.	विमल नित्य पाठावलि	80
	जिनेन्द्र पूजन सामायिक, प्रतिक्रमण आदि विषयों का संक्षिप्त रूप से संकलन।	
31.	आराधना	35
	श्रमणों व श्रावकों द्वारा किये जाने वाले नित्योपयोगी संस्कृत के पाठों का संकलन।	
32.	सुभाषित सहस्रं	40
	नैतिक व धार्मिक मर्मों से परिपूर्ण सहस्र सुभाषित गाथाओं का संकलन।	
33.	आप्त अर्चना	
	जिनेन्द्र पूजन-पाठ आदि का संकलन।	
34.	मानतुंग की अमर भक्ति (सचित्र भक्तामर)	65
	भक्तामर स्तोत्र के काव्यों, यन्त्रों-मन्त्रों के सचित्र सुन्दर चित्रण।	
35.	साधना	30
	जनोपयोगी हिन्दीभाषा के अनेक पाठों का संकलन।	
36.	अनुप्रेक्षा	10
	आत्मचिन्तनोपयोगी अनित्यादि बारह भावनाओं की गाथाओं का अर्थ सहित संकलन।	
37.	जिनागम दीप	251
	आगम के नित्य पठनीय 25 ग्रन्थों का अर्थ सहित सम्पादन।	
38.	सम्मेद शिखर विधान	—
	तीर्थराज सम्मेदशिखर जी विधान का संकलन।	
39.	चारित्र शुद्धि व्रत	25
	चारित्रशुद्धि व्रत की पूजा, जाप तथा कथादि की जानकारी का संकलन।	
40.	करुणामूर्ति सन्त	100
	करुणा अवतारी परम पूज्य आचार्यश्री 108 विमलसागर जी महाराज की जीवनी का संकलन।	
41.	तपस्वी सम्राट	10
	तपस्वी सम्राट प.पू. आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज के जीवन का लेखन।	
42.	यज्ञोपवीत विधि	
	यज्ञोपवीत संस्कार विधि की उपयोगिता, महिमा तथा ग्रहण विधि का संकलन।	
43.	साधना के सोपान	—
44.	पदम् पुराण प्रश्नोत्तरी	100
	पद्मपुराण ग्रंथ पर आधारित प्रश्न-उत्तररूप में ग्रंथ का सुन्दर विस्तृतिकरण। लघु समय में सम्पूर्ण ग्रंथ की जानने की उत्तमविधि।	
45.	स्तोत्र भारती	50
	श्रमण एवं श्रावकों के प्रतिदिन उपयोग आने वाले महत्वपूर्ण संस्कृत स्तोत्रों का अन्वयार्थ तथा भावार्थ सहित सुन्दर संकलन एवं सम्पादन (एकांकी/नाटक साहित्य)	
46.	सत्यमित्र-सत्यदृष्टि	
	पूज्य गुरुवर द्वारा रचित पात्रों की मुख्यता से नाटक का लेखन।	
47.	प्रसुम्न हरण	
	प्रसुम्न हरण, नामक नाटक का लेखन, जिसमें पात्रों के पाठकों का अलग-अलग विवरण है। (पूज्य आचार्य श्री पर आधारित साहित्य)	
48.	विरागाभिवंदन अभिनंदन भाग-1, 2	
	सर्वाधिक पृष्ठों वाला, विभिन्न स्तरीय साधकों, भक्तगणों आदि के पूज्य गुरुवर की आलौकिक व्यक्तित्व छटा पर हृदयोद्गारों का संकलित, सचित्र/राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा वर्ष की बेला में प्रकाशित वृहद् दर्पण जीवनी।	

	निस्पृही संत भाग-1-2	60
	जन्म से सम्प्रतिकाल तक के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र का साहित्यिक सुबोध लेखन।	
50.	विराग सेतु (महाकाव्य) (हिन्दी, गुजराती, प्राकृत) भाग-1	100
	विराग सेतु (महाकाव्य) भाग-1-2	
	प्राकृत भाषा की पद्यरचना से गुंथित पूज्य गुरुवर के आदर्शमयी जीवन पर महाकाव्यमयी रचना।	
51.	संत काव्य की परम्परा में आचार्य विरागसागर	65
	पूज्य गुरुवर के व्यक्तित्व व कृतित्व पर डी. लिट् उपाधि से पुरस्कृत डॉ. लोकेश खरे की एक अद्भुत शोधपूर्ण कृति।	
52.	कमल के महाकमल -	
	अरविन्द से आचार्य विरागसागर तक की जीवन यात्रा का लघु प्रभावक लेखन।	
53.	घटनायें ये जीवन की	80
	सम्पूर्ण जीवन में घटी अनेकानेक रोचक महत्वपूर्ण घटनाओं का लेखन।	
54.	दिगम्बरत्व के चित्ते	150
	सचित्र, बालगोपाल को आकर्षित करने वाला कॉमिक्स रूप में जीवन चरित्र।	
55.	विराग सिंधु की उर्मिया	18
	पूज्य गुरुवर की अनुपम जीवनी पर आधारित सरस-सरस काव्यरचना।	
56.	विराग वाटिका	180
	पूज्य गुरुवर द्वारा दीक्षित शिष्य-प्रशिष्य सुमनों का तथा पूज्य गुरुवर से संबंधित महत्वपूर्ण विषयों का सविस्तृत संकलन चित्र सहित परिचय।	
57.	भक्ति की झंकार भाग-1, 2, 3	25
	गुरुभक्ति से पूरित धार्मिक बहुताधिक भजन-गीतों का संग्रह	
58.	विरागार्चना	40
	पू. आचार्यश्री के शिष्यों-शिष्याओं तथा श्रावक एवं श्राविकाओं द्वारा उनके हृदय से निसृत भक्ति रस से युक्त पूजा, विधान, आरती आदि का संकलन।	
59.	विराग काव्याञ्जलि	-
	पू. गुरुवर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व युक्त आदर्शमयी जीवन पर ज्ञानचन्दजी विऽरुआ (सागर) द्वारा रचित पद्म रचना।	
	प्रवचन साहित्य (पूज्य गुरुवर के प्रवचन से)	
60.	धर्म पीयूष	30
	दशलक्षण पर्व में उत्तमक्षमादि दस धर्मों पर मुखरित पीयूष वाणी का संकलन।	
61.	ऐसे चलो मिलेगी राह	40
	दिशाविहीन जीवन को सम्यक् दिशा बोध कराने वाले मार्मिक प्रवचनों का संकलन।	
62.	दूर नहीं है मंजिल	30
	मोक्षपथ के पथिकों को पाथेय वत् प्रवचनों का संकलन।	
63.	उड़ रे पंछी	10
	पूज्य गुरुवर के मुखारविंद से गुंजित प्रवचनों का संकलन।	
64.	तीर्थकर वर्धमान	15
	भगवान् महावीर स्वामी का विभिन्न दृष्टियों एवं आगम के परिप्रेक्ष्य में जीवन परिचय।	
65.	पहले देव-पूजा फिर काम दूजा	25
	जिनेन्द्र प्रभु की पूजा, अर्चनाविधि के महत्व को उजागर करने वाले प्रवचनों का संकलन।	
66.	तीर्थकर ऐसे बनी	60
	तीर्थकर प्रकृति बंध में हेतु सोलहकारण भावनाओं का संकलित सविस्तृत प्रवचन।	
67.	तट की ओर	10
	हृदयस्पर्शी, जीवन की सच्चाई का दिग्दर्श कराने वाले प्रवचनों का संकलन।	

68.	सिर्फ दो प्रवचन				10
	महत्त्वपूर्ण विशेष प्रवचनों का संकलन।				
69.	इष्टोपदेश				
	अध्यात्मप्रेमियों के आध्यात्मिकता के विकास में सहायक इष्टोपदेश ग्रन्थ पर संकलित प्रवचन।				
70.	मानतुंग की अमरभक्ति				150
	भक्तामर स्तोत्र पर भक्ति से ओतप्रोत, भावभीने प्रवचनों का संकलन।				
71.	कल्याणक महोत्सव				20
	अनेकानेक स्थानों पर हुए गर्भादि कल्याणकों के विशेष प्रवचनों का संग्रहीकरण।				
72.	दान तीर्थ				20
	आहारदान की आद्योपांत महिमा, विधि, गुण, दोष, पात्र, फल आदि का वर्णन।				
73.	धर्म के दश सोपान				20
	मूढ़बिंद्री में हुए दशधर्मों के प्रवचनों का सरस-संक्षिप्त संकलन।				
74.	जीवों पर दया करो, शुद्ध शाकाहार करो				20
	अहिंसा शाकाहार सम्मेलनों में हुए आगमिक व वैज्ञानिक तुलनात्मक प्रवचनों का संकलन।				
75.	बुराईयाँ ही जेल, अच्छाईयाँ ही मुक्ति				10
	विभिन्न जेलों में हुए, अपराध बोध कराने वाले मार्मिक प्रवचनों का संकलन				
76.	प्रवचन वर्षा				15
	महत्त्वपूर्ण वर्षभर के जैन पर्वों पर होने वाले उपदेशामृत का संकलन।				
77.	कर्तव्य मेव कर्तव्यं				25
	श्रावकों के षडावश्यक कर्तव्यों पर आधारित हृदय उद्गारों का संकलन।				
78.	श्रद्धा प्रसून				25
	मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के प्रवचनों का संकलन।				
79.	मोक्ष की राह				25
	मोक्षपथिकों को मोक्षपथ का पाथेय प्रदान करने रूप प्रवचनों का संकलन।				
80.	विरागामृत भाग 1-2				30
	पूज्य गुरुवर की अमृतवाणी से मुखरित अनेक विषयों पर संकलित उद्धरण।				
81.	समाधि तंत्र-प्रवचन				108
	अध्यात्मरस से परिपूर्ण समाधि ग्रन्थ पर हुए सविस्तृत प्रवचनों का संकलन।				
82.	समयोचित् शिक्षायें	भाग-1	20	भाग-2	20
	व्यक्तित्व विकास में कारण, समय-समय पर दी गई अमिट शिक्षाओं का संकलन।			भाग-3	20
83.	विराग मंथन (हिन्दी, अंग्रेजी)				10
	लघु, पर ज्ञान को विकसित करने वाली आकर्षित उद्धरणों से पूरित कृति।				
84.	रजत पुष्प				51
	सद्गुणों के विकासादि विषयों से परिपूर्ण जनोपयोगी प्रवचनों का संकलन।				
85.	कहानी सबसे सुहानी				30
	पूज्य गुरुवर के प्रवचनों में से संकलित मनभावन कहानियों का संकलन।				
86.	अक्षय निधि (हिन्दी, अंग्रेजी)				20
	हृदय पर सीधा प्रभाव करने वाले गूढ़रहस्यात्मक प्रवचनों का संकलन।				
87.	संस्कार की लहरें				20
	नैतिक तथा धार्मिक सुसंस्कारों की सुरभि से महकित प्रवचनों का संकलन।				
88.	चलो चले प्रभु दर्शन को				30
	आगमिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रभुदर्शन की आद्योपांत विधि रूप प्रवचन।				
89.	आध्यात्मिक धर्म प्रवचन				30
	दशलक्षण धर्म से सम्बन्धित गाथाओं, कहानियों, मुक्तकों तथा उद्धरणों का विस्तृत प्रवचन संग्रह।				

90.	घर-घर की कहानी पारिवारिक एक-दूसरे सदस्यों के कर्तव्यबोध कराने वाले प्रवचनों का संकलन।	30
91.	वारसाणुवेक्खा प्रवचन वैराग्यभाव को वृद्धिगंत करने वाले अनित्यादि भावनाओं पर आधारित प्रवचनों का संकलन।	100
92.	पर्यूषण निधि आत्म रुचि को उत्तमक्षमादि भावों की ओर प्रेरित करने वाले प्रेरक प्रवचनों का संकलन।	15
93.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 1. धर्मोपदेशामृतम् इस प्रवचन माला में 198 श्लोकों पर प्रवचन है जिसमें उपदेश का अधिकारी कौन, निश्चय-व्यवाहर धर्म का स्वरूप, गृहस्थ-मुनि धर्म का उपदेश किसे, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आदि अनेक प्रकार से धर्म की महिमा की प्रकट किया गया है।	200
94.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 2. दानोपदेशम् दान प्रवर्तन, दान की आवश्यकता, महत्व दान के पात्र, नवधाभक्ति, पात्र के भेद, पात्रदान, कुपात्रदान तथा अपात्रदान के फल तथा गृहस्थ्यों को अवश्य ही दान करने की प्रेरणा देने वाले वैराग्यमय भावों का संकलन।	40
95.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 3. अनित्यपञ्चाशत् 55 श्लोकों पर प्रवचनों के माध्यम से क्षणिक, नश्वर स्त्री-पुत्र, शरीर आदि की आरिस्थिरता को दिखलाकर उनके संयोग-विनोग में हर्ष और विषाद भावों के परित्याग की प्रेरणा प्रदान करने वाले वैराग्यमय भावों का संकलन।	50
96.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 4-5. एकत्व सप्तति तथा यतिभावनाष्टकम् चतुर्थ एकत्वसप्तति अधिकार में चिदानंदस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का उपाय, चेतन तत्व अनेक-धर्मात्मक है, द्वैत-अद्वैत बुद्धि का फल, शुद्धोपयोग साम्यभाव तथा यतिभावनाष्टक में मुनियों की कठिन चर्चा, योगधारण विधि, उपसर्गों में स्थिरता आदि का सुन्दर प्रवचनों के माध्यम से प्रस्तुतिकरण संकलन है।	85
97.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 6. उपासक संस्कारः सकल तथा देशव्रतों का स्वरूप, भेद, स्वामियों का निर्देश छह-आवश्यक का स्वरूप तथा सात व्यसनों के त्याग की उपदेश तथा गृहस्थ को निरंतर मुनिपद धारण करने की प्रेरणा को देने वाले अनुपम, श्लाघनीय प्रवचनों का संकलन।	60
98.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 7. देशव्रतोद्योतनम् सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्दर्शन की महिमा, अष्ट मूलगुण धारण करने की आज्ञा, आहारादि चार प्राकर के दान करने की प्रेरणा, देवदर्शन का महत्व, चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ करने का उपदेश तथा गृहस्थ धर्मों पर आधारित अनुकरणीय प्रवचनों का संकलन।	60
99.	पद्मनंदि पंचविंशति: अधिकार 8-9 सिद्धस्तुति एवं आलोचना सिद्ध भगवान के अनंतगुणों का वर्णन, उनकी स्तुति, गुणगान का फल, सिद्धत्व पद प्राप्ति के उपाय और जीवन में आलोचना के द्वारा पापकर्म को कैसे कम किया जा सकता है, आलोचना किससे करें, किससे न करें आदि महत्वपूर्ण विषयों पर आधारित प्रवचनों का संकलन।	85
100.	आचार्य विराग सागर साहित्य दर्शन पूज्य गुरुदेव से सम्बन्धित सकल साहित्य का लघु परिचय, प्राप्ति स्थान, विरागवाणी सम्पर्क सूत्र, SMS नम्बर कैसे Join करें, निर्देश, V.D.O. तथा O.D.O. सी.डी. के नाम, विशेष जानकारी के लिए वेबसाईट, विरागोदय क्षेत्र संबंधी जानकारी आदि का निर्देश।	10
101.	मेरी भावना प्रवचन पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा रचित मेरी भावना पर लोक जनकल्याण, विश्वमैत्री, भाईचारे, नैतिक-धार्मिक अनेक प्रकार की हृदय स्पर्शी मार्मिक हृदय से स्फुटित प्रवचनों का संकलन।	50
102.	फॉर यूथ प्रोग्रेस नवीन युवा पीढ़ी को धार्मिक क्षेत्र में अग्रसर करने, उनके प्रगति उत्थान के प्रभावक सूत्रों तथा जन-जागृति धार्मिक रुचि को प्रकट करने वाले अति प्रभावक प्रवचनों का संकलन।	22

103. रत्नकरण्डक श्रावकाचार्य प्रवचन भाग-1 100
श्रावकोचित महत्वपूर्ण विषयों पर श्लाकों के आधार पर मुखरित प्रवचनों का संकलन।
104. सामायिक पाठ प्रवचन- 85
सामायिक की सम्पूर्ण क्रियाविधि, सामायिक कैसे कहें, कब आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर अनुगूजित आध्यात्मिक प्रवचनों का संकलन।
105. अपने नैतिक कर्तव्य 30
माता-पिता, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू, भाई-बहन, पति-बहिन आदि गृहस्थिक संबंधों को एकता-संगठन, आपसी प्रेमभाव में बांधने वाले वसुधैवकुटुम्बक की सूक्ति चरितार्थ करने वाले प्रवचन।
106. क्यों इतना अभिमान है..... 30
अष्टमदों पर जीवन को नम्रशील, निरभिमान आदि गुणों से पूरित करने वाले प्राजल प्रवचनों का संकलन।
107. सिद्धों का खजाना 30
सिद्ध भगवान के अनंतज्ञान आदि अष्टगुणों पर आधारित निज आत्म वैभव खजाने का परिज्ञान करने वाले प्रवचनों का संकलन।
108. अपनी-अपनी आभार्यें..... लेश्याएँ 90
कृष्ण आदि अशुभ तथा पीत आदि शुभ लेश्याओं युक्त प्राणी मात्र की परिणीत का आभाष करने वाले प्रवचनों तथा अन्यमतों तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लेश्या विषयक सुन्दर संकलन।
109. ऐसे घर को स्वर्ग बनायें
भौतिक युग में बिगड़ते संबंधों को घर-घर को अशांति को दूर करने वाले नये आयामों युक्त प्रवचनों का संकलन।

ग्रंथ संगोष्ठी एवं स्मारिका साहित्य

1. सम्यग्दर्शन संगोष्ठी - पू.आचार्य श्री द्वारा लिखित शोधपूर्ण ग्रंथ सम्यग्दर्शन पर आयोजित गाथा 2010 में संगोष्ठी में मुनिराजों, आर्थिकाओं, ब्र. भईया एवं अनेक विद्वानों द्वारा पढ़े गये महत्वपूर्ण आलेखों का संकलन।
2. सर्वोदया टीका अनुशीलन - पू. गुरुवर द्वारा 23.02.2008 नागोवाड़ी (सांगली) से प्रारम्भ कर 08/06/2008 क्षुतपंचमी, नंदीश्वर जिनालय बोरीवली, मुम्बई में मात्र 108 दिनों में पूर्ण होने वाली कुन्दकुन्द स्वामी कृत बारसाणुवेक्खा ग्रंथ पर प्रथम संस्कृत सर्वोदया टीका का विमोचन लोकार्पण एवं 200 साधु-साध्वियों तथा शताधिक विद्वानों की उपस्थिति में आयोजित राष्ट्रीय विद्वत, संगोष्ठी में पढ़े गये महत्त्वपूर्ण आलेखों का संकलन एवं चित्रण।
3. बीना स्मारिका 1994 - में हुए प्रभावनापूर्ण बीना चातुर्मास की यादगारों का संकलन।
4. विराग-अनुभूति - लोहारिया 2010 में हुए भव्य चातुर्मास की सुन्दर-सुन्दर अनुभूति युक्त, प्रवचनों, प्रोग्रामों के चित्रों तथा भक्तों की भावनाञ्जलि का संकलन।
5. विराग-प्रभावना - अजमेर 2011 चातुर्मास की अनोखी मनभावन स्मृतियों का प्रवचन, प्रोग्राम, चित्रों, शिविर आदि तथा नगर में हुई धर्मयुक्त आकर्षण प्रभावनापूर्ण भक्तों की भावनाओं का संकलन।
6. स्वर्णिम विरागाञ्जलि - स्वर्णिम जन्म जयन्ती वर्ष का स्वर्णिम आयोजनों, स्मृतियों से परिपूर्ण जयपुर गुलाबी नगरी में हुए ऐतिहासिक स्वर्णिम 2012 चातुर्मास की स्वर्णिम भावभीनी झलकियाँ, स्मृतियों का संकलन।
7. विराग पुष्प पुञ्ज- इन्दौर 2013 चातुर्मास में उपलब्धि साधु-साध्वियों के परिचय तथा अन्य विधि का लघु रूप में सागर में सागर की तरह पू. गुरुवर द्वारा लिखित वर्णन।

साहित्य प्राप्ति स्थान

1. श्री सम्यक्ज्ञान विराग विद्यापीठ
चैत्यालय मंदिर, बताशा बाजार, भिण्ड (म.प्र.), सम्पर्क सूत्र : पं. वीरेन्द्र जैन (मो. 9754803220)
2. आचार्य श्री विराग सागर विद्यापीठ (बी.एड.कॉलेज) पुष्प विहार कॉलोनी, बीना-470113, जिला-सागर (म.प्र.)
3. विराग फाउण्डेशन द्वारा-श्री अरुण कोटडिया, 11-A विक्रम नगर सोसायटी, उस्मानपुरा, अहमदाबाद-380013 (गुजरात)
4. श्री भूपेन्द्र शांतिलाल शाह, 12-B, वर्धमान सोसायटी, डेरी रोड, मेहसाना-2 (गुजरात) सम्पर्क सूत्र- श्री भूपेन्द्र शाह, (मो. 9898494914, 9829452020)

5. विराग महिला मंच, बोरीवली, मुम्बई (महा.)
6. श्रीमती पुष्पा पाटनी, 574, शांतिनगर, जैन मंदिर के सामने, गोपालपुर वायपास, जयपुर (राज.) मो. 09460765050
7. श्री मनीष पाटनी नया बाजार, 54, धर्मकांटा के पास, अजमेर (राज.) मो. 09414002306
8. श्री तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, विष्णु व्यास मोहता हॉस्पिटल के पास, मोहता चौक, बीकानेर (राज.) मो. 9314962474/75
9. राष्ट्रीय विराग युवा मंच, अध्यक्ष - श्री राजेश जैन, अंजनी नगर, इन्दौर मो. 09425316970
10. राष्ट्रीय युवा मंच अध्यक्ष - श्री पंकज पाटनी, 72, विंध्याचल नगर, एरोडम रोड, इन्दौर मो. 09425476665
11. डॉ. महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज' 22/2, रामगंज, जिन्सी, इन्दौर-7 मो. 09826091247

Audio C.D.

- | | |
|-----------------------------------|---|
| ❖ आचार्य पदारोहण द्रोणगिरि | ❖ राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा जयन्ती ऊदगाँव |
| ❖ उपसर्ग पर उत्कर्ष की यात्रा | ❖ आर्यिका विशान्तश्री माताजी, समाधि |
| ❖ व्यसन मुक्ति शाकाहार अभियान | ❖ लोक और मध्यलोक |
| ❖ ज्योतिर्लोक और चन्द्रयात्रा | ❖ जेल प्रवचन |
| ❖ स्कूल प्रवचन | ❖ शाकाहार रैली |
| ❖ अहिंसा रैली | ❖ न्यायालय में प्रवचन |
| ❖ 25 दीक्षाये-श्रवण बेलगोला | ❖ 11 दीक्षाये-गाँधी नगर |
| ❖ 8 दीक्षाये-गिरनार जी | ❖ 11 दीक्षाये-किशनगढ़ |
| ❖ 26 दीक्षाये-उदयपुर | ❖ कैसे बनाये घर को स्वर्ग |
| ❖ हे गणाचार्य मेरे तरस रहे दो नैन | ❖ 7 दीक्षाये- इन्दौर |
| ❖ 25 दीक्षाये जयपुर | ❖ सिद्धांत एवं आध्यात्मिक प्रवचन |
| ❖ देश के नाम कलंक बूचड़खाने | ❖ पद्मनन्दी पञ्चविंशति (भाग 1-14 तक) |
| ❖ गुरु नाम की धूम मची है | ❖ स्वर्णिम जयन्ती याद रहेगी। |
| ❖ प्रथम सूरि बुदेलखण्डके | ❖ मेरे मन वीणा के तारे |
| ❖ जियो हजारों साल गुरुवर | ❖ विराग स्वर्णोत्सव |